सावरकर

१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य समर

१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर

यह संघर्ष—विदेशी सत्ता अंग्रेजों से भारतीयों के स्वाधीन होने की सहज महत्त्वाकांक्षाओं का रक्त-रंजित इतिहास है; इस सशस्त्र विद्रोह से दोनों पक्षों के सवा लाख व्यक्तियों ने मृत्यु का वरण किया। इन्हीं ठोस प्रमाणों के आधार पर इसे भारत की आज़ादी का स्वाधीनता संग्राम की न्यायोचित संज्ञा दी गई। इतिहास में इसी एक अवसर पर विदेशी शासक के विरुद्ध हिन्दू-मुस्लिम एक साथ लड़े थे। तभी संसार के समकालीन क्रान्तिकारियों ने इसे महान् क्रान्ति की श्रेणी में रखा। भारत के बलिदानी वीर क्रान्तिकारी भी इस संघर्ष से अनुप्राणित होकर इसे क्रान्ति की गीता कहकर इसका मानदण्ड मानते थे।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकर जन्मशताब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण सावरकर साहित्य (माला) में प्रथम पुष्प।

(खण्ड १)

१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य समर

विनायक दामोदर सावरकर

राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली-११००२४

चौथा नवीन सम्पूर्ण हिन्दी संस्करण
जुलाई 1983

मूल्य : पुस्तकालय संस्करण (डिलेक्स) पचानवे रुपये 95.00

पृष्ठ संख्या—487+14+8=509
(सचित्र)
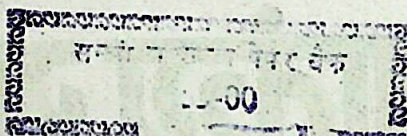
○ प्रकाशक
रामतीर्थ भाटिया (संचालक)
राजधानी ग्रन्थागार
59/H-IV, लाजपत नगर, नई दिल्ली-110024

○ मुद्रक : ज्ञान आफसेट, दिल्ली

Indian War of Independence 1857 (Hindi Translation)
By V. D. Savarkar
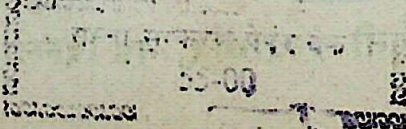
समर्पण

स्वधर्म तथा स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते-लड़ते मरण का वरण करने वाले हे वीरो ! यह कृतज्ञ इतिहास तुम्हारी पावन स्मृति में ही समर्पित। स्वदेश के लिए युद्ध करने को सिद्ध हुए वीरो, तुम कौन थे ? तुम्हारे नाम क्या थे ? साधना की उज्ज्वल ज्योति तुम्हारे हृदय में प्रदीप्त हो उठने पर तुम्हारा नेतृत्व करनेवाला वह वीर कौन था, जिसने तुम्हें इस भयंकर रण की प्रेरणा दी थी ? हमारा कितना दुर्भाग्य है कि मानवता की सेवा के लिए अपने प्राणों को समर्पित करनेवालों, तुम्हारे नाम और तुम्हारी ठाँव भी हमें विदित नहीं। तो फिर यह इतिहास-रचना तुम्हारी गुमनाम स्मृति को ही समर्पित। विजय तुम्हारे हाथों से भले ही निकल गयी हो, किन्तु तुमने अपनी आन और सम्मान तथा यश पर तो आँच नहीं आने दी ! तुम्हारा रक्त भूतकाल की तिलांजलि और आगामी वीरों के लिए संजीवनी सिद्ध हो। तुम्हारे पराक्रम से अतीत की कीर्ति को चार चाँद लगें और वह भविष्य की प्रेरणा तथा चैतन्य की निधि बने, यही आकांक्षा है।

—वि० द० सावरकर
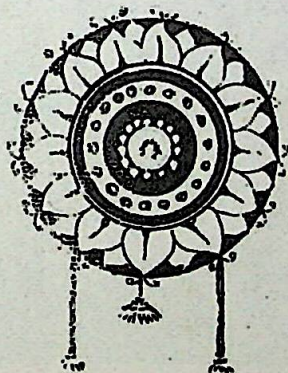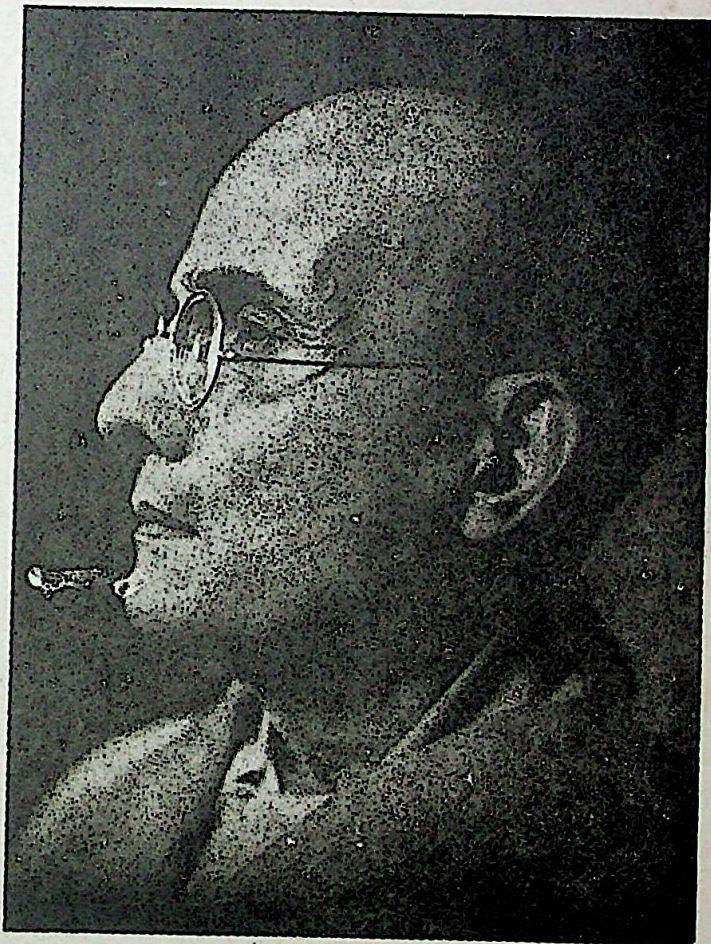
लेखक

जन्म तिथि २८ मई १८८३

ग्रन्थ की रचना १० मई १९०७

आत्मार्पण २६ फरवरी १९६६

प्रकरण-सूची

प्रकाशकीय

हमारी संस्था द्वारा सावरकर वाङ्मय के प्रकाशन-क्रम में यह चतुर्थ पुष्प पाठकों के हाथों में समर्पित है। वीर सावरकर की यह अनुपम कृति है। जिसकी रचना से वे विश्वविख्यात् हो गए। एक महान क्रांतिकारी के रूप में उनका त्याग और बलिदान बेजोड़ है ही, किन्तु इस ग्रन्थ ने स्वातन्त्र्य वीर को प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और साहित्यकार ही नहीं अपितु विश्व-प्रसिद्ध इतिहासकार भी सिद्ध कर दिया। ऐसे जीवट के क्रांतिकारी एवम् महान विचारक द्वारा लिखित '१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर' नामक इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण मराठी पाण्डुलिपि का हिन्दी में प्रथम' बार भाषान्तर प्रकाशित करके हमारी संस्था अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती है। निश्चय ही प्रकाशन की सार्थकता भी मैं ऐसे ही ग्रन्थों से मानता हूं। किन्तु इस क्रम में उन प्रकाशक बन्धुओं को भी विस्मृत नहीं करना चाहिए, जिन्होंने इसका अंग्रेजी, मराठी अथवा हिन्दी जिस किसी भी भाषा में प्रकाशन किया था और उन परिस्थितियों में किया था जब इस पुस्तक को प्रकाशन के पूर्व ही जब्त घोषित करके इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। उस विपरीत परिस्थिति में भी इस महान ग्रन्थ का प्रकाशन करनेवाले वे मेरे सहयोगी प्रकाशक वस्तुतः ही महान साहसी और उच्च आदर्शों से अनुप्रेरित थे।

जहाँ तक इस ग्रन्थ के पाठकों का संबंध है, यह पुस्तक भी किसी गुप्त विद्रोही के समान ही पाठकों तक पहुंचती थी अथवा उन्हें बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होती रही है। अर्थात् इस ग्रंथ के लेखन ही नहीं अपितु प्रकाशन और वितरण का भी एक विचित्र इतिहास रहा है। १९४५ में इस पुस्तक पर से प्रतिबन्ध विधिवत् रूप से हटाया गया। कतिपय विदेशियों अथवा उनका चरण चुम्बन करनेवाले भारतीय लेखकों के इस मत का वीर सावरकर ने नितान्त ही तर्क-सम्मत और युक्तियुक्त खण्डन अपनी पैनी लेखनी से किया है कि यह विद्रोह कोरा सिपाही विद्रोह था। वे सिपाही एवं सामन्त भी तो भारत माँ के सपूत थे, अतः अपने इस महान ग्रन्थ द्वारा १८५७ की महान् घटना को भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य समर की संज्ञा

दी। इसलिए ग्रंथ का राष्ट्रीय दृष्टि से भी अपना महत्व है। हमारा संघर्ष, चाहे वह सफल हो या असफल, छोटा हो या बड़ा, उसका नामकरण हम ही करेंगे न कि हमारे शत्रु। और अंग्रेज तो सीधे शत्रु ही थे।

किन्तु आह ! श्रद्धेय वीर सावरकरजी ने अपने अन्य ग्रन्थों के ही साथ जब इस ग्रन्थ के भी हिन्दी में प्रकाशन की अनुमति हमें दी थी तो सौभाग्य से वह जीवित थे। हम अभी उनके अमर साहित्य के तीन पुष्प ही अर्पितकर पाए थे कि स्वातन्त्र्य वीर ने अपने पंचभौतिक शरीर का आत्मार्पण कर दिया। अपनी इस रचना के राष्ट्र भाषा में प्रकाशन के इस अवसर पर वह हमारे मध्य में नहीं रहे। हिन्दी के प्रबल समर्थक और सबल प्रसारक होने के कारण उनकी यह इच्छा थी कि उनके सभी ग्रन्थ राष्ट्र भाषा में प्रकाशित हों। उन्होंने हमें ऐसा करने की अनुमति दी, इसपर हमें गर्व भी है। हम उनके इस आदेश को क्रियान्वित करने के लिए भी प्रयत्नशील हैं। मैं स्वातंत्र्य वीर का आभारी तो पहले भी था, किन्तु अब तो यह आभार प्रदर्शन भी महान विभूति की स्मृति में श्रद्धांजलि स्वरूप ही अर्पित है।

भगवान करे इन ग्रन्थों के माध्यम से उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहे।

हमने प्रकाशन सामग्री एवं उत्पादन के स्तर को पूर्ववत बनाए रखने की दृष्टि से राजधानी की परम्परा का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है, किन्तु हर दिशा में ही प्रकाशन-कार्य में बाधाएं बढ़ती जा रही हैं।

अब तो कृति सुहृदय पाठकगण के हाथ में है, अतः वे ही सब बातों के निर्णायक हैं। यही बात अनुवाद के लिए भी है। अनुवादक के प्रयास की सार्थकता भी उनकी अभिरुचि पर निर्भर करती है।

विनीत
प्रकाशक

अनुवादक की ओर से

'१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर' एक अभूतपूर्व इतिहास-ग्रन्थ तो है ही, पर उसका मूल स्वर देश और काल की सीमाओं से परे एक ऐसा शाश्वत स्वर है, जो स्वतन्त्रता की पुकार पर मर-मिटने वाले क्रान्तिवीरों को युगों-युगों तक प्रेरित करता रहेगा। निस्सन्देह ग्रन्थ का स्थूल कलेवर भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट कालक्रम से बुना गया है, परन्तु जबतक इस धराधाम पर "पराधीनता" की संज्ञा जीवित है, तब तक इस ग्रन्थ का आत्म-तत्व अक्षुण्ण रहेगा।

विश्व का यही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसे प्रकाशन से पूर्व ही जब्त कर लिया गया। अमर हुतात्मा सरदार भगतसिंह, देश-गौरव नेताजी सुभाषचन्द्र वसु सरीखे भारतीय क्रान्ति के वरेण्य पुराधाओं ने इस ग्रन्थ को गीता का-सा सम्मान दिया तो श्रीमती कामा, श्री अय्यर और लाला हरदयाल जैसे विदेशों में भी भारतीय क्रान्ति की अलख जगाने वाले महान् राष्ट्रभक्तों ने इसे ब्रिटिश सत्ता रूपी कंस के हाथों में पड़ने से सुरक्षित रखा। देश की स्वाधीनता के पश्चात ही इसकी मूल मराठी पाण्डुलिपि अमरीका से पुनः ग्रन्थ के अमर लेखक स्वातन्त्र्य वीर सावरकर के पास पहुंच सकी। प्रस्तुत भाषान्तर उसी मूल मराठी ग्रन्थ से किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ तथ्य-पुष्ट इतिहास का निर्जीव चौखटा मात्र ही नहीं है, अपितु काव्यात्मक शैली, शब्द चित्रमयता तथा ओजपूर्ण शब्द-विन्यास ने इसमें ऐसी प्राण प्रतिष्ठा कर दी है कि क्रान्ति का वातावरण सजीव हो उठता है। इसलिए काव्य, व्यंग, ओज और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की प्रचण्ड लगन से समन्वित स्फूर्तिदायी भावों को मैं अपने इस भाषान्तर में अभिव्यक्त न कर पाया हूं, तो कृपालु पाठक इसे मेरी अल्पज्ञता समझकर क्षमा करेंगे। मेरा तो इतना ही अहोभाग्य है कि स्वातन्त्र्य-विचार की इस पुण्य सलिला में अवगाहन करने का पुनीत अवसर मुझे मिला और प्रसादी रूप में जो पाया उसीका वितरण कर रहा हूं। प्रस्तुतीकरण और वितरण सदोष होने पर भी प्रसादी की अमोघता तो अक्षुण्ण ही रहेगी।

प्रथम संस्करण में लेखक की भूमिका

५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, परिस्थितियां भी बदल गई हैं तथा दोनों पक्षों के प्रमुख अभिनेता भी काल के कराल गाल में जा छिपे हैं। अब १८५७ का युद्ध प्रचलित राजनीतिक क्षेत्र की सीमाओं को पार कर गया है। अतः उसे इतिहास की श्रेणी में स्थान देना ही उपयुक्त होगा।

उपरोक्त दृष्टि से जब मैंने १८५७ के 'विद्रोह' के भव्य और महान् दृश्य का सूक्ष्म निरीक्षण करना आरम्भ किया तो मैं आश्चर्य चकित रह गया। मैंने देखा कि दिवंगत वीरों की आत्माएं तो शहादत के तेज और आशा से प्रदीप्त हो रही थीं। मुझे उनके भस्मावशेषों में प्रेरणा के स्फुलिंग परिलक्षित हुए। इतिहास के एक नितान्त ही उपेक्षित कोने में गहराई से दाब दिए गए इस दृश्य को देखकर मेरे देश-बन्धु भी निराशा का अनुभव ही करेंगे, किन्तु वह निराशा नितान्त ही मधुर होगी। मैं खोज की किरणों के द्वारा उस समय का वास्तविक दृश्य अपने देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत करूंगा। इसी भावना सहित मैं चेष्टा रत रहा और आज मैं भारतीय पाठकों के समक्ष १८५७ की महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रामाणिक और रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हो पाया हूं।

जिस राष्ट्र को अपने अतीत के सम्बन्ध में ही वास्तविक ज्ञान न हो, उसका कोई भविष्य भी नहीं होता। किन्तु जहां यह तथ्य है वहाँ यह भी एक महान सत्य है कि किसी राष्ट्र को अपने गौरवपूर्ण अतीत की मस्ती में ही लिप्त न रहते हुए भविष्य को संवारने की दृष्टि से भी उसका उपयोग करने की क्षमता संपादित करनी अपेक्षित है। किसी राष्ट्र को अपने देश के इतिहास का दास नहीं अपितु स्वामी बनना चाहिए, क्योंकि अतीत के कार्यों की पुनरावृत्ति महत्वपूर्ण होने पर भी वज्रमूर्खता ही है। छत्रपति शिवाजी के समय में मुसलमानों के प्रति द्वेष भावना न्यायपूर्ण भी थी और आवश्यक भी; किन्तु केवल उसी स्थिति को आधार बनाकर आज भी उसी द्वेष भावना को पनपाना मूर्खता ही होगी।

इस ग्रंथ में मैंने जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, वे प्रायः अंग्रेज लेखकों द्वारा लिखित

विवरणों से ही लिए गए हैं। अपने पक्ष के क्रिया-कलापों का विवरण उन्होंने जिस विस्तार तथा श्रद्धासहित किया है, उतनी ही निष्पक्षता सहित दूसरे पक्ष के क्रिया-कलापों का विवरण प्रस्तुत करने का न्याय उनके द्वारा प्रदर्शित किया जाना असम्भव ही था। यह भी सम्भव है कि इस ग्रंथ में वर्णित अनेक प्रसंग त्रुटिपूर्ण ढंग से ही उल्लिखित हुए हों, तो अनेक आवश्यक प्रसंगों का उल्लेख करना रह भी गया होगा। किन्तु आज भी यदि कोई देशभक्त इतिहास-लेखक उत्तर भारत में जाकर उन लोगों से जानकारी उपलब्ध करें जिन्होंने इस प्रलयंकर संग्राम को अपनी आंखों से देखा है अथवा जिन्होंने इसमें योगदान भी दिया है तो आज भी उस महान युद्ध के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्यों को सुरक्षित रखने के साधन उपलब्ध हो सकते हैं। यदि शीघ्रतिशीघ्र इस दृष्टि से प्रयास न किया गया तो फिर ये साधन उपलब्ध न हो सकेंगे। एक अथवा दो दशकों में इस युद्ध का दर्शन करने वाली अथवा सक्रिय योगदान देनेवाली पीढ़ी ही काल के कराल गाल में सदा के लिए समा जाएगी। तब फिर उन महान वीरों का साक्षात् दर्शन तो कर ही नहीं पाएंगे, हमारे लिए उनके कार्यों का पूर्ण विवरण भी इतिहास में प्रस्तुत कर पाना असम्भव हो जाएगा। क्या अत्यधिक विलम्ब हो जाने के पूर्व ही कोई देश-भक्त इतिहासकार इस महान राष्ट्रीय क्षति के न होने देने के लिए कृत संकल्प नहीं होगा?

इस ग्रंथ में जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनके छोटे-से-छोटे संदर्भ को भी प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है!

अन्त में मैं अपनी यह इच्छा व्यक्त कर देना भी अपना पावन दायित्व मानता हूं कि शीघ्रतिशीघ्र किसी भारतीय लेखक द्वारा १८५७ की यह महान गाथा ऐसे ढंग से लिखी जानी चाहिए कि वह विस्तार से लिखित होने पर भी सुसंगत हो और देशभक्ति से ओत-प्रोत होने पर भी इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक हो। यह गाथा इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि मैंने जो यह विनम्र ग्रंथ रचना की है, लोग उसे शीघ्रतिशीघ्र विस्मृत कर दे।

लन्दन
१० मई, १९०७

विनायक दामोदर सावरकर

ग्रन्थ का रोमांचकारी इतिहास

'१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर' जिस प्रकार वस्तुस्थिति का विवरण प्रस्तुत करनेवाला एक रोमांचक इतिहास है उसी प्रकार इस ग्रंथ का अपना भी एक रोमांचकारी इतिहास है। ग्रंथ के लेखक स्वर्गीय स्वातन्त्र्य वीर सावरकर का महान जीवन-वृत्त तो अनेक अद्भुत प्रसंगों से परिपूर्ण रहा ही, किन्तु इस ग्रंथ के लिखे जाने और प्रकाशन की कहानी भी अद्भुत और अनुपम ही है। जिस प्रकार कंस की अत्याचारी सत्ता ने भगवान कृष्ण को जन्मते ही नहीं अपितु जन्म लेने से भी पूर्व हत्या कर देने का निश्चय व्यक्त कर दिया था, उसी प्रकार ब्रिटिश राज्य सत्ता ने भी इस ग्रंथ रूपी कृष्ण को जन्म ग्रहण करने (मुद्रित होने) से पूर्व ही मार डालने की ठान ली थी। भगवान कृष्ण के समान इस ग्रंथ को भी ब्रिटिश सत्ता के कंस की क्रूर दृष्टि से बचने के लिए दूर-दूर जाना पड़ा।

ग्रंथ को लिखने के उद्देश्य का स्पष्टीकरण स्वतः वीर सावरकर ने ही 'अभिनव भारत' की ओर से प्रकाशित 'तलवार' नामक पत्र में प्रकाशित अपने एक लेख में व्यक्त कर दिया था। यह पत्र पेरिस में प्रकाशित हुआ करता था। स्वातन्त्र्य वीर सावरकर ने अपने इस लेख में लिखा था कि "स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए भारत एक बार पुनः उठे और पराधीनता से मुक्ति के लिए भारतीय जनता द्वारा किया जानेवाला स्वातन्त्र्य युद्ध यशस्वी हो, यही '१८५७ का स्वातन्त्र्य समर' नामक ग्रंथ लिखे जाने का उद्देश्य है।" वीर सावरकर चाहते थे कि आगामी स्वातन्त्र्य-युद्ध की सफलता हेतु राष्ट्र में पूर्ण सिद्धता हो तथा इस कार्य के लिए जो संगठन तथा कार्यपद्धति क्रान्तिकारी दल के सदस्यों के लिए अपनानी आवश्यक है, उसकी रूपरेखा इस ऐतिहासिक ग्रंथ के माध्यम से प्रस्तुत की जाए। अतः इस ग्रंथ में उन्होंने १८५७ के क्रान्ति-युद्ध के पुरोधाओं के मुख से अपने विचारों और कार्य-पद्धति का दिग्दर्शन जनता जनार्दन को कराया था।

जिन दिनों (१९०७) इस ग्रंथ की स्वातन्त्र्य वीर सावरकर ने रचना की उन दिनों में देश की परिस्थिति भी कम विपरीत न थी। क्रान्ति का खुला समर्थन

करना तो दूर भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) के नरम दलीय नेता तो इस शब्द के उच्चारण मात्र को सुनने से भी दूर भागते थे। उस समय तो कांग्रेस के मंच से ब्रिटिश राज्यसत्ता के समक्ष झोली फैलाकर सुधारों की भीख मांगने को ही पुनीत कार्य समझा जाता था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए क्रान्ति के शब्दों से भी उस समय के महान नेतागण परिचित नहीं थे। इस विपरीत परिस्थिति में भी भारत की तरुणाई के सुप्त पौरुष को जागृत करने के लिए ही सावरकरजी ने इस ग्रंथ की रचना की थी। वीर सावरकर की यह निश्चित मान्यता थी कि सैनिकों और सैनिक विभागों में राष्ट्र-भक्ति की पावन ज्योति को जागृत किए बिना क्रान्ति का स्वप्न कदापि साकार नहीं हो सकता। इस ग्रंथ की रचना से ५० वर्ष पूर्व हुए इस क्रान्ति समर के इतिहास ने यह तथ्य असंदिग्ध रूप में प्रस्तुत कर दिखाया कि हमारे महान पूर्वजों ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के पावन उद्देश्य की पूर्ति हेतु अंग्रेजों की सेना के ही भारतीय सैनिकों का सक्रिय ही नहीं अपितु सशस्त्र सहयोग प्राप्त करने में भी सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने भारतमाता को पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्ति दिलाने हेतु सशस्त्र संग्राम का आयोजन कर स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जयजयकार किया था।

वीर सावरकरजी ने इस सत्य को हृदयंगम कर लिया था कि यदि १८५७ के इस महान संग्राम के इतिहास को क्रांतिकारी दृष्टिकोण से भारतवासियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा तो भारत की तरुणाई में एक नवीन जागृति और स्फूर्ति की लहर व्याप्त होगी और वह अंगड़ाई लेकर उठ बैठेगी। उसे इस बात का विश्वास हो जाएगा कि आज की स्थिति में १८५७ के प्रयोग का पुनः परीक्षण ही स्वातन्त्र्य आन्दोलन की सुनिश्चित सफलता का केन्द्र बिन्दु सिद्ध होगा। भारतवासियों को उनके हृदय की भाषा में ही इस महान राष्ट्रीय संग्राम का विवरण वीर सावरकर ने इस महान ग्रंथ के माध्यम से सुनाया है।

वीर सावरकर ने १९०७ ई० में जब अपने इस ग्रंथ की मराठी भाषा में रचना पूर्ण की, उस समय उनकी आयु केवल २३ वर्ष की ही थी। लन्दन में 'फ्री इण्डिया सोसाइटी' (अभिनव भारत की ही एक शाखा) की बैठकों में सावरकरजी इस ग्रंथ के कतिपय अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद अपने भाषणों के माध्यम से प्रस्तुत किया करते थे। संभवतः इन्हीं भाषणों के आधार पर ब्रिटिश गुप्तचर विभाग के सतर्क अधिकारियों को इस ग्रंथ की मूल प्रवृत्ति का अनुमान लग गया था। वे समझ गए थे कि यह ग्रंथ एक नितान्त ही विद्रोह-प्रेरक कृति होगी। कुछ ही दिनों में वीर सावरकर ने देखा कि उनके इस मूल ग्रंथ के दो अध्याय ही लुप्त हो गए हैं। उन्हें कुछ समय पश्चात विदित हुआ कि ये दोनों अध्याय किसी न किसी माध्यम से स्काटलैंड यार्ड की गुप्तचर पुलिस के अधिकार में जा पहुंचे हैं। किन्तु इस घटना

से वे निराश नहीं हुए अपितु क्रान्तिकारियों ने भारतीय कस्टम विभाग और डाक विभाग की क्रूर और गिद्ध-दृष्टि से भी बचाकर इसकी मूल पाण्डुलिपि भारत पहुंचा ही दी। ग्रंथ तो इच्छित स्थान पर पहुंच गया, किन्तु क्रान्ति के इस ज्वाल-पुंज पर दृष्टिपात करते ही महाराष्ट्र के बड़े-से-बड़े मुद्रणालयों का भी साहस उड़ गया और उनमें से कोई भी इसको प्रकाशित न कर पाया। अन्ततः 'अभिनव भारत' के ही एक सदस्य 'स्वराज्य' नामक पत्र के संपादक ने इस ग्रंथ को अपने मुद्रणालय में मुद्रित करने का संकल्प कर लिया। किन्तु ब्रिटिश सरकार भी पूर्णतः सतर्क और सजग थी, अतः ज्योंही उन्हें यह सूचना प्राप्त हुई कि महाराष्ट्र में ही इस ग्रंथ का मुद्रण आरम्भ हो रहा है तो उसने तत्काल भारत सरकार को सूचित कर दिया और सभी प्रमुख मुद्रणालयों पर अचानक छापे मारे गए तथा तलाशियां ली गईं। अभिनव भारत के जिस साहसी सदस्य के पास यह पाण्डुलिपि थी उसे सौभाग्यवश पुलिस के ही एक अधिकारी ने छापा मारे जाने से पूर्व ही सूचित कर दिया था। अतः उसने अपने स्थान पर पुलिस के पहुंचने से पूर्व ही इसे एक सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया। इस स्थिति में ग्रंथ के मुद्रित होने की कोई आशा ही न रह गई थी। अतः यह पाण्डुलिपि लन्दन तो नहीं किन्तु पेरिस भेज दी गई और वहां से वह स्वातन्त्र्य वीर सावरकर के पास पहुंचाई गई। भारत में इस ग्रंथ का मुद्रित हो पाना तो अब असंभव ही है, यह समझकर १९०८ ई० में इसे जर्मनी में मुद्रित कराने का निश्चय किया गया, क्योंकि वहां संस्कृति ग्रंथ मुद्रित होते थे। किन्तु जर्मनी के कम्पोजिटरों को तो मराठी भाषा से नाममात्र का भी परिचय नहीं था, साथ ही वहां का देवनागरी टाइप भी बड़ा भद्दा और विचित्र-सा था। अतः पर्याप्त व्यय करने के पश्चात् इस विचार का परित्याग ही करना पड़ा।

इन सब असुविधाओं को दृष्टिगत रखकर अब इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद करने का निश्चय किया गया और इंग्लैंड में आई० सी० एस० तथा बैरिस्टरी का अध्ययन करनेवाले बैरिस्टर फड़के तथा श्री अय्यर आदि भारतीय छात्रों ने यह दायित्व सँभाला। ये छात्र 'अभिनव भारत' के भी सदस्य थे। जब इसका अंग्रेजी अनुवाद पूर्ण हो गया तो श्री वी० वी० एस० अय्यर ने इसको पूर्णरूपेण पढ़कर भाषा प्रवाह की दृष्टि से एकरूपता प्रदान की और अब उन्हींके निरीक्षण में इसको इंग्लैंड में ही मुद्रित कराने का निर्णय किया गया। किन्तु ब्रिटिश गुप्तचर भी निरन्तर सक्रिय थे, अतः उन्होंने इस ग्रन्थ को राजहृत (जब्त) करने आदि की धमकियां देकर उसका वहां मुद्रित कराया जा पाना असम्भव ही बना दिया। अब यह अंग्रेजी पांडुलिपि भी पेरिस ही भेजनी पड़ी। किन्तु उन दिनों की तो फ्रांसीसी सरकार भी ब्रिटेन के भय से प्रकम्पित रहती थी। अतः अंग्रेजों के इंगित पर फ्रांसिसी गुप्तचरों ने भी दमन और आतंक के हथकण्डे अपनाए। परिणामतः यह

ग्रन्थ फ्रांस में भी न छप सका। किन्तु इन सम्पूर्ण परिस्थितियों में भी क्रांतिकारी हताश नहीं हुए। अब उन्होंने हालैंड के एक मुद्रणालय को वीर सावरकर के इस महान ग्रन्थ को मुद्रित करने पर तैयार कर लिया। साथ ही उन्होंने जोर-शोर से यह प्रचार भी किया कि ग्रन्थ का मुद्रण फ्रांस में ही हो रहा है। अंग्रेजों के गुप्तचरों ने फ्रांस के सभी मुद्रणालयों का कोना-कोना छान मार, किन्तु उन्हें इस ग्रन्थ के स्थान पर केवल निराशा ही हाथ लगी। इससे पहले कि हालैंड में इस ग्रन्थ के मुद्रण के सम्बन्ध में ब्रिटिश गुप्तचरों को कुछ विदित हो पाता यह ग्रन्थ मुद्रित होकर तैयार हो गया। वहाँ से इसकी सभी प्रतियाँ फ्रांस पहुँचा दी गईं, जहाँ उन्हें गुप्त रूप से प्रसारित करने हेतु छिपाकर रखने की व्यवस्था की गई थी। वीर सावरकर की क्रांतिकारी भावगति और इस ग्रन्थ में प्रस्तुत प्रामाणिक जानकारी की कल्पना मात्र से ही अंग्रेज गुप्तचर प्रकम्पित थे। मुद्रण और भाषण स्वातन्त्र्य का डिमडिम नाद करनेवालों ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह निश्चित समझकर भी कि इस ग्रन्थ का मुद्रण अभी नहीं हो पाया है, इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। प्रकाशित होने से पूर्व ही किसी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया जाना भी विश्व की एक अनुपम घटना ही थी।

ब्रिटेन के समाचारपत्रों ने अपनी स्वातन्त्र्य-प्रियता का परिचय देते हुए सरकार के इस निर्णय पर उसकी डटकर भर्त्सना की थी।

मुद्रण-स्वातन्त्र्य की हत्या करनेवाली यह निषेधाज्ञा जब वीर सावरकरजी को बताई गई तो उन्होंने 'लन्दन टाइम्स' में एक पत्र लिखकर सरकार की कटु-आलोचना थी। उन्होंने अपने पत्र में लिखा कि सरकार स्वयं यह स्वीकार करती है कि उसे इस बात की जानकारी नहीं है कि ग्रन्थ की मूल पांडुलिपि मुद्रित होने के लिए कहाँ गयी है, अतः फिर सरकार किस आधार पर यह आरोप लगा रही है कि यह ग्रन्थ राजद्रोह की प्रेरणा देनेवाला एक भयंकर साहित्य है। वह इस ग्रन्थ के मुद्रित होने से पूर्व ही ऐसी टिप्पणी किस आधार पर कर रही है ? इसके तो केवल दो ही कारण हो सकते हैं कि या तो यह पांडुलिपि सरकार के ही पास है और यदि नहीं है तो सरकार की यह कृत्य नितान्त ही अनुचित और दमनकारी है। यदि सरकार के पास इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि है तो उसे चाहिए कि वह राजद्रोह के आरोप में मुझे न्यायालय के समक्ष उपस्थित करे, और यदि उसके पास इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि नहीं है तो सरकार बताए कि वह किस आधार पर यह कहती है कि इस पत्र में राजद्रोह का प्रतिपादन किया गया है ?"

'लन्दन टाइम्स' ने वीर सावरकर का यह पत्र ही प्रकाशित नहीं किया अपितु अपनी ओर से यह टिप्पणी भी दी कि "जब सरकार ने स्पष्ट रूप से अपनी उद्दंडता का प्रदर्शन कर इस पुस्तक पर रोक लगाने का असाधारण पग उठाया

है तो यह निश्चित ही समझना चाहिए कि दाल में कुछ काला अवश्य है।"

हालैंड में इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशित हो जाने के उपरान्त इसकी सैकड़ों प्रतियां अनेक उपायों द्वारा भारत भेजी गईं। उनमें से एक उपाय यह भी था कि इन प्रतियों पर 'पिकनिक पेपर्स', 'स्काट्स वर्क्स' 'डान क्विकजोट' आदि के आवरण चढ़ा दिए जाते थे। कतिपय प्रतियां कृत्रिम खानोंवाले सन्दूकों में भी भेजी गयीं। इसी प्रकार का एक सन्दूक स्वर्गीय सर सिकन्दर हयातखाँ, जो बाद में पंजाब के प्रधानमंत्री भी रहे, भारत लाए थे। वे भी 'अभिनव भारत' के सक्रिय सदस्य थे और उन दिनों लन्दन में ही छात्र थे। उनका इस महान ग्रंथ की प्रतियों से भरा हुआ सन्दूक गुप्तचर विभाग की गिद्ध दृष्टि से भी सकुशल बच निकला। इसी प्रकार यह पुस्तक अनेक वरिष्ठ नेताओं, पुस्तकालयों, महाविद्यालयों और क्रान्तिकारियों तक ही नहीं पहुंची, अपितु सैनिकों के पास भी जा पहुंची। तदुपरान्त १९०९ ई० में इस पुस्तक का फ्रांस से प्रकाशन हुआ और आयरलैण्ड, फ्रांस, रूस, जर्मनी, मिस्र तथा अमरीका के क्रान्तिकारियों ने भी इस महान ग्रंथ का खुले हृदय से स्वागत किया। इधर १९१० ई० में इंग्लैंड तथा भारत के शासकों ने 'अभिनव भारत' के दमन का कार्यक्रम अपनी पूर्ण शक्ति और सिद्धता सहित चलाया। कई क्रान्तिकारी फांसी के फन्दे पर लटका दिए गए तो अनेकों को कालापानी की काल-कोठरियों में ठूंसकर नारकीय यातनाएं दी गईं। वीर सावरकरजी को भी इसी वर्ष दो जन्मों के कारावास (५० वर्ष) का कठोर और अभूतपूर्व दण्ड दिया गया। उनका यह दण्ड विश्व के इतिहास की एक अनुपम घटना है।

किन्तु इन भयंकर प्रहारों में भी स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पुजारी क्रान्तिदूतों का साहस मन्द नहीं हुआ। अपितु लाला हरदयाल, महान देशभक्त महिला श्रीमती कामा और श्री चट्टोपाध्याय आदि क्रान्तिकारियों ने '१८५७ के स्वातन्त्र्य समर' का द्वितीय अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया। इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ और इसके विक्रय से प्राप्त हुई राशि का उपयोग क्रान्तिकारी आन्दोलन की सहायतार्थ किया जाने लगा।

लाला हरदयाल ने अमरीका से प्रकाशित होने वाले अपने पत्र 'गदर' में भी इसका हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी में अनुवाद प्रकाशित किया। परिणाम यह हुआ कि केलिफोर्निया आदि में कृषि-कार्य करनेवाले सिख कृषकों के हृदय में भी स्वतन्त्रता की पावन अग्नि प्रज्वलित हो उठी। किन्तु उन्हीं दिनों अर्थात् १९१४ में प्रथम महायुद्ध का विस्फोट हो गया। उस समय भारतीय सेना में विद्रोह की भावनाओं को भड़काने के लिए किए जा रहे प्रयासों में भी इस महान ग्रंथ का बहुत अधिक योगदान रहा। इस ग्रंथ की अनेक प्रतियां तो उन दिनों अमरीका

आदि देशों में १५०-१५० रुपए में बिकी हुई थीं।

जिन दिनों वीर सावरकर बन्दी बना लिए गए थे, उन्हीं दिनों इस ग्रन्थ की मूल मराठी पाण्डुलिपि श्रीमती कामा के पास पेरिस में भेज दी गई थी। ब्रिटिश गुप्तचरों को इसका कोई भी पता न लग पाए इस दृष्टि से श्रीमती कामा ने इस ग्रंथ की इस मूल मराठी पाण्डुलिपि को 'जेवर बैंक आफ पेरिस' में सुरक्षित रूप में रख दिया। किन्तु महायुद्ध की इस अग्नि में पेरिस भी झुलस उठा और जिस बैंक में यह ग्रन्थ सुरक्षित था वह नगर ही असुरक्षित हो गया। उन दिनों अभिनव भारत संगठन के एक प्रमुख कार्यकर्ता तथा वीर सावरकर के एक निकटतम सहयोगी गोवा-निवासी डाक्टर कुटिनो भी फ्रांस में ही थे। युद्ध के कारण उन्हें भी फ्रांस का त्याग कर अमरीका जाना पड़ा और इस ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि भी आप अपने ही साथ ले गए। जब भारतीय स्वातन्त्र्य सूर्य का अवतरण होने लगा तो जनता की यह मांग भी प्रबल हो उठी कि सभी भारतीय देशभक्तों के उन ग्रन्थों पर से प्रतिबन्ध हटाया जाए, जिनको अंग्रेज सरकार ने राजहृत कर लिया था। आन्दोलन के फलस्वरूप यह मांग स्वीकार कर ली गई और वीर सावरकर लिखित यह महान ग्रन्थ भी बन्धनमुक्त हो गया। जिस समय अमरीका में डाक्टर कुटिनो को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उन्होंने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को वीर सावरकर के पास वापस भेजने का निश्चय कर लिया। १९४७ ई० में डाक्टर कुटिनो ने अपने परम स्नेही श्री रामलाल वाजपेयी को इस सम्बन्ध में अवगत कराया और डाक्टर वा० शि० मुंजे को इस सम्बन्ध में सूचित किया। डाक्टर मुंजे के माध्यम से ही इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के सुरक्षित होने की सूचना मिली। बाद में अमरीका में रहनेवाले एक प्राध्यापक महोदय, जो भारत के स्वतन्त्रता के उपरान्त लखनऊ वापस लौटे, वे इस पाण्डुलिपि को अपने साथ भारत ले आए। उक्त प्राध्यापक महोदय स्वातन्त्र्य वीर सावरकर को यह पाण्डुलिपि वापस करने के लिए जब बम्बई पहुंचे तो उन दिनों स्वातन्त्र्य वीर सावरकर को गांधी हत्याकाण्ड में बन्दी बना लिया। किन्तु जब भारत के न्याय देवता की प्रभा प्रदीप्त हुई और वीर सावरकर इस आरोप से ससम्मान बरी हो गए तो उक्त प्राध्यापक महोदय ने यह पाण्डुलिपि स्वातन्त्र्य वीर सावरकर को समर्पित कर दी। इस प्रकार अनेक विपत्तियों के सघन घनों को चीरकर इस महान ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी अपने अज्ञातवास की अवधि पूर्ण कर स्वतन्त्र हो गई। १० मई, १९६५ को इस पाण्डुलिपि के आधार पर ही इस ग्रन्थ को मराठी भाषा में महाराष्ट्र हिन्दू सभा द्वारा प्रकाशित किया गया था। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के अनेक पृष्ठ कट भी गए थे, जिन्हें वीर सावरकर के परामर्श से उनके सचिव श्री बाल सावरकर ने उन्हें व्यवस्थित किया। ग्रन्थ के तृतीय अंग्रेजी संस्करण का प्रकाशन १९२९ के अन्त में हिन्दुस्तान

सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन की ओर से अमर हुतात्मा सरदार भगतसिंह ने गुप्त रूप से किया था। इससे पूर्व जो संस्करण प्रकाशित किए गए थे, उन पर लेखक के नाम के स्थान पर 'एन इण्डियन नेशनलिस्ट' ही मुद्रित होता था। सरदार भगतसिंह द्वारा प्रकाशित संस्करण में ही सर्वप्रथम लेखक के रूप में वीर विनायक दामोदर सावरकर का नाम मुद्रित किया गया। उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रचार भी नितान्त ही गुप्त किन्तु सुनियोजित रूप में किया। पुस्तक की बिक्री भी खूब हुई तो सरकार ने इसकी प्रतियां को जब्त करने में भी कोई कसर न उठा रखी।

१९३०-३१ में सत्याग्रह के दिनों में इस ग्रन्थ के कतिपय अध्याय की साइक्लोस्टाइल प्रतियां भी वम्बई में बोरी वन्दर पर बिक्री की गई थीं। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भी इस ग्रन्थ को गुप्त रूप से प्राप्त कर पढ़ा था। १९४२ ई० में देश गौरव नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द सेना की बागडोर अपने हाथों में संभाली। नेताजी को मलाया पहुंचने पर इस महान ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हो गई। कुआलम्पुर के एक विक्रेता श्री जयमणि सुब्रह्मण्यम् से इस ग्रन्थ का तामिल संस्करण प्रकाशित किया था। इसका नेताजी सुभाष बोस ने भी पूर्ण उपयोग किया। उन्होंने 'दिल्ली चलो' का महान जयघोष भी इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड से लिया था।

इस ग्रन्थ का प्रथम मराठी संस्करण भी १९४६ में वीर सावरकर के साहित्य से प्रतिबन्ध उठा लिए जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हुआ। इसका मराठी अनुवाद भी अंग्रेजी प्रति से ही करना पड़ा था।

इस प्रकार 'अभिनव भारत' के सशस्त्र क्रान्तिकारी संगठन से लेकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द सेना द्वारा किए गए संघर्ष तक यह महान ग्रन्थ सभी क्रान्तिकारियों को स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पावन अर्चन के लिए सर्वस्व समर्पण की प्रेरणा प्रदान करता रहा। इसे क्रान्तिकारियों ने योगेश्वर श्रीकृष्ण की गीता के समान ही महत्व प्रदान किया। ब्रिटिश साम्राज्य रूपी कंस की सम्पूर्ण शक्ति भी इस ग्रन्थ-रूपी कृष्ण को समाप्त कर पाने में असफल ही रही। क्रान्तिकारियों ने गोकुल के ग्वाल-बालों के समान उसे अपने-अपने आंचल में छिपाए रखा। कहावत है कि इतिहास अपने-आपको दोहराता है, गोकुल का यह कन्हैया पुनः नन्द-किशोर के रूप में प्रकट हो गया। इसका प्रथम हिन्दी संस्करण भी, जिसका अंग्रेजी से भाषान्तर किया गया था, १९४७ ई० में पूना से प्रकाशित हुआ था। अब हिन्दी भाषा में प्रथम बार मूल मराठी पाण्डुलिपि का यह सम्पूर्ण भाषान्तर प्रस्तुत है।
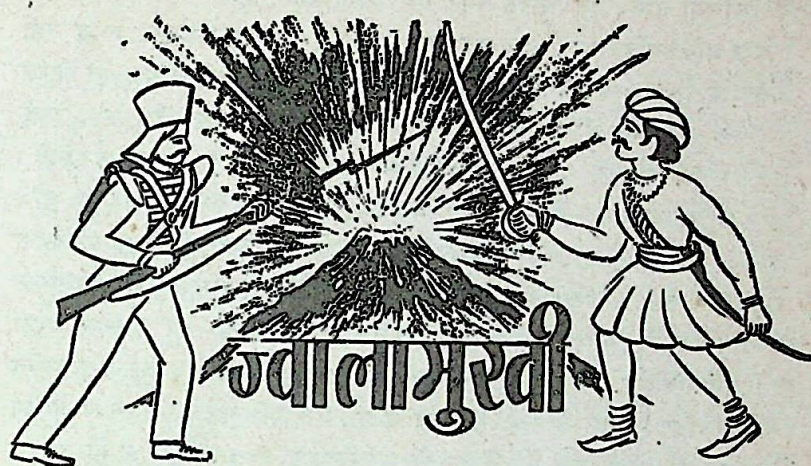
प्रथम खण्ड

: १ :

स्वधर्म और स्वराज्य

धर्मासाठी मरावें, मरोनि अवघ्यांसि मारावें।
मारिता मारिता घ्यावें, राज्य आपुलें ॥—रामदास

यदि कोई फूस की साधारण सी कुटिया भी बनाता है तो उसका भार वहन करने हेतु भी एक सुदृढ़ स्तम्भ की आवश्यकता होती है। इस सामान्य सत्य से प्रत्येक अशिक्षित व्यक्ति भी भली भांति परिचित है। परन्तु इस सामान्य व्यावहारिक ज्ञान की उपेक्षा कर जब कोई लेखक प्रचण्ड क्रान्ति-रचना के इतिहास को लिखते समय, इस बात की उपेक्षा कर देता है कि क्रान्ति के इस भव्य भवन का निर्माण किस आधार पर हुआ था, अथवा यह कहने का प्रयास करता है कि भारत की १८५७ की क्रान्ति का पावन मन्दिर किसी घास के तिनके के समान तुच्छ अधिष्ठान पर अधिष्ठित था, वह या तो मूर्ख है अथवा यह भी सम्भव है कि ऐसा इतिहास लेखक तास के पत्तों के गुलाम के समान आचरण करता है। अतः यह निश्चित तथ्य है कि इस श्रेणी के व्यक्ति इतिहास-लेखन जैसे पावन कार्य का दायित्व निभाने के सर्वथा अयोग्य हैं।

सभी महान धर्म क्रान्तियों किंवा राज्य क्रान्तियों में, यह प्रायः असम्भव ही है कि विभिन्न विशृंखल एवं असंबद्ध घटनाओं में एक तारतम्य की स्थापना की जा सके जब तक कि उनके मूल में सन्निहित सिद्धान्तों का भली भांति ज्ञान प्राप्त

न कर लिया जाए। हम असंख्य चक्रों एवं लोहभागों से युक्त किसी भव्य यंत्र को प्रचण्ड शक्ति सहित कार्य करते हुए देखते हैं, किन्तु जब तक हमें यह विदित नहीं होता कि इस प्रचण्ड शक्ति का उद्भव किस यंत्रशास्त्रीय नियमानुसार हो रहा है तब तक हमारे मन में आश्चर्य और विस्मय तो उत्पन्न हो सकता है, किन्तु उसके संबंध में पूर्ण ज्ञान से प्राप्त होने वाले आनन्द की उपलब्धि हम नहीं कर पाते। फ्रांस की राज्यक्रान्ति किंवा हालैण्ड में हुई धर्मक्रान्ति सरीखे जो अद्भुत कृत्य वाचकों एवं लेखकों को अपनी भव्यता से चकित करते हैं, ज्यों ज्यों पाठक या लेखक उनकी गहनता में पैठता है त्यों त्यों उसे एक प्रकार के साहस एवम् मानसिक सन्तोष की अनुभूति होती है। किन्तु जब तक उन क्रान्तियों को धधकाने वाली शक्तियों एवं छुपे हुए कारणों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता तब तक उस क्रान्ति का वास्तविक रहस्य समझ में नहीं आ पाता। अतः इतिहास शास्त्र में घटनाक्रम के वर्णन की अपेक्षा उन मूल सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत करने को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

इन मूल सिद्धान्तों की खोज करते समय इतिहास लेखक प्रायः एक अन्य भूल कर बैठते हैं। प्रत्येक कार्य के कतिपय प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष, कुछ विशिष्ट एवं सामान्य तो कतिपय आकस्मिक एवं कुछ अनिवार्य कारण होते हैं। उनका समुचित वर्गीकरण करना भी इतिहासकार के कौशल का परिचायक है। वर्गीकरण की इस प्रक्रिया में अनेक इतिहास लेखक आकस्मिक कारणों को ही प्रधान कारणों का रूप दे बैठते हैं। इससे वे अपने आपको एक कहानी में वर्णित उस मूर्ख न्यायाधीश के समान हास्यास्पद बना बैठते हैं जिसने अग्निकाण्ड संबंधी एक मामले में निर्णय देते समय उस काण्ड का सम्पूर्ण दायित्व अग्निकाण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्ति के स्थान पर अग्निशलाखा पर ही डाल दिया था। निमित्त कारण मात्र को ही प्रधान कारण समझते हुए एकाध ऐतिहासिक प्रसंग का ही इतिहास लिखने लगने से उस प्रसंग का वास्तविक महत्व कदापि प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में तो यही प्रतिक्रिया पाठक के मन में उत्पन्न होती है कि यह अद्भुत एवम् क्रान्तिकारी प्रसंग एक क्षुद्र कारण को लेकर संपन्न हुआ था, अतः इसको प्रारम्भ करने वाले व्यक्ति अयथार्थ बुद्धिवाले व्यक्ति थे, जिनके कारण असंख्य जीवन काल कवलित हो गए और देश की प्रचण्ड शक्ति विनष्ट हो गई। अतः सामान्यतः देश का इतिहास लिखते समय एवं विशेष रूप से किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन का विवरण प्रस्तुत करते समय कोई भी लेखक सामान्य विवरणों के माध्यम से, अथवा कतिपय प्रसांगिक कारणों मात्र का वर्णन प्रस्तुत करके उसके वास्तविक उद्देश्य को प्रस्तुत नहीं कर पाता। किसी भी निष्पक्ष इतिहास लेखक का यह पावन कर्तव्य है कि वह उन मूल आधारों की खोज करे जिन पर उस क्रान्ति का भव्य भवन

निर्मित हुआ था। उसे मूलभूत कारणों की खोज एवं उनका विश्लेषण करना ही चाहिए।

इटली के प्रख्यात देशभक्त मैज़िनी ने कार्लाइल द्वारा लिखित "फ्रांस की राज्यक्रान्ति" नामक पुस्तक पर एक आलोचनात्मक लेख में लिखा था कि प्रत्येक क्रान्ति की पृष्ठभूमि में कतिपय मूल सिद्धान्त सन्निहित होते हैं। क्रान्ति का अर्थ ही है मानवजाति के ऐतिहासिक जीवन की पुनर्व्यवस्था। लाखों व्यक्ति जिसके लिए युद्धभूमि में अवतरित होते हैं, जिसके कारण राज्य सिंहासन डोल उठते, हैं राजमुकुट भूलुंठित हो जाते हैं और नवीन मुकुट निर्मित हो जाते हैं, विद्यमान मूर्तियां भग्न हो जाती हैं और नवीन मूर्तियों की स्थापना हो जाती है, जिसके कारण प्रचलित आदर्श धूलधूसरित हो जाते हैं और नवीन आदर्श प्रस्फुटित हो उठते हैं, जिसके लिए पावन मानव रक्त के स्रोत प्रवाहित कर देने को भी प्रचण्ड जन-समुदाय एक सामान्य सी प्रक्रिया मान लेता है, उस क्रान्ति की अग्नि को प्रचण्ड करने का कारण कतिपय महान तत्व ही होते हैं। उसका अधिष्ठान, उसका भव्य भवन किसी सामान्य आधार एवं सामयिक कठिनाइयों मात्र पर निर्मित नहीं हो पाता। प्रत्येक क्रान्ति के मूल में विद्यमान ऐसे तत्व जितनी मात्रा में पवित्र अथवा अपवित्र होते हैं, उसी मात्रा में उस क्रान्ति को धधकाने वाले कर्णधारों का स्वरूप और कृत्य भी पवित्र अथवा अपवित्र ठहराया जाता है। व्यक्तिगत जीवन के समान ही, इतिहास में भी किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के कार्यों का मूल्यांकन उसके उद्देश्य और चरित्र के आधार पर निश्चित किया जाता है। यदि हम परीक्षण के इस वास्तविक मापदण्ड की ही उपेक्षा कर देंगे तो फिर हम सिकन्दर महान द्वारा अपने साम्राज्य विस्तार के लिए किए गए युद्धों और गैरीबाल्डी के नेतृत्व में इटली द्वारा लड़े गए स्वातन्त्र्य संग्राम का महान अन्तर और उसकी पावनता का मूल्यांकन भी नहीं कर सकते। इन विभिन्न कृत्यों का यथायोग्य परीक्षण करने हेतु जिस भांति उनके उद्देश्यों का समझना आवश्यक है, उसी भांति प्रत्येक क्रान्ति का यथायोग्य विवेचन करने के लिए, उसका उद्देश्य क्या था, उसके मूल में कौन सी आकांक्षा बद्धमूल और क्रियाशील थी, किस तत्व से उसका उद्भव हुआ था, इसको भी समझना नितान्त आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक क्रान्ति के इतिहास लेखकों को उस क्रान्ति के परस्पर असंबद्ध प्रतीत होने वाले प्रश्नों अथवा उनके अद्भुत रूप से स्तंभित होकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए अपितु उनके संबंध में शोध करनी चाहिए और यह शोध कार्य उस क्रान्ति के मूल तत्वों की खोज कर लेने तक अबाध गति से जारी रखना चाहिए। उन्ही तत्वों की दूरबीन को हाथ में लेकर उसके माध्यम से ही उस क्रान्ति के विस्तीर्ण प्रदेश का निरीक्षण करना चाहिए। इस रीति से उस क्रान्ति का

अवलोकन करते ही असंबद्ध लगने वाले अनेक तत्व परस्पर पूर्णतः संबद्ध दिखाई देने लगते हैं, वक्र रेखाएं सरल प्रतीत होंगी और जो रेखाएं सरल प्रतीत हो रहीं थीं वे वक्र लगेंगी। अन्धकार में प्रकाश प्रतिविम्बित होगा और जिससे इस दृष्टि से अध्ययन के पूर्व प्रकाश का आभास होता वह वास्तविक अंधकार स्पष्ट हो जाएगा। जिन्हें निम्न घटनाएं माना जाता रहा वे ही उच्चतम घटनाओं के रूप में स्पष्टतः उभर आएंगी और जो घटनाएं पहले महान लगती थीं वे नितान्त सामान्य सी प्रतीत होंगी। विद्रूपता में सुरूपता और सुरूपता में ही विद्रूपता दृष्टि गोचर होगी, अपेक्षित अथवा अनपेक्षित किसी भी रूप में क्यों न हो, किन्तु क्रान्ति का वास्तविक और स्पष्ट ऐतिहासिक रूप उभर आएगा।

किन्तु हिन्दुस्तान में १८५७ ई० में हुई महान और प्रचण्ड क्रान्ति का इतिहास इस शास्त्रीय पद्धति से किसी भी स्वदेशी अथवा विदेशी ग्रन्थकार ने नहीं लिखा। अतः उस क्रान्ति के संबंध में लोगों में विलक्षण व भ्रामक दृष्टि का सृजन हुआ है। इस भ्रमोत्पादन का संपूर्ण दायित्व अंग्रेज लेखकों पर ही आता है। उनमें से कुछ ने तो घटनाओं का विवरण मात्र ही दिया है और इस क्रान्ति के संबंध में अन्य कोई जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास ही नहीं किया। परन्तु अनेक लेखक ऐसे भी हैं जिन्होंने इस क्रान्ति का इतिहास पक्षपात और दुष्ट बुद्धि से प्रवृत्त होकर लिखा है। उनके पूर्व धारणाओं से वोझिल मन और दृष्टि ने उन्हें इस क्रान्ति के मूल तत्वों को या तो देखने ही नहीं दिया अथवा उन्होंने इन्हें देखकर भी अनदेखा और जानकर भी अनजाना किया है।

क्या कोई विचारवान व्यक्ति यह कह सकता है कि सन् १८५७ ई० सरीखी प्रचण्ड क्रान्ति उसे प्रज्वलित करने वाले किसी सिद्धान्त के विना ही हो गई थी? क्या पेशावर से कलकत्ता पर्यन्त उठी प्रचण्ड लहर, बाढ़ सा विकराल रूप लेकर अपनी इस प्रचण्ड शक्ति से किसी न किसी वस्तु को डुवा देने के संकल्प के विना ही प्रवाहित हो उठी थी? दिल्ली के प्रचण्ड घेरे, कानपुर का महान नरमेध साम्राज्य का ध्वजोत्तोलन एवं उस ध्वज को फहराते रखने के लिए संग्राम करते-करते अनेक शूरवीरों का आत्माहुति देना, और इसी प्रकार के अनेक स्फूर्तिदायक कृत्य क्या एक अत्यन्त ही स्फूर्तिदायक साध्य के अभाव में संभव हो सकते थे? ग्रामों में अठवाड़े में लगने वाला बाजार किसी विशिष्ट उद्देश्य को दृष्टिगत रखे बिना नहीं लग पाता। तब फिर हम यह कैसे मान सकते हैं कि जिस बाजार को लगाने की तैयारी वर्षों तक चली थी, और जिसकी दुकानें पेशावर से कलकत्ता तक के प्रत्येक रणक्षेत्र में सजी थी, जिन पर राजधानियों और राज्य सिंहासनों का लेन देन हो रहा था, जिन दुकानों पर चलने वाली रक्त और मांस पिण्ड ही एकमात्र वैध मुद्रा थी, वह बाजार बिना किसी उद्देश्य के ही सजा था और बंद हो गया था।

नहीं, नहीं यह बाजार निरुद्देश्य ही नहीं लगा था और न ही बिना किसी उद्देश्य के ही इसकी दुकानें बन्द हुई थीं। अंग्रेज लेखकों ने इस तथ्य की सदैव उपेक्षा की है, इसलिए नहीं कि इस तथ्य का निर्धारण करना कठिन था, अपितु उन्होंने इसकी उपेक्षा इसलिए की है कि इस सत्य को स्वीकार करना उनके अपने हितों के विपरीत सिद्ध होता है।

किन्तु इस दुर्लक्ष से भी अधिक भ्रान्तितूर्ण एवं '५७ के इस क्रान्तियुद्ध के स्वरूप को भी सर्वतोपरि भ्रष्ट करने वाली जो दूसरी युक्ति अथवा चूक विजातीय एवं उनके नितांत हीन चाटुकार भारतीय इतिहासकारों ने की है, वह यह है कि इसका एक मात्र कारण कतिपय लोगों द्वारा फैलाई गई कारतूसों संबंधी भ्रान्त धारणा थी। अंग्रेज़ इतिहास से प्रेरणा लेने वाले और अंग्रेज़ों से धन प्राप्त करने वाले एक भारतीय लेखक[1] ने कहा है "मूर्ख लोग इस अफवाह के कारण ही पागल हो गए थे कि कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी का उपयोग किया जा रहा है। क्या किसी ने यह भी पूछा कि यह अफवाह सत्य है ? एक व्यक्ति ने कहा और दूसरे ने उस पर विश्वास कर लिया। दूसरा बिगड़ा तो तीसरा भी बिगड़ उठा, अंध परम्परा चालू हो गई और अविचारी तथा मूर्खों का समूह एकत्रित हो गया तथा विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी।"

कारतूसों की बात पर लोगों ने अंधानुकरण करते हुए विश्वास किया अथवा नहीं, इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। परन्तु अंग्रेज़ साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत विवरण का गहन अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति इस निष्कर्ष पर तो अवश्य ही पहुँच जाएगा कि इस क्रान्ति का सम्पूर्ण दायित्व इसी कारतूसों सम्बन्धी अफवाह पर डालने का भरसक प्रयत्न किया है। अतः ऐसे दुष्टबुद्धि किंवा मंदबुद्धि लोगों ने यदि क्रान्ति के पुरोधाओं को "विचारहीन मूर्खों का समाज" कहा है तो इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं है। यदि '५७ की क्रान्ति की ज्वाला का विस्फोट केवल कारतूसों के कारण ही हुआ था तो नानसाहब, दिल्ली के बादशाह, झांसी की रानी अथवा रुहेलखण्ड के खानबहादुर ख़ाँ ने इसमें योगदान क्यों दिया था ? ये तो निश्चित रूप से ही अंग्रेजी सेना में नौकरी करने को नहीं जाने वाले थे, न ही उन्हें इस बात के लिए विवश किया जा रहा था कि वे अपने दांतों से इन कारतूसों को तोड़ें। यदि कारतूसों मात्र से ही इस क्रान्ति का अग्नि पुंज दहका होता तो अंग्रेज गवर्नर जनरल द्वारा इनकी वापसी के आदेश का प्रसारण होते ही क्रान्ति की इस ज्वाला पर पानी पड़ जाना चाहिए था। उसने तो उन्हें यह भी अनुमति दे दी थी कि वे स्वतः ही कारतूसों का निर्माण

---

१. वि० कों० ओक 'शिपायांचे बंड'

कर लें। किन्तु ऐसा करने के स्थान पर, अथवा कम्पनी की नौकरी को ठोकर मारने के स्थान पर रणभूमि में युद्ध करने के लिए कृतसंकल्प होकर उतर पड़े। केवल सिपाही ही नहीं अपितु सहस्रों शान्तिप्रिय नागरिक और राजा महाराजा भी उठे, जिनका सेना से प्रत्यक्ष तो क्या अप्रत्यक्ष रूप से भी कोई संबंध नहीं था। अतः यह सुस्पष्ट है कि ये प्रासंगिक कारण नहीं थे, जिनसे प्रेरित होकर सैनिक उठे, असैनिक उठे तो राजा और रंक दोनों ने ही क्रान्ति की दुंदुभी बजा दी, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही क्रान्ति यज्ञ में समिधा समर्पित करने हेतु सन्नद्ध हो गए।

क्रान्ति के यज्ञ के प्रज्वलित होने के सम्बन्ध में जितनी भ्रान्त धारणा यह है कि इसका कारण कारतूसों में चर्बी होने की अफवाह का प्रसारण था उतना ही अयथार्थ यह कहना भी है कि इसका कारण अवध के राज्य को अंग्रेजों द्वारा हड़प लेना था। इस क्रान्ति के समरांगण में तो अनेकों ही ऐसे लोग भी सिर हथेली पर रखकर अवतरित हुए थे जिनको इस संबंध में कोई रुचि नहीं थी कि अवध के राज्य सिंहासन पर कौन आसीन होता है? तब इस युद्ध के मूल में कौन से कारण थे? अवध का नवाब तो स्वतः कलकत्ता के दुर्ग में बन्दी था और अंग्रेज इतिहासकारों का यह भी कथन है कि उसकी प्रजा उसके कुशासन से नितांत दुखी थी। तब फिर ऐसा क्यों हुआ कि तालुकेदार और सिपाही नहीं अपितु उसकी प्रायः सम्पूर्ण प्रजा ही उसके लिए तलवार म्यान से खींचकर रण-भूमि में उतर पड़ी। उन दिनों बंगाल के 'एक हिन्दू' ने क्रान्ति के संबंध में इंग्लैंड में एक निबन्ध लिखा था। निबन्ध में उस 'हिन्दू' ने कहा है—"जिन्होंने कभी अवध के नवाब को देखा भी नहीं था, और न जिनके लिए भविष्य में कभी उसको देखने की संभावना थी ऐसे कितने सरल एवं दयार्द्र व्यक्तियों ने अपनी-अपनी झोंपड़ियों में नवाब के दुखों पर अपने नेत्रों से शोकाश्रु प्रवाहित किये थे, इसकी कल्पना भी आप लोगों को नहीं! इस अश्रुपात के उपरान्त कितने सैनिकों ने वाजिदअली शाह के अपमान का प्रतिशोध लेने का संकल्प ग्रहण किया था, यह भी तुम्हें विदित नहीं है।"[१]

इन सिपाहियों में यह सहानुभूति की भावना क्यों उत्पन्न हुई थी और जिन नेत्रों ने कभी नवाब को देखा भी नहीं था, वे आँसुओं से परिपूरित क्यों हो उठे थे, उनके कंठ क्यों रुंध गए थे? अतः यह स्पष्ट है कि इस विद्रोह का कारण केवल अवध के राज्य को हड़प लिए जाने मात्र के कारण ही नहीं हुआ था।

चर्बीवाले कारतूस और अवध के सिंहासन का हड़प लिया जाना तो केवल

---

१. यह लेख इण्डिया आफिस के कार्यालय में है।

अस्थायी और निमित्त कारण मात्र थे। इन कारणों को ही वास्तविक कारण जता देने से तो हमें इस महान क्रान्ति की वास्तविक भावना को समझने में सहायता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि हम इन निमित्त कारणों को ही वास्तविक कारण मान लेंगे तो इसका यही तात्पर्य होगा कि इन कारणों के अभाव में क्रान्ति की ज्वाला धधक ही नहीं सकती थी। इसका तो यही अर्थ होगा कि कारतूसों संबंधी धारणा के प्रसारण और अवध की सत्ता के अधिग्रहण के अभाव में क्रान्ति का यह यज्ञ प्रज्वलित ही नहीं हो सकता था। इससे अधिक मूर्खतापूर्ण तथा भ्रान्त अन्य कोई सिद्धान्त निरूपित ही नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यदि चर्बी वाले कारतूसों संबंधी धारणा प्रसारित न होती, तब भी यह कारण, क्रान्ति का यह तत्त्व किसी अन्य माध्यम से अभिव्यक्त होता और उसमें भी इसी प्रकार की क्रान्ति की ज्वाला धधक उठती। यदि अवध का राज्य न भी हड़पा जाता तो इस हड़पने के सिद्धान्त का प्रकटीकरण किसी अन्य राज्य की समाप्ति के रूप में प्रकट हुआ होता। जिस भांति फ्रांस की राज्य क्रांति के वास्तविक कारण मूल्यवृद्धि, बैस्टाइल अथवा सम्राट का पेरिस त्याग और शानदार भोज ही नहीं थे। उनसे क्रान्ति की कतिपय घटनाओं पर तो प्रकाश पड़ता है किन्तु सम्पूर्ण क्रान्ति का दिग्दर्शन नहीं हो पाता। राम-रावण संघर्ष में सीताहरण भी तो निमित्त मात्र ही था। इस संग्राम के वास्तविक कारण तो बड़े ही गहन थे। तब, फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस क्रान्ति के वास्तविक कारण और तत्त्व कौन से थे ? वे तत्व और सिद्धान्त क्या थे जिनसे प्रेरित होकर सहस्रों नरवीरों ने अपनी तलवारें म्यान से बाहर खींचकर स्वतन्त्रता लक्ष्मी का जय जयकार किया था और जिनसे प्रभावित होकर उन्होंने रणभूमि में रक्तस्नान किया था ? निस्तेज हुए राजमुकुटों को सतेज बनाने वाले और भूलुण्ठित पड़े हुए ध्वजों का पुनः उत्तोलन करने वाले ये तत्व कौन से थे जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर वर्षानुवर्ष सहस्रों व्यक्तियों ने अपने उष्ण रक्त से अभिषेक करते रहने की अखण्ड परम्परा का पुनीत प्रारम्भ किया था। जिनके लिए मौलवियों ने फतवे दिये थे तो विद्वान ब्राह्मणों ने शुभाशीर्वाद और जिनकी सफलता के लिए दिल्ली की मस्जिदों व काशी के मन्दिरों में ऊँचे स्वरों से परम पिता परमात्मा से प्रार्थना की गई थी, जिनकी प्राप्ति के लिए श्रीमत् हनुमान ने कानपुर के रणांगण में हुंकार भरी थी तो झांसी की महाराणी ने शुंभ-निशुंभ के रक्त से सनी अपनी पुराण प्रसिद्ध तलवार को पुनः म्यान से बाहर निकाल लिया था ?

वस्तुतः १८५७ के इस स्वातन्त्र्य संग्राम को प्रदीप्त करनेवाले दिव्य तत्त्व थे 'स्वधर्म व स्वराज्य'। अपने प्राणप्रिय धर्म पर भयंकर, विघातक व नितान्त कपटपूर्ण आक्रमण हो रहे हैं, इस तथ्य को समझकर ही स्वधर्म रक्षण हेतु 'दीन दीन

की गर्जना आरम्भ हुई थी। अपने निसर्गप्रदत्त स्वातन्त्र्य को कपटपूर्ण ढंगों से छीने जाने के प्रयासों और राजकीय दासता की लोह शृंखलाओं को प्रिय मातृभूमि के कंठ में डाले जाने के विघातक प्रयत्नों को असफल कर स्वराज्य प्राप्ति की पावन इच्छा की पूर्ति हेतु ही इस दास्य शृंखला पर किए गये प्रचण्ड प्रहार ही इस क्रान्ति का मूल थे। स्वधर्म-प्रीति और स्वराज्य-प्रीति के ये तत्व हिन्दुस्थान के इतिहास में जितनी उदात्तता सहित अभिव्यक्त हुए हैं, उतने अधिक तो किसी देश के इतिहास में भी परिलक्षित नहीं होते। चाहे विदेशी और पक्षपात के चश्मे अपने नेत्रों पर चढ़ाकर लिखनेवालों ने हमारी हिन्दू भूमि के उज्ज्वल चित्र को कितने ही घिनौने रंगों में रंगने का प्रयास क्यों न किया हो, किन्तु जब तक हमारे देश के इतिहास के पृष्ठों में चित्तौड़ का पावन नाम विद्यमान है, सिंहगढ़ का नाम मिटाया नहीं जाता, प्रतापादित्य का नाम अंकित है, गुरु गोविन्दसिंह का नाम विद्यमान है तब तक स्वधर्म और स्वराज्य के मूल सिद्धांत हिंदुस्थान की संतानों की अस्थियों और मज्जा में समाए ही रहेंगे। दासता के आवरण में उन्हें क्षणभर के लिए ढका तो जा सकता है, आखिर सूर्य को भी बादल कुछ समय के लिए ढक ही लेते हैं, किन्तु ज्योंही इन तत्वों रूपी सूर्य की प्रचण्ड किरणें उद्दीप्त होती हैं दासता का यह अन्धकार छट जाता है और ये तत्व सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश के तुल्य ही पुनः उद्दीप्त हो उठते हैं। यह एक तथ्य है जो असंदिग्ध है।

स्वराज्य के लिए हिन्दुस्थान ने कौन से प्रयास नहीं किए, स्वधर्म की रक्षार्थ इस भारत भूमि ने कौन सा ऐसा दिव्य व्रत है, जिसे अंगीकार नहीं किया? "सूरा सोही जानिए जो लड़े धर्म के हेतु। पुरजा पुरजा कट मरे तवहु न छोड़े खेत" (गुरु गोविन्द सिंह) इसी रीति का परिपालन करते हुए स्वधर्म हेतु रणांगण में शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये, फिर भी रणस्थल से पग पीछे न धरा, ऐसे प्रसंगों से तो भारत भूमि का पावन इतिहास परिपूर्ण है।

इन परंपरागत और दिव्य तत्वों के संचार के जितने स्वर्णावसर १८५७ ई० में उपलब्ध हुए थे, उससे पूर्व उतने कभी न हो पाए थे। इन विशिष्ट कारणों ने नितान्त ही आश्चर्यजनक रूप से किंचित मात्र प्रस्फुटित हुई मनोवृत्ति को विलक्षण चेतना प्रदान की। जनता स्वधर्म व स्वराज्य के लिए सशस्त्र और सुसज्जित हो उठी। दिल्ली के सम्राट ने जो घोषणापत्र प्रस्तुत किया था उसमें उन्होंने कहा था— "हे हिन्द भूमि के सपूतो, यदि हम संकल्प कर लेंगे तो शत्रु को क्षण भर में नष्ट कर सकते हैं। हम शत्रुओं का नाश कर अपने प्राणप्रिय धर्म एवं स्वदेश को पूर्ण रूपेण भय मुक्त कर लेने में सफलता प्राप्त कर लेंगे।[१]

---

१. लेकी द्वारा लिखित "फिक्शन एक्सपोस्ड"

ऐसे क्रान्तिकारी समर से अधिक पावन विश्व में और कौन सा युद्ध हो सकता है जो इस वाक्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर लड़ा गया था कि "अपने स्वधर्म और स्वदेश को, जो हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है, भय मुक्त करो?" १८५७ की क्रान्ति का बीज इसी महान और प्रेरक विचार में सन्निहित हैं जो दिल्ली के राज-सिंहासन से गुंजित हुआ था। यह सिद्धान्त था स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा का सिद्धान्त। वरेली से प्रसारित की गई घोषणा में वह कहते हैं "भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों ! उठो ! भाइयो जागृत हो जाओ। परमात्मा के सभी वरदानों में श्रेष्ठतम वरदान है स्वराज्य। जिस अत्याचारी राक्षस ने हमसे कपटपूर्वक उसे छीना है क्या वह उसे हमसे सदा के लिए छीने रहेगा ? क्या परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध किया गया यह कार्य स्थायी हो जाएगा ? नहीं, नहीं अंग्रेजों द्वारा इतने अत्याचार किए जा चुके हैं कि उनके पापों का घट भर चुका है। अब वे आपके प्राणप्रिय धर्म का ही नाश करने की दुर्बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। क्या तुम अब भी हाथ पर हाथ धरकर ही बैठे रहोगे ? परमात्मा की यह इच्छा कदापि नहीं है कि तुम इसी भांति अकर्मण्य बने रहो। अतः उस जगह प्रभु ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के हीं हृदयों में अंग्रेजों को देश से निष्कालित कर देने की महान भावना का सृजन कर दिया है। परमात्मा की कृपा और आप लोगों के प्रचण्ड शौर्य से वे इस भांति पूर्ण रूपेण पराजित कर दिए जाएंगे कि हमारे इस हिन्दुस्थान में उनका कोई चिन्ह भी खोजे से नहीं मिलेगा। छोटे और बड़े के सभी भेद भावों को पूर्वतः विस्मृत कर इस सेना में सर्वत्र समता की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठी है। कारण यह है कि जिसने भी इस पवित्र धर्मयुद्ध में संग्राम रत होने के लिए अपने हाथों में तलवारें संभाली हैं,जो धर्म रक्षार्थ लड़ा जा रहा है, वे सभी समान रूप से ही महान हैं। वे बन्धु हैं, उनमें न कोई छोटा और न ही कोई बड़ा। अतः मैं पुनः कहता हूं कि मेरे हिन्दवासी बन्धुओ, उठो और इस ईश्वरीय एवं दिव्य कर्त्तव्य की पूर्ति हेतु समरांगण में कूद पड़ो।"[1]

क्रान्तिकारियों की उपरोक्त ओजपूर्ण घोषणाओं को देखकर भी जो इस क्रान्ति के तत्व रत्नों को नहीं समझ सकता, वह या तो मन्द बुद्धि है अथवा भ्रमितमति। ईश्वर प्रदत्त अधिकारों की रक्षार्थ संघर्ष करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है, यही समझ कर अपने स्वधर्म और स्वराज्य के लिए भारतीय वीरों ने अपनी तलवारें म्यानों से बाहर खींचीं थी। उसका इससे अधिक प्रमाण और क्या प्रस्तुत किया जा सकता है। विभिन्न स्थानों से समय समय पर प्रकाशित किए गए इन घोषणापत्रों से अधिक एक अक्षर भी लिखना इस क्रान्तियुद्ध की मीमांसा के लिए अनावश्यक ही

---

१. लेकी कृत "फिक्शन एक्सपोस्ड"

है। ये घोषणाएं किन्हीं राह चलते लोगों ने नहीं की थीं अपितु ये शक्तिशाली राज्य सिंहासनों से प्रसारित किए शासन पत्र या आदेश थे। उस समय की उष्णतम भावनाओं की ही इन से अभिव्यक्ति होती है; विक्षुब्ध मनोवृत्ति का ही परिचय मिलता है। इन के माध्यम से वस्तुतः राष्ट्र की हार्दिक भावनाओं का दिग्दर्शन हुआ है, क्योंकि भय अथवा दबाव के कारण इस युद्ध के समय अपनी हार्दिक भावनाओं को दबाए रखने का तो कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं था। स्वधर्म और स्वराज्य का यह प्रबल, प्रचण्ड और शौर्यपूर्ण उद्घोष विश्व को इस क्रान्ति के वास्तविक चरित्र से परिचित करा रहा था जिसमें "जिस जिसने भी शमशीर म्यान से खींचकर हाथों में पकड़ी थी वे सभी समान रूप से शौर्यवान थे।"

परन्तु क्या ये दोनों तत्त्व परस्पर विरुद्ध अथवा विभिन्न समझे जाते थे? स्वधर्म और स्वराज्य इन दोनों का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, ऐसी धारणा पौर्वात्यों की तो कभी भी नहीं रही। जिस प्रकार मैजिनी का कथन था कि स्वर्ग और भूतल में कोई बहुत दूर का अन्तर नहीं है अपितु ये दोनों एक ही वस्तु के दो कोण हैं, उसी भांति पौर्वात्य मन की यह परिपक्व धारणा और विश्वास रहा है। इस स्वधर्म की कल्पना भी स्वराज्य से भिन्न नहीं है, ये दोनों ही साध्य और साधन के रूप में परस्पर संलग्न हैं। स्वधर्म के अभाव में स्वराज्य भी त्याज्य है और स्वराज्य के न होने पर स्वधर्म भी बलहीन होता है। स्वराज्य रूपी लौकिक सामर्थ्य की तलवार स्वधर्म के पारिलौकिक साध्य के लिए सतत् सधी रहनी चाहिए। पौर्वात्य मन की यह धारणा इतिहास में पग-पग पर प्रतिबिम्बित हुई है। पूर्वी देशों के इतिहास में सभी क्रान्तियों ने धार्मिक रूप लिया है, किंबहुना धार्मिक पवित्रता व धर्मसंलग्नता के अभाव में प्रचण्ड क्रान्ति का उद्भव ही सम्भव नहीं है यही साक्षी पूर्वी देशों का इतिहास प्रस्तुत कर रहा है। इनका बीज ही धर्म के विश्व-व्यापक स्वरूप में निहित है। हिन्दुस्थान के इतिहास में आज पर्यन्त अखण्ड रूप से व्यक्त हो रहा स्वराज्य व स्वधर्म का साधन और साध्य का यह तत्त्व १८५७ ई० के इस क्रान्तियुद्ध में भी अभिव्यक्त हुआ था, इसमें आश्चर्य की तो कोई बात ही नहीं है। हम दिल्ली के सम्राट् द्वारा प्रसारित प्रथम घोषणा का तो उल्लेख कर ही चुके हैं। तदुपरान्त जब दिल्ली पर अंग्रेजों ने अपना घेरा डाल दिया और दुर्धर्ष संग्राम छिड़ गया तो सम्राट् ने एक अन्य घोषणा सभी भारतवासियों के नाम प्रसारित की। उसमें कहा गया था कि—"जमी राजगान वो रोसाए हिन्द पर वाझे हो के तुम बेहाया ऊजू : नेकी और फय्याजी में मुरतइर उद्दईर हो... खुदाबन्द ने तुमको ये मर्तबए आली और मुल्क और दौलत और हुकूमत इसी वास्ते बख्शी है कि तुम उन लोगों को जो तुम्हारे मजहब में दखल-

न्दाजी करें गारत करो।"[1]

(अर्थात् ईश्वर ने सम्पत्ति, देश, अधिकार ये सब किस कार्य के लिए आपको दिए हैं ? ये केवल व्यक्तिगत सुखादि के लिए ही प्राप्त नहीं हुए अपितु स्वधर्म संरक्षण के पावन कर्तव्य का पालन करने के लिए ही इनकी प्राप्ति हुई है।)

परन्तु इस अन्तिम और पावन उद्देश्य की प्राप्ति के अब साधन ही कहां हैं ? स्वराज्य का वह वरदान कहां है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, जो परमात्मा के सभी वरदानों में सर्वश्रेष्ठ है ?

धन कहां है ? भूमि कहां है ? सत्ता कहां है ? इस दासता की इस महामारी ने तो प्रभु प्रदत्त इन सभी वरदानों को, इन सभी स्वतन्त्रताओं को मृतप्रायः कर दिया है। यह बताने के लिए कि दासता की इस महामारी किस प्रकार भारत का विनाश कर रही है, इस घोषणा में नागपुर, अयोध्या और झांसी के स्वराज्यों को कैसे धूल में मिलाया गया है इसका भी विस्तृत विवरण उपलब्ध है। और इसमें जनता को जागृत करने के लिए यह भी कहा गया है कि धर्म की साधना के इन साधनों को गंवा कर तुमने परमात्मा की दृष्टि में भी अपराध ही किया है। "ईश्वर की आज्ञा यही है कि स्वराज्य का सम्पादन करो, इसका कारण यह है कि स्वधर्म के संरक्षण का मूल भी इसी में निहित है। जो स्वराज्य का सम्पादन नहीं करता, जो दासता की स्थिति में भी तटस्थता का ही प्रदर्शन करता रहता है वह अधर्मी भी है और देशद्रोही भी। अतः स्वधर्म के लिए उठो और स्वराज्य की स्थापना का पुनीत कार्य सम्पादित करो।"

"स्वधर्म के लिए उठो और स्वराज्य की स्थापना करो," इस तत्त्व ने भारत के इतिहास में कितने दैविक चमत्कार किए हैं ? श्री समर्थ स्वामी रामदास ने भी २५० वर्ष पूर्व मराठों को यही आह्वान दिया था—

"धर्मासाठी मरावें । मरोनी अवध्यांसि मारावें ।
मारिता मारिता ध्यावें । राज्य आपुले ॥[2]

वस्तुतः सत्तावन के क्रान्तिसमर का यही तात्विक कारण था। इस क्रान्तियुद्ध का यही मनःशास्त्र था, जिस दूरबीन से इस युद्ध के स्पष्ट तथा सत्य स्वरूप के दर्शन होते हैं, वह यही दूरबीन थी। स्वराज्य और स्वधर्म की स्थापना के जिन

---

१. उपरोक्त घोषणा श्री कन्हैयालाल द्वारा प्रकाशित "तारीखे बगावते-हिन्द" उर्दू पुस्तक से उद्धृत की गई है।

२. अपने धर्म के लिए प्राण दो। अपने धर्म के लिए शत्रुओं का वध करो, चाहे तुम प्राण ही क्यों न छोड़ रहे हो। इसी प्रकार युद्ध करो और वध करो तथा अपने राज्य की स्थापना करो।

पावन उद्देश्यों के लिए यह क्रान्तिसमर छेड़ा गया था उनकी पावनता को इस युद्ध में मिली पराजय भी भंग नहीं कर पाई। गुरु गोविन्दसिंह के प्रयत्न सफल नहीं हो पाए थे किन्तु इस असफलता के मिलने पर भी उनके दिव्य जीवन और महिमा में तो कोई न्यूनता नहीं आ पाई। १८४८ ई० की इटली की क्रान्ति साफल्यमण्डित नहीं हुई, केवल इसीलिए तो उस क्रान्ति के पुरोधाओं के पुण्यत्व में कोई न्यूनता नहीं आ गई थी।

जस्टिन मैकार्थी ने कहा है—"वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय प्रायद्वीप के सम्पूर्ण उत्तरी एवम् उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध देशीय जातियों ने विद्रोह कर दिया था। केवल सिपाहियों ने ही विद्रोह नहीं किया, इसे कोरी सैनिक क्रान्ति का ही नाम नहीं दिया जा सकता। यह तो भारत पर आंग्ल सत्ता के विरुद्ध सैनिक कठिनाइयों, राष्ट्रीय घृणा और धार्मिक कट्टरता का संयुक्त उभार था। इसमें देशी राजाओं और सैनिकों ने भी भाग लिया। मुसलमान और हिन्दुओं ने अपने शताब्दियों के धार्मिक विरोध को भुलाकर ईसाईयों के विरुद्ध हाथ मिलाए थे। घृणा और चिन्ता ने इस महान विद्रोही आन्दोलन को प्रोत्साहित किया था। चर्बीवाले कारतूसों के विवाद ने तो केवल चिन्गारी दहकाई और उस चिंगारी ने सभी ज्वलनशील पदार्थों में आग भड़का दी। यदि इस चिन्गारी से अग्नि प्रज्वलित न होती तो किसी अन्य माध्यम से भी यही कार्य संपन्न हो जाता।...मेरठ के सिपाहियों ने क्षण भर में ही एक नेता पा लिया, उन्हें एक ध्वज भी मिल गया और उद्देश्य भी और यह विद्रोह एक क्रान्तियुद्ध में परिणत हो गया। जब वे प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियों से जगमगाती यमुना के तट पर पहुंचे तो उन्होंने अनजाने में ही इतिहास की एक निर्णायक घड़ी को प्राप्त कर लिया तथा सैनिक विद्रोह को **एक राष्ट्रीय धर्मयुद्ध में परिणत कर दिया।**"[1]

चार्ल्स बाल ने लिखा है, "आगे चलकर धारा किनारों को तोड़कर बह निकली और उसने भारत की नैतिक वसुन्धरा को आप्लावित कर दिया। उस समय तो यही आशा की जाती थी कि ये धाराएं सम्पूर्ण योरोपीय तत्त्वों को विनष्ट कर निगल जाएंगी। जिस समय विद्रोह की यह धारा पुनः मर्यादित होगी और अपने आपको सीमाओं में आबद्ध कर लेगी तो राष्ट्रभक्त भारत अपने विदेशी शासकों से अपने आपको स्वतन्त्र कर लेगा तथा वह देशी राजाओं के स्वतन्त्र राज्यदण्ड के सम्मुख नतमस्तक होगा। अब यह और भी अधिक महत्वपूर्ण रूप ग्रहण कर चुका था। यह विद्रोह उस **सम्पूर्ण** जनता के विद्रोह का रूप धारण कर चुका था जो काल्पनिक गलतियों से क्षुब्ध होकर भड़क उठी थी और घृणा और

---

1. **हिस्ट्री आफ आवर टाइम्स, तृतीय खण्ड।**

कट्टरता के भ्रम में आवद्ध हो चुकी थी।"[1]

ह्वाइट ने अपने 'महान सिपाही विद्रोह का सम्पूर्ण इतिहास' में लिखा है— "यदि मैं अवधवासियों के द्वारा प्रदर्शित साहस की प्रशंसा नहीं करूंगा तो एक इतिहासकार का पावन दायित्व न निभा पाऊंगा। नैतिक दृष्टि से अवध के तालुकेदारों की एक महान भूल यह थी कि उन्होंने हत्यारे विद्रोहियों से हाथ मिलाया। किन्तु इसके लिए भी उन्हें सद्‌उद्देश्य से प्रेरित निष्ठावान् देशभक्तों के रूप में मान्यता दी जा सकती हैं, क्योंकि वे अपनी मातृभूमि और सम्राट् के लिए संग्राम कर रहे थे।—स्वराज्य और स्वधर्म के लिए संघर्षरत हुए थे।"

१. इण्डियन म्युटिनी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६४४

: २ :

कारण, और कारण

स्वधर्म और स्वराज्य के देवता के अधिष्ठान की स्थापना हेतु '५७ का जो स्वातन्त्र्य संग्राम प्रारम्भ हुआ था उसका संकल्प किस दिन ग्रहण किया गया था ? अंग्रेज़ इतिहासकारों का मत है कि डलहौजी साहब के क्रिया-कलापों के कारण ही इस स्वातन्त्र्य युद्ध का संकल्प ग्रहण किया गया था। किन्तु उनकी यह मान्यता नितान्त ही भ्रामक है। जिस क्षण हिन्दुस्थान के पावन तटों पर परतंत्रता की पहली छाया पड़ी थी, उस दिन बेचारे डलहौजी ने क्या किया था ? हिन्दुस्थान की जन्म-प्रदत्त स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसको परतन्त्रता का पाश पहनाने और स्वधर्म के स्थान पर ईसाईयत लादने का पापी विचार जिस दिन प्रथम बार अंग्रेज व्यापारियों के मन में उद्भूत हुआ था, उसी दिन से हिन्दूभूमि के अन्तः-करण में क्रान्ति की चेतना का भी संचार हो गया था। सत्तावन् के क्रान्तियुद्ध का कारण अच्छा शासन अथवा निकृष्ट शासन नहीं अपितु केवल मात्र 'शासन' ही था। श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट शासन तो गौण प्रश्न था वास्तविक प्रश्न तो 'शासन' का ही था। जिस हिन्दुस्थान का संरक्षण उत्तर में नगाधिराज हिमा-लय और दक्षिण में सागर देवता द्वारा किया जाता रहा है, उस निसर्गबलिष्ठ और निसर्गप्रिय हिन्दुस्थान पर अंग्रेजों का अनैसर्गिक राज्य चालू रहने दिया जाए अथवा नहीं इस प्रश्न के अधिष्ठान पर '५७ का क्रान्तियुद्ध प्रारम्भ हुआ था, यह तो सत्य है, किन्तु क्या इसकी मूल उत्पत्ति भी उसी समय हुई थी अथवा नहीं यह प्रश्न पहले उपस्थित होता है।

मैज़िनी ने कहा है—"स्वतन्त्रता प्रत्येक का निसर्गदत्त अधिकार है, अतः इस निसर्ग-प्रदत्त अधिकार का अपहण करने वाले प्रत्येक अत्याचारी का उच्छेद करना भी निसर्गसिद्ध कर्तव्य है। व्यक्ति, राष्ट्र एवम् मानव जाति की प्रगति के लिए उसमें चैतन्य या सृजन होना अपरिहार्य है। परन्तु जहां स्वातन्त्र्य नहीं, वहाँ चैतन्य का उदय भी हो पाना असंभव है। जो लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है वह लोगों की प्रगति का विरोध कर परपीड़न का अक्षम्य पाप ही करता है। इतना ही नहीं वह सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति पाप करता है। अतः अपने

आपके पैरों पर कुठाराघात करता है और आत्महत्या के भयानक पाप का अधिकारी होता है। इस प्रकार का पाप कर आज पर्यन्त किसका उद्धार हुआ है ? दासता की यह शृंखला अपने ही मानव बन्धुओं के पैरों में डालने वाला, परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने वाला कौन सा पक्ष आज तक विजय प्राप्त कर पाया है ? स्वतन्त्रता और दासता के इस संघर्ष में सदैव स्वतन्त्रता के गले में ही जयमाला पड़ती आई है ![1]

सीले ने कहा है कि अंग्रेजों का हिन्दुस्थान से जो संबंध स्थापित हुआ वह निसर्ग की चेष्टा थी। इन दोनों देशों में किसी प्रकार का भी नैसर्गिक बन्धन नहीं। उनका रक्त पृथक् है, उनका धर्म भिन्न है और उनके हित और अहित भी पृथक-पृथक हैं[2] परन्तु इन सब बातों को भुलाकर जिस वर्ष क्लाइव नें अन्याय का साम्राज्य स्थापित करने के हिए प्लासी की रणभूमि में रक्त और मांस का आधार रखा, उसी १७५७ के वर्ष में इस क्रान्तियुद्ध का संकल्प भी ग्रहण कर लिया गया था।

इस स्व-स्वातन्त्र्य की स्थापना के लिए अन्य किसी भी कारण की अपेक्षा अंग्रेजों के युद्ध ही सहायक हुए हैं ! उन्होंने इस क्रान्तियुद्ध का बीज कहाँ नहीं रोप दिया था ? वारेन हेस्टिंग्ज ने काशी, रुहेलखण्ड और बंगाल में अपनी गतिविधियों से इसका बीजारोपण किया था तो वैल्जली ने मैसूर, आसाई, पूना, सतारा और उत्तरी भारत की उपजाऊ भूमि में इसे बो दिया था। इस बीजारोपण में कोई परिश्रम नहीं किया गया था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका आरोपण तो तलवारों और बन्दूकों के हल चलाकर किया गया था। इसकी साक्षी तो शनीवारवाड़ा, सह्याद्रि पर्वतमाला के उच्च शिखर, आगरा का दुर्ग एवं दिल्ली का राजसिंहासन प्रस्तुत कर रहे थे। जब ये उच्च चट्टानें तोड़कर सपाट कर दी गईं तो यत्र तत्र भूल से जो छोटे मोटे पाषाणखण्ड छूट गए थे उन्हें भी सपाट किया जाने लगा था।

वचनभंग, अविश्वास, घात, अत्याचार इत्यादि के माध्यमों से ये छोटे छोटे राज्य भी मिटाए जाने लगे। सेना में देशी सैनिकों का अपमान किया जाने लगा। इनपर उन्मत्त फिरंगी अधिकारी चाबुकों से प्रहार करते थे। इन सैनिकों के पराक्रम से ही अंग्रेजों को नवीन प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई थी, जिस पौरुष का प्रदर्शन करने पर देशी सैनिकों को मराठा व निजाम शासन में जागीर मिलती थी उसी के बदले में कंपनी उन्हें केवल मधुर शब्दों में

---

१. "मानव के कर्तव्य'

२. इग्लेंड का विस्तार, पृष्ठ २१४

प्रशंसा की ही बख्शीश प्रदान कर रही थी। इस स्थिति का चित्रण निम्नलिखित उद्धरण से भली भांति स्पष्ट हो जाता है।

"यदि उसे (देशी सैनिक) को अपना सम्पूर्ण जीवन अपनी पूर्ण क्षमता का प्रदर्शन करते हुए सेना में लगाना पड़ता था तो जो सर्वाधिक सम्मान उसे प्राप्त हो पाता था वह थी सूबेदारी। एक अंग्रेज सार्जेन्ट भी अपने से उच्च पद पर नियुक्त देशी अधिकारियों पर हुकुम चलाता था। परेड में भी अंग्रेज अधिकारी भूल करते थे तथा आदेश देते समय गलत शब्दों का प्रयोग करते थे, किन्तु इसका सम्पूर्ण दोष सिपाहियों पर डालकर वे उनकी निन्दा और भर्त्संना किया करते। इतना ही नहीं, जो देशी अधिकारी सेना में सेवा करते-करते वृद्ध हो गये थे उन्हें भी यूरोपियन खुले आम अपशब्द कहते थे।······देशी शासकों की सेनाओं के समान उन्हे यात्रा को पूर्ण करने के लिए हाथी और पालकियाँ प्राप्त नहीं होती थीं, फिर चाहे उन्हें कितनी भी लम्बी यात्रा क्यों न करनी पड़े। वे कहते थे—निजाम और मराठी सरदारों के सिपाही भी हमारे सूबेदारों और जमादारों से अच्छा जीवन व्यतीत करते थे। अंग्रेज अधिकारी देश की सुन्दरतम महिलाओं के जनानखानों में भी प्रविष्ट हो सकते थे।···और इस सब की पराकाष्ठा तो तब हो गई थी जबकि जनरल आर्थर वेल्जली ने अपने घायल सैनिकों को निर्ममता-सहित गोलियों से उड़ा देने का आदेश दे दिया था।"[१]

इस भाँति अंग्रेज द्वारा क्रान्तियुद्ध का बीजारोपण स्वतः हिन्दुस्थान के कोने कोने में कर रहे थे और अब यह स्पष्ट हो गया था, ऐसे संकेत चिह्न प्रतिबिम्बित होने लगे थे कि उनके प्रयत्न अब शीघ्र ही सफलता का वरण करने वाले हैं।

डलहौजी

जिस दिन परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध स्पेन देश ने नीदरलैण्ड की भूमि पर अपनी दासता का अपावन पास फेंका था उसी दिन, नीदरलैण्ड और स्पेन में जिसके कारण सहस्रों संघर्ष हुए, उस क्रान्तियुद्ध की भूमिका सुनिश्चित हो गई थी। केवल वह युद्ध कहाँ और कैसे होगा, इसका निर्धारण ही स्पेन के आल्व्हा नामक गवर्नर के क्रिया कलाप से निर्धारित हुआ। जिस क्षण आस्ट्रिया ने इटली के पैरों में दासता की बेड़ियां ठोंकी, उसी दिन अनेक पराजयों किन्तु अन्तिम विजय के रूप में परिणत हुए क्रान्तियुद्ध का निश्चय हो गया था। केवल उस महान युद्ध की तिथि का निश्चय ही माटर्नी के अत्याचारों के कारण हो पाया। इसी भांति जिस दिन अंग्रेजों ने इस हिन्दु भूमि पर अपनी दासता का पास लादने

१. —के कृत इंडियन म्यटिनी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १६०-६१

के लिए राक्षस सरीखा धावा बोला, उसी दिवस हिन्दुओं और अंग्रेजों में होने वाले अभूतपूर्व और दुर्धर्ष तथा भयंकर युद्ध का भी निश्चय हो गया था। उसका आरम्भ कैसे होगा यही डलहौजी के कारण निर्धारित हुआ। डलहौजी के क्रिया-कलापों के कारण हुए अमानुषिक अन्याय की आग को ठण्डा करने के लिए अंग्रेज-सत्ता ने कुछ पग भी उठाये, किन्तु फिर भी इस कार्य द्वारा अन्तिम रण संग्राम को टाला नहीं जा सका। इसका कारण यह है कि प्रत्येक देश पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयास करता है, यह नैसर्गिक तर्कशास्त्र का अवाधित गति से चलने वाला अन्तिम सिद्धान्त है। इस नैसर्गिक नियम के विपरीत आचरण कर यदि किसी राष्ट्र ने वलपूर्वक दासता की शृंखला किसी राष्ट्र के पैरों में डालने का प्रयास किया, तो भले हो वह स्वर्ण शृंखला क्यों न हो, काल के घनाघात से उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, यह सुनिश्चित तथ्य है। तथापि जहाँ जहाँ दासता आती है, वहाँ अत्याचारों का क्रम भी आरम्भ होता ही है। अतः जहाँ जहाँ तक फिरंगियों का राज्य पहुँचा वहाँ तक डलहौजी का भी प्रादुर्भाव हुआ। इसका कारण यह है कि विना अत्याचारों के तो किसी को दास बनाकर रखना भी अशक्य ही है। इसी भांति विना डलहौजी के फिरंगी का राज्य स्थापित होना भी असंभव ही था, यह भी एक सत्य तथ्य है।

दूसरे देश पर अपनी अन्यायपूर्ण सत्ता चलाने का सिद्धान्त जब स्वीकृत कर लिया जाए तो जो भी इस सत्ता को प्रचण्डता सहित थोपने का प्रयास करता है, उसे ही श्रेष्ठता का अधिकार दूसरे को दास बनाने के प्रयास में संलग्न राष्ट्र दिया ही करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जो अत्यन्त अन्यायी होता है उसकी गणना वह राष्ट्र अपने श्रेष्ठतम पुरुष के रूप में ही करता है। उसके अन्यायों का नितान्त ही आश्चर्यजनक सफलताओं के रूप में वर्णन किया जाता है, कारण इस विधि का अनुगमन करने के अतिरिक्त उसके समक्ष अन्य कोई मार्ग भी तो अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस नियमानुसार जहाँ जहाँ भी अन्याय व अधर्म से चढ़ाइयां आरम्भ हुईं वहीं वहीं डलहौजी भी विद्यमान था ही। यह अनीतियों पर आधारित साम्राज्य जहाँ जहाँ भी विस्तृत हुआ वहाँ एक क्या अनेकों डलहौजी सरीखा आचरण करने वाले सक्रिय थे।

परन्तु इन सभी डलहौजियों को पछाड़ देने वाला ऐसा एक आंग्ल डलहौजी १८४८ ई० में भारत आया। डलहौजी को अंग्रेज इतिहासकारों ने 'साम्राज्य निर्माता' की संज्ञा से विभूषित किया है। इसीसे उसके चरित्र और क्षमता का सही रूप हमारे सामने उभर आता है। वह वस्तुतः १०० वर्ष से चली आ रही अंग्रेजों की अनीतियों और दुर्नीतियों का ही मूर्त परिणाम था। स्वभाव से जिद्दी, प्रचण्ड आत्म-विश्वास की प्रतिमा थी वह। साम्राज्यवाद की भावना जिसके रक्त

और नस नस में प्रवाहित हो रही थी ऐसे इस महान धूर्त ने भारत के तट पर पग धरा और उसने यह संकल्प भी व्यक्त किया कि "मैं भारत की भूमि को सपाट करके रख दूंगा।"

दस्यु टोली का नायक अपना प्रथम लक्ष्य यही रखता है कि इस बात का पता लगाए कि किस घर में संपत्ति संग्रहीत है और उस ओर उसका प्रथम बार ही प्रस्थान करना भी स्वाभाविक ही है। ऐसा संपत्ति से परिपूर्ण घर उसे जहाँ भी दृष्टिगोचर होता है वह पहले उसे ही फोड़ने का प्रयास किया करता है जिससे कि उसे चूर्ण चूर्ण किया जा सके। इस कृत्य के करते समय न्याय और अन्याय का विचार किया जाना ही अस्वाभाविक है। यह असंभव भी है और विघातक भी। ज्यों ही वह न्याय अन्याय पर विचार करना आरम्भ कर देता है, त्यों ही उसकी दस्युवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। वस्तुस्थिति यह होने के कारण अंग्रेज द्वारा हिन्दुस्थान पर डाली गई भयंकर डकैती, अंग्रेजों का शासन और उस शासन को स्थिरता प्रदान करने वाले और उस डकैती का वर्धन करने वाले उसके कृत्य न्याय-पूर्ण थे अथवा अन्यायपूर्ण इसको सिद्ध करने के लिए इतिहास का छिद्रान्वेपण व्यर्थ ही होगा। सन्धिपत्र, वचन, मैत्री इत्यादि को दस्युओं के इतिहास में कोई स्थान नहीं प्राप्त हुआ करता, इस तथ्य को ध्यान में रखने के उपरान्त इतिहास में खोज-बीन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। फिर वारेन हेस्टिंग्ज ने नन्दकुमार की न्याय से हत्या की अथवा अन्याय से एवं उस वारेन हेस्टिंग्ज को अंग्रेजों ने निरपराध ही क्यों घोषित कर दिया, इसके लिए कागज काले करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सद्वृत्ति वाले लोग अपने भोलेपन और स्वभाव के अनुरूप उसका स्मरण कर, उसकी तिथियों का संकलन कर एवं धर्मशास्त्रों के उद्धरण देकर अथवा अन्य अनेक प्रकार की वाक्य रचनाओं अथवा परंपरा का आधार दिखाकर अपने घर पर धावा बोलने वाले दस्यु के प्रति विरोधभाव अथवा सहानुभूति उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करते हैं, किन्तु दुर्बुद्धि एवं चतुर तथा धूर्त व्यक्ति उनकी इस निष्फल छटपटाहट पर हँसे बिना नहीं रह पाते। सभी दस्युओं पर घटित होने वाला यह सत्य डलहौजी सरीखे दस्युनायक के संबंध में तो और भी अधिक सत्य सिद्ध होता है। उसके कार्यों के संबंध में न्याय एवं अन्याय की विवेचना करते रहना तो कोरी मूर्खता ही कही जा सकती है। डलहौजी हिन्दुस्तान की भूमि को सपाट कर उसमें ब्रिटिश राज्य सत्ता का सिंहासन सुदृढ़ करने हेतु आया था। केवल इसी एक तथ्य को दृष्टिगत रखना पर्याप्त होगा। निसर्ग सुन्दर हिन्दू भूमि को अपना क्रीड़ा केन्द्र बनाना ही जिसका अंतिम उद्देश्य था। उस दुर्योधन के क्रिया-कलापों की विवेचना में न्याय और अन्याय की समीक्षा कैसी ? उसने तो अपनी पापी वासना को तृप्त करने के लिए जो भी साधन

अपेक्षित हुए उन सभी का उन्मुक्त होकर उपयोग किया।

उसके इन साधनों में पंजाब में हुए युद्धों को प्रथम साधन के रूप में स्थान प्राप्त हुआ था। डलहौजी ने हिन्दुस्थान के तट पर ज्योंही अपने अपावन पग धरे त्योंही तत्काल उसकी दृष्टि पंजाब पर पड़ी। उसने तत्काल इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया कि जब तक पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह की पुनीत पताका फहरा रही है तब तक इंग्लैण्ड के लिए अपनी पापवासना की पूर्ति कर पाना भी सम्भव नहीं हो सकता। इस वस्तुस्थिति को समझकर उसने यह संकल्प किया कि 'येन केन प्रकारेण' पंजाब के सिंहासन पर अपनी दासता की मुहर लगानी ही होगी। पंचनद के सिंह को पराधीनता की गुफा में वन्दी बनाना ही होगा। किन्तु पंजाब के इस सिंह के पंजे और जबड़े भी दुर्बल नहीं थे। जब उसने देखा कि उसकी मांद पर संकट आकर खड़ा हो गया है तो उसने चिलियानवाला के द्वार से बाहर आकर अपने शत्रु पर अपने पैने पंजों से प्रचण्ड प्रहार किया और वह भी ऐसा कि उसकी छाती से रक्तस्राव होने लगा। किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि जब पंजाब का यह सिंह चिलियानवाला की अपनी गुफा के प्रवेश-द्वार पर सन्नद्ध खड़ा था उसी समय एक देशद्रोही ने गुजरात की ओर से इस दृढ़ भित्ति को तोड़ दिया। सिंह आश्चर्यचकित रह गया किन्तु साथ ही घेरे में भी आ गया। गुजरात की दिशा से शत्रु ने इस सिंह की कन्दरा में प्रवेश पा लिया और यह कन्दरा ही सिंह के लिए पिंजरामात्र बनकर रह गई। महाराजा रणजीतसिंह की पट्टराणी चांदकुंवर ने लन्दन में घुट-घुटकर दम तोड़ा तो उनके पुत्र दिलीपसिंह को भी फिरंगी शत्रु के द्वारा भिक्षा स्वरूप प्रदत्त टुकड़ों और अन्न पर ही जीवन निर्वाह करना पड़ा।[1]

अब हिमालय की शैलमालाओं से सुदूर दक्षिण में स्थित कन्याकुमारी पर्यन्त ब्रिटिश पराधीनता का पटल भारत वसुन्धरा पर पड़ चुका था। किन्तु अभी भी सिन्धु नदी से इरावती पर्यन्त हिन्दुस्थान पर ब्रिटिश दासता का पाश पड़ गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता था। अब प्रतीक्षा किस बात की थी। डलहौजी सम-

---

१. रणजीतसिंह के साम्राज्य के उत्तराधिकारी दलीपसिंह की दुर्दशा की साक्षी कौन देगा। किन्तु 'निष्पक्ष' Kaye ने लिखा है—दिलीपसिंह के लिए यह एक सुखद परिवर्तन था।...कि अपने जीवन के १२वें वर्ष में ही वह गवर्नर जनरल का आश्रित हो गया और उसे बंगाल की सेना के एक सहायक कर्मचारी की देखरेख में रखा गया, जो इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति था, जिसके निर्देशन में सिख राजकुमार का विकास एक भद्र ईसाई, एक अंग्रेज दरबारी के रूप में हुआ।"

भता था कि ब्रह्म देश में एक 'शान्ति मिशन' भेजा कि कार्य पूर्ण हो जाएगा। इस 'शान्ति मिशन' ने ब्रह्म देश की शान्ति की ग्रीवा को इस भांति घोंटा, इतने प्रेम सहित आलिंगन किया कि उसका अस्थिपिंजर तक खण्ड-खण्ड हो गया और उसका निधन हो गया। यह प्रेमपूर्ण कृत्य भी सम्पन्न कर दिया गया और ब्रह्मदेश पर भी पराधीनता का पटल पड़ गया। अब कम-से-कम हिमालय से रामेश्वर पर्यन्त समग्र हिन्दुस्थान, सिन्धु से ईरावती पर्यन्त सम्पूर्ण भारतभूमि रक्तिम रंग में सरावोर हो गयी! किन्तु डलहौजी! क्या तुम्हें इस बात का भय नहीं था कि यह देश अभी और भी अधिक रक्तिम रंग में रंग जाने वाला है।

पंजाब एवं ब्रह्मदेश पर अंग्रेजों की विजय का तात्पर्य केवल इन दो नामों के उच्चारण मात्र से तो स्पष्ट नहीं हो पाता। केवलमात्र पंजाब ही ५० हजार वर्ग मील का क्षेत्र था, जिसकी जनसंख्या ४० लाख थी। जिन पांच सरिताओं के पावन तट कभी ऋषियों के श्रीमुखों से उच्चारित वेदों के पावन मन्त्रों से गुंजित हुए थे, जिसे इन सरिताओं ने अपने निर्मल जल से उर्वरा बनाया था वह था यह पंचनद प्रदेश। इसी प्रदेश पर अपना विजय ध्वज फहराने के लिए एक दिन अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) आया था, किन्तु इस प्रदेश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने हेतु पौरस ने उसके पौरुष को चुनौती दी थी। ऐसे प्रदेश पर अधिकार कर लेने के उपरान्त तो रावण सरीखे राक्षसराज की महत्वाकांक्षा भी परिपूर्ण हो जाती। परन्तु डलहौजी को ऐसे पंजाब प्रदेश एवं ब्रह्मदेश को आंग्ल दासता की शृंखलाओं में आबद्ध कर लेने मात्र से ही सन्तोष नहीं हुआ। यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमाओं का विस्तार हो गया था, किन्तु अभी भी कतिपय प्राचीन साम्राज्यों के ध्वंसावशेष अवशिष्ट थे। अतः डलहौजी ने इन सभी का मूलोच्छेदन कर सम्पूर्ण धरती को ही सपाट कर देने का संकल्प किया। इन प्राचीन राजवंशों के ध्वंसावशेष में पर्याप्त भूखण्ड ही नहीं था, अपितु डलहौजी के मन में यह आशंका व्याप्त थी कि इन्हीं खण्डहरों से, इन्हीं समाधियों से भारत के साथ किए गए अन्यायों का प्रतिशोध लेने वाले भविष्य में उठकर खड़े हो सकते हैं। यह सम्भावना डलहौजी के मानस पटल पर पूर्णतः छाई हुई थी।

सतारा के ध्वंसावशेषों में एक महान हिन्दू साम्राज्य; हिन्दू पदपादशाही का स्वर्णिम अतीत दबा पड़ा था। जिस व्यक्ति को ईसामसीह के पुनः जीवित होने का विश्वास था, उसके सम्बन्ध में यह धारणा बनाना भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि वह इस आशा से प्रकम्पित हो कि सतारा से ही कोई भावी हिन्दू सम्राट उठकर खड़ा हो जाएगा जो विदेशियों को परास्त कर स्वराज्य की स्थापना कर लेगा। १८४८ ई० अप्रैल मास में सताराधिपति अप्पा साहेब का निधन हो गया, यह सूचना प्राप्त होते ही डलहौजी ने इस राज्य को भी उदरस्थ कर लेने

का निश्चय कर लिया। और इसका कारण क्या था? सतारा नरेश का कोई प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं था। प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी न होने पर मजदूरी करके पेट की ज्वाला शांत करने वाले किसी श्रमिक की कुटिया को भी कोई जब्त नहीं करता, अपितु उसका अधिकार उसके दत्तक पुत्र अथवा उसके किसी निकटस्थ संबंधी को वह कुटिया सौंप दी जाती है। किन्तु सतारा की सत्ता तो किसी कृषक की कुटिया अथवा झोंपड़ी नहीं था। वह तो अंग्रेजों की बराबरी की 'दोस्त सरकार' थी।[1] १८३९ ई० में छत्रपति प्रतापसिंह पर ब्रिटिश राज्यसत्ता का तख्ता उलटने का प्रयास करने का आरोप लगाकर उन्हें सिंहासनच्युत करके उनके स्थान पर अंग्रेज सरकार ने छत्रपति अप्पासाहब को सिंहासनारूढ़ किया था। इस पदच्युति के सम्बन्ध में मि० आर्नोल्ड ने अपनी पुस्तक 'Dalhousie's Administration', में लिखा था—"It is not pleasant to dwell upon the circumstances of the dethronement—so discreditable they were!' इस लज्जाजनक पदच्युति के उपरांत, जिसको अंग्रेजों ने प्रतापसिंह के स्थान पर सिंहासनारूढ़ किया वह भी पुत्र नहीं अपितु भाई ही था, और इस प्रकार पुत्र न होने पर इतर संबंधी को उत्तराधिकारी घोषित करने की हिन्दू शास्त्रीय पद्धति को मान्यता प्रदान करते हुए सिंहासनाधिकारी की नियुक्ति की थी। किन्तु अपनी इसी स्वीकृत पद्धति को विश्वासघात की रीति का पालन करते हुए डलहौजी महोदय ने स्वतः भंग कर दिया, इस सत्य का कदापि खण्डन नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति किसी भी बात की आड़ लेकर यह नहीं कह सकता कि अंग्रेजों ने जिन विभिन्न राजाओं से सन्धियां की थीं, उसमें उन्होंने दत्तक पुत्रों को अपने उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता नहीं दी थी। १८२५ ई० में कम्पनी ने कोटा के राजा के दत्तक पुत्र को मान्यता देते हुए सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि "कोटा के राजकुमार के इस अधिकार को मान्यता दी ही जानी चाहिए कि उन्हें शास्त्रों के नियमानुसार दत्तक पुत्र ग्रहण करने और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार है।"[2]

पुनः जब १८३७ ई० में ओरछा के राजा ने पुत्र को गोद लिया तो अंग्रेजों ने

---

१. अंग्रेज सरकार अपनी ओर से वह देश अथवा क्षेत्र, जिसको विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है, सरकार अथवा महाराजाधिराज छत्रपति (सतारा-नरेश) को देने पर सहमत है। हिज हाइनेंस महाराजा छत्रपति और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी पीढ़ी दर पीढ़ी प्रभुसत्ता प्राप्त राजाओं के रूप में इस क्षेत्र पर शासन करते रहेंगे।"

२. पार्लमेंटरी पेपर्स, १५ फरवरी, १८५०, पृष्ठ १५३

उसे मान्यता देते हुए यह वचन भी दिया था कि —

"हिन्दू नरेशों को यह अधिकार है कि वे स्ववंश की शाखा में उत्पन्न उत्तराधिकारी से अलग भी किसी को गोद ले लें। ब्रिटिश सरकार को ऐसे दत्तक को मान्यता देनी होगी, किन्तु गोद लेने की यह प्रक्रिया हिन्दू शास्त्र के विरुद्ध नहीं होनी चाहिए।"[१]

इतनी स्पष्ट भाषा में उल्लिखित वचनों और कागज पत्रों की भी उपेक्षा कर यह कहने की धृष्टता कि हमने ऐसी कोई प्रतिश्रुति दी ही नहीं, अंग्रेजों की धृष्टता के अतिरिक्त अन्य किसी की भी नीति में उपलब्ध नहीं हो सकती। केवल उपरोक्त दो घोषणाओं में ही नहीं अन्य अनेक अवसरों पर भी अंग्रेजों ने देशी राजाओं के दत्तक पुत्र ग्रहण करने के अधिकार को मान्यता प्रदान दी है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि केवल दो वर्ष की अवधि (१८४६-४७) में ही अंग्रेज सरकार ने अनेकों दत्तक पुत्र के गद्दी की प्राप्ति के अधिकारों को मान्य किया था। उन्होंने इन दत्तक पुत्रों के अधिकारों को स्वीकार किया था।

वस्तुतः वचनों और सन्धियों की भाषा में इन राज्यों के हड़पने के कारणों का शोध करना ही एक गलत दिशा में प्रवृत्त होना है। इस संबंध में वस्तुतः एक मात्र सत्य है कि डलहौजी "सम्पूर्ण हिन्दुस्थान की भूमि को सपाट करने" के लिए आया था। सतारा के हिन्दू-साम्राज्य की समाधि द्वारा अपना सिर उठाने का प्रयास कर रहा था। अस्तु, यद्यपि प्रतापसिंह और अप्पासाहब—हिन्दू शास्त्रों की मर्यादानुसार ही दत्तक पुत्र ग्रहण किए थे, किन्तु अंग्रेज़ों ने यह कहकर कि सतारा की गद्दी का कोई वैध उत्तराधिकारी नहीं है, राज्य को उदरस्थ कर लिया। सतारा का राज्य, सतारा का राज्य सिंहासन। १६७४ ई० को गागा भट्ट के हाथ से अभिषिक्त होकर जिस पर शिवाजी विराजमान हुए थे, जिसके समक्ष सन्ताजी, धनाजी, नीकाजी, बाजी सरीखे शूरवीर नतमस्तक होते थे, जिसकी श्री वृद्धि के लिए बाजीराव प्रथम ने अपना सम्पूर्ण शौर्य समर्पित किया था, वही राज्य सिंहासन डलहौजी ने खण्ड खण्डित और चूर्ण चूर्ण करके रख दिया था। यदि तुम इच्छुक हो तो अपनी याचिकाओं और प्रतिनिधि मंडलों को लेकर जाओ। किन्तु यदि डलहौजी इन पर भी ध्यान न दे? तो तुम्हारी ऐसी धारणा है कि इंगलैंड में कम से कम कंपनी के संचालक तो तुम्हारी करुण कहानी सुनेंगे ही? डलहौजी तो बोलने-चालने में सामान्य मनुष्य ही है, परन्तु वे तो उसके वरिष्ठ अधिकारी हैं! कौन जाने कि वे देवता तुल्य ही हों? इनको तो महाराष्ट्र में से किसी ने भी नहीं देखा। अतः यह निश्चय किया गया कि

१. वही, पृष्ठ १४१

रंगोजी बापू, जो एक उत्तम स्वामिनिष्ठ व्यक्ति हैं, को लंदन भेजा जाए, जो कि सातारा की करुण कहानी उन अधिकारियों को सुना सकें। उन्होंने यह विचार किया कि सफलता मिले चाहे असफसता किन्तु एक बार यह खेल भी खेल लेना चाहिए। किन्तु उन्हें अभी कितने समय तक बारम्बार आशा लगाकर प्रतीक्षा करनी होगी कि उनका मिशन सफल हो? रंगो बापूजी को लंदन में लीडन हाल स्ट्रीट की पटरियों में पैर घिसाने होंगे? हां रंगो बापूजी तब तक आशा पर आशा लगाए रखेंगे जब तक कि उनका अपमान ही न हो जाएगा, जब तक अंग्रेज बैरिस्टरों को शुल्क चुकाने में एक-एक पाई का व्यय न हो जाएगा और उनके पास करोड़ों रुपये न पहुंच जाएंगे। उनकी चेष्टा तब तक जारी रहेगी जब तक कि उनके पास लंदन से वापस आने के लिए मार्ग-व्यय भी न रह जाएगा और जब तक कि उनको यह टका-सा अन्तिम उत्तर ही न मिल जाएगा कि जाओ हम सतारा वापस नहीं देंगे।

रंगो बापूजी लन्दन की ओर प्रस्थान करने की सिद्धता कर रहे थे, डलहौजी का ध्यान एक अन्य समस्या की ओर केन्द्रित हो गया। उसे नागपुर राज्य के सिमटे हुए पादप को भी समूल नष्ट कर देने का योग मिल गया। नागपुर के सिंहासन के एकमात्र अधिपति रघोजी भोंसले अपनी आयु के ४३वें वर्ष में सहसा ही स्वर्ग प्रस्थान कर गए। बरार के इस अधिपति से भी अंग्रेज सरकार के मित्रता और 'स्नेह' के नाते थे।[१] यही स्नेह और मैत्रीपूर्ण सन्धि भोंसले के विनाश का कारण सिद्ध हुई। जिन्हें इस सत्य की अनुभूति थी कि अंग्रेज उनसे द्वेष करता है, वे ही अभी तक वचे हुए थे। किन्तु जिस किसी ने भी यह स्वीकार किया था कि अंग्रेजों के साथ उनका स्नेह है, उसी का अंग्रेजों ने मान भंग कर विश्वासघात से सर्वनाश कर दिया था। बरार का राज्य अंग्रेजों की जागीर तो नहीं था, वह उनका मांडलिक संस्थान तो नहीं था, अपितु वह तो एक स्वतन्त्र एवं प्रभुसत्ता संपन्न राज्य था, उसका भी अंग्रेजों के समान ही स्तर था। उसी समय जे० सिल्व्हयन ने अंग्रेजों का स्पष्ट शब्दों में आह्वान किया था कि "पाश्चात्य अथवा पौर्वात्य किस न्याय से अंग्रेजों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे केवल इसी आधार पर किसी राज्य की सत्ता को उदरस्थ कर लें कि उसका अधिपति निःसन्तान इस लोक से विदा ले गया है?" वस्तुतः वह सब तो एक प्रपंच मात्र चल रहा था?

---

१. १८२६ ई० में संपन्न हुई सन्धि का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था —
ईस्ट इण्डिया कम्पनी और महाराजा रघोजी भोंसले; उनके उत्तराधिकारियों और वंशजों के साथ संपन्न हुई यह संधि सतत मैत्री का बन्धन है।

एक निगल रहा था और दूसरा पचा रहा था। यह तो इस प्रकार का नाटक हो रहा था कि एक साथी किसी का सिर काटले और दूसरा जोर-जोर से चीत्कार करे कि "किस न्याय अथवा निर्वन्धं के आधार पर तुमने यह कुकृत्य संपन्न किया है?" मानों कि चांदी और दस्युओं को भी अपने दुष्टतापूर्ण कुकृत्यों को करते समय किसी प्रकार के न्याय के परिपालन और निर्बन्धों के निर्वाह की आवश्यकता होती हो। १८५३ ई० में डलहौजी ने अपने 'मित्रों' के कंठ पर अपनी रक्तिम दुधारी चला ही दी। उसने इसके लिए आड़ भी केवल यही ली कि भोंसला रेश ने किसी को दत्तक पुत्र के रूप में मान्यता नहीं दी थी। महाराजा रघोजी को यह प्रचण्ड आशा थी कि उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति अवश्य ही होगी, किन्तु अचानक ही उनका निधन हो गया। किन्तु ऐसा होने पर भी उनकी धर्मपत्नि को तो दत्तक पुत्र ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। हां, यदि इससे पूर्व नरेशों की विधवा रानियों द्वारा गोद लिए गए पुत्रों को अंग्रेजी सरकार ने मान्यता न दी होती तो बात कुछ और थी। किन्तु यह तथ्य तो सर्वविदित हैं कि १८२६ ई० में दौलतराव शिन्दे की विधवा रानी द्वारा गोद लिए गए पुत्र को अंग्रेजों ने मान्यता दी थी। १८३४ ई० में धारनरेश की विधवा द्वारा लिए हुए दत्तक को अंग्रेजों ने मान्यता प्रदान की थी। किन्तु यह तथ्य दृष्टिगत रखना होगा कि इन सभी दत्तकों को मान्यता देने में अंग्रेजों को अपना लाभ दिखाई देता था। किन्तु रघोजी भोंसले के दत्तक को मान्यता प्रदान करना अंग्रेजों के स्वार्थ के विपरीत पड़ता था। अतः यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों की नीति का आधार-विन्दु था उनका स्वहित, अपनी हानि और लाभ। नागपुर के महाराजा ने दत्तक नहीं लिया यह बहाना खोजकर और सतारा नरेश छत्रपति ने दत्तक ग्रहण किया था, उसे मान्यता न देकर अंग्रेजों ने इन दोनों ही राज्यों को हड़प लिया। इस प्रकार के कुकृत्यों के संबंध में टीका-टिप्पणी करने में तर्कशास्त्र भी लाचार हो जाता है।

नागपुर के राज्य को उदरस्थ कर डलहौजी ने ७६४३२ वर्ग मील का विस्तीर्ण प्रदेश हड़प लिया था, जिसकी जनसंख्या ५६,५०,००० थी और वार्षिक आय थी ४० लाख रुपए। राज्यवंश की असहाय रानियां दुख और आक्रोश से सिर धुन रही थीं, उसी समय राजमहल के द्वार पर थाप पड़ी। अभी वे यह पता भी नहीं लगा पाई थीं कि कौन आया है, अंग्रेजी सेनाओं ने राजमहल में प्रवेश पा लिया। अस्तबलों से अश्व खोल दिए गए, हाथियों पर बैठी रानियों को वलात् नीचे उतारकर उन गजों को वाजारों में विक्रय के लिए भेज दिया गया। स्वर्ण और चांदी के आभूषण उनके कंठों से उतारकर, राजमहलों से लूटकर नागपुर की गलियों और चौरस्तों पर नीलाम कर दिए गए। रानी के कंठ में सुशोभित होने

वाली कंठमालाएं बाजारों की मिट्टी में, धूल में मिल गईं। जब हाथियों का दाम ही सौ सौ रुपए लगा दिया गया हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात थी कि जिन अश्वों के आहार पर डलहौजी के सम्पूर्ण दिन के भोजन की अपेक्षा अधिक व्यय होता था, जो अंग्रेजों से भी अच्छा ग्रास पाकर पुष्ट और बलिष्ठ थे उन्हें बीस बीस रुपए में विक्री कर दिया गया हो। अश्वों की वह जोड़ी, जिस पर स्वयं रघुजी सवारी करते थे, वह पांच रुपए में ही बेच दी गई। हौदो-सहित हाथी बिके तो जीन और काठी से सजे घोड़े भी बेच डाले गए और भूल जिन बैलों पर सजती थी वे भी कौड़ियों के मोल बिक गए, किन्तु अभी तो रानियों के शरीर पर कतिपय आभूषण विद्यमान थे। अब इनको भी क्यों न बेच दिया जाए! और अन्ततः इन आभूषणों का भी यही दुर्भाग्य सामने आया तथा रानियों के शरीर पर आभूषणों की कौन कहे फूटी मणि भी न रह सकी। किन्तु इतने पर भी अंग्रेजों से मैत्री की कड़ियां तो नहीं टूट पाई थीं। अतः उन्होंने राजमहलों की भूमि खोदनी आरम्भ कर दी। हा दुर्दैव। महारानियों के अन्तःपुर और शय्यागारों को अपवित्र कर देने के लिए अंग्रेजों ने कुदाल साध लिए थे। पाठक गण आश्चर्य-चकित न होना! व्यथित न बनना! क्योंकि अभी तो इस अंग्रेजी कुदाली ने अनेक कार्य सम्पन्न करने हैं। और वह इस काम में लगी हुई भी है। वह देखो रानी का पलंग भी उसने तोड़-फोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और अब उसके नीचे की भूमि खोदने का काम चल रहा है! कैसे वर्णन किया जाए इस द्रावक दृश्य का। महारानी अन्नपूर्णा बाई अपने जीवन की अन्तिम घड़ियां गिन रही थीं। उनकी जीवन यात्रा का अन्त सन्निकट था। नगर के महान और श्रेष्ठ भोंसला वंश की यह विधवा राजमाता अपने राज्य और घराने के इस अपमान पर खून के कड़ुए घूट पीती हुई वेदना से कराह रही थी, उसी समय उसकी बगल में, उसके शैय्या के नीचे, अंग्रेज की विध्वंसक कुदाली आगे बढ़ी आ रही थी। समीप के दालान से उठते हुए आर्तनाद, आहों और कराहों का साथ देते हुए इस कुदाल की दनदनाहट से कैसा पार्श्व संगीत उभर रहा था! और इस लोमहर्षक दृश्य का कारण क्या था, यही न कि महाराजा रघुजी भोंसले किसी दत्तक पुत्र को ग्रहण किए बिना ही इस लोक से प्रस्थान कर गए थे।[१]

अपने प्राचीन राजवंश के इस क्रूरता सहित किए जा रहे अपमान की अग्नि में छटपटाते हुए महारानी अन्नपूर्णा बाई ने अपनी नश्वर काया छोड़ इस लोक से प्रस्थान कर दिया। परन्तु अभी भी रानी बांका बाई को यह आशा विद्यमान थी कि उन्हें विलायत से न्याय प्राप्त होगा। उनकी यह अन्तिम आशा तिरोहित तो

१. डलहौजीज़ एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ १६५-६८

हुई, किन्तु अंग्रेज बैरिस्टरों को लाखों रुपए की भेंट चढ़ा कर। तदुपरान्त रानी बांका बाई ने इसी पथ का अवलम्बन किया कि वे जीवन पर्यन्त 'राजनिष्ठ' बनी रहीं, इसी प्रकार उन्होंने अपने दिन काटे। जब १८५७ ई० में झांसी में बिजली कड़की और रानी बांका ने देखा कि उसके पुत्र ही अपनी तलवारें और खड्ग-हाथों में संभाले स्वराज्य के महायज्ञ में समिधाएं समर्पित करने को सन्नद्ध हो उठे हैं तो उसने उन्हें धमकाया कि, "मैं स्वयं अंग्रेजों को तुम्हारे षड्यन्त्रों के संबंध में सूचित कर दूंगी और उन्हें परामर्श दूंगी कि वे तुम्हारे मस्तक काट दें।"

बांका ! उस महान गौरवमय वंश की कलंकरूपिणी पापिनी ! जा, नरक में जा, किन्तु कौन जानता है कि देशद्रोहियों और राष्ट्रघातकियों को नरक के जीव भी अपने पास फटकने देते हैं कि नहीं।

● ● ●

: ३ :

नानासाहब एवं लक्ष्मीबाई

महाराष्ट्र की पुण्यभूमि में स्थित मथेरान के गिरि शिखरों के पठार की प्राकृतिक सुषमा और सौन्दर्य का वर्णन करें अथवा इस गिरिशिखर की तलहटी में फैली हुई हरीतिमामय मखमली कछारों का, यह निर्णय करना भी सरल कार्य नहीं है। मनोरम पर्वतमालाओं की उपत्यका, माथेरान के गगनचुम्बी शैलशिखरों के अंक में स्थित है वेणु नामक एक छोटा-सा ग्राम। यह ग्राम इस प्राकृतिक सौन्दर्य के धनी भू प्रदेश की शोभा को अपने सहज सौन्दर्य से द्विगुणित कर रहा था। वेणुग्राम में जो कुलीन एवं सदाचार-संपन्न परिवार निवास करते थे, उनमें माधवराव नारायण के कुटुम्ब को प्रमुख स्थान प्राप्त था। माधवराव नारायण एवं उनकी सुशीला भार्या गंगा बाई नितान्त सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ जीवन की यात्रा को जंगल में भी मंगल मनाने वाली वृत्ति को ग्रहण कर सुखपूर्वक चला रहे थे। पति-पत्नि के पारस्परिक स्नेह ने परिवार के सौख्य में अभिवृद्धि की थी। १८२४ ई० में इस पावन परिवार की कुटिया में साध्वी गंगा बाई के गर्भ से एक पुत्र रत्न ने जन्म ग्रहण किया। संपूर्ण परिवार में आनन्द की मंदाकिनी प्रवाहित हो उठी। यह सत्पुत्र अन्य कोई नहीं अपितु वह नरपुंगव नाना साहब पेशवा ही था, जिसके नाम मात्र को सुनकर अत्याचारी राजाओं के हृदय प्रकम्पित हो उठते थे और भारतीय इतिहास ने स्वराज्य एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु संग्राम करने वाले महान पुरुषों में जिसका नाम संजो-कर रखा है। जिस दिन यह सौभाग्यशाली बालक जन्मा था इसकी स्मृति हमारे देश का इतिहास सँजोकर नहीं रख पाया। जिस दिवस इस महापुरुष की जयन्ती है उस दिवस की स्मृति भी हमारा इतिहास स्मृति में नहीं रख पाया, यह तथ्य कितना उद्वेगजनक है। ऐसे महान दिवस किसी राष्ट्र के इतिहास में अत्यधिक नहीं होते। हिन्दुस्थान पर

नानासाहब

गुलामी का पाश डालने के लिए उत्तरदायी तो लाखों आते हैं, किन्तु अपनी ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रता एवं स्वराज का अपहरण करने वालों के रक्तपान हेतु लालायित रहने वाले दिवस तो सैकड़ों में एक ही दो होते हैं। हे महाराष्ट्र, जिस नरसिंह ने तेरे सम्मान हेतु रणगंगा में रक्तिम फाग खेला था, उसकी जन्मतिथि भी तू स्मरण नहीं रख सका। हाय-हाय, इतना ही नहीं उसकी निधन तिथि का भी तो तुझे स्मरण नहीं है। तेरे मानी पुत्र ने कब जन्म ग्रहण किया था, यह भी तुझे स्मरण नहीं, महाराष्ट्र, मेरे देश, तेरे विश्वासघात के कारण वह कब काल कवलित हो गया इसकी भी स्मृति तुझे नहीं है। इस अक्षम्य कृतघ्नता के कारण तेरे पैरों में पड़ी दासता की शृंखलाएं वस्तुतः तेरे लिए मिला योग्य दण्ड ही है और तू उसी दासता का भोग भोग रहा है।

इसी दासता की शृंखला को ८ लाख रुपये में खरीदने वाला कुलांगार बाजीराव द्वितीय पूना के राज सिंहासन से च्युत होकर भागीरथी के तट पर जाकर ब्रह्मावर्त में अपनी अवशिष्ट जीवन व्यतीत कर रहा था। बाजीराव अपनी पैंशन के धन से नितान्त उदारता सहित उन परिवारों का पालन उत्तम रीति से कर रहा है, उसकी इस ख्याति के कारण अन्य कई परिवार भी वहाँ जाकर रहने लगे थे। इन्हीं परिवारों में से एक माधवराव का परिवार भी था। वहाँ निवास करने वाले माधवराव के सुपुत्र के प्रति बाजीराव नितान्त ही आकृष्ट हुआ। माधवराव अपने ही सगोत्र हैं, जब यह विदित हुआ तो वह नितान्त ही चकित हुए और उन्होंने ७ जून १८२७ ई० को विधिपूर्वक एक भव्य समारोह का आयोजन कर नानासाहब को अपने दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण कर लिया। उस समय नानासाहब की आयु केवल २॥ वर्ष के लगभग ही थी। इस भांति वेणु ग्राम के एक साधारण परिवार में जन्म ग्रहण करने वाला यह बालक अपने पूर्वजन्म के संचित पुण्यों के फलस्वरूप दत्तक ही क्यों न सही—पेशवा के राज्य सिंहासन का उत्तराधिकारी हो गया। मराठा साम्राज्य के पेशवा पद का उत्तराधिकार प्राप्त करना भी महान भाग्य का परिचायक है। किन्तु हे तेजस्वी राजकुमार, क्या तुझे इस तथ्य की भी अनुभूति है कि इस महान भाग्य के साथ ही तेरे कन्धों पर कितना महान उत्तरदायित्व आ पड़ा है। पेशवा की यह गद्दी प्राप्त करना कोई सामान्य बात नहीं है। इसी गद्दी पर वे महान प्रतापी बाजीराव प्रथम अधिष्ठित हुए थे, जिन्होंने एक महान साम्राज्य का नितान्त ही सफलता सहित संचालन किया था। पानीपत का महान युद्ध इसी सिंहासन के हेतु लड़ा गया था। पेशवाओं के मस्तक पर अभिसिंचन करने हेतु इसी पावन सिंहासन पर सिन्धु का पवित्र जल छिड़का गया था। इसीके लिए हुई थी बड़गाँव की सन्धि भी और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अब इसी पावन सिंहासन पर पराधीनता का अपावन पाश भी पड़ने वाला था, पड़ने

वाला ही नहीं था, अपितु पड़ ही चुका था। यह सब कुछ तुम्हारे ध्यान में है अथवा नहीं। इस सिंहासन का उत्तराधिकारी होने का तात्पर्य है इसके गौरव को अक्षुण्ण और अखण्ड रखने की पावन प्रतिज्ञा ग्रहण करना। हे बालक ! तुम्हें पेशवा के इस सिंहासन की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने का भार लेना स्वीकार है न ? तुम्हें या तो पेशवाओं के इस सिंहासन पर विजय का राजमुकुट पहनाना होगा अथवा चित्तौड़ की वीरांगनाओं के इस सिंहासन को दहकती हुई पावन ज्वाला में स्वाहा कर देना ही श्रेष्ठ कार्य होगा। प्रिय राजकुमार ! भली भांति विचार लें कि पेशवा के इस सिंहासन के सम्मान को अक्षुण्ण रखने का अन्य कोई उपाय है ही नहीं ! पहले इस कर्तव्य पर भलीभांति दृष्टिपात कर, गहनता सहित विचार कर लो, तदुपरान्त ही इस पर पग धरना, पेशवाओं के इस पवित्र सिंहासन का स्पर्श करना। पेशवाओं का मानी मस्तक नत हो गया है, यह हृदय विदारक व्यंग्य वाण कसने का अवसर तेरे इस पिता (बाजीराव द्वितीय) ने लोगों को प्रदान कर दिया है। जब से ऐसा हुआ है तब से यह राष्ट्र, यह देश लज्जा से निस्तेज बनकर रह गया है। अब तो सभी की यही एकमात्र आकांक्षा है कि यदि इस गद्दी का अन्त ही होना है तो वह भी उतना ही गौरवपूर्ण होना चाहिए, जितना कि इसका प्रारम्भ था। अर्थात् यदि इसे समाप्त ही होना है तो ऐसा भी संघर्ष करते-करते ही होना चाहिए। मरना ही है तो शत्रुओं को मारते-मारते ही मरना। हे राजकुमार, इस आन, बान और शान से इस सिंहासन पर आरूढ़ होना कि इतिहासकार सगर्व यह घोषणा करें कि हाँ, यही गद्दी सर्वप्रथम महान पराक्रमी बालाजी विश्वनाथ के स्पर्श से गौरवान्वित हुई थी और इतिहास को इस सिंहासन के अन्तिम उत्तराधिकारी नानासाहब पर भी गर्व है, जिससे कि महाराष्ट्र की इस पेशवाई के साथ-साथ तेरा नाम भी अजर अमर हो जाए।

इन्हीं दिनों में पावन क्षेत्र काशी में मोरोपन्त तांबे एवं उनकी सुशील पत्नी भागीरथीबाई भी निवास कर रहे थे, जो चिमणाजी आप्पा साहब पेशवा के निकटस्थ साथियों में से थे। इस दंपति ने कभी स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की होगी कि इनका नाम भी भारत के इतिहास में सर्वदा के लिए अमरत्व प्राप्त कर लेगा। विधाता से जिस बालिका को हिन्दुस्थान के हाथों में विद्युतलता-सी तलवार होने का गौरव प्राप्त हुआ उसको अंक में खिलाने का सौभाग्य इसी परिवार को प्राप्त हुआ। जिस दिन इस कन्या का जन्म हुआ उस दिन उसके माता-पिता को अपने सौभाग्य की कल्पना भी नहीं रही होगी। १९ नवम्बर १८३५ ई० को इसी दम्पति के घर महाराणी लक्ष्मीबाई सरीखी शौर्यशालिनी कन्या ने आंखें खोलीं। इस बालिका को मनुबाई का नाम दिया गया। भागीरथीबाई की कोख को सौभाग्यशालिनी सिद्ध करने वाली बालिका मनुबाई अभी तीन-चार वर्ष की ही हो पाई थी

कि तांबे परिवार को काशी क्षेत्र का परित्याग कर बाजीराव के उदार आश्रय को ग्रहण करने हेतु ब्रह्मावर्त जाना पड़ा। वहाँ लक्ष्मीबाई (मनुबाई) और नानासाहब की भेंट भी हुई। रत्न और कंचन का यह समागम देखकर ऐसा कौन है, जिसे आनन्द की अनुभूति न होती हो। अपने भावी जीवन में स्वराज्य और स्वधर्म की संस्थापनार्थ तलवारों का खेल खेलने वाले नानासाहब और लक्ष्मीबाई जब साथ साथ खेलते होंगे तब ऐसा कौन होगा जिसका मन इन्हें खेलते हुए देखकर आनन्द की तरंगों में तरंगित न हो उठता हो। शस्त्रशाला में लक्ष्मीबाई और राजपुत्र नानासाहब को साथ-साथ तलवारों से खेलते हुए देखकर किसके नेत्रों को समाधान न मिलता होगा। मनुष्य की शक्ति भी कितनी मर्यादित है। जिन दिनों राजपुत्र नाना एवं छबीली (मनुबाई) लक्ष्मी को साथ साथ तलवारों के खेल खेलते हुए देखा था, उन लोगों को अद्वितीय बालकों का भविष्यकालीन दिव्यत्व दिखाई नहीं दिया और जिन्होंने इनके इस दिव्यत्व के दर्शन किए उन्हें इनकी ये बाललीलाएं देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। तथापि मानव को जो कुछ अपने चर्म चक्षुओं से देखने का अवसर नहीं मिलता उसी अतीत को अपनी कल्पना के चश्मे से वह देख सकता है। इसी कल्पना के चश्मे के माध्यम से हम उनकी बाल-लीलाओं को आज भी ज्यों का त्यों निहार सकते हैं। श्रीमन्त नानासाहब और उनके बन्धु राव साहब जब अपने शिक्षकों के पास विद्याभ्यास करते थे तब यह छबीली भी उन्हें नितान्त ही ध्यानपूर्वक देखती थी और इस भांति उसने थोड़ा बहुत लिखने-पढ़ने का ज्ञान भी अर्जित कर ही लिया था। हाथी के हौदे में सवार होकर जब नानासाहब जाया करते थे तो लाड़ली छोटी छबीली नितान्त स्नेह-सिक्त शब्दों में पुकार उठती, "मुझे भी साथ बैठा लो न मेरे अच्छे भइया?" कभी अश्वारूढ़ नानासाहब लक्ष्मी की बाट जोहते दिखाई पड़ते तो कभी उसे अपने साथ हाथी पर बैठाकर शस्त्र संचालन का प्रशिक्षण देते परिलक्षित होते। इधर प्रतीक्षा में नानासाहब खड़े रहते तो देखते ही देखते लक्ष्मी भी दूसरे अश्व पर आरूढ़ हुई कटि में तलवार लटकाए, वायु वेग के कारण फहराती अपनी केश-राशि को संवारती वहाँ पर आकर उपस्थित हो जाती। अपने अश्व की तीव्र गति को रोकने के लिए लगाम खींचती लक्ष्मी का गौरवर्ण और भी अधिक तेजस्वी निखार से द्विगुणित हो उठता। उसका गोरा मुख-मण्डल गुलाबी आभा से दीप्त हो जाता। उन दिनों नानासाहब की आयु १८ वर्ष की थी तो लक्ष्मी थी केवल ७ वर्ष की ही। बाल्यावस्था से ही इन दोनों में पावन भावनाएं संचरित हो रही थीं। वस्तुतः एक ही अनादि शक्ति की दो मूर्तियाँ थीं ये। एक ही महान साधना के लिए तो उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। अतः विद्युत-परमाणुओं के समान उनमें पारस्परिक आकर्षण होना तो स्वाभाविक ही था। भावी धर्मयुद्ध के दो

तेजस्वी कर्णधार बाल्यावस्था में ही एक दूसरे के इतने सन्निकट आ चुके थे यह भी कितनी मनोरम बात है। कहते हैं, प्रत्येक भ्रातृ द्वितीया के दिन नाना और लक्ष्मीबाई ये दो इतिहास प्रसिद्ध बन्धु भगिनी इस पर्व का परिपालन करते थे। सुन्दर, सतेज मनोहारिणी लक्ष्मी अपने हाथों स्वर्ण थाल में नीरांजन सजाकर नाना की आरती उतारती थी। तरुण राजकुमार पर उसकी बालिका भगिनी अपनी शुभकामनाओं की वर्षा करती थी।

१८४२ ई० में छबीली का परिणयोत्सव झांसी के महाराजा गंगाधर बाबा-साहब के साथ सम्पन्न हुआ। लक्ष्मीबाई अब झांसी की महारानी बन गई। महारानी लक्ष्मीबाई की लोकप्रियता भी झांसी की जनता में अपने पति की ख्याति के साथ ही साथ बढ़ती जा रही थी। १८५१ ई० में बाजीराव द्वितीय का निधन हो गया। इसके निधन पर तो अपने नेत्रों से एक भी अश्रुकण गिराने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि १८१८ ई० में अपना राज्यपाठ खोकर पेशवा कुल का यह कुलांगार दूसरों के राज्यों को हड़पने में अंग्रेजों की सहायता करता रहा था। अपनी आठ लाख रुपए वार्षिक की पेंशन से बचाकर इसने पर्याप्त राशि संग्रहीत कर ली थी। अफगानिस्तान में जब अंग्रेजों ने युद्ध आरम्भ किया तब बाजीराव ने ही अंग्रेजों को ५ लाख रुपया ऋणस्वरूप दिया था। कुछ समय पश्चात् ही पंचनद प्रदेश में सिख राज्यों से अंग्रेजों का युद्ध आरम्भ हुआ। सभी को यह आशा थी कि ब्रह्मावर्त्त का मराठा भी अब सिख मिसलों से मिलकर अंग्रेज के विरुद्ध रण-भूमि में कूद पड़ेगा, किन्तु इस बाजीराव ने तो उनकी आशाओं पर तुषारापात ही कर दिया। इसीने, शिवाजी के पेशवाओं के इस कुलदीपक ने तो अपने पास से राशि खर्च कर अंग्रेजों की सहायतार्थ एक सहस्र पैदल सेना और एक हजार अश्वारोही भेज दिए। अपने शनिवार बाड़े की रक्षार्थ जो पेशवा सेना न रख सका था, सिखों का बाड़ा, दशमेश गुरु गोविन्दसिंह की पावन भूमि पर अपनी दासता का पाश फेंकने वाले अंग्रेजों की सहायता करने के लिए उसके ही पास पर्याप्त सेना थी। अभागे हिन्दुस्थान! मराठे सिखों के राज्य पर अधिकार करें और सिख मराठों पर धावा बोलें—और यह सब महान पातक भी किसलिए? जिससे कि इन दोनों के ही अस्थिपिंजरों पर पग धर कर अंग्रेज उन्मत्त होकर नृत्य कर सके। अतः हमें मृत्यु के देवता को हार्दिक धन्यवाद ही देना चाहिए कि बाजीराव जैसा दुरात्मा उसने संसार से उठा लिया। अपनी मृत्यु से पूर्व ही बाजीराव ने अपना मृत्युपत्र लिख दिया और उसमें अपने दत्तक पुत्र नानासाहब को अपना उत्तरा-धिकारी घोषित कर पेशवाई के सम्पूर्ण अधिकार भी उन्हें समर्पित कर दिए थे। किन्तु ज्योंही बाजीराव द्वितीय के निधन का समाचार अंग्रेजों को प्राप्त हुआ, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि आठ लाख रुपए की पेंशन पर नानासाहब को किसी

प्रकार का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। अंग्रेजों के इस निर्णय को सुनते ही नाना-साहब की मानसिक अवस्था क्या हुई होगी, इसका तनिक-सा अनुमान हम उनके ही एक पत्र से लगा सकते हैं। इस पत्र में उन्होंने लिखा था—

"हमारे इस विख्यात राजवंश के साथ तुमने जो साधारण जनों का-सा व्यवहार किया है, वह अन्यायपूर्ण है। हमारा विस्तृत राज्य और राज्यासन जिस दिन तुम्हें श्रीमंत बाजीराव से प्राप्त हुआ था तब उस करार में यह स्पष्ट रूप से निर्धारित हुआ था कि उस राज्य के मूल्य के रूप में तुम (कम्पनी) आठ लाख रुपए वार्षिक चुकाते रहोगे। यदि यह पैंशन सदैव के लिए टिकने वाली नहीं है तो फिर इस पैंशन के बदले में दिया गया राज्य भी सदैव के लिए तुम्हारे पास किस प्रकार रह सकता है ? उस सन्धि को यदि पहली शर्त ही भंग कर दी गई हो तो दूसरी का स्थिर रहना भी एक असम्बद्ध बात ही है।"[१]

तदुपरान्त दत्तकपुत्र के रूप में पिता का कोई अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं होता इस सम्बन्ध में सप्रमाण लिखते हुए श्रीमंत नानासाहब ने कहा है—

"पैंशन को बन्द करने के पक्ष में कम्पनी ने जो यह तर्क प्रस्तुत किया है कि श्रीमंत बाजीराव साहब ने पैंशन से बचाकर जो राशि एकत्रित की है, वह बहुत अधिक है, अत. पैंशन जारी रखने का कोई कारण नहीं है, तो इस प्रकार के करोड़ों उपक्रमों से भी इतिहास को गलत सिद्ध करना कठिन ही होगा। यह पैंशन कतिपय शर्तों के अनुरूप ही दी जाती रही। इन शर्तों में क्या ऐसी एक भी शर्त है कि बाजीराव ने इस पैंशन की राशि का उपयोग किस प्रकार करना है ? दिए गए राज्य के बदले में प्राप्त हुई इस पैंशन का किस प्रकार उपयोग किया जाएगा, यह प्रश्न करने का कम्पनी को किंचितमात्र भी अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं यदि श्रीमंत बाजीराव इस पैंशन की सम्पूर्ण राशि भी बचा ही लेते तब भी वे ऐसा करने में पूर्णतः स्वतन्त्र थे। क्या कम्पनी ने कभी अपने कर्मचारियों से भी यह प्रश्न किया है कि वे अपनी पैंशन की राशि को किस भांति खर्च करते हैं और उसमें से कितनी राशि बचाते हैं ? यह भी नितान्त ही आश्चर्यजनक है कि जो प्रश्न कम्पनी अपने सामान्य कर्मचारियों तक से नहीं कर सकती वह प्रश्न एक विख्यात राज-वंश के अधिपति से किया जा रहा है।" यह तर्कसम्मत पत्र लेकर नानासाहब के राजदूत के रूप में उनके विश्वासपात्र व्यक्ति अज़ीमुल्लाखां लन्दन गए थे।

१८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम के जो महत्वपूर्ण नाम हैं, उनमें अजीमुल्ला खां का नाम भी चिरस्मरणीय है। अजीमुल्ला खाँ का जन्म एक नितान्त ही सामान्य स्थिति वाले परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर ही उन्नति

१. नाना साहिब्स क्लेम अगेंस्ट ईस्ट इण्डिया कम्पनी

की और अन्ततः वे नानासाहब के विश्वासपात्र मन्त्रियों में से एक हो गए।[1] वे पहले एक अंग्रेज परिवार में नौकरी किया करते थे। नितान्त साधारण परिवार में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं का परित्याग नहीं किया था। उन्होंने वहाँ इंगलिश एवं फ्रेंच भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं दोनों भाषाओं में धारा-प्रवाह भाषण करने की क्षमता भी प्राप्त कर ली। इन दो भाषाओं में पारंगत हो जाने के उपरान्त अजीमुल्ला खाँ उक्त अंग्रेज की नौकरी को छोड़कर कानपुर के एक विद्यालय में प्रविष्ठ हो गए। अपनी प्रचण्ड प्रतिभा के बल पर ही वे उसी विद्यालय में शिक्षक के पद पर भी नियुक्त हो गए। यहाँ से उनकी ख्याति चतुर्दिक व्याप्त होने लगी और एक दिन उनकी प्रशंसा नाना साहब के कानों तक भी पहुंच गई। अतः उन्हें बिठूर के दरबार में भी प्रवेश मिल गया। अजीमुल्ला द्वारा प्रथम बार ही दिया गया सद् परामर्श नानासाहब को जँच गया और नानासाहब को मुक्त कंठ से इस मेधावी पुरुष की प्रशंसा करनी पड़ी। इसके पश्चात् तो स्थिति यह हो गई कि प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के करने के पूर्व नानासाहब के लिए अजी-मुल्ला खां से परामर्श करना अनिवार्य ही हो गया। १८५४ ई० में नानासाहब ने उन्हें अपने राजदूत के रूप में इंगलैंड भी भेजा। प्रभु ने इस प्रतिभाशाली पुरुष को जितना सौन्दर्य प्रदान किया था, उतनी ही मधुर वाणी भी उसे प्राप्त हुई थी और गम्भीरता भी। उन्हें अंग्रेजों की तत्कालीन परम्पराओं और व्यवहारों आदि की भी भली-भाँति जानकारी थी। अतः वे लन्दन में शीघ्र ही लोकप्रिय हो गए। उनके सौन्दर्य, मोहक मधुर वाणी और तेजस्वी शरीर तथा पौर्वात्य उदारता के परिणामस्वरूप अनेक आंग्ल युवतियाँ उन पर अपना तन मन वार बैठीं। उन दिनों लन्दन के सार्वजनिक उद्यानों, ब्रायरन के सागर तट पर यह हिन्दी राजा ही चर्चा का विषय रहता था जो सुन्दर परिधानों और आभूषणों से लदा रहता था। प्रचण्ड जनसमूह इस आकर्षक व्यक्तित्व के धनी की एक झलक लेने को बादल-सा उमड़ पड़ता था। अनेक सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित अंग्रेज परिवारों की युवतियाँ तो उनके प्रेम में अपनी सुध बुध ही खो बैठी थीं और उनके हिन्दुस्थान वापस लौट आने के उपरान्त भी अपने हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति हेतु उन्हें प्रेम पत्र प्रेषित करती रहती थीं। इस तथ्य की साक्षी 'हैवलाक' को भी उस समय मिली जब उसकी सेनाओं ने ब्रह्मावर्त (कानपुर क्षेत्र) पर अधिकार कर लिया था। क्योंकि उसे भी ऐसे अनेक पत्र मिले थे जो आंग्ल युवतियों ने अपने इस प्राणधन को लिखे थे। यद्यपि अजीमुल्ला खां ने अनेक आंग्ल युवतियों का मन आकर्षित कर लिया था किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी रूपी सुन्दरी के रिझाने में इस तेजस्वी पुरुष को भी

---

१. थॉमसन्स कानपुर

सफलता नहीं मिल पाई । कुछ दिनों तक वह इन्हें इधर-उधर के उत्तर देती रही, किन्तु एक दिन स्पष्ट शब्दों में ही लिख दिया कि "गवर्नर जनरल द्वारा प्रदत्त यह निर्णय हमारे मत में पूर्णतः ठीक ही है कि दत्तक पुत्र नानासाहब को अपने पिता की पेंशन प्राप्त करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।" इस भाँति जिस प्रमुख उद्देश्य को लेकर अजीमुल्ला खाँ इंग्लैंड गए थे, उसमें सफलता प्राप्त न हो सकने पर वे हिन्दुस्थान वापस आने के लिए फ्रांस के मार्ग से चल पड़े। अब उन्हें उनके प्रवास में ही छोड़कर नानासाहब क्या कर रहे थे, तनिक इस ओर दृष्टिपात कीजिए।

श्रीमन्त नानासाहब पेशवा के जीवन का विस्तृत विवरण प्रकाशित करने का सुसन्धि महाराष्ट्र के इतिहास के भाग्य में है क्या? वह स्वर्ण अवसर जब आएगा तब तो बड़ा ही सौभाग्यशाली दिवस होगा। किन्तु जब तक वह सुयोग उपस्थित नहीं हो पाता तब तक तो हमें नानासाहब के घोर शत्रु अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा उनके जीवन के विभिन्न प्रसंगों का जो छुट-पुट विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसको प्रस्तुत करना भी असंगत नहीं है। उनकी बाल्यावस्था का संक्षिप्त विवरण तो पहले प्रस्तुत किया ही जा चुका है। ब्रह्मावर्त में स्थित थी बिठूर नगरी। इस नगर की किलाबन्दी की प्राचीरों से टकराती हुई परम पावनी भागीरथी प्रवाहित हो रही थी। श्रीमन्त के राजमहल की बारहदरी विस्तीर्ण तो थी ही, साथ ही नितान्त ही श्रेष्ठ एवं मूल्यवान वस्तुओं से इसकी शोभा और श्री में भी वृद्धि हो रही थी। निराले रंगों और नितान्त ही मूल्यवान सतरंजियों एवं कालीनों आदि से राजमहल का दीवानखाना सुसज्जित था। यूरोपियन कलाकौशल से मण्डित विविध प्रकार के काँच की वस्तुएं, कलश इत्यादि सभी वस्तुएं हस्तिदन्त और स्वर्ण एवं रत्नजड़ित नक्काशी के भी यहाँ उत्कृष्ट नमूने विद्यमान थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्थान के राजमहलों में दृष्टिगोचर होने वाली सब प्रकार की कमनीयता ही मानों बिठूर में आकर निवास करने लगी थी।[१]

श्रीमन्त नानासाहब के अश्व और ऊंट भी चांदी के साज-सामान से सजे रहते थे। अश्वारोहण के तो नानासाहब बहुत अधिक शौकीन थे। यह भी कहा जाता है कि इस काल में अश्वविद्या में महारानी लक्ष्मीबाई और श्रीमन्त नानासाहब सर्वथा अतुलनीय और असाधारण थे। उनकी अश्वशाला विशुद्ध नसल के अश्वों से भरी रहती थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रेणी के पशुओं का संग्रह

---

१. थामसन लिखित 'कानपुर' अवश्य पठनीय है, क्योंकि कानपुर के नरमेध में बचनेवाले दो प्राणियों में से वह भी एक था।

करने में भी उनकी भारी रुचि थी। उनके संग्रहालय के हिरणों, श्वानों और ऊंटों आदि को देखने के लिए सुदूर प्रदेशों के लोग भी उत्कंठित रहते थे। किन्तु उनके इस संग्रहालय की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण और उत्तम था उनका शास्त्रागार। उनके शास्त्रागार में विभिन्न प्रकार के शस्त्र, तीक्ष्ण तलवारें, आधुनिकतम बन्दूकें एवं सभी श्रेणियों की तोपें भी विद्यमान थीं। श्रीमन्त को अपने उच्चकुल तथा वीर वंश का तो गर्व था ही, साथ ही, उन्होंने अपने इस वंश गौरव की मर्यादा के अनुकूल ही यह सत्संकल्प भी ग्रहण कर लिया था कि या तो अपनी वैभवशाली वंश परम्परा को सुशोभित करने वाला जीवन व्यतीत करूंगा अथवा इसके गौरव की रक्षा करते-करते अपने प्राणों की भी सुमनांजलि समर्पित कर सदा के लिए सुख की नींद सो जाऊंगा। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि उनके सभी प्रमुख सभाभव ̈ में महाराष्ट्र के उन पुंगवों के चित्र भी सुशोभित हुआ करते थे, जिन्होंने अपने [illegible] कलाओं से महाराष्ट्र के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। कल्पन . . कीजिए कि उन महान् वीरों के चित्रों से श्रीमन्त नानासाहब क्या वार्ता करते होंगे? छत्रपति शिवाजी का चित्र उन्हें क्या प्रेरणा देता होगा। अपने कुल और वंश के जिस महान् वैभव और मर्यादाओं का उन्होंने बारम्बार गौरव सहित उल्लेख किया है, वह भावनाएं उनके मन में एक प्रकार का शूल-सा चुभा देती होंगी और वे निरन्तर यह विचार करते रहते होंगे कि मैं जो उन महान् पूर्वजों का उत्तराधिकारी हूं, आज अपने ही राज्य के बदले में प्राप्त पैंशन की प्राप्ति के लिए भी अपने शत्रुओं को आवेदन भेज रहा हूं, प्रार्थनाएं कर रहा हूं। विषाद की यह कसक नानासाहब को कभी चैन से न बैठने देती होगी, यह तथ्य तो असन्दिग्ध ही है। 'सभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' सज्जनगण अपमान के स्थान पर मृत्यु का वरण करना ही श्रेयस्कर मानते हैं। नानासाहब का स्वभाव भी राजाओं सरीखा उदार और शूरवीरों के समान ही अपने सम्मान ही के प्रति सतत सजग रहने का था। अतः गोरे अधिकारियों द्वारा दिए गए निमन्त्रण को स्वीकार करना भी उन्हें नहीं सुहाता था, क्योंकि वे पेशवा थे और पेशवाओं के सम्मान में तोपें दागने की प्रथा का परिपालन करने के लिए तो कम्पनी कदापि तैयार न होती।[1]

नानासाहब को अनेक बार निकट से देखने का अवसर प्राप्त करने वाले एक अंग्रेज ने लिखा है कि नानासाहब स्वस्थ शरीर थे, सादगी उनका स्वभाव था एवं वे किसी प्रकार के भी दुर्गुण से कोसों दूर थे।

एक अन्य अंग्रेज ने उनके सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया निम्नलिखित शब्दों

---

१. थामसन लिखित कानपुर, पृष्ठ ४८।

में लिखी है—

"मैंने जब प्रथम बार उनको देखा तो उनकी आयु २८ वर्ष के लगभग थी, किन्तु वे ४० वर्ष के एक सुदृढ़ शरीरवाले व्यक्ति के समान प्रतीत होते थे। वैसे तो उनका शरीर-भारी-भरकम था, मुखमण्डल गोल, नेत्र सिंह के समान उद्दीप्त तथा सब ओर फिरने वाले, तेजस्वी तथा भेदक थे। उनका रंग स्पेनियार्ड के समान गेहुँआ था और उनकी बातों में भी सबको आनन्द प्राप्त होता था। प्रकृति से भी वे विनोदी थे।[१] दरबार में वे किनखाब के परिधान धारण कर पधारते थे। अपनी उदारता और दयापूर्ण हृदय के कारण उन्हें अपने प्रजाजनों का भी प्रेम प्राप्त था। जनता के प्रति तो उनके हृदय में वात्सल्यभावना होनी स्वाभाविक ही थी; किन्तु जिन अंग्रेजों ने उनके विरुद्ध षड्यन्त्र कर उनके नाश का खेल खेला था उनके प्रति भी वे सदैव शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार ही करते थे। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यदि कोई अंग्रेज युवा दम्पति चार दिन के लिए भी सैर करने के लिए आते तो नानासाहब के यहाँ उनकी अगवानी की जाती थी। कानपुर के जीवन से ऊब कर अनेक बार कई गोरे और उनकी पत्नियाँ महाराजा नानासाहब की राजधानी में आते थे तो बिठूर से विदा लेते समय उन्हें मूल्यवान शाल, मोती और मणियाँ उपहार स्वरूप दी जाती थीं।[२] अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत विद्वेष का विष तो नानसाहब के समीप भी न फटक पाया था। रणभूमि में जिस शत्रु के अपनी प्रचण्ड तलवारों के आघातों से टुकड़े-टुकड़े कर देने के उपक्रम किए जाते हैं, उसी शत्रु के साथ उपकार उदारता और सामाजिक शिष्टाचार के नियमों का पालन करना भी एक महान, उच्च आदर्श एवं वीरता को भी सुशोभित करने वाले आदर्शों को भारतीय इतिहास एवं महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर वर्णन उपलब्ध है। वीर राजपूत अपने घोरतम शत्रु से युद्ध प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर नितान्त ही उदारतापूर्ण व्यवहार किया करते थे। अतः यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि अपने इस प्रकार के आचरण और व्यवहार के कारण अंग्रेजों के हृदय में भी नानासाहब के प्रति पूर्ण प्रतिभावान थी।[३]

जब तक 'महाराजा' नानासाहब के राजमहलों में अंग्रेज अधिकारियों को षट्रस व्यंजनों पर हाथ साफ करने का सुअवसर मिलता रहा तब तक तो ये अधिकारी और इनकी मेमें नानासाहब की प्रशंसा के पुल बांधने में धरती आकाश के कुलाबे मिलाते रहे, किन्तु ज्योंही नानासाहब स्वराज्य और स्वधर्म के लिए कानपुर

---

१. चार्ल्स बाल कृत 'भारतीय विद्रोह का इतिहास', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३०५
२. ट्रेवेलियन कृत 'कानपुर', पृष्ठ ६८-६९
३. नानासाहब हमारे देशवासियों के साथ संपर्क होने पर सदैव जिस सत्यता का

की रणभूमि में अपनी पावन तलवार को हाथों में सँभाल कर खड़े हुए त्योंही इन्हीं प्रशंसा के पुल बांधनेवाले अंग्रेजों ने उन पर मनगढ़ंत आरोपों की झड़ी लगा दी। वे अशिष्टता की भी सीमा का उल्लंघन करने में न चूके।

श्रीमन्त नानासाहब एक सुशिक्षित एवं सुसभ्य शासक थे। राजनीति में भी उनकी रुचि थी, तो प्रत्येक राजनैतिक गतिविधि का भी सूक्ष्मता सहित निरीक्षण करना उनका स्वभाव था। बड़े-बड़े राष्ट्रों की सामान्यतम घटनाएँ भी उनकी दृष्टि से ओझल न रह पाती थीं। इस कार्य के लिए वे अंग्रेजी समाचार-पत्रों का भी अवलोकन किया करते थे। वे प्रतिदिन टॉड नामक एक अंग्रेज से इन दैनिक समाचारपत्रों को पढ़वाकर सुनते थे और फिर प्रत्येक घटना पर चिन्तन एवं मनन करते थे। टॉड नामक यह अंग्रेज वाद में कानपुर में ही मारा भी गया। अपने इस प्रचण्ड अध्यवसाय के कारण उन्हें स्वदेश के अतिरिक्त इंग्लैंड की घटनाओं की भी नितान्त निकटता सहित जानकारी प्राप्त रहती थी। जब कम्पनी ने अवध को हड़प लिया तो इस प्रश्न पर भी अनेक बार चर्चाएँ चलीं। किन्तु इन चर्चाओं में नानसाहब ने अपना सुनिर्धारित निष्कर्ष नितान्त स्पष्ट शब्दों में बताया कि अंग्रेजों ने यह पग उठाकर युद्ध के देवता को आमन्त्रित कर दिया है।

जो विवरण श्रीमन्त नानासाहब के संबंध में ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह सभी नानासाहब के कट्टर शत्रुओं द्वारा लिखे गए इतिहास से संग्रहीत हैं। अतः सुस्पष्ट है कि नानासाहब के जिन गुणों का अब तक हमने उल्लेख किया है, वे उनके चरित्र के विशिष्ट गुण होने चाहिए। क्योंकि यह तथ्य तो स्वीकार करना ही होगा कि जिन लोगों के हृदयों में नानासाहब के प्रति डाह थी, जो उन्हें गिराने का कोई अवसर छोड़ने को तैयार न थे, यदि उन्होंने भी नानासाहब के अनेक गुणों का मुक्त-कंठ से जय जयकार किया है तो उसका एकमेव कारण यही होना चाहिए कि वे ऐसा करने के लिए विवश हो गए थे। अतः इस प्रशंसा को विशेष महत्व देना ही होगा। नानासाहब के संबंध में उपरोक्त सत्य को प्रखर करने वाले इन इतिहासकारों ने ही नानासाहब के स्वातन्त्र्य संग्राम में अवतरित होते ही उन पर आक्रोश और क्षोभ के विषमय वाण मारने आरम्भ कर दिये। उन्होंने ही बाद में श्रीमन्त को इस रूप में प्रस्तुत करने का कुप्रयास आरम्भ कर दिया था कि मानो नानासाहब शैतान की ही साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। अंग्रेजों की ही विषाक्त लेखनी से नाना को धूर्त, दस्यु और राक्षस तथा शैतानियत

व्यवहार करते थे वह अवर्णनीय है। अधिकारियों को उनकी मैत्री और सरलता पर पूर्ण विश्वास और भरोसा था। पदाधिकारी भी उन्हें महान् पुरुष कहकर ही सम्बोधित करते थे।— ट्रेवेलियन-कृत 'कानपुर'

का अवतार लिखने में एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती रही है। अतः यदि कोई अंग्रेजों द्वारा बाद में नानासाहब के लिए प्रयुक्त किए गए इन घृणात्म विशेषणों को स्वीकार भी करले तब भी नानासाहब स्वधर्म और स्वराज्य की संस्थापनार्थ रणभूमि में उतरे ही नहीं, अपितु जूझे थे, रणागण में ही रक्त से सराबोर हो गए थे, यही एक तथ्य प्रत्येक राष्ट्र-भक्त हिन्दुस्थानी के हृदय में उनकी पाक स्मृति को सदैव अक्षुण्ण और अजर अमर रखेगा। सम्पूर्ण संसार को ही यह जताया जाना नितान्त आवश्यक था कि जिन्होंने भारत की स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का अपहरण किया है उनसे प्रतिशोध शीघ्र अथवा विलम्ब से, आज अथवा कल निश्चित रूप से ही लिया जाएगा और यह प्रतिशोध भी ऐसा होता है कि जिसमें विनाश अट्टहास करता है तथा भूखी रण चण्डी सन्तप्त होकर खिलखिला उठती है। नानासाहब अर्थात् भारत भूमि के प्रत्यक्ष क्रोध की ज्वलन्त मूर्ति, हिन्दू भूमि का नृसिंह मन्त्र थे, यही एक मात्र तथ्य उनकी स्मृति को हमारे मानस पटल पर सदैव अंकित रखेगी। इस महान गुण के साथ उनकी उदारता, अपने कुल के प्रति प्रचण्ड अभिमान और इन सबसे भी अधिक वन्दनीय उनका राष्ट्र-प्रेम से आप्लावित हृदय, इन सबका पावन स्मरण मात्र ही करके प्रत्येक राष्ट्र-भक्त का मस्तक उनके चरणों में नत होगा। जिसमें भीम सा अतुल बल था, जिसके शीश पर राजमुकुट सुशोभित था तथा जिनके तेजस्वी और सजग तथा सचेत नेत्र आत्माभिमान को दी गई चुनौती के कारण आरक्त थे, जिसकी कटि में लटकती तलवार तीन लाख के मूल्यवान म्यान से निकल कर शत्रु मस्तक भंजन के लिए अकुलाती रहती थी, जिनका सम्पूर्ण शरीर स्वधर्म और स्वराज्य के अपमान का प्रतिशोध लेने का सुसंकल्प ग्रहण कर क्रोध से लाल हो रहा था, वह भव्य मूर्ति 'नानासाहब' इस एक शब्द को सुनते ही मानस चक्षुओं के समक्ष सहसा आकर खड़ी हो जाती है, उससे प्रभावित हुए बिना भला कौन रहेगा।

मन के महासागर में उमड़ती परस्पर विरोधी धाराओं तनिक ठहरो! इधर तो देखो कितना हाहाकार गूंज रहा है। अन्ततः नानासाहब को अंग्रेजों से कोरा उत्तर प्राप्त हो गया था कि बाजीराव (द्वितीय) की पैन्शन पर उनके किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी जा सकती। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी कहा गया था कि विठूर के उत्तराधिकार से भी तुम्हें पूर्णतः वंचित होना पड़ेगा और साथ ही कम्पनी यह दम्भ भी दिखला रही थी कि उसने जो निर्णय किया है वह पूर्णतः न्याय पर ही आधारित है। न्याय एक महान शब्द है, किन्तु अब अंग्रेजों का न्याय और अन्याय की चर्चा का अधिकार हा कहां रह गया है। अब तो कोई इस संबंध में उनके निश्चित उत्तर की प्रतिक्षा करने को भी तैयार नहीं

है। अब तो गहन सिद्धता पूर्णता प्राप्त कर चुकी है, अब तो न्याय और अन्याय के प्रश्न का निर्णय कानपुर के समरांगण में ही करने का सद्संकल्प ग्रहण किया जा चुका है। वहीं इस बात की पूर्ण समीक्षा होगी कि मराठों के हृदय पर आघात लगाना न्याय है अथवा अन्याय। इस प्रश्न का उत्तर देगी रक्त की बहती सरिताएँ, व्रणों से छिदे हुए शरीर एवं मस्तक भंजित जीवित श्वासें और लाशें। और हाँ! कानपुर के कुओं की मुडेरों और किनारों पर बैठे हुए गिद्ध ही इस परिचर्या का श्रवण करेंगे और न्याय और अन्याय का निश्चय करने के लिए उन्हींकी पंचायतें आयोजित होंगी।

ऐसे भव्य और असाधारण समारोह के आयोजन की सिद्धता श्रीमंत नाना-साहब के राजमहलों में पूर्ण गति और मति से चल रही थी। फिर भला नाना की बहन छबीली हाथों पर हाथ धर कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी कब तक बैठी रहती। उसके समक्ष भी तो न्याय और अन्याय की समस्या ने ही अपना कराल मुख खोल दिया था। १८५३ ई० में अपने पतिदेव के परलोकगामी होने पर जब उसने दत्तक पुत्र के रूप में दामोदरराव को ग्रहण किया तो अंग्रेजों ने उसके भी गोद लेने के अधिकार को ठोकर मार दी और उसकी झांसी में भी स्वराज्य को फांसी देने का सपना संजोकर उसे जब्त कर लिया। किन्तु झांसी कोई ऐसा राज्य तो नहीं था जिसे कोरे शब्द वाण अथवा कागज के तीर और फरमानों की कमान के आधार पर अतीत का आख्यान बनाने में सफलता मिल जाती। झांसी में नागपुर की बांका नहीं नाना की बहन छबीली अपने हाथों में राजदण्ड संभाले सन्नद्ध खड़ी थी। उसे जब यह आज्ञा मिली तो उसने उसको योग्य ही सम्मान दिया और अंग्रेजों की वह आज्ञा कूड़ाघर की टोकरी में फेंक दी गई। आंग्ल अधिकारियों के इस व्यवहार नहीं दुर्व्यवहार, ने उसके आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा पर भी प्रहार किया था। अपमान के तेल ने क्रोध की अग्नि को प्रज्वलित कर दिया, अंगारे दहक उठे, झांसी की रणचण्डी बनकर लक्ष्मी गरज उठी "क्या मैं झांसी का परित्याग कर दूं ? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। जिसमें साहस है वह एक बार मेरी चुनौती को तो स्वीकार कर ले। मैं अपनी झांसी किसीको भी नहीं सौपूंगी ![१]

●●●

१. 'डलहौजीज एडमिनिट्रेशन', खण्ड द्वितीय

: ४ :

अयोध्या अथवा अवध

चोर को छोड़कर संन्यासी को सूली पर लटका देने का न्याय मानव जाति के दुर्दैव से इस संसार में चलता आ रहा है। परन्तु इससे भी अधिक राजनीति में यह विधि नीति का नाम लेकर प्रचलित हुई है! अत्याचार और अन्याय यह भाववाचक कल्पना मानव मन को दुर्ग्राह्य है। अतः वह उससे होने वाले दुख और त्रास को संमूल नष्ट करने की शीघ्रता में उस अत्याचार और अन्याय का मूल कौन है, इस बात का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं कर प्राता, किन्तु जिसके हाथों उन्हें इस अत्याचार और अनाचार की अत्यक्ष अनुभूति होती है, उसे ही जनसाधारण इनके लिए दोषी ठहराने लगते हैं। और ऐसी स्थिति में उस अन्याय का जो मूल प्रेरक है, उस अत्याचार की जो मूल आत्मा है वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। इस विकृत निष्कर्ष से कोई विशेष हानि उस समय नहीं हो पाती, अतः यह क्षम्य है, किन्तु इसका ही दूरगामी परिणाम नितान्त भयंकर रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता आया है। चोरों का वध करने के लिए निर्मित वध-स्तम्भ संन्यासियों के प्राण ले लेता है और चोर पुनः सुरक्षित होकर अपने आपको साधु के रूप में प्रसिद्ध करता हुआ विचरण करता है और चोरों का उपद्रव पहले की अपेक्षा भी अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है। यदि संयोगवश एक आध वास्तविक चोर भी इस वध-स्तम्भ पर लटका दिया गया तब भी तो उस चोरी के कारण उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण क्रोध एक ही चोर पर उतर कर रह जाता है और शेष चोर निर्भयता सहित पुनः 'हरिओ३म्' नाम जपते हुए तैयार हो सकते हैं। किसी विषाक्त बेल के कारण विद्यमान होने वाले दुखों और संकटों का निवारण हम उस बेल के कांटों और पत्तों आदि को काट कर तो कदापि नहीं कर सकते। इसको नष्ट करने की प्रक्रिया तो उस मूल को ही उखाड़ फेंकने से पूर्ण हो सकती है, जिससे ये कांटे, शूल और पत्ते पोषण पाते हैं।

'डलहौजी' भी तो अपनी परिस्थितियों का ही परिणाममात्र था। यह परि-

स्थिति जितने दिनों तक विद्यमान है एक डलहौजी चला जाएगा तब भी दस नए डलहौजी उत्पन्न करती रहेगी। परन्तु इस तत्त्व का विस्मरण कर अंग्रेज इतिहास-कारों ने भारत की भोली-भाली जनता को अपने भ्रमजाल में कसने हेतु जान पूछकर ही डलहौजी के समय में हुए सभी क्रियाकलापों के दोष का भांडा इतने जोर से फोड़ा है, सभी अत्याचारों के लिए उसी पर दोपारोपण इस ढंग से किया कि सामान्य भारतवासी यह समझने लग जाता है कि डलहौजी ही वस्तुतः इन समस्त अत्याचारों का एकमात्र कारण था। किन्तु इस प्रकार की धारणा भ्रान्ति-पूर्ण है। इसी भ्रान्त धारणा का यह परिणाम हुआ है कि डलहौजी को छोड़कर इन अत्याचारों के जो मूल कारण थे उनकी हम उपेक्षा कर देते हैं। वे मूल कारण हमें दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाते। यदि अंग्रेज सरकार की सहमति न होती तो वेचारे डलहौजी का क्या साहस था कि वह एक पग भी इधर-उधर बढ़ा पाता। डलहौजी को प्रत्येक कार्य के लिए इंग्लैण्ड सरकार द्वारा सहमति और अनुमति प्राप्त न होने की स्थिति में तो हिन्दुस्थान में वह एक पत्ता हिला पाने की भी क्षमता नहीं रखता था। किन्तु यह भी सत्य है कि भारत के इन शासकों में से राज्य प्रबन्ध-सम्बन्धी आवश्यकता से अधिक हुए पातकों के लिए हम जिन्हें दोषी मानते हैं, उनमें डलहौजी को भी एक रूप में सम्मिलित करने में हम किंचित-मात्र भी संकोच नहीं है। वस्तुतः डलहौजी सरीखे श्रेष्ठतम अत्याचारी सत्ता के मुख मात्र ही तो होते हैं। इंग्लैंड के स्वामियों की आज्ञा का पालन करना मात्र ही तो इन भारवाहकों का कार्य है। अतः भारत में घटित हुए सभी अत्याचारों और अन्यायों के लिए केवल उन्हें दोषी ठहरा देना भी तो भ्रान्तिपूर्ण ही है। अपनी नियुक्ति के स्थान पर वहाँ की परिस्थितियों के दास के रूप में ही तो हिन्दुस्थान में डलहौजी सक्रिय था। अतः उसके द्वारा किए गए सद् अथवा असद् कृत्यों का भी एक बड़ा भाग उन्हीं पर आरोपित होता है, जिन्होंने ऐसी परिस्थितियों का सृजन किया था। जब तक हिन्दुस्थान में सम्पूर्ण क्रियाकलापों सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण इंग्लैंड के कतिपय वरिष्ठजनों द्वारा किया जाता था, उनको सिर आंखों पर रखकर जिन्हें अनुगमन करना पड़ता था उनमें डलहौजी सरीखा ईमानदार सेवक शायद ही कोई दूसरा रहा होगा। डलहौजी के इंग्लैंड निवासी स्वामियों ने और उन पर भी नियन्त्रण करने वाली ब्रिटिश जनता ने जिसने उनके इन कार्यों को समर्थन दिया था, तथा हिन्दुस्थान में निवास करने वाले उनके सहयोगियों ने जो परिस्थितियां उत्पन्न की थीं उन सभी के लिए केवल डलहौजी को ही दोष देना उचित नहीं है। सौ वर्ष पूर्व इनके पूर्वजों ने नितान्त ही परिश्रम सहित बोए गऐ बीजों की राजनीतिक फसल को ही तो डलहौजी ने संभाला था। यदि इस प्रकार की अन्यायी सत्ता के उत्तराधिकार की परम्परा उसका आधार

न होती तो डलहौजी ऐसे ही कितने राज्यों पर पराधीनता का पाश डाल सकता था। वस्तुतः उसके पूर्वजों की ही अनेक पीढ़ियों ने धीरे-धीरे विभिन्न राजसिंहासनों के स्तम्भ कुतर-कुतर कर ढीले कर दिए थे। यही पाठ तो डलहौजी को भी पढ़ाया गया था। अतः उसने लेखनी की नोक मात्र से ही उनमें से अनेक राज्यों के सिंहासनों को पलटकर उन राज्यों पर इंग्लैण्ड की पताका फहराने में सफलता प्राप्त कर ली।

किन्तु सौभाग्य से १८५७ की क्रान्ति के पुरोधाओं ने इस सत्य का साक्षात-कार कर लिया था कि वस्तुतः सम्पूर्ण इंग्लैण्ड की मधुमक्खियों का एक छत्ता है जिसमें से उठने वाली मधुमक्खियां हिन्दुस्थान रूपी उपवन में खिले हुए विभिन्न राज्यों रूपी सुमनों का मधुपान करने में संलग्न रहकर बदले में अपने डंकों से विष दान कर रही हैं। किसी व्यक्ति विशेष को इस स्थिति के लिए दोषी मानने की भ्रामक कल्पना का वे शिकार नहीं हो पाये थे। उनके रण आह्वान् का कारण किसी नियम या कानून को संशोधित कराना अथवा समाप्त कराना अथवा किसी डलहौजी को इंग्लैण्ड वापस भिजवाना नहीं था। वे समझ गए थे कि भारत की अभिवृद्धि और श्रीवृद्धि के लिए सम्पूर्ण कटीले झाड़ों की मूल ब्रिटिश सत्ता को ही भारत से उखाड़कर फेंकना अभीष्ट होगा। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए यही एकमात्र औषधि है और इस औषधि की प्राप्ति संग्राम भूमि के अतिरिक्त अन्य कहीं भी हो पानी असंभव है। अतः वे अपने सिर हथेली पर तलवार हाथों में थाम कर निकल पड़े।

सत्तावन के क्रान्तियुद्ध की पवित्रता एवम् महत्त्व इसी सत्यज्ञान पर आधा-रित है और इस सत्यज्ञान का साक्षात्कार कर जिन्होंने प्राणदान दिया था उनकी महान लगन पर ही इसका अधिष्ठान रखा गया था। जिनकी दृष्टि में इस संपूर्ण क्रान्ति का कारण डलहौजी के अत्याचार मात्र ही रहे हैं वे इस युद्ध का सही मूल्यां-कन नहीं कर सकते। इस प्रकार के असमंजस से ग्रस्त लोगों को यदि इस स्वातन्त्र्य समर के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी प्राप्त करने की इच्छा है तो उन्हें यह समझना होगा कि अवध का राज्य किसने हड़पा था और इसको किस भांति हड़पा गया था। अवध का यह विस्तृत और सम्पन्न राज्य डलहौजी के आने से ५० वर्ष पूर्व से ही समाप्त होना आरम्भ हो गया था। जब से अवध के नवाब का अंग्रेजों से सम्बन्ध स्थापित हुआ था, तभी से उसके राज्य के एक-एक टुकड़े को अंग्रेजों ने निगलना आरम्भ कर दिया था।

सन् १७६४ ई० में नवाब का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सर्वप्रथम पाला पड़ा था, तभी से कम्पनी के विश्वासपात्र अधिकारी अवध की इस उर्वरा भूमि को निग-लने की दिशा में प्रयत्नशील थे। अवध का नवाब आत्मरक्षार्थ अपने ही व्यय पर

अंग्रेजी सेना को रख ले, उसे इस बात के लिए बाध्य कर सैनिक वेतन खर्च की मद में १६ लाख रुपए नवाब से प्रति वर्ष ऐंठे जाने लगे थे। इस प्रकार का संरक्षण एवं इच्छापूर्वक किया जा रहा अत्याचार नवाब के भण्डार को निरन्तर खाली करता जा रहा था। अंग्रेजों ने इसी पर सन्तोष न करते हुए नवाब को यह भी आदेश दिया कि वह यदि अपने राज्य एवम् वैभव को अक्षुण्ण रखने का इच्छुक है तो उसे चाहिए कि वह अपने शासन का भारतीय सैनिक विभाग तोड़ दे और उसके स्थान पर अंग्रेज सेना की नियुक्ति कर ले। अंग्रेज इस तथ्य से सुपरिचित था कि जो नवाब अपने राजकोष से इस संरक्षक सेना का भार उठाने में ही असमर्थ सिद्ध हो रहा है, वह इस अतिरिक्त सैनिक भार को कदापि वहन न कर सकेगा। उन्होंने इस तथ्य को भली भांति समझकर ही यह मांग नवाब के माथे मढ़ी थी। और इसका उपाय (नवाब की इच्छा के विरुद्ध) कम्पनी के नवाब को यह सुझाया कि उसका राजकोष भले ही रिक्त हो गया है, उसके राज्य का प्रदेश तो अभी उसके पास है ही। अतः नवाब के मंगल की 'महान आकांक्षा' से 'द्रवीभूत' होकर दो करोड़ रुपए की वार्षिक आय वाला वह प्रदेश नवाब से बलात् हड़प लिया और गोरे सैनिकों की सेनाएं नवाब की सेवा में उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर थोप दी। जो प्रदेश कम्पनी ने यह षडयन्त्र कर अवध के नवाब से हड़पा था, वह था रुहेलखण्ड। अवध के इस प्रदेश को अपने साम्राज्यवादी जवड़ों से निगलकर ही अंग्रेज कम्पनी के अधिकारियों की क्षुधा शान्त नहीं हो गई थी। अब उन्होंने एक नया दांव फेंका। यह दांव १८०१ ई० में हुई एक सन्धि के रूप में फेंका गया था। इस सन्धि के अन्तर्गत यह निश्चय किया गया कि नवाब ने सम्पूर्ण प्रदेश से अपने स्वामित्व के अधिकारों को तिलांजलि दे दी है और अवशिष्ट सम्पूर्ण प्रदेश पर वंश परम्परागत रूप से नवाब तथा उसके वंशजों का ही अधिकार रहेगा।

१८०१ ई० की इसी संधि की तृतीय शर्त यह थी कि नवाब को अपनी प्रजा के लिए सुखदायी शासन व्यवस्था करनी होगी और प्रत्येक कार्य के करने से पूर्व उसे कंपनी के अधिकारियों से परामर्श प्राप्त करना होगा। इस संधि के उपरांत कंपनी ने जब चाहा नवाब से करोड़ों रुपये की राशि प्राप्त की। इस भांति कंपनी द्वारा बलात् प्राप्त लिए जाने वाले ऋणों तथा दान के कारण राजकोष रिक्त होता जा रहा था। एक दृष्टि से तो अवध का संपूर्ण राज्य ही कंपनी के सैनिक अधिकारियों के हाथों में आ गया था। नवाब के लिए अपने प्रदेश का स्वतन्त्र रूप से प्रशासन चलाना अथवा आंतरिक सुधार लागू करना भी असंभव ही हो गया था। किन्तु विश्व कल्याण का ठेका लेनेवाली कंपनी नवाब पर निरंतर यह दबाव डालती रही कि वह अपनी प्रजा को सुखी और संतुष्ट करने हेतु १८०१ ई० की संधि के अनुसार अवश्य ही व्यवस्था करे। किन्तु नवाब बेचारा कर भी क्या सकता था ? जब

भी नवाब द्वारा राज्य की आय में वृद्धि करने की दृष्टि से कोई पग उठाया जाता, कंपनी कोई न कोई बहाना बनाकर अड़चन डाल देती थी। राज्य के जिन पुराने निर्बन्धों के कारण प्रजा को सुख की अनुभूति होती भी थी, उन्हें भी कंपनी ने समाप्त कर दिया। इसके कारण प्रजा उत्पीड़न की चक्की में पिसने लगी। जनता की इतनी अधिक दुरवस्था हुई कि दस वर्ष उपरांत कंपनी को भी अपनी इस भूल को स्वीकार करना पड़ा। इस भांति यहां एक ओर कंपनी ने नवाब के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया वहां दूसरी ओर वह प्रजा-वत्सलता का नाटक रचकर नवाब पर इस बात के लिए भी ज़ोर देती रही कि जनता को किसी प्रकार की भी शिकायत का अवसर प्राप्त न हो। कंपनी की अन्यायपूर्ण और असंगत मांगों की पूर्ति करने में नवाब का कोष रिक्त होता जा रहा था और दूसरी ओर उसकी मांगें भी नित नये रूप में सुरसा सा मुख फैलाती जा रही थीं। इन मांगों की पूर्ति हेतु यदि नवाब प्रजा पर बोझ डालता तो कंपनी जन रक्षक बनकर नवाब पर कुप्रबन्ध का आरोप लगाकर प्रकोप प्रदर्शित करने लगती, क्योंकि वस्तुतः जनता नवीन कराधान से रुष्ट तो होती ही थी। इस भांति नवाब के प्रशासन को कंपनी ने विकलांग बनाकर रख दिया था। किन्तु यदि राज्य-पद्धति में सुधार की मांग को लेकर जनता इस अन्याय के विरुद्ध सिर उठाती तो जनता के अधिकारों का दमन करने हेतु नवाब की 'आश्रित' अंग्रेजी सेना के हाथों में तनी हुई संगीनें और तलवारें सर्वदा तनी रहती।[१] इतने पर भी कंपनी अपनी इस आग्रह पर पूर्ववत् अविचल और अडिग थी कि राज्य के किसी भी व्यक्ति को शिकायत करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं होना चाहिए! स्थिति इसी प्रकार की थी कि जैसे कोई अत्याचारी पालक अपने बालक को एक ओर तो ज़ोर से मारता-पीटता है और दूसरी ओर उसे कहता जाता कि 'खबरदार रोना नहीं'। अन्तर इतना ही था कि यह अभिभावक मूर्खता के कारण ऐसा कृत्य भले ही करता हो, किंतुफिर भी उसका उद्देश्य बुरा नहीं होता। किन्तु कंपनी नवाब से जो व्यवहार कर रही थी और नवाब पर जो प्रहार कर रही थी उसका उद्देश्य नवाब का गला दबाकर उसकी हत्या कर देना मात्र ही था। यह प्राणघात जितना शीघ्र और सुलभ

---

१. सर जान की ने कहा है "सत्यता यह है कि यह एक ऐसी त्रुटियुक्त प्रणाली थी कि जिसकी जितनी अधिक भर्त्सना की जाए कम ही है। इस प्रकार उसने निकृष्ट श्रेणी का द्वैध शासन आरम्भ कर दिया था। राजनैतिक और सैनिक सत्ता तो कम्पनी के हाथों में थी, किन्तु अवध का आंतरिक शासन अभी भी नवाब, वजीरों के हाथ में था।

(पृष्ठ ८२, खण्ड प्रथम)

ढंग से हो जाए उतना सुलभ बनाने के हेतु अंग्रेज़ हज़ारों कुचालें चल रहे थे। उन सबका विवरण प्रस्तुत करने का तो अभी न तो अवकाश ही है और न स्थल। किन्तु फिर भी इन अत्याचारों के उदाहरणस्वरूप एक घटना का उल्लेख किया जान तो आवश्यक ही है। वह घटना यह है कि १८३७ ई० में लॉर्ड आकलैण्ड ने नवाब के साथ एक संधि की थी। किन्तु उसी संधि के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों ने कुछ वर्ष उपरान्त ही यह कहना आरम्भ कर दिया कि यह संधि उन्हें स्वीकार नहीं है। यह संधि सम्पन्न हुई है, यह अंग्रेज़ों को स्मरण नहीं था, ऐसी बात नहीं है। इसका कारण यह है कि १८४७ ई० में लॉर्ड हार्डिगटन ने इस संधि को स्वीकार किया था। कर्नल स्लीमेन ने १८५१ ई० में इस संधि को मान्यता प्रदान की थी। इतना नहीं १८५३ ई० में इस संधि का उल्लेख ही नहीं किया गया था, अपितु कंपनी के उस वर्ष के रिकार्ड में इस संधि का उल्लेख उन संधियों की सूची में उपलब्ध है जो उस वर्ष बनाई गई थी।[1] किन्तु १८५३ ई० में अंग्रेज़ों ने खुले शब्दों में यह कहना आरंभ कर दिया कि १८३७ ई० की संधि के संबंध में तो उन्हें स्मरणमात्र भी नहीं है। वे तो उस संधि को पूर्णतः विस्मृत ही कर चुके थे। १८३७ ई० की इस संधि के कारण वे नवाब के राज्य का पूर्णतः उन्मूलन कर देने में सफल नहीं हो सकते, यह समझते हुए अंग्रेज़ों ने स्पष्ट शब्दों में इस संधि को अस्वीकार ही कर दिया। यह कहते हुए कि वह संधि तो कभी हुई ही नहीं, अंग्रेज़ों को किंचितमात्र भी लज्जा नहीं आई। इस सम्बन्ध में उन लोगों को कदापि आश्चर्य नहीं होता जिन्होंने भारत में अंग्रेज़ी राज्य के वृतान्त को थोड़ा-सा भी ध्यान देकर पढ़ा है। कारण स्पष्ट था कि अंग्रेज़ों को तो अवध के राज्य को हड़पना था और वे समझ रहे थे कि १८३७ ई० की संधि के स्थान पर १८०१ ई० में हुई संधि उनके इस उद्देश्य की प्राप्ति में अधिक सहायक सिद्ध हो सकेगी। अतः कंपनी ने वाजिद अली शाह को यह सूचित कर दिया कि यदि उन्होंने अपनी प्रजा की प्रसन्नता के अनुरूप शासन न चलाया तो कंपनी उनके राज्य प्रशासन को स्वतः संभाल लेने के सम्बन्ध में विचार कर सकती है।

यह बात स्मरण रखनी होगी कि ये सभी चालबाजियां डलहौजी के भारत के सागर तट पर पग धरने से पहले ही चली जा चुकी थीं। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि डलहौजी ने अवध के राज्य को हड़पने का कोई अपूर्व पाप नहीं किया था। वस्तुतः उसके पूर्व के अंग्रेज शासकों ने ही अवध के राज्य को हड़प लेने की सम्पूर्ण सिद्धता कर ली थी और उनके वे षडयन्त्र तथा घिनौने कृत्य साफल्यमंडित भी हो रहे थे। वस्तुतः डलहौजी ने इस षडयन्त्र की पूर्णाहुति मात्र ही की थी।

---

१. डलहौजी का प्रशासन, खण्ड २, पृष्ठ ३६७

अवध में पंजाब अथवा ब्रह्मदेश के समान सेना भेजकर उस पर विजय प्राप्त करने का भी कोई कारण विद्यमान नहीं थी, क्योंकि वहां के लोगों ने तो ब्रिटिशों के विरुद्ध कोई पग नहीं उठाया था। नवाव पर यह आरोप लगाने का भी कोई कारण उपस्थित नहीं था कि वह कम्पनी के प्रति जिस मैत्रीपूर्ण भावना का दावा करता है, उसे उसने क्रियान्वित नहीं किया है, क्योंकि आज पर्यन्त प्रत्येक कठिन अवसर पर नवाब ने अंग्रेजों की सहायता की थी। जिस समय अंग्रेजों के पास धन नहीं होता था उस समय नवाब ने उन्हें करोड़ों रुपए की राशि दी थी। इतना ही नहीं जब किसी अभियान में अंग्रेजों के समक्ष वस्तुओं का अभाव उपस्थित होता था तब नवाब धन से ही नहीं धान्य से भी उनकी सहायता करता था।

इसके साथ ही अवध के राज्य को हड़प लेने के लिए अंग्रेजों को नागपुर के राज्य के समान कोई ऐसा भी बहाना भी उपलब्ध नहीं हो पाया था कि नवाब का कोई प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नहीं है। नवाब का राजमहल तो उसकी वैध सन्तानों से ही परिपूर्ण था। झांसी के राज्य समान दत्तक पुत्र का भी तो कोई विवाद इस प्रसंग में विद्यमान नहीं था, क्योंकि वर्तमान राजा दिवंगत राजा के वैध पुत्र के रूप में अनेक वर्षों से राज सिंहासन पर आरूढ़ था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अवध के शासक ने ऐसा कोई भी अपराध नहीं किया था। किन्तु यह सब होने पर भी अन्ततः उस 'मूर्ख' के हाथों एक अपराध तो हुआ ही था जो अक्षम्य था। इससे बड़ा और अपराध हो भी क्या सकता था कि अवध की भूमि नितान्त ही उर्वरा थी, जिसमें फसलें लहलहाती थीं और यह भूखण्ड प्रतिदिन अधिकाधिक श्री सम्पन्न होता जा रहा था। इतना धन धान्य सम्पन्न हो गया था अवध का यह प्रदेश कि अंग्रेजों की ब्ल्यू बुक (Blue Book) की नीरस भाषा भी इस अवध प्रदेश के सौन्दर्य और सम्पन्नता का वर्णन करते हुए स्वतः काव्य गंगा में डुबकियां लगाने लगी थी। इस नीली-पुस्तक के प्रस्तुत विवरण में उल्लेख है कि "इस सर्वोत्तम भूखण्ड में भूतल से बीस फुट पर और कहीं-कहीं तो केवल दस फुट की गहराई पर ही जल के भरपूर स्रोत उपलब्ध हैं। ऊंचे-ऊंचे बांसों की वन सम्पदा से भरा पूरा, आम्र कुंजों की सघन छाया से शीतल और परिपूर्ण, हरी-भरी फसलों से शस्य श्यामल यह भू-अंचल नितान्त ही श्री सम्पन्न और मनोरम है। इमली के वृक्षों की सघन छाया, नारंगी के पादपों से फैलती हुई सुगन्ध ने तो इस भूमि के वैभव को शतगुणित कर दिया है। अंजीर के वृक्षों की विचित्रता और पुष्प-पराग-मण्डित इस निसर्ग सुन्दर अंचल की शोभा का वर्णन कर पाना भी कठिन कार्य है।"

इतने सुन्दर और मनोरम अंचल का स्वामी कहलाने वाले नवाब को सिंहासन च्युत करने में भला कौन चालाक अंग्रेज क्षण भर की भी प्रतीक्षा करेगा,

संकोच का शिकार वनकर मौन दर्शक मात्र वना रहेगा। अतः १८५६ ई० में डलहौजी ने इसको अपना कहने के पावन अपराध के कारण नवाब को एक आदेश दे दिया। उसके इस आदेश को वस्तुतः सभी अंग्रेज अधिकारियों का अनुमोदन तो प्राप्त था ही, अनुमति भी मिल ही गई थी। अतः अयोध्या (अवध) एक आघात मात्र में ही जब्त कर ली गई। किन्तु इसका कारण क्या वताया गया, वही पुराना कारण कि नवाव अपनी प्रजा को सुख शान्ति देने हेतु राज्य में अपेक्षित सुधार करने का दायित्व नहीं निभा पाया है। धन्य धन्य ! ईसामसीह के इन अनुगामी अंग्रेजों द्वारा प्रदर्शित यह उदारता वस्तुतः अनुपम ही है। यदि नवाब के राज्य में उसकी प्रजा का एक भाग नितान्त दरिद्र और पीड़ित है, उसके शासन में कुव्यवस्था वढ़ रही है और असन्तोष उभर रहा है यदि यही कारण अंग्रेजों द्वारा उसे सत्ताच्युत करने के लिए पर्याप्त थे तो फिर तो हिन्दुस्थान पर एक दिन के लिए अपना शासन चलाने का अधिकार अंग्रेजों को प्राप्त नहीं हो सकता। आज चीन में अफीम खाने का व्यसन प्रचलित है, अफगानिस्तान में अत्याचारी निरंकुश शासन चल रहा है, अंग्रेजों के खुले नेत्रों के समक्ष ही रूस में अवर्णनीय अत्याचारों की पराकाष्ठा हो गई है, लूटमार का बाजार गर्म हो रहा है, तो क्या अंग्रेजों में यह पौरुष है कि वे इन सभी के अत्याचारी शासकों को पदच्युत कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लें ? इंग्लैण्ड के शासकों उत्तर दो कि पड़ौसी के घर में यदि कुप्रवन्ध हो तो उस घर में प्रवेश कर उसके मुख में कपड़ा वांधकर उसके घर पर अधिकार कर लेने का अधिकार तुम्हें किसने प्रदान किया है ? परन्तु डलहौजी के जीवन तथा उसके कार्यकाल का इतिहास लिखने वाले आर्नोल्ड ने लिखा है "नवाब ने इसके अतिरिक्त भी अन्य कई अपराध किए थे। प्रथमतः उसने अपने सेवक और सेविकाओं को शाल-दुशाले पारितोषिक स्वरूप प्रदान किए थे। दूसरी बात यह है कि उसने एक बार ११ मई के दिन आतिशबाजी का एक भव्य समारोह आयोजित किया था। इतना ही नहीं उसने एक दिन प्रातःकाल ही शाही वेगम और ताजवेगम को भोज पर आमंत्रित किया था। और इससे बढ़कर दूसरा भयंकर अपराध उसके द्वारा क्या किया जा सकता था कि वह पौष्टिक औषधियों का सेवन करता था। इस प्रकार वह राज्यकोष का दुरुपयोग कर रहा था। किन्तु नवाव की इन सभी काली करतूतों को अंग्रेज मौन रहकर सहन कर रहा था। उसने नवाव को सिंहासन च्युत नहीं किया था। इस उदारता के लिए अंग्रेजों को जितना भी साधुवाद दिया जाए वह कम ही रहेगा। फिर भी सहनशीलता का भी तो एक सीमा बिन्दु होता ही है। परन्तु एक दिन नवाव स्वयं वहां उपस्थित रहा जव बीजाश्व (स्टेलियन) घोड़ियों से संभोग कर रहा था। वेचारा बीजाश्व भी लज्जा से गड़ गया होगा।

उस घोड़ पर तरसकर, इस भयंकर अपराध में एक दिन अंग्रेजों ने नवाब को सिंहासन च्युत करने की घोषणा कर ही दी।"

इस प्रकार के छिछोरेपन से पूरित और मूर्खतापूर्ण आरोप नवाब पर लगाकर अंग्रेजों ने नवाब के राज्य की दुर्व्यवस्था और अक्षमता का ढिंढोरा विश्व भर में पीटा है। इन दुष्ट बुद्धि अंग्रेज इतिहासकारों का यह दम्भ वस्तुतः आश्चर्यजनक है। वस्तुतः ऐसी घटनाओं को देखने के लिए तो उन्हें हिन्दुस्थान में आने का कष्ट करने की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्हीं के देश के राजमहलों में उन्हें इससे भी बढ़कर अश्लीलतापूर्ण तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं। वस्तुतः अवध की घोड़ियों पर हुए अत्याचारों से भी अधिक भयंकर अत्याचारों तथा बलात्कार और व्यभिचार तो उनके अपने देश में ही होते हैं। यदि वे वहीं के अपने शासकों की जागीरों का राजहृत करने का सुकृत्य वहीं रहकर करेंगे तो हमें यह स्वीकार करने में कदापि संकोच नहीं होगा कि उन्होंने अपना समय किसी सद्कार्य में लगा दिया है।

●●●

५

अग्नि में घी

संसार में ऐसा कौन सा सद्धर्म है, जिसने परतन्त्रता एवम् दासत्व को नहीं धिक्कारा है। यह मान्यता ही रही है कि जहाँ परमेश्वर है वहाँ परतन्त्रता कदापि नहीं आ सकती और जहाँ परतन्त्रता हैं वहाँ परमात्मा का अधिष्ठान कदापि नहीं हो सकता। जहाँ परमात्मा का अधिष्ठान नहा वहाँ धर्म का अस्तित्व ही कहाँ रह पाएगा। अतः परतन्त्रता चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो, उसका एक ही तात्पर्य है और वह है धर्म का उच्छेद तथा परमेश्वर की इच्छा का खण्डन।

मानवमात्र की उन्नति की भावना से आविर्भूत सभी धर्मों ने मानव जाति की अवनति का निमित्त बनने वाली परतन्त्रता को एक क्षण के लिए भी सहन करते हुए जीवित रहने की अनुमति प्रदान नहीं की है। किन्तु राजनैतिक परतन्त्रता तो अन्य सभी प्रकार की परतन्त्रताओं में निकृष्टतम है और अवनति का सर्वतोपरि कारण है। अतः परतन्त्रता का पाश डालने वाले अधम राक्षसों का कंठच्छेदन करने की धर्माज्ञा प्रमुख रूप में दी गई है। जो दूसरों को परतन्त्रता के पाश में आबद्ध करते हैं एवम् जो परतन्त्रता को सहन करते हैं वे दोनों ही नरक के भागी दार होते हैं। जहाँ सच्चा धर्म स्वर्ग की प्राप्ति का साधन है वहाँ दासता ही नरक का द्वार भी है। अतः धर्म ने अपने राजनैतिक अनुयायियों को परतन्त्रता का उच्छेद करने का महान उपदेश दिया है। इस उपदेश की अवहेलना करने वाले सभी लोग वस्तुतः धर्मद्रोही हैं। लोगों को पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ने वाले अंग्रेज प्रतिदिन ही गिरजाघर में जाते हैं, फिर भी वे धर्मद्रोही ही हैं, इसी भांति जो भारतवासी प्रतिदिन ही अंग में राख लगाते हैं, वे भी धर्मद्रोही ही हैं, क्योंकि वे भी परतन्त्रता के नरक कुण्ड में पड़े हुए हैं। जो किसी भी प्रकार की दासता का जुआ अपने ऊपर धरे हुए हैं और विशेष रूप से जो अनैसर्गिक राजकीय दासता को सहन कर रहे हैं, ऐसे सभी हिन्दू धर्मभ्रष्ट ही हैं। ऐसे सभी मुसलमान भी धर्मभ्रष्ट ही हैं, फिर चाहे वे प्रतिदिन हजार बार संध्या वंदना करते हो, अथवा

सहस्र बार नमाज पढ़ते हों। इसी लक्ष्य को समक्ष रखते हुए समर्थ स्वामी रामदास ने यह सुस्पष्ट निर्देश दिया था कि स्वराज्य प्र प्ति ही धर्म के पालन का मुख्य कर्त्तव्य है। प्राणनाथ महाराज ने भी छत्रसाल को स्पष्ट शब्दों में यही उपदेश दिया था। यही व्यावहारिक वेदान्त है। धर्म भी उसीकी रक्षा करता है जो उसकी रक्षा कर पाने में सक्षम है। धर्म रक्षा के इच्छुकों, २५० वर्ष पूर्व स्वामी रामदास ने यही महामंत्र प्रदान किया था कि मरना सीखो, शत्रु को मारते-मारते अपना (स्व) राज्य स्थापित करो। १८५७ ई० में पराधीनता के कारण पराजित जनता के अन्तःकरणों में भी यही महान उपदेश गुंजित हो रहा था।

अप्राकृतिक और अन्याय से निर्मित पराधीनता की लोह श्रृंखला जिन्होंने हिन्दुस्थान के पैरों में डाली थी, उन्होंने केवल भारत में ही नहीं संपूर्ण विश्व में ही धर्म पर आक्रमण किया था। ऐसा तो कोई भी धर्म नहीं है, जिसमें अन्याय की भर्त्सना नहीं की गई। किन्तु इस प्रकार की मूक निन्दा की चिन्ता न करते हुए हिन्दुस्तान में पग धरने के अपावन क्षण से १८५७ ई० के इस भीषण काण्ड तक हिन्दू और मुसलमानों के धर्म को पददलित करने का कुकृत्य बड़े ही सुनियोजित ढंग से अंग्रेजों द्वारा किया गया है। अफ्रीका और अमरीका की मूलनिवासी वन्य जातियों को ईसाई मत में दीक्षित कर लेने को अपूर्व विजय मानने वाले अंग्रेजों की गर्दन अहंकार से तन गई थी। इसी के कारण उन्हें यह विश्वास हो गया था कि भारत में भी ईसा मसीह का क्रास एक दिन निश्चित रूप से ही ऊंचा होकर उभरेगा। अंग्रेजों की यह सुनिश्चित धारणा थी कि हिन्दुस्थान के निवासी जहाँ एक बार पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध को देखेंगे वे अपने धर्म का पालन करने में लज्जा का अनुभव करते हुए उसका परित्याग कर वेदों और कुरानों के स्थान पर अंजील को पावन मानकर अपनी आदरांजलियां समर्पित करना आरम्भ कर देंगे। मन्दिर और मस्जिदें तो वीरान होकर रह जाएंगी और वे सभी गिरजाघरों में प्रवेश कर मानसिक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति प्राप्त करेंगे। उन्हें इस बात का तनिक भी ज्ञान नहीं था कि वेद एवम् प्राचीन हिन्दू धर्म की गहनता कितनी है, उसने जिस इस्लाम की आधारशिला पर ईसाइयत का भवन खड़ा हुआ है, उसका भी किस भांति सामना किया है। वे इस तथ्य से अवगत ही नहीं थे कि तत्त्वज्ञान, भक्ति, प्रेम एवं नीति निपुणता में समस्त विश्व का आदि गुरु रहने वाला आर्य धर्म कितनी वर्षा की प्रचण्ड बौछारें झेल चुका है और कितने ही प्रबल प्रभंजनों को चुनौती देकर भी जीवित रहा है। यह बात इन अंग्रेजों के ध्यान में ही नहीं आ पाई थी। आज तो उन्हें सम्पूर्ण भारत को ईसाई बना लेने की तनिक भी आशा नहीं रह गई है, किन्तु १८५७ ई० तक तो वे ऐसा विश्वास करते थे कि अपने उद्देश्य को पूर्ण कर वे निश्चित रूप से ही यश के भागी बनेंगे। औरंगजेब के

समान निकृष्ट द्वेषभावना से भी अधिक भयंकर द्वेषभावना उनके मन में विद्यमान थी और सम्पूर्ण भारत का ईसाईकरण ही उनका दृढ़ उद्देश्य था। इतना ही नहीं, इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु राजकीय स्तर पर भी उनके प्रयास चल रहेथे। हिन्दुस्थान में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति आरम्भ करने वाले मैकाले ने १२ अक्तूबर १८३६ ई० को अपनी माता को लिखे गए एक व्यक्तिगत पत्र में यह विश्वास व्यक्त किया था कि यदि अपनी यह शिक्षण पद्धति इसी भांति चलती रही तो ३० वर्ष की अवधि में ही सम्पूर्ण बंगाल ईसाई बन जाएगा।[1] यह आशा वस्तुतः उस टटहरी के समान ही उपहासास्पद आशा थी जिसने अपनी चोंच से सम्पूर्ण महासागर का जल पी लेने की कपोल कल्पना की थी। समग्र हिन्दुस्थान को ईसाईमय बनाने के लिए प्रत्येक अंग्रेज ही प्रयत्नशील था। धर्म परिवर्तन की इस योजना में उन्हें अंग्रेज सरकार का भी सक्रिय सहयोग प्राप्त हो रहा था। हजारों मिशनरी इस कार्य के लिए भारत में सक्रिय थे। किन्तु अंग्रेज सरकार ने भारत से हिन्दु और मुसलमान दोनों धर्मों का उन्मूलन करने के लिए प्रत्यक्षतः तलवार का सहारा नहीं लिया था। उन्होंने प्रकट रूप से तो यही प्रदर्शित करने का प्रयास किया था कि उनके राष्ट्र की इच्छा धर्म प्रवर्तन की अपेक्षा व्यापार प्रवर्तन की ओर है और उन्हें ईसाईयत की अपेक्षा द्रव्य के प्रति ही अधिक भक्ति है। इतना साहस उनमें नहीं हो पाया था कि वे खुले रूप में यह घोषणा करते कि उनका लक्ष्य अपने धर्म के प्रचार के लिए हिन्दुस्थान भर में राज्यसत्ता की स्थापना करना है। उसकी ऐसी इच्छा नहीं थी, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सत्य है कि उनमें ऐसा कहने का साहस नहीं था। फिर भी उन्होंने अपनी अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति के लिए हिन्दुस्थान की धर्म-परम्पराओं में छेड़छाड़ करनी आरम्भ कर दी थी। वे सती प्रथा, विधवा विवाह नियम और दत्तक पूजाधिकार संबंधी नियमों में हस्तक्षेप कर रहे थे। मिशनरी पाठशालाओं को राज्य कोष से सहायता दिया जाना अबाध गति से चल रहा था। आर्चबिशपों को बड़े बड़े अधिकारियों द्वारा हिन्दुस्थान का गला दबाकर प्राप्त किए गए धन से मोटे मोटे वेतन दिए जा रहे थे। ये बड़े बड़े अंग्रेज अधिकारी भी लोगों को अपने पावन धर्म का परित्याग कर ईसाई धर्म को अंगीकार करने का उपदेश देने में पीछे पग न हटाते

---

१. "हमारी अंग्रेजी पाठशालाएं दिन-प्रतिदिन आश्चर्यजनक ढंग से प्रगति करती जा रही हैं। अकेले हुगली नगर में ही १४०० बालक अंग्रेजी सीख रहे हैं। इस शिक्षा का प्रभाव ही नितान्त चमत्कारपूर्ण हो रहा है। मेरा यह सुदृढ़ विश्वास है कि यदि यह शिक्षा योजना सुचारु रूप से जारी रही तो ३० वर्ष पश्चात बंगाल में एक भी मूर्तिपूजक न रह जाएगा।"

थे। सरकारी कागज पत्रों में भी भारतवासियों का उल्लेख 'Heathen' शब्द से किया जाता था। अंग्रेज अधिकारियों का अधिकांश समय अपने आसमानी बाप की शरण में लोगों को लाने के लिए जी तोड़ प्रयास करने में ही लग रहा था। लोगों के मन में भी यह भावना स्थान बनाती जा रही थी कि भविष्य में उनके धर्म पर खुला प्रहार ही होने वाला है। इस अशान्ति को नष्ट करने हेतु मिशनरियों ने भारत के केन्द्रस्थल बने सेना के सैनिकों में ही ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। अंग्रेज की योजना यह थी कि यदि किसी दिन जनता भड़की भी तो अशान्ति की ये लपटें सैनिकों के ईसाई बन जाने पर सेना में भड़क उठने का भय तो नहीं रहेगा। सिपाहियों एवं जनसाधारण ने अंग्रेजों की इस कूटनीति को भी भली भांति समझ लिया था, इसका परिचय उस समय विद्रोहियों द्वारा प्रसारित किए गए घोषणापत्रों से उपलब्ध हो जाता है। इस घोषणापत्रों में उल्लिखित दु:ख और शिकायतों के अक्षरशः सत्य होने का प्रमाण उस समय के अंग्रेज लेखकों के ही उन वाक्यों से उपलब्ध हो जाता है जो उन्हें अनिच्छा सहित ही क्यों न हो परिस्थितियों से विवश होकर लिखने ही पड़े हैं।

जिन दिनों प्रत्यक्ष रूप में युद्ध नहीं होता था उन दिनों सैनिकों को अवकाश रहता था। उस समय अंग्रेज कर्नल, कप्तान और अन्य सेनाधिकारी अपना समय किस भांति व्यतीत करते थे? वे उस समय अन्य कोई कार्य न करते हुए सिपाहियों के समक्ष ईसाई धर्म का प्रशस्तिगान किया करते थे, जिसको सुनना प्रत्येक सैनिक के लिए अनिवार्य था। इस प्रकार उनको मतिभ्रमित करना ही इन अंग्रेज अधिकारियों के अवकाश के समय का एकमात्र कार्य हो गया था। क्या उनके ये भाषण सरल और शिष्ट भाषा में होते थे? नहीं कदापि नहीं। जिनके केवल नामोच्चारणमात्र से प्रत्येक हिन्दू के हृदय में भक्ति की पुनीत गंगा प्रवाहित हो उठती है उन भगवान रामचन्द्र को तथा जिसका नाम मुसलमानों के हृदय में आदरपूर्ण भय उत्पन्न करता है उन हजरत मुहम्मद साहब को ये ईसाई धर्म प्रचारक चुने हुए अपशब्दों से संबोधित किया करते थे। वेदों और कुरान की पवित्रता को भी भ्रष्ट किया जा रहा था, मूर्तियां भी अपमानित की जा रही थीं। इन राक्षसों का यह प्रयास कितने वेग सहित चल रहा था और इस कार्य के करने में वे कितने गर्व का अनुभव करते थे इसका स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से व्यक्ति विशेष का उदाहरण देना अभीष्ट रहेगा। सभी धर्मों का जनक आर्य धर्म एवम् ईसाईयत से पहले से ही उद्भूत इस्लाम इन दोनों ही धर्मों के अनुयायियों को अपने लुंज पुंज शुभ वर्तमान में फंसाने के लिए बंगाल सेना के एक कमाण्डर ने स्वतः सरकारी विवरण में लिखा है—"मैं निरन्तर २० वर्ष से सिपाहियों को ईसाई बनाने के कार्य में संलग्न हूं। इन मूर्तिपूजकों की आत्मा एक शैतान से सुरक्षित रहे, ऐसा

करना मैं अपना एक सैनिक कर्त्तव्य ही समझता हूं।"

हिन्दुस्थान के पैसे पर ही पलने वाले इन पादरी वीरों ने एक हाथ में सैनिकी आदेश पत्रों के पुलन्दे थामे होते थे और इनके दूसरे हाथ में बाइबल होती थी। इस प्रकार सिपाहियों में बाइबल का वितरण करने में भी सरकारी प्रभाव को ही प्रयोग में लाया जा रहा था। इतना ही नहीं अपितु अपने इन प्रयासों में सफलना प्राप्त करने की दृष्टि से ये उन सिपाहियों को पदोन्नति का भी स्पष्ट वचन देते थे जो ईसाई धर्म को अंगीकार करना स्वीकार कर लेते थे। सिपाही अपना धर्म छोड़ते ही हवलदार हो जाता और हवलदार अपने धर्म का परित्याग करते ही सूबेदार व मेजर बन जाता था। इस प्रकार सैनिक केन्द्र भी एक प्रकार से ईसाई प्रचार के प्रमुख केन्द्र मात्र ही बनकर रह गए थे। हिन्दुस्थान के पैसे से पलनेवाले ये अधिकारी और भारत के धन से ही खरीदी गई तलवारें ही हिन्दुस्थानी धर्म के मान-सम्मान पर आघात लगाने के लिए प्रयोग में लाई जा रही थीं। अतः सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में ही अंग्रेजों के हेतु के संबंध में संशय का एक वायुमण्डल उत्पन्न हो गया था। इसके साथ ही साथ दिन प्रति दिन चलने वाली नवीन गतिविधियों के कारण सभी के समक्ष यह वस्तुस्थिति स्पष्ट होती जा रही थी कि अंग्रेजों की वास्तविक योजन ासम्पूर्ण हिन्दुस्थान को ही ईसाई मात्र बनाने की है। अपने सनातन आर्य धर्म तथा अपने प्रिय इस्लाम धर्म का गला किस भांति घोटा जा रहा है, यह हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही भली भांति विदित होने लगा था। वे अब धर्म रक्षार्थ अपने प्राणों को भी समर्पित कर देने की पावन प्रतिज्ञाएं ग्रहण करने लग गए थे। फिरंगी के असह्य अत्याचारों का प्रतिशोध लेने हेतु अब उनके अंग प्रत्यंग फड़कने लगे थे।

अब अग्नि भड़क उठी थी, किन्तु उस दहकती हुई अग्नि में घी का काम हिन्दुस्थान की सेनाओं में नए प्रकार के कारतूसों का उपयोग करने संबंधी आदेश ने कर दिखाया। इसके साथ ही साथ बन्दूकों में उपयोग करने के लिए इन नए कारतूसों का निर्माण करने के लिए कारखानों की स्थापना करने संबंधी आदेश भी प्रसारित किए गए। यह निश्चय यद्यपि १८५७ ई० में किया गया, किन्तु ये कारतूस इससे पहले से ही हिन्दुस्थान में आ रहे थे। अब यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो के ही धर्म को न मानने वाली इस फिरंगी सरकार द्वारा १८५३ से ही ये कारतूस भारत में लाए जा रहे थे। कानपुर, रंगून और फोर्ट विलियम में रहने वाली भारतीय सेना को इस बात का आभास भी नहीं होने दिया गया था कि इनमें किसी अपवित्र वस्तु का सम्मिश्रण है। उनका यह कपट १८५७ ई० में प्रकट हुआ। आज इस सत्य का भी प्रकटीकरण हो चुका है कि १८५७ ई० से पहले से ही भारत-स्थित अंग्रेज अधिकारियों को भी इस

बात का पता था कि इन कारतूसों में कौन-सी चरबी लगाई गई है। १८५३ ई० के दिसम्बर मास में कर्नल टकर ने अपने एक सरकारी प्रतिवेदन में इस तथ्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है।[1] स्वतः प्रधान सेनापति ने भी इस बात का विवरण दिया है। इस भांति यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय सैनिकों को ये कारतूस देकर उन्हें धर्म भ्रष्ट करने का यह प्रयास इससे पूर्व से ही चल रहा था। अंग्रेज मन की इस धोखाधड़ी की कल्पना का भारतीय सैनिकों को कोई आभास ही नहीं था। अतः वे निःशंक होकर इनका प्रयोग करते आ रहे थे। इस भांति अपनी कपट प्रचुर नीति को साफल्य मंडित होते देखकर ही अंग्रेजों ने अब इन कारतूसों के बनाने का एक कारखाना दमदम में लगा दिया था। इस कारखाने में बनने वाले कारतूसों में चरबी लगाई जाती थी, किन्तु इन्हें भारतवासियों में बांटा जाना यह कोई उद्देश्य नहीं था, यह कहकर कोई सत्य को नहीं छुपा सकता। उद्देश्य नहीं था ! ऐसा उद्देश्य नहीं है, कहते कहते ही तो हमारा देश धूल में मिलाया गया। ऐसा उद्देश्य नहीं है, कहते कहते ही हमारा स्वराज्य समाप्त किया गया और अब इसी वाक्य को दोहरा कर हमारे धर्म का भी उच्छेद किया जा रहा था। कमांडर इन चीफ ने ही चरबी के होने के इस सत्य को स्वीकार किया है। उसने क्या समझते हुए हिन्दुओं को गाय का मांस और मुसलमानों को सुअर का मांस प्रस्तुत करने के उपक्रम किए थे। किस प्रकार अनेकों बार ऐसे कपटपूर्ण व्यवहार किए गए, यह सुनकर आज भी रक्त का प्रत्येक बिन्दु खौल उठता है। कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी लगाई जा रही है, इस कथन पर सैनिकों ने तत्काल ही विश्वास कर लिया और अपनी अंध परम्परा का पालन किया, यह कथन भी अनेक अंग्रेज इतिहासकारों का रहा है। उनका कथन है कि दमदम के कारखाने में बनने वाले कारतूसों में तो कभी गाय और सुअर की चरबी काम में ही नहीं लाई गई। किन्तु अब तो उनके इस मिथ्या प्रचार का भी मुंहतोड़ उत्तर मिल चुका है। कारतूसों में लगाई जाने वाली चरबी को उपलब्ध कराने वाले ठेकेदार के साथ हुए इकरारनामे[2] से यह तथ्य प्रमाणित है। इस बात का स्पष्ट उत्तर मिल जाता है कि इसमें चरबी का उपयोग होता था।[3] इस इकरारनामे में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "गाय की चरबी ही दी जाएगी और साथ ही उसमें यह भी शर्त थी कि चरबी की दर दो आने (दो पेन्स) प्रति रतल होगी।" इन

---

१. के कृत 'इण्डियन म्युटिनी,' प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३८०

२. वही, पृष्ठ ३८१

३. ...चरबी की बनावट में गाय की कुछ चरबी होती थी, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है (खण्ड १, पृष्ठ ३८१)

कारतूसों को लेकर उभरते हुए असन्तोष के पश्चात फिरंगी सरकार ने पुनः यह आदेश प्रसारित किया कि "नेटिव सिपाहियों के उपयोग के लिए बनाए जाने वाले कारतूसों में केवल बकरों और भेड़ों की ही चरबी लगाई जाए और गाय की चरबी का कोई उपयोग कदापि न किया जाए।" इस नवीन घोषणा से तो स्वतः इस सत्य की पुष्टि हो जाती है कि अब तक इन कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी का उपयोग किया जाता रहा था। दमदम और मेरठ दोनों में ही इन कारतूसों का निर्माण करने वाले कारखाने थे।

एक दिन दमदम छावनी का एक ब्राह्मण सैनिक जल का लोटा लिए हुए छावनी को वापस आ रहा था। वहीं एक भंगी भी आ गया, जिसने लोटे से लेकर पानी पीना चाहा। ब्राह्मण ने कहा कि "मेरा लोटा तो तेरा स्पर्श होने मात्र से अपवित्र हो जाएगा।" ब्राह्मण सैनिक के ये शब्द सुनते ही उस भंगी ने उत्तर दिया "महाराज, अब आपको अपना उच्च जाति का थोथा अभिमान छोड़ देना होगा। क्या आप जानते हैं कि अब आपको गाय और सुअर की चरबी कारतूस खोलते समय अपने दांतों से काटनी पड़ेगी ? ये नये कारतूस जान-बूझकर ही ऐसी चरबी से चिकने किए जा रहे हैं।" यह बात सुनते ही ब्राह्मण सैनिक क्रोध से जल उठा और उसने अन्य सिपाहियों को भी यही बात जाकर बताई। दमदम छावनी के सभी सिपाही सशंकित हो उठे। जब उन्होंने बारीकी से छानबीन की तो उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि वास्तव में ही कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी का प्रयोग किया जा रहा है। प्रत्येक सिपाही को ही कारतूसों में ही नहीं अपने हाथों में गाय और सुअर की चरबी लिपटी हुई हैं, ऐसा आभास होने लगा। सभी सैनिकों में यह विश्वास बद्धमूल होने लगा कि अपना धर्म इन फिरंगियों के हाथों में कदापि सुरक्षित नहीं है। इधर सर्वथा झूठ का आश्रय लेते हुए यह घोषणाएं की जा रही थी कि धर्म भ्रष्ट करने की तो बात ही दूर है, कारतूसों में तो गौ का खून और सुअर की चरबी लगाए जाने की बात ही कपोल कल्पित है, सर्वथा मिथ्या है। किन्तु जब यह संपूर्ण प्रचार भी सिपाहियों के हृदय में सुलगती हुई असंतोष की ज्वाला का शमन न कर पाया तो भारत सरकार के सैनिक सचिव श्री बर्च को सार्वजनिक रूप से यह कहना पड़ा कि मेरठ और दमदम के नये कारतूसों के संबंध में तो मुझे आज तक भी जानकारी नहीं थी। उसकी वह घोषणा सर्वथा मिथ्या थी। १८५६ ई० में ही अम्बाला व स्यालकोट में नवीन बन्दूकों के चलाने का प्रशिक्षण देने के लिए ये चरबी लगे हुए कारतूस बांटे गये थे। अम्बाला केन्द्र से २२५००, स्यालकोट से १४००० कारतूस २३ अक्तूबर १८५६ के दिन भेजे गये थे। वस्तुतः इन्हीं कारतूसों का उपयोग हिन्दुस्थानी सैनिकों को किसी प्रकार की भी जानकारी दिए बिना ही हो रहा था। गुरखा पलटनों में भी ये कारतूस बड़े ही राजकीय दबाव के साथ

बितरित किये गए थे। इतने पर भी बर्च जैसा व्यक्ति मिथ्या बोलनेवालों के सरदार जैसा आचरण करते हेतु किस प्रकार छाती पर हाथ धरकर यह दर्पपूर्ण घोषणा कर रहा था कि चरबी लगा हुआ कोई कारतूस नहीं बांटा गया है।१

किन्तु अब भोले-भाले सैनिक भी सतर्क हो चुके थे और उन्होंने स्पष्ठ शब्दों में इन कारतूसों का उपयोग में लाना अस्वीकार कर दिया था।सेनाधिकारियों ने बड़ी बड़ी शपथ ग्रहण कर उन्हें विश्वास दिलाना चाहा कि कारतूसों का मामला तो कोरा ढकोसला है। जिन सिपाहियों ने अपने दांतों से इन कारतूसों की टोपियां तोड़ना अस्वीकार किया उन्हें धमकियां भी दी गई। परन्तु जब अंग्रेज अधिकारियों की यह डांट-डपट भी काम न आई तो उन्होंने पैंतरा बदला और अब यह घोषणा कर दी गई कि चरबी के स्थान पर कागज़ का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु जिस सरकार ने गौ और सुअर की चर्बी का प्रयोग करने की नीचता प्रदर्शित की थी वही सरकार सुविधा के लिए दिए कारतूसी कागज को और कुछ चिकना करने में भी किसी छल विद्या का प्रयोग नहीं करेगी, इसकी भी क्या गारन्टी हो सकती है।

अब इन सिपाहियों को इस सत्य का आभास हो गया था कि भविष्य में चाहे कारतूस अपने दांतों से काटने पड़े अथवा न पड़े किन्तु यह बात तो सुनिश्चितहै कि इनके स्थान पर कोई नवीन संकट आकर खड़ा हो जाएगा। पराधीनता का पाश जब तक पड़ा हुआ है तब तक धर्म के पवित्र रूप का प्रकटीकरण भी संभव नहीं। गाय की चरबी क्या, आज देशमाता की ही चरबी परकीय राज्यसत्ता द्वारा निकाली जा रही है। अत परतन्त्रता में आबद्ध प्राणियों द्वारा धर्मपालन भी क्या होगा ? स्वधर्म स्वर्ग का द्वार है, किन्तु परतन्त्रता से मानव नरकगामी होता है। अतः जिसे स्वधर्म के प्रति अनुरक्ति हैं, उसे परतन्त्रता का यह धब्बा अपने तथा अपने शत्रुओं के रक्त से धोकर साफ करना ही पड़ता है। अब तो इन सैनिकों में एक ही आह्वान् गूंज रहा था कि जिसे-जिसे भी माता के सम्मान का ध्यान है, वह परतन्त्रता का पाश काटने के लिए उठे। चतुर्दिश यही घोष गुंजित हो रहा था "धर्म के लिए मरें। मारते-मारते मरें, मरते-मरते भी मारते रहें और अपने राज्य को पुनः प्राप्त करें।" एक ही आह्वान् है, सत्तावन के इस वर्ष की यही पुकार है उठ हे हिन्दुस्थान, उठ और स्वराज्य को प्राप्त कर।

●●●

---

१. "ठीक अंतिम समय पर कर्नल बर्च सिपाहियों को यह आश्वासन देने हेतु आगे आया कि उन्हें दिए गये किसी कारतूस में चर्बी नहीं लगाई गई है। उसका यह कथन सर्वथा मिथ्या था। सिपाही इससे धोखे में आनेवाले नहीं थे। जैसा कि एक साहसी लेखक ने लिखा है कि 'सरकार तो केवल झूठ का पुलन्दा ही खोल रही है'" —बंगाल के एक हिन्दू का पत्रक, १८५७

: ६ :

महान यज्ञ में समिधा-समर्पण

अब मनोवांछित राष्ट्र-कार्य की तिथि समीप आ रही है। इस अवसर पर इष्ट सिद्धि के निमित्त कुलदेवता की कृपा की प्राप्ति करनी ही होगी। इस प्रचण्ड राष्ट्र-क्षोभ का कुलदेवता है प्रतिशोध। इसको प्रसन्न करने के सिवाय, उसके सक्रिय सहयोग के अभाव में १७५७ ई० में जो संकल्प ग्रहण किया गया था, उसकी पूर्ति के निमित्त रणांगण में उतरने की सिद्धता भी पूर्ण रूप से नहीं हो पाएगी। अतः होम कुंड को प्रदीप्त करो एवं उसमें ऐसी दिव्य समिधा को समर्पित करो कि जिससे मुख्य कुलदेवता पूर्ण चैतन्ययुक्त होकर प्रकट हो जाए। इन्द्रजित ने भी तो समरांगण में अवतरित होने के पूर्व एक महान यज्ञ किया था, जिससे कि धधकति अग्नि ज्वाल-मालाओं से प्रकट होने वाले अजेय रथ की प्राप्ति हो सके तुम भी इस महान यज्ञ को तब निरन्तर प्रज्वलित रखो जब तक कि अग्नि ज्वालाओं से सहस्रो जिह्वा एवं दन्त-युक्त प्रतिशोध का महान कुलदेवता आविर्भूति न हो जाए। तब तक हवन में पड़ने वाली समिधाओं का क्रम अबाध गति से जारी रखना। इन्द्रजित की तो साधना ही राक्षसी और पापमय थी, अतः वानर-सेना को उसका यज्ञ ध्वंस करने में सफलता मिल गयी थी। किन्तु सदैव से तुम्हारे द्वारा प्रारम्भ किया गया यह पावन यज्ञ एक महान आदर्श परम्परा और लक्ष्य की पूर्ति हेतु आरम्भ हो रहा है। अतः इसमें व्यवधान उपस्थित होने की किंचित मात्र भी संभावना नहीं है। वह देखो कोप हुताशन प्रज्वलित है एवं उसकी सात जिह्वाएं लपलपा उठी हैं। चलो तुम हविः दान आरम्भ कर दो। प्रज्वलित रखो यज्ञ की वेदी, क्योंकि तुम्हें भी तो अग्नि देव से वरदान प्राप्त करना है। इस यज्ञ में तो अंग्रेजों के कृत्य स्वतः सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

यह है पंजाब का इतिहास प्रसिद्ध कोहेनूर। यह है राज्य चिह्नों में भी परम-श्रेष्ठ राज्य चिन्ह। इस कोहेनूर को छोड़कर इस महान यज्ञ की सर्वप्रथम हवि बनने का सौभाग्य और किसे प्रदान किया जा सकता है। इस कोहेनूर को ही तो

इसके वास्तविक स्वामियों से डलहौजी ने स्वयं आगे बढ़कर इसे छीन लिया है। हिन्दुस्थान के सार्वभौमत्व का आभामान प्रतीक है यह, इस शान्त द्युतिमण्डित कोहेनूर हीरे को छोड़कर अन्य कौन सी श्रेष्ठ आहुति हो सकती है, जिससे स्वतन्त्रता के महान् यज्ञ की ज्वालाए और भी अधिक लपलपा उठें। इसकी ज्वालमालाओं से मण्डित करने वाला दूसरा कौन सा साधन हो सकता है, अतः धकेल दो इस कोहेनूर हीरे को ही सर्वप्रथम इस पावन यज्ञ की वेदी पर, भड़कने दो लपटों को।

अब इस यज्ञ की द्वितीय हवि के रूप में ब्रह्मदेश को ही सम्मान प्रदान करना होगा! चल हे डलहौजी, ब्रह्मदेश से के वहां वास्तविक शासकों को तू हटा ही चुका है। अग्नि भड़क रही है, यज्ञ की ज्वाला की इन तप्त शिखाओं में, इष्ट सिद्धि-हेतु इस ब्रह्मदेश को भी समिधा बनाकर समर्पित कर दो।

हाँ अरे, वह देखो छत्रपति शिवाजी महाराज का सिंहासन वह सतारा में ही तो है, उसे क्यों विस्मृत कर रहे हो। इस हवन में तृतीय सम्मान प्राप्त करने का वह राज्य सिंहासन ही तो अधिकारी है। अतः हे परम कृपालु आंग्ल राज्यसत्ता, अपने प्रखर नाखूनों से अधिकाधिक विध्वंस करो; सतारा के राज्य सिंहासन को धूल धूसरित कर दो, मिला दो इसे मिट्टी में (जहाँ इसके स्वामी निष्कंटक राज्य करेंगे)। अग्नि प्रज्वलित हो रही है। धकेल दो इसमें सतारा का राज्य सिंहासन जिससे राष्ट्रीय प्रतिशोध की ज्वाला और भी अधिक प्रचण्ड हो जाए।

अब इस महान् यज्ञ की चौथी हवि के रूप में फेंक दो नागपुर का राज्य सिंहासन। किन्तु राष्ट्रीय प्रतिशोध के संहारकर्ता अग्नि देवता के लिए यह अकेला राज्य सिंहासन तो क्षुद्र समिधा मात्र ही सिद्ध होगा। अतः इस राज्य सिंहासन के साथ ही साथ समर्पित करो इस प्रज्वलित यज्ञ कुण्ड में ही नागपुर के ये उदास राजमहल, ये हाथी, ये अश्व ही नहीं अपितु रानियों को भी। हाँ उनके छीने गए आभूषणों को भी उनके साथ ही अग्निदेव को समर्पित कर दो। यज्ञ अग्नि धू-धू कर दहक रही है, इसी हवन-कुण्ड में सम्पूर्ण नागपुर को समर्पित करो। उठने दो एक घोष, प्रचण्ड घोष नागपुर भी स्वाहा ऽऽ।

अब तो होमकुण्ड से प्रज्वलित हो रही अग्नि ज्वालाएं अपना रौद्र रूप ले उभर उठी हैं। किन्तु अभी तो इन अग्निशिखाओं को और अधिक प्रचण्ड रूप धारण करना चाहिए। किन्तु इन्हें प्रचण्ड रूप में धधकाने हेतु हवि भी तो इतनी ही शक्तिशाली देनी होगी। ब्रह्मावर्त को छोड़कर उपयुक्त हवि और कौन-सी होगी। अतः इस होमकुण्ड को और भी अधिक भीषण और भयंकर रूप प्रदान करने हेतु झोंक दो इसमें ब्रह्मावर्त का मुकुट और बोलो ब्रह्मावर्त भी स्वाहा ऽऽ!

राष्ट्रक्षोभ के न्याय देवता प्रतिशोध को प्रसन्न करने के लिए नवीं हवि कौन-

सी समर्पित करनी होगी। यह मान किसे प्राप्त होगा। इस वीति होत्र की ज्वाला को गगन मण्डल तक पहुँचाने हेतु इसमें झाँसी की बिजली की भी समिधा समर्पित है।

यज्ञकुण्ड से उभरती अग्निज्वाल मालाओं के गहन उदर में महान खलबली और उथल-पुथल व्याप्त है। क्या उसका आभास कराने वाली प्रचण्ड घरघराहट तुम्हें सुनाई नहीं पड़ती है? अब तो पापी दुर्योधन के अंग-प्रत्यंग को प्रकम्पित करने वाले राष्ट्रीय प्रतिशोध की भयानक ज्वालाएं लपलपा उठी हैं। अब यह सुनिश्चित ही है कि भीषण विस्फोटक क्रान्ति का देवता अग्नि ज्वाल मालाओं के उदर से अस्थि, मज्जायुक्त साकार रूप ग्रहण कर बाहर निकलने को सिद्ध हो चुका है। अतः जो भी सामने आता है, उसे इस अग्निकुण्ड में समर्पित करते चलो। स्वाहा करो! स्वाहा करो अर्काट के नवाब को। जलने दो तंजौर का राज्य सिंहासन, इन ज्वालाओं में। खैरपुर के अमीर को भी इसमें धकेल दो। पड़ने दो इस यज्ञकुण्ड में जैतपुर और संबलपुर के राज्यों की आहुतियां। सिक्किम भी समर्पित हो।

रुपए और खरीज तो न जाने कितनी समिधास्वरूप इस यज्ञकुण्ड में समर्पित की गई है, इसकी तो गणना भी नहीं की जा सकती, किन्तु नितान्त ही पुष्ट और निरपराध बलि तो इस युद्ध में लखनऊ के नवाब की पड़नी चाहिए। अतः लखनऊ का नवाब भी इस हवनकुण्ड में समर्पित हो।

अहा हा! इस अग्नि किल्लोल से कैसे उग्र देवता का आविर्भाव हो रहा है जिसके भयंकर दन्त सम्पूर्ण जगत में दृष्टिगोचर हो उठे हैं। परन्तु जब तक इस देव के दाँत नितांत प्रखर न हो उठें तब तक यह समिधा समर्पण रुकना नहीं चाहिए। अतः दिल्ली के राज्यकुल की भी तो इसमें हवि प्रदान करनी ही होगी। अतः दिल्ली का मयूरासन और उस पर बैठने वाले अकबर के वंशज भी इस महान यज्ञकुण्ड में ही स्वाहा!

अयोध्या प्रदेश के बड़े-बड़े तालुकेदार ही क्यों, सभी जमींदार, तालुकदार वतनदारों की इसमें समिधाएं दो। एक ही स्वर गूंजने दो! स्वाहा! स्वाहा! और केवल स्वाहा!

राजा, महाराजा, बादशाह, प्रधान, नवाब, वजीर, इत्यादि की ये उत्तम हवि ही इस होमकुंड में पड़कर हमारे राष्ट्र-क्षोभ के इस कुल-देवता को प्रसन्न कर रही हैं। हमारे पूर्वजों के उपरान्त हुई हमारी यह दुर्दशा एवं दासता के कारण बरसने वाले हमारे अश्रुओं से स्नान करेगा यह रण देवता। सतारा के राज सिंहासन के टुकड़े-टुकड़े होने के संताप से क्षुब्ध शिवाजी इस देवता को चैतन्य प्रदान करें। अयोध्या के राजवाड़ों की बेगमों की दुर्दशा और नागपुर के महलों में अपमानित

जीवन यापन करने वाली अन्नापूर्णाबाई की आत्मा हमारे राष्ट्रीय प्रतिशोध के इस देवता को नवचेतना दे। हे प्रतिशोध के देवता, न्याय की तलवार की धार पर चढ़कर तुम्हारा आगमन हो रहा है। अतः तुम देवताओं की दृष्टि में भी वंदनीय हो और ऋषिगण भी तुम्हारी स्तुति का गान गाते हैं। हे सज्जन रक्षक प्रतिशोध, जब से हमने तुम्हारा विस्मरण कर दिया है तब से अन्याय का राक्षस इस जगती-पर निरंकुशता-सहित नृत्य करने में संलग्न है। हे प्रतिशोध ! तुम्हारी उग्रता से पापी प्रकम्पित हो उठते हैं और पुण्यात्मा बल पाते हैं। तुम रावण के लिए राम और दुर्योधन के लिए भीम हो। तुम्हीं हिरण्यकश्यपु का दमन करने वाले नृसिंह हो। इस समय तुम्हें प्रसन्न करने के लिए समुचित हविदान नहीं हो पाया था। अब तुम्हारा पावन यज्ञकुण्ड उपरोक्त समिधाओं के समर्पण से धू धूं करता हुआ अपने प्रचण्ड रूप को ग्रहण कर धधक उठा है। एतदर्थं जगत से अन्याय और अन्धाधुन्धी की इस प्रवृत्ति का शमन करो। परवशता और परदासता की शृंखलाएं कड़कड़ा कर टूट जाएं और स्वतन्त्रता एवं स्वराज्य की जय जयकार हो, ऐसी ही परमेश्वर की इच्छा है। अतः तुम इस यज्ञकुण्ड से मूर्तिमंत रूप में प्रकट होओ। धन्य धन्य ! "मृत्यु सर्वहरश्चाहम्" ऐसी गर्जना करते हुए यह राष्ट्र क्षोभ मूर्ति-मंत रूप में आविर्भूत हो रहा है, हम तेरी वंदना करते हैं। इस भयंकर मूर्ति को शत शत नमन। जिसकी भयानक दृष्टिमात्र पड़ने से उन्मत्त राजाओं का दर्प टूट जाता है, जिसके हाथों में सुशोभित होने वाले घन के आघात से निरपराध देशों के पैरों में पड़ी दासता की शृंखलाएं कड़कड़ा कर टूट जाती हैं, जिसके नेत्रों से प्रस्फुटित होने वाली प्रचण्ड ज्वाला अत्याचारियों के राजमहलों को जलाकर भस्म कर देती है, जिसकी लपलपाती हुई जिह्वा सहस्त्रों दुःशासनों के रक्त को गटागट पान करती हैं, उस भयंकर राष्ट्रीय प्रतिशोध के उग्र देवता को हमारा शतशत अभिवादन।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति,
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु,
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

हे हिन्दुभूमि, अन्ततः इस महायज्ञ से तुम्हारे राष्ट्रीय प्रतिशोध का मूर्तिमंत रूप में आविर्भाव हो रहा है, यह सत्य है। परन्तु उसको अपना कार्य पूर्ण करने से पहले ही शान्त कराकर अन्तर्धान कराने में कौन-कौन उत्तरदायी रहे हैं, इसका भी तुझे स्मरण है क्या ?

० ० ०

: ७ :

गुप्त संगठन

इससे पूर्व के अध्यायों का यह वर्णन तो किया जा चुका है कि संपूर्ण हिन्दुस्थान में क्रांति की सामग्री किस प्रकार से तैयार हो चुकी थी। अब तो क्रांति के भवन के निर्माण के लिए सामग्री उपलब्ध हो गई थी और इधर ब्रह्मावर्त्त (बिठूर) में इस क्रांति का नकशा तैयार किया जा रहा था।

तृतीय अध्याय में हमने अजीमुल्लाखां को यूरोप में प्रवास करते हुए ही छोड़ दिया था। उनके इस प्रवास पर जाने के पूर्व ही सतारा से एक अत्यन्त प्रतिभा-वान-व्यक्ति भी लन्दन पहुंचे थे। उनका नाम था रंगोजी बापू। इंग्लैंड में अजी-मुल्लाखां और रंगोजी बापू में भी परस्पर विचार-विमर्श हुआ। सतारा के राज्य-सिंहासन का प्रेत जलाने को यदि रंगोजी बापू यहां आए थे तो पेशवा की गद्दी के प्रेत को भस्मीभूत करने हेतु ही अजीमुल्लाखां का यहां आगमन हुआ था। अपने देश का सर्वनाश करनेवाले फिरंगियों के संबध में जानकारी प्राप्त करने के लिए ही वे यहां आए थे। उन्होंने अत्याचारी अंग्रेज़ शासन को समाप्त करने के लिए क्या शपथ ग्रहण की एवं इंग्लैण्ड से स्वदेश वापस जाकर प्रचण्ड स्वातन्त्र्य संघर्ष का प्रारम्भ करने के निमित्त क्या योजना बनाई, इसका ब्यौरेवार विवरण इतिहास में उपलब्ध न हो, किन्तु यह तो सत्य है कि १८५७ में स्वाधीनता संग्राम हुआ और इसी भांति यह भी एक अकाट्य सत्य है कि क्रांति के इस महायज्ञ को धधकाने की योजना लन्दन से रंगोजी बापू और अज़ीमुल्लाखां ने बनाई थी। रंगोजी बापू तो लन्दन से सीधे ही सतारा वापस आ गए और ब्रह्मावर्त में क्रान्ति के जिस भव्य भवन का नकशा तैयार हो रहा था उस इमारत के लिए साहित्य सृजन में जुट गए। किंतु अज़ीमुल्लाखां इंग्लैंड से सीधे ही भारत न लौटे, अपितु उन्होंने यूरोप का भ्रमण आरम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों रूस-तुर्की युद्ध चल रहा था। वहां रूसी पराक्रम के आगे पराजित होकर ब्रिटिश सिंह गाय बनकर रह गया था। अजीमुल्लाखां को भी ब्रिटेन के पराभव का यह समाचार प्राप्त हुआ था। अतः वह स्वतः यह

देखने के इच्छुक थे कि अपनी भारतभूमि की छाती पर नृत्य करनेवाला अंग्रेज़ सिंह रूस द्वारा कितना घायल किया गया है। उसके पंजों को अभी रूस द्वारा किस सीमा तक मरोड़ा गया है। इसके साथ ही उसके नखदन्तों को तोड़ने के लिए हिन्दुस्थान में जो महान प्रयत्न आरम्भ होनेवाला है उसके प्रति रूस की कितनी सहानुभूति है और वह इस कार्य में किस सीमा तक सहयोग प्रदान करने को तत्पर है, यह जानना भी उनके रूस गमन का उद्देश्य था। इसी दृष्टि से अजीमुल्लाखां तुर्की में भी गये थे। यह कहना तो कठिन है कि रूस से वापस आने पर वह किन अन्य स्थानों पर ठहरे, किन्तु इस बात के प्रमाण अवश्य ही उपलब्ध हैं कि उन्होंने मिस्र के साथ भी राजनैतिक संबंध स्थापित करने के प्रयत्न किये थे।

अजीमुल्लाखाँ यूरोप यात्रा से वापस आकर ज्योंही बिठूर पहुँचे वहां के राजदरबार में एक अनुपम वातावरण व्याप्त हो गया। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान पर विजय के आनन्द की अभिव्यक्ति करती हुई स्वर्ण गैरिक पताका अब तक इस राजमहल में धूल धूसरित पड़ी थी। पेशवा की जिस दुंदुभि की ध्वनिमात्र को ही सुनकर लाखों मराठा तलवारें रणाँगण में शत्रुओं पर टूट पड़ती थीं, वह दुंदुभि अभी तक केवल करुण रस की ध्वनि ही प्रसारित कर रही थी। जिस राजमुद्रा की देशव्यापी मान्यता थी, जिस पर दिल्ली का राज्य सिंहासन आश्रित था, वह भी आज तक इसी राजमहल में अपने वैधव्य पर दहाड़े मारकर रुदन ही कर रही थी। परन्तु अजीमुल्ला खाँ के यूरोप से वापस आते ही इन सभी वस्तुओं में एक नवीन चेतना आ गई। धूल-धूसरित स्वर्ण गैरिक (भगवी) पताका पुनः सगौरव उभरकर फहराने लगी। नानासाहब की "तेजस्वी चपल तथा व्यग्र आँखों में" अपने असह्य मानभंग के कारण जो प्रतिशोध की ज्वाला लपलपा रही थी वह अजीमुल्लाखाँ को पुनः अपने समीप पाकर और भी अधिक चमक उठी। पुनः एक बार भगवान श्रीकृष्ण के "तस्मात् युद्धाय युज्यस्व" के वीर सन्देश ने नानासाहब के अन्तःकरण को नवीन प्रेरणा प्रदान कर दी। स्वराज्य की होली प्रज्वलित हो उठी, तस्मात् युद्धाय युज्यस्व ! अपने स्वदेश, अपने भारतवर्ष में अंग्रेज़ चोरों ने पग पसारा है, तस्मात् युद्धाय युज्यस्व ! स्वधर्म का निरादर हो रहा है। स्वातन्त्र्य का अपमान हो रहा हैं, तस्मात् युद्धाय युज्यस्व ! स्वदेश की स्वतन्त्रता आज तक कभी भी युद्ध के बिना प्राप्त नहीं हो पाई है। जन-जन इस सत्य का साक्षात्कार करने लग गया था कि छत्रपति ने जिसके लिए तानाजी का बलि चढ़ा दी थी, स्वराज्य का सिंहगढ़ रणदेवता का आह्वान् किए बिना प्राप्त नहीं हो पाता। यह तथ्य सभी के समक्ष उजागर हो गया था। धर्म की रक्षा हेतु जो स्वराज्य को प्राप्त नहीं करता, वह महाराष्ट्र धर्म का अनुगामी वास्तविक मराठा नहीं है और जो महाराष्ट्र धर्म का वास्तविक अनुगामी है वह स्वराज्य को प्राप्त करके ही

रहेगा। स्वराज्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है समर भूमि में शत्रु दलन। स्वतन्त्रता की देवी भीख माँगने से नहीं, शीशदान से रिझाई जाती है, इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रत्येक स्वातन्त्र्य वीर ने साक्षात्कार कर लिया था। अतः चारों ओर एक ही नाद गूँज रहा था युद्धाय युज्यस्व ! जिस भाँति छत्रपति शिवाजी द्वारा प्रारम्भ किए गए स्वातन्त्र्य यज्ञ में आहुति देने के लिए अपने हाथों में कंकण बँधवाने वाला प्रत्येक व्यक्ति ही पुण्यवान था, इसी भाँति अब नानासाहब के नेत्र भी इस दिव्य मन्त्र से दमक और चमक उठे थे "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा मोक्ष्य से महीम। तस्मात् युद्धाय युज्यस्व !!"

छत्रपति शिवाजी ने जो महान कार्य अपने युग में किया था वही इस कालखण्ड में नानासाहब के हाथों सम्पन्न होना था। अतः जय और पराजय की चिन्ता छोड़कर स्वतन्त्रता के लिए नूतन शिवाजी बनने का सुदृढ़ संकल्प नानासाहब ने अपने हृदय में ग्रहण कर लिया था। उन्हें भी प्रथम पेशवा के समान ही स्वराष्ट्र और स्वधर्म की सेवा का सुअवसर प्राप्त होना चाहिए, यही उनकी प्रबलतम आकांक्षा थी।

अपने देश में अपने राज्य (स्वराज्य) की स्थापना का अडिग तथा वीरोचित निश्चय करने के उपरान्त नानासाहब अपने इस निश्चय को क्रियान्वित करने हेतु भावी योजनाओं पर चिन्तन और मनन कर रहे थे। उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए जो क्रान्ति युद्ध लड़ा जाना है, उसकी सफलता केवल दो बातों पर ही अवलम्बित है। उनमें से प्रथम यह है कि भारत की सम्पूर्ण जनता में स्वतन्त्रता प्राप्ति की उत्कट इच्छा का जागरण तथा दूसरी है समग्र देश के विभिन्न स्थानों पर एक ही समय पर स्वतन्त्रता की रण हुंकार का गर्जन। समग्र हिन्दुस्थान की जनता के हृदय में स्वतन्त्रता की भावनाओं को जागृत करना और भारतीय इतिहास को स्वातन्त्र्यगामी बनाना, ये दोनों ही कार्य परकीय सत्ता से पूर्ण गोपनीय रखते हुए सम्पन्न करना भी ध्येय देव के दर्शन करने की दृष्टि से नितान्त ही आवश्यक था। जिस किसी भी परतन्त्र देश के हृदय में स्वतन्त्र होने की महान भावनाएं जागृत हुई हैं, उसे ही परकीय सत्ता से सम्पूर्ण अधिकार छीन लेने के लिए अपने प्रयत्नों को पूर्णतः गुप्त रीति से चलाना पड़ता है, अन्यथा बलवान शत्रु अपने विरुद्ध संगठित होने वाली इस शक्ति को बड़ी ही सरलता सहित पराजित कर देता है। इतिहास के इस सत्य को हृदयंगम करके ही श्रीमंत नानासाहब और अजीमुल्ला खाँ सरीखे दो महान पुरुषों ने १८५६ ई० के आरम्भ से ही भारत को मानसिक और शारीरिक दृष्टि से सन्नद्ध बनाने की दृष्टि से युद्ध करने की भावनाओं को जन-जन में जगाना आरम्भ कर दिया था।

नानासाहब इस बात को भली भाँति समझते थे कि जब भी भारत के विभिन्न

प्रदेशों के राजाओं में अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम करने की सिद्धता हो जाएगी तो एक क्षण भी अंग्रेजों को हमारे देश पर शासन जारी रखने का साहस नहीं होगा। हिन्दुस्थान के स्वदेशी राज्यों को मटियामेट करने हेतु अंग्रेज किस भाँति षड्यन्त्र कर रहे हैं और किस प्रकार उनके द्वारा एक के बाद एक राज्य को निगला जा रहा है, इस सम्बन्ध में सविस्तार विवरण प्रस्तुत करते हुए उनके हृदयों में स्वतन्त्रता की ज्योति जगाने के लिए नानासाहब ने पत्र लिखे थे और इन्हें अपने दूतों के माध्यम से देशी राज्यों को भिजवाया था। कोल्हापुर, पटवर्धनी राज्यों अवध के नवाव, बुन्देलखण्ड के नरेश तथा अन्य अनेक स्थानों में नानासाहब के ये सन्देश पहुंचाए गए थे। दिल्ली से दक्षिण में स्थित मैसूर तक नानासाहब द्वारा भेजे गए ये पत्र स्वातन्त्र्य संघर्ष के लिए सन्नद्ध होने की प्रेरणा दे रहे थे। उन्होंने अपने इन पत्रों द्वारा अंग्रेजों के राज्यों में होने वाले स्वधर्म और स्वराज्य के अपमान की सविस्तार व्याख्या की थी। इनमें वताया गया था कि आज जो देशी राज्य विद्यमान हैं ये भी कल किस भाँति अंग्रेज साम्राज्य द्वारा विनष्ट कर दिए जाएंगे, इसके सम्वन्ध में चेतावनियां दी थीं। अंग्रेजों की विश्वासघातक दासता के कारण अपना प्राणप्रिय हिन्दुस्थान किस भाँति अपमानित और अभिशप्त हो उठा है, इसकी जानकारी जन-जन को कराने के लिए, राष्ट्र की आपदाओं का नितान्त ही मार्मिक शब्दों में चित्रण करते हुए मौलवी, पण्डित और राजकीय संन्यासी सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में गुप्त रीति से भ्रमण करने लग गए थे। ये राजकीय संन्यासी जन-जन के हृदय में इस दासता और परतन्त्रता के विरुद्ध आक्रोश के भाव भर रहे थे। वे उन्हें समझा रहे थे कि इस दासता को समाप्त कर देना कितना सुलभ है। ये राजकीय संन्यासी समझा रहे थे कि आज हिन्दुस्थान की ही तलवार किस भांति हिन्दुस्थान के अन्तःस्थल को वेध रही है। ये क्रान्तिदूत जनगण को वता रहे थे कि अपने देश को विदेशियों की दासता से किस भाँति मुक्ति प्रदान करायी जा सकती है। राजमहलों में निवास करने वाले श्रीमन्तों से लेकर कुटियों में रहने वाले रंकों और सन्तों तक को स्वतन्त्रता का महत्व समझाया जा रहा था। स्वातन्त्र्य अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु कर्मक्षेत्र में अवतरित होने वाले इन महान् सेनानियों द्वारा जन-साधारण को इस तथ्य से अवगत कराया जा रहा था कि यदि हम सभी देशबान्धव एकसूत्र में आवद्ध हो जाएंगे तो इन मुट्ठी-भर गोरों को पराजित कर हम एक क्षण में ही स्वदेश को स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त कर लेंगे। यह प्रचण्ड आत्म-विश्वास प्रत्येक सिपाही और नागरिक के हृदय में जागृत करने में इन राजकीय संन्यासियों को कितनी सफलता मिली थी इसका परिचय उस समय के स्वदेशभक्तों द्वारा व्यक्त किए गए हृदयोद्गारों को पढ़कर मिल सकता है। काली नदी पर हुए युद्ध के बाद पड़ाव डालने वाले एक अंग्रेज और...

एक सिपाही के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से इस सत्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस अंग्रेज ने सैनिक से प्रश्न किया था कि तुम यह तो बताओ कि—"हमारे विरुद्ध समरांगण में उतरने का साहस तुमने कैसे किया ?" इस गोरे के प्रश्न के उत्तर में इस साहसी सैनिक ने कहा था "हिन्दुस्थानी सिपाही एक हो गए तो गोरा यहाँ कदापि नहीं ठहर पाएगा।"

अंग्रेज सरकार ने सत्तावन के प्रारम्भ में ही सैनिकों को प्राप्त होने वाले पत्रों को पढ़ना आरम्भ कर दिया था। इन्हीं पत्रों में से एक में हिन्दुस्थान की जनता की सामर्थ्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि "विदेशियों ने अब तुम्हारे अन्तःस्थल को भी रौंदना आरम्भ कर दिया है। यदि तुम लोग उठ खड़े हुए तो ये मुठ्ठी भर फिरंगी तुम्हारी तलवार के एक ही प्रहार से भूलुण्ठित हो जाएंगे। फिर यही दिखाई देगा कि कलकत्ता से लेकर पेशावर पर्यन्त मैदान साफ है।"

यद्यपि श्रीमंत नानासाहब द्वारा भेजे गए पत्रों और ब्रह्मावर्त से देश के प्रत्येक भाग में पहुँचने वाले संन्यासियों ने भारतीयों के अन्तःकरण में आत्मनिष्ठा का बीजारोपण कर दिया था किन्तु जो विवरण उपलब्ध है, उससे यह तथ्य प्रकाश में आता है कि अवध के राज्य के हड़प लिए जाने से पहले तक इस बीज से अंकुर प्रस्फुटित नहीं हो पाए थे।[1]

---

१. नानासाहब ने देश के विभिन्न भागों में अपने पत्र देकर जो दूत भेजे थे, उनमें से एक मैसूर में बन्दी बना लिया गया था। उसकी साक्षी इतनी महत्वपूर्ण है कि हम उसे यहाँ शब्दशः प्रस्तुत कर रहे हैं—

"अवध के हड़पे जाने के पहले दो तीन महीनों से श्रीमन्त नानासाहब ने यह पत्र-व्यवहार आरम्भ किया था। प्रारम्भ में तो किसीने इसकी सराहना नहीं की; क्योंकि प्रत्येक के मन में ही विजय के संबंध में आशंका विद्यमान थी। किन्तु अवध के हड़पे जाते ही नानासाहब ने पत्रों की ऐसी बौछार की कि धीरे-धीरे लखनऊ के शासक नानासाहब के साथ किसी सीमा तक सहमत हो गए। पूरबियों के राजा मानसिंह को भी नानासाहब की बात जंच गई। तदुपरान्त सैनिकों ने अपना संगठन खड़ा करने का प्रयास किया। इस संगठन को लखनऊ के शासकों की भी सहायता प्राप्त हुई। अयोध्या (अवध) के खग्रास ग्रहण तक तो किसी का उत्तर ही प्राप्त नहीं होता था, किन्तु उसके पश्चात् तो प्रत्येक के नेत्र खुल गए। उन्होंने नानासाहब से संबंध स्थापित करना आरम्भ किया। तदुपरान्त कारतूसों को प्रसंग सामने आ गया। नानासाहब के पत्रों ने तो इस असन्तोष की अग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर दिया। फिर क्या था, नानासाहब के यहाँ पत्रों की वर्षा-सी आरम्भ हो

१८५६ ई० में अयोध्या (अवध) का राज्य अंग्रेजों द्वारा हड़पे जाते ही विदेशी दासता का शूल अकस्मात ही जनमानस में कसमसाने लगा। नानासाहब की दूर-दृष्टि तो इससे बहुत दिन पहले से ही स्वतन्त्रता के रम्य एवं पुनीत दर्शन कर चुकी थी और परकीयों की दासता की घानी में पिसने से उठती हुई दुर्गन्ध को भी उन्होंने भली भांति अनुभव कर लिया था। परन्तु जड़ बुद्धि सामन्यजन प्रत्यक्ष रूप से इस स्थिति को देखे विना इस सत्य की अनुभूति कर पाने में समर्थ नहीं हो रहे थे। अयोध्या (अवध) के राज्य को अंग्रेजों द्वारा हड़प लिए जाने के उपरान्त उन्हें भी दासता के महान अभिशाप का अनुभव हुआ और वे अपने अस्तित्व पर धिक्कार करते हुए उठ बैठे। अब जनसाधारण के मुख से भी यह गर्जना होने लगी कि दासता का जीवन जीने के स्थान पर तो मृत्यु का वरण करना ही कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उनकी म्यान में पड़ी सुप्त तलवारें भी बाहर आने लगीं और जंग लगी तलवारों पर भी धार दमकने लगी। इसी भांति हिन्दुस्थान के इतिहास में प्रसिद्ध राजधानी दिल्ली का भी दिल दहल उठा। वहाँ भी स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए सक्रियता आरम्भ हो गई। अंग्रेजों ने दिल्ली के बादशाह की बादशाही तो छीन ही ली थी, अब तो उन्होंने 'बादशाह' की इस उपाधि का भी उच्छेदन करने का निश्चय कर लिया था। इस दुरवस्था के क्षणों में अपने पूर्व वैभव को पुनः प्राप्त करने की दृष्टि से दिल्ली के बादशाह भी सक्रिय हो उठे। उन्होंने भी यह निश्चय ही कर लिया कि या तो अपने पूर्व वैभव को पुनः प्राप्त करेंगे अथवा ऐसी मृत्यु को हँसते-हँसते गले लगा लेंगे, जो बादशाहों की परम्परा के पूर्णतः अनुकूल होती है। इस कार्य में मुसलमानी राज्यों की सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से बादशाह बहादुरशाह ने घोषणा की कि मैंने सुन्नी पंथ का परित्याग कर उस शिया पंथ को ग्रहण कर लिया है, जिसका अवध का नवाब तथा ईरान का सम्राट् भी अनुगामी है। उसी समय अंग्रेजों और ईरान में भी युद्ध आरम्भ हो गया था। भारत में भी इस समय अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र संग्राम आरम्भ हो जाए तो ईरान के लिए पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकेगी, इस विचार को समक्ष रखकर १८५६ ई० में ही बादशाह बहादुरशाह के साथ गुप्त रूप से वार्ता भी आरम्भ कर दी। उन्होंने एक पत्र भेज कर बहादुरशाह को अपनी ओर से सहायता प्रदान करने का आश्वासन भी दिया। इतना ही नहीं अपितु १८५७ ई० के आरम्भ में तो दिल्ली की मस्जिदों में इस

गई। जम्मू के महाराजा गुलाबसिंह ने अपने पत्र में लिखा था कि मैं अपनी सेना और राज्य कोष दोनों से ही सहायता प्रदान करने को तैयार हूँ। इधर लखनऊ के नवाबों ने ही नहीं अपितु साहूकारों ने भी उन्हें धन भेजना आरम्भ कर दिया।"

आशय की घोषणाएं भी सार्वजनिक रूप से की जाने लगीं कि—

"फिरंगियों से हिन्दुस्थान को मुक्त कराने के लिए अब ईरान की सेनाएं आ रही हैं। अतः इन काफिरों के चंगुल से छूटने के लिए, छोटे व बड़े, शिक्षित तथा अशिक्षित एवम् वृद्ध अथवा तरुण प्रजा व सेना सभी का यह कर्त्तव्य है कि वे अब समरांगण में कूद पड़ें।"[१] ये भित्तिपत्रक दिल्ली की दीवारों पर तो लगाए ही जाते थे, साथ ही भारतीय समाचार-पत्रों में भी ये घोषणाएं प्रकाशित होती थीं। दिल्ली की जनता में स्वतन्त्रता की पुनीत भावनाएं कितनी अधिक उभर चुकी थीं, इसका परिचय दिल्ली के सम्राट् के गृह अमात्य मुकुन्दलाल के इन शब्दों से मिलता है: "राजमहलों के द्वारों के समीप बैठकर मुगल तथा अन्य लोग स्वातन्त्र्य युद्ध के संबंध में परामर्श किया करते थे। सैनिक अब शीघ्र ही विद्रोह करने वाले हैं। दिल्ली की सेना भी अंग्रेजों के विरुद्ध उठेगी। फिर जनसाधारण भी सैनिकों का साथ देते हुए फिरंगियों के जुए को उतार फेंकेंगे और स्वराज्य के सुख का उपभोग करेंगे। इसी आशय के विचार जनता भी व्यक्त करती थी। जनता के हृदय में यह आशा बलवती होती जा रही थी कि स्वराज्य प्राप्त होते ही सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में आ जाएंगे।" इस लोक जागृति को शहजादे एवं राजवंश के अन्य व्यक्ति भी विभिन्न प्रयासों द्वारा उत्तेजना और बढ़ावा दे रहे थे। इस भांति दिल्ली के घर-घर में विद्रोह की चिंगारी सुलग गई थी। और अब तो केवल विस्फोट मात्र की ही प्रतीक्षा थी।

इस भांति दिल्ली के दीवाने आम और ब्रह्मावर्त (बिठूर) के राज्य मन्दिरों में स्वातन्त्र्य युद्ध का गुप्त संगठन सुदृढ़ होता जा रहा था। इन दोनों रजवाड़ों द्वारा हिंदुस्थान भर में क्रान्ति की शक्ति को एकत्रित और संगठित करने के जो महान प्रयत्न चल रहे थे वे इतने गुप्त और सतर्कतापूर्ण ढंग से चल रहे थे कि अंग्रेजों सरीखे चतुर लोगों को भी सत्तावन में हुई इस क्रान्ति का तोपों की गड़गड़ाहट होने से पहले तक किंचित् मात्र भी पता न लग सका।

लोगों के आदर के पात्र बड़े बड़े मौलवी हजारों रुपए के साथ इस राजकीय धर्मयुद्ध का उपदेश देने के लिए भेजे जाते थे। वे ग्रामों में तथा नगरों में आयोजित होने वाली गुप्त सभाओं में व्याख्यान दिया करते थे। सिपाहियों की छावनियों में भी रात्रि में इनके भाषण होते थे। लखनऊ की प्रत्येक मस्जिद में मौलवी जिहाद आरम्भ करने का आह्वान् अपने भाषणों में किया करते थे। पटना और हैदराबाद आदि में रात-रात भर ऐसी सभाएं होती थीं जिनमें सभी वर्गों और श्रेणियों के व्यक्तियों को स्वधर्म और स्वराज्य के महत्त्व से अवगत

१. के कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ ३०

कराया जाता था। ऐसे मौलवियों में परम श्रेष्ठ थे मौलवी अहमदशाह। इस मौलवी के नाम का तेजो मंडल हिन्दुस्थान के चारों ओर सदैव दमकता रहेगा। उसने तो लखनऊ में दस-दस हजार लोगों की प्रकट सभाओं में खुले रूप में यह प्रचार आरम्भ किया था कि "यदि तुम स्वदेश और स्वधर्म का मंगल चाहते हो तो उसके लिए फिरंगियों को तलवार की धार उतार देना ही एक मात्र धर्म है।" इसके पुनीत चरित्र का विवरण अन्यत्र प्रस्तुत करूंगा किन्तु यहां इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि राष्ट्रप्रेम से ओतप्रोत इस महान देशभक्त को अंग्रेज ने देश-भक्ति के पावन अपराध में मृत्युदण्ड देकर अपने हृदय में जलती हुई क्षोभ की चिनगारी को बुझाने का असफल प्रयास किया था।

इस मौलवी के समान ही सैकड़ों उपदेशक, फकीर एवम् सन्यासी एक विशिष्ट व्रत को ग्रहण कर प्रत्येक प्रान्त में गुप्त रूप से क्रान्तियुद्ध का प्रचार करने में संलग्न थे। उनके लिए भिक्षाटन के बहाने प्रत्येक घर में जाना भी सुलभ था। साथ ही शत्रुओं के मन में भी उनके प्रति किसी प्रकार की शंका जागृत नहीं हो पाती थी। ये स्वदेश भक्त संन्यासी प्रत्येक गृह-द्वार पर जाकर पराधीनता के अभिशाप का नितान्त ही मार्मिक भाषा में विवरण प्रस्तुत करते और साथ ही साथ भावी स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में भी जन-मानस में आशा का पावन दीप प्रज्वलित करते थे। ये लोक समूह की सुप्त भावनाओं को जगा रहे थे। उनके मन में आशा के सुमन खिला रहे थे। विशेष रूप से सेना में तो उनके द्वारा और भी महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा था। प्रत्येक सैनिक टुकड़ी के साथ ही धार्मिक कृत्यों को सम्पादित कराने के लिए एक मुल्ला और पण्डित का होना आवश्यक था। अतः ये क्रान्तिदूत उन्हीं स्थानों पर अपना आसन जा जमाते थे। सिपाहियों में अपने धर्मगुरुओं के प्रति महान श्रद्धा भावना विद्यमान थी और वे अपने धर्मगुरुओं के आदेश और उपदेश के प्रति भी नितान्त ही आस्थावान थे। अतः ये लोग उन सैनिकों को स्वतन्त्रता के पावन धर्म की रक्षा का व्रत लेने की भी दीक्षा दे रहे थे। स्वतन्त्रता के अभाव में धर्म की रक्षा कर पाना भी सर्वथा असम्भव होता है, ऐसा महान उपदेश देने वाले ये हजारों धर्मगुरु अब कर्मक्षेत्र में उतरकर लोगों को राजकीय धर्मयुद्ध के लिए सन्नद्ध कर रहे थे, यह तथ्य भी भारतीय इतिहास का एक महान गौरवमय प्रसंग है। सन् सत्तावन के अप्रैल मास में ऐसा ही एक फकीर जब सैनिक छावनी के समीप उतरा तो उसके साथ अनेक हाथी, घोड़े एवं अन्य सामग्री भी थी। वहाँ सिपाहियों को राजकीय धर्मयुद्ध की शिक्षा देनेवाले इस संन्यासी के सम्बन्ध में अंग्रेज अधिकारियों के मन में शंका उत्पन्न हो गई। उन अधिकारियों ने उसे वहाँ से निकल जाने का आदेश दे दिया। यह आदेश सुनते ही ह संन्यासी अपने हाथी पर चढ़कर वहाँ से तो प्रस्थान कर गया, किन्तु समीप

के एक ग्राम में उसने पुनः अपना अड्डा बनाकर इस गुप्त संगठन का कार्य प्रारम्भ कर दिया।[1] ऐसे कितने ही स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पुजारी अपने शीश हथेली पर धरकर इस महान गुप्त संगठन का जाल देश के कोने-कोने में फैलाने में संलग्न थे। परन्तु वे कौन थे, कहाँ के निवासी थे, यह किसी को भी विदित नहीं हो पाता था।

मस्जिदों और देवालयों में तथा भिक्षा के निमित्त द्वार-द्वार पर जाकर स्वातन्त्र्य चेतना को प्रस्फुटित करने के लिए ये मौलवीं, पंडित, फकीर और संन्यासी अहर्निश प्रयत्नशील थे तो नगरों में स्थानीय प्रचारक भी जी जान से अपने कार्य में जुटे हुए थे। बड़े-बड़े तीर्थक्षेत्रों में तो भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग एकत्रित होते हैं। वस्तुतः एक प्रकार से तो ये तीर्थ-क्षेत्र देश भर के लोगों के एकत्रित होने के स्थल थे, जहाँ प्रतिदिन ही राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित होते थे। मस्जिद में तो स्थानीय व्यक्ति ही आ पाते थे, किन्तु तीर्थस्थलों में तो सभी स्थानों के लोगों का संगम होता है। अतः इन तीर्थस्थलों को भी राजकीय महत्त्व प्राप्त हो गया था। यहाँ ये क्रान्तिकारी जनता के मन में फिरंगियों के देशी राज्यों को हड़प लेने के सम्बन्ध में जो मौन तथा अप्रकट निषेध था उसे अंग्रेजों के प्रति तीव्र विद्वेष में बदल देते थे। गंगाजी के पावन तट पर स्थित इन तीर्थस्थलों से भी नवचैतन्य व्याप्त हो गया था। यहाँ गंगास्नान के उपरान्त क्रान्तियुद्ध में शत्रु रक्त से कंठ स्नान करने का पावन व्रत भी क्रान्ति समर के ये सफल प्रचारक आनेवाले तीर्थयात्रियों को ग्रहण कराते। क्रान्ति के ये पण्डित इस भाँति प्रत्येक तीर्थस्थल में भ्रमण करने में लगे हुए थे।[2]

स्वाधीनता की तीव्र भावनाओं को अन्तःकरण में जागृत करने के लिए तथा उनकी प्राप्ति हेतु जन-जन को कटिबद्ध करने हेतु कविता से बढ़कर प्रभावी दूसरा कोई भी साधन नहीं हो सकता। मार्मिक शब्दों एवं मोहक पद्धति से पद्य के रूप में गुम्फित सत्य जनता के अन्त करण में बड़ी ही शीघ्रता से बैठाया जा सकता है। इसीलिए क्रान्तियों के उत्थान में राष्ट्रीय गीतों को अनुपम स्थान प्राप्त होता आया है। सामान्यजनों के हृदय में यदि कोई महान् विचार स्थान भी बना लेता है तब भी उसकी व्याख्या कर पाना कोई सरल कार्य नहीं होता। किन्तु कवि इस विचार को नितान्त ही तीव्रता सहित अपनी प्रतिभा द्वारा अनुभव करता है और फिर उसे ऐसी मनोहर वाङ्मय देह प्रदान करता है कि वह विचार जनमानस में गहनता से उतर जाता है। राष्ट्रगीत तो उज्ज्वल ध्येय से

---

१. दि मेरठ नरेटिव्ह

१. ट्रेवेलियन कृत 'कानपुर'

परिपूरित राष्ट्रीय आत्मा का काव्यदेह में अनुभव मात्र ही है। सन् सत्तावन में स्वधर्म की रक्षा तथा स्वराज्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक स्वाधीनता की तीव्र आकांक्षा से जब समग्र हिन्दुस्थान जागृत हो उठा था, तब यदि राष्ट्रीय अन्तः-करण से राष्ट्र काव्य प्रस्फुटित न होता तो वस्तुतः बड़े ही आश्चर्य की बात होती। दिल्ली के बादशाह के राज दरबार के एक प्रमुख कवि ने भी एक राष्ट्र-गीत की रचना की थी, जिससे कि वह समग्र हिन्दुस्थान के कंठ से निनादित हो सके।[१]

इस गीत में अपने पूर्वजों के पराक्रम का वर्णन करने के उपरान्त आज की हीन दासता का वर्णन भी ऐसे शब्दों में किया गया था कि जिसे सुनकर ही हृदय द्रवित हो उठता है। इस गीत में दारुण दशा का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया था कि जिनकी कभी भारत के एक कोने से दूसरे कोने पर्यन्त विजय स्तुति गायी जाती थी उन्हींके मस्तक पर आज दासता का चिह्न अंकित है। उस विपर्यस्त और लज्जास्पद स्थिति पर इस राष्ट्रगीत द्वारा भारतभूमि के आक्रोश का विवरण प्रस्तुत था। इसमें कामना की गई थी कि भारत की जनता अपनी प्रचण्ड संगठन शक्ति से, इस आक्रोश से भारतमाता को छुटकारा दिलाये। अब यह सत्तावन का गीत आप में पुनः एकता का संचार करे। इस राष्ट्रगीत का कोई मसविदा यदि कोई शोधकर्ता प्रस्तुत करेगा तो अपने इतिहास पर वह अक्षय उपकार करेगा। तब तक तो इतिहास इतना ही बताएगा कि अपनी धरती माता सत्तावन के इस वर्ष में आक्रोश कर रही थी और कानपुर के मैदान में खड़े नाना-के कानों में थे आक्रोश भयंकर किलकारियां मार रहा था।

विस्तीर्ण रचना के लिए साधना भी तो विस्तीर्ण ही करनी होती है। दुःख दैन्य से दुर्बल हुई मातृभूमि को मदोन्मत्त अत्याचारियों के लोहपाश से स्वतन्त्र कराने जैसे महान् कार्य के लिए पहली महत्वपूर्ण शर्त है लोगों की मानसिक सिद्धता। वस्तुस्थिति यही है कि क्रान्ति की ज्वाला धधकाने से पहले जनता की मनस्थिति को पूर्णतः नियन्त्रण में लाना अभीष्ट ही नहीं अनिवार्य भी है।

---

१. "दिल्ली के राजमहल से बहुत पहले ही एक राजाज्ञा प्रसारित की गयी थी, जिसमें मुसलमानों को यह निर्देश दिया गया था कि वे अपने सभी महत्वपूर्ण समारोहों पर एक गीत का गायन करें जिसकी राज-दरबार के संगीतज्ञ ने रचना की है, जिसमें बड़े ही मार्मिक शब्दों में उनकी जाति के पराभव और उनके उस प्राचीन धर्म की अवमानना का वर्णन उपलब्ध है जो कभी उत्तर की हिममालाओं से दक्षिणी राज्यों तक व्याप्त था, किन्तु जो अब शैतानों और विदेशियों द्वारा पददलित किया जा रहा है।" —ट्रेवेलियन

इस मनःस्थिति का निर्माण करने के लिए मानव मन तक जो-जो भी मार्ग सुगमता सहित पहुंच सकते हैं पहले उन्हीं पर क्रान्ति की चौकियां स्थापित करनी पड़ती हैं। मानव मन सहज रूप में ही उत्सव-प्रिय है। अतः जनसमुदाय को वश में करने के लिए इन उत्सवों से सुगम दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है। उन उत्सवों के जल में घोलकर क्रान्ति के तत्व की औषधि जब दी जाती है तो समाज का वालपन उसे बड़ी सुगमता सहित गटक जाता है। उससे रोग का भी शमन हो सकता है, ऐसी नितान्त ही मार्मिक विचारधारा को हृदयंगम कर क्रान्ति के इन पुरोधाओं ने नितान्त ही चित्ताकर्षक उत्सवों के माध्यम से स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रशिक्षण जनसाधारण को देने की भी व्यवस्था की थी। अब तो इन क्रान्तिकारी मण्डलियों द्वारा आयोजित किए जाने वाले कठपुतलियों के नृत्यों में भी और ही भाषा बोली जाने लगी थी। उनका नृत्य भी अब डरावना और उग्र रूप धारण कर चुका था। स्वधर्म और स्वातन्त्र्य की अवहेलना का हृदय-द्रावक चित्र इन कठपुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था। इन प्रदर्शनों में यह भी स्पष्ट किया जाता था कि इस सम्पूर्ण दयनीय दशा का निराकरण है प्रतिशोध और केवल प्रतिशोध।

थानों के सामने, सघनवृक्षों की छाया तले, धर्मशालाओं में और चौक चौक में कतिपय गूढ़ संदेशों से भरे पवाड़े और आल्हा के बोल गूंजने लगे। इन गीतों में वीर पूर्वजों के उन पराक्रमों की चर्चा होती, आल्हा-ऊदल की वीरता के वे महान् गीत गूंजते कि शत्रुओं का दमन करने के लिए वीरों की भुजाएं फड़क उठतीं। रक्त में उबाल आ जाता, फिरंगियों द्वारा की जानेवाली देश की दुर्दशा का करुणा पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता। ऐसा तो कोई नामर्द ही होगा जो वीररस के इस काव्य को सुनकर प्रचण्ड उत्साह से ओत-प्रोत होकर "हर हर महादेव" का रणघोष न कर उठता हो।

राष्ट्रीय महत् कार्य में केवल पुरुषों का ही योगदान हो ऐसी बात नहीं है। उन पुरुषों को जन्म देने वाली नारी के हृदय में भी राष्ट्र-क्षोभ का बीज बोना पड़ता है। भारतीय नारियों के शौर्य की साक्षी सिख और राजपूतों के इतिहास में नितान्त ही गौरवपूर्ण शब्दों में उपलब्ध है। अतः भारतीय देवियों के मन में क्रान्ति के लिए सिद्धता और सामर्थ्य का निर्माण करने की दृष्टि से इस क्रान्ति यज्ञ के आयोजकों ने इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन में उनकी रुचि निर्माण करने के लिए वैंदू लोगों की महिलाओं का उपयोग किया। ये जिप्सी महिलाएं भविष्य वाणी करने और अनेक रोगों की औषधियां देने में विशेष रूप से महिलाओं में अत्यधिक प्रसिद्ध थीं।[१] मातृभूमि को लगा हुआ परतन्त्रता का रोग किस औषधि

१. ट्रेवेलियन।

से दूर होगा, दासता की यह भूतबाधा किस मारक यंत्र से समाप्त होगी एवं स्वतन्त्रता का सलौना सुकुमार कब जन्म ग्रहण करेगा यह सब भविष्य कथन करने में इन जिप्सी महिलाओं से अधिक सफल और हो भी कौन सकता था। इन जिप्सी महिलाओं ने नारियों में, पण्डितों और मौलवियों ने पुरुषों में जिस परिमाण में प्रचण्ड जागृति की उसी परिमाण में ग्राम-ग्राम में घूमकर नृतकों और नाटककारों की क्रान्तिकारी मण्डलियां भी राष्ट्रीय प्रतिशोध की अग्नि को प्रज्वलित करने का दायित्व निभा रही थीं। इस भाँति जन-जन में स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की पावन पूजा की सिद्धता का महत् कार्य इस गुप्त संगठन के द्वारा विभिन्न माध्यमों से सफलतापूर्ण किया जा रहा था।

अब इस क्रान्तिकारी संगठन के प्रमुख केन्द्र सम्पूर्ण भारत में स्थापित हो गए थे।[1] इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन की प्राण प्रतिष्ठा जिस ब्रह्मावर्त के रजवाड़े में हुई थी अब वहां से क्रान्ति की प्रचण्ड बाढ़ उफ़न ही रही थी। किन्तु श्री नाना साहब और अजीमुल्ला खाँ के पत्रों तथा उनके द्वारा भेजे गए उपदेशकों ने इसकी शाखाएं सहस्रों स्थानों पर स्थापित कर दी थीं। ब्रह्मावर्त में श्रीमतं नाना-साहब के बाड़े में जिस भाँति आगामी मंगल कार्य की सिद्धता हो रही थी, उसी भाँति दिल्ली का राज्यवंश भी इसकी सिद्धता में निमग्न था। इधर इस स्वतन्त्रता युद्ध के प्रमुख धर्मवीर मौलवी अहमदशाह के प्रयासों से लखनऊ और आगरा आदि भी इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन के प्रमुख केन्द्र बन गए थे। पटना नगर में तो यह क्रान्तिकारी ज्वाला इतने जोर शोर से धधक रही थी कि ऐसा लगता था कि मानों इस नगर का प्रत्येक घर ही क्रान्तिकारी संगठन का एक महान केन्द्र है। स्वदेश तथा स्वधर्म के लिए मौलवी, पण्डित, जमींदार, किसान, व्यवसायी, और वकील तथा छात्र सभी वर्गों के लोग बलिदान की पुनीत भावना को हृदय में बसाए इस क्रान्तियज्ञ में समिधाएं समर्पित करने हेतु संकल्प बद्ध हो गए थे। इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन का संचालन यहां एक पुस्तक विक्रेता द्वारा किया जाता था। कलकत्ता में अवध के भूतपूर्व नवाब एवम् उनका वजीर नकीखाँ रह रहे थे। इस वजीर ने सन् सत्तावन की इस क्रान्ति में जितने महान साहस और चातुर्य का प्रयत्न किया है वैसा ही बहुत कम लोग दिखा पाए थे। कलकत्ता के

---

१. अपने विस्तृत इतिहास में मॅलेसन ने लिखा है—"इस षड्यन्त्र का नेता निश्चित रूप से मौलवी ही था। इस संगठन की शाखाएं सम्पूर्ण भारत में फैल गई थीं। निश्चित रूप से ही आगरा में, जहाँ यह मौलवी यदा कदा रहता था और दिल्ली, मेरठ, पटना एवम् कलकत्ता में भी जहाँ अवध का भूतपूर्व नवाब रहता था, इस क्रान्ति संगठन का प्रभाव प्रायः व्यापक ही था।

समीप ही स्थित बैरकपुर, दम दम इत्यादि ही वे स्थान थे जहाँ सैनिकों को इस राज्यक्रान्ति के सर्मथन हेतु सिद्ध किया जाता था। यह कार्य नकीखाँ ने नितान्त ही निपुणता सहित संपन्न कर दिखाया। उसके कार्य की महत्ता का परिचय इस बात से ही मिल जाता है कि सत्तावन् के स्वातन्त्र्य समर में भाग लेने के लिए इन छावनियों के सैनिकों ने गंगाजल हाथ में लेकर राष्ट्र-कार्य के लिए प्रवृत्त होने की शपथ उठाई थी तो कुरान हाथों में लेकर मादरे वतन के जिए सर्वस्व समपर्ण की कसमें खाई थीं। सिपाहियों के सभी थानों में रात्रि में गुप्त सभाएं आयोजित की जाती थीं, जिनमें उपरोक्त संकल्प दोहराए जाते थे। दूसरे दिन उन रेजिमेन्टों के सूबेदार नवाब के सामने उपस्थित होकर उसे यह विश्वास दिलाते थे कि वे स्वातन्त्र्य संग्राम में सक्रिय योगदान देंगे। ज्ञातव्य है कि सन् सत्तावन के इस स्वातन्त्र्य समर में मेरठ और बैरकपुर ये दो ही ऐसे प्रधान केन्द्र थे जहाँ के सैनिकों ने स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की वन्दना हेतु सर्वप्रथम अनुष्ठान किए थे। उत्तर की भाँति ही इस क्रान्ति की सिद्धता दक्षिण में सतारा में रंगोजी बापू दत्तचित्त होकर कर रहे थे। पटवर्धनी संस्थान एवम् कोल्हापुर के चारों ओर भी क्रान्ति की बयारें बह रही थीं। इतना ही नहीं अपितु १८५७ के जनवरी मास में ही मद्रास की दीवारों पर भी वे भित्तिपत्रक लगे थे जिनमें लिखा गया था—

"हे स्वदेश बन्धुओ तथा धर्मबन्धुओ उठो! सब एक साथ उठो और इन काफिर फिरंगियो को यहाँ से भागने पर विवश कर दो! इन्होंने न्याय के सभी तत्वों को पददलित कर दिया है, इन्होंने हमारे स्वराज्य का अपहरण किया है। ये फिरंगी हमारे देश को धूलधूसरित कर देने पर तुल गए हैं। अब इनके अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है इनसे समरभूमि में युद्ध। यह स्वाधीनता के लिए लड़ा जाने वाला धर्मयुद्ध है। न्याय के लिए किया जाने वाला धर्मयुद्ध है। इस युद्ध में जो बलिदान देंगे वे हुतात्मा कहलाएंगे। किन्तु इस राष्ट्रीय दायित्व से पीठ दिखाने वाला यदि कोई पापी, दुरात्मा और कायर एवम् देशद्रोही है तो नरक के अग्निमुख पहले से ही अपने विकराल जबड़े फैलाए उसकी बाट जोह हैं। बोलो बन्धुगण, शहादत पसन्द है अथवा तुम कायर कहलाकर जीवित रहना चाहते हो। अभी निर्णय करो, तत्काल निश्चय करो।"[1]

न् सत्तावन में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। संपूर्ण हिन्दुस्थान में यत्र तत्र सर्वत्र सांकेतिक भाषा में यह सूचना पहुंचाई जा रही थी कि महान् कार्य का शुभ मुहूर्त समीप आ गया है। ऐसे ही अवसर पर सैनिकों की धार्मिक भावनाओं को भड़काने की दुर्बुद्धि से उत्पन्न हुई कारतूसों संबंधी भयंकर भूल अंग्रेजों

---

१. चार्ल्स बालकृत 'विद्रोह', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०

द्वारा कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जो सिपाही दिन में अपनी बन्दूकों से घास फूस साफ करते रहते थे, रात्रि होते ही वे अपनी-अपनी रेजीमेंट के सूबेदार मेजर के बंगलों पर एकत्रित होकर स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए शपथ कब मिलेगी, इसके लिए उत्सुकता प्रदर्शित किया करते थे। सिपाहियों की विभिन्न बटालियनों में परस्पर ऐसी बन्धुत्व भावना जाग्रत हुई कि अब इनमें आपस में भी राष्ट्र स्वातन्त्र्य की इस अग्नि में सर्वस्व समर्पण के लिए उसी प्रकार की वचनबद्धता होने लगी जिस प्रकार की वचनबद्धता एक ही रेजीमेंट के सिपाही परस्पर करते थे। विशिष्ट पर्वों आदि के अवसर पर एक कंपनी दूसरी को भोज भी देती थी और इस प्रकार सैनिकों के स्नेह-सम्मेलन बड़ी सुगमता सहित आयोजित हो रहे थे। किसी रेजीमेंट की ऐसी ही क्रांतिकारी गतिविधियों का पता किसी भूल से अथवा किसी विश्वासघाती के कारण सरकार को पता लग गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक-दो ऐसी रेजीमेंट निःरस्त्र कर दी गईं। इस रेजीमेंट को तोड़कर सैनिकों को निकाल दिया गया। किन्तु यह भी तो अच्छा ही हुआ ! क्योंकि क्रांति की ज्वाला को ग्रामों की डगर-डगर तक धधकाने के लिए इन्होंने ही ग्रामों में जा-जाकर धर्मयुद्ध का उपदेश दिया।

इधर सिपाहियों के सभी केन्द्रों में पत्रों का परस्पर आदान-प्रदान हो रहा था, जिनके माध्यम से एक स्थान के सैनिक दूसरे स्थान के सैनिकों को सांकेतिक भाषा में राष्ट्र की स्वतन्त्रता हेतु समरभूमि में अवतरित होने संबंधी अपने निश्चयों से सूचित कर रहे थे। किन्तु अब अंग्रेज़ों का संदेह बढ़ता जा रहा था। अतः अंग्रेज अधिकारियों ने अब प्रत्येक पत्र को खोलकर पढ़ने का क्रम आरम्भ कर दिया। ऐसा ही एक पत्र सातवीं रेजीमेंट ने अवध की अड़तालींसवीं रेजीमेंट को लिखा था। इसमें कहा गया था कि—"रेजीमेंट में हमारे भाई का मत हमारे लिए मान्य है। कारतूसों के सम्बन्ध में भी इसीके अनुरूप व्यवहार करो।"[१]

बैरकपुर और स्यालकोट सरीखे दूर-दूर के स्थानों को लिखे गए कतिपय पत्र भी अंग्रेज अधिकारियों को मिल गए। इनमें से एक पत्र बैरकपुर के सिपाही ने स्यालकोट को भेजा था। यह पत्र पुलिस के अधिकार में आ गया।

इसमें इतना ही सन्देश था "भाइयो उठो, अत्याचारियों के विरुद्ध संघर्ष करो।"

केवल रूस की क्रांति में ही नहीं भारत की क्रांति में भी पुलिस ने जनता के साथ नितान्त ही सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया था। क्रांति के गुप्त संगठन का चक्र बड़ी ही तीव्र गति से घूम रहा था। अतः यह भी नितान्त आवश्यक था कि भिन्न-भिन्न चक्रों की गति एक ही लय से गतिमान रहे। इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर क्रांति-

---

१. लाल पत्रक, प्रथम खण्ड।

पक्ष का एक दूत हाथ में रक्तिम कमल लेकर चुपचाप बंगाल में एक सैनिक शिविर में प्रविष्ट हो गया। उसने वह रक्तिम कमल एक कंपनी के सूबेदार के हाथों में समर्पित कर दिया। इस सूबेदार ने उसे अपने सहायक को दिया और इसी प्रकार वह रक्त कमल प्रत्येक सिपाही के हाथों में से गुजरा और जिस अंतिम सिपाही के हाथ में यह कमल पुष्प पहुंचा था उसने इसे क्रांति दूत को वापस लौटा दिया। बस सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो गया। एक भी शब्द कहे बिना यह क्रांति-दूत इसी भांति एक छावनी से निकलता और दूसरे सैनिक शिविर में पहुंच जाता और उसे कंपनी के प्रमुख भारतीय अधिकारी को समर्पित कर देता। इस भांति केवल काव्यमय बना रहनेवाला यह रहस्यपूर्ण कमल क्रांति की ज्वाला के रक्तमय विचार से उन सैनिकों को परिचित कराता रहा। यह कल्पना भी कर पाना संभव नहीं था कि इस रक्तिम रंग के कमल पुष्प का स्पर्श मात्र करने से ही सैनिकों के मन में किन भावनाओं का प्रचण्ड बवण्डर ठाठें मारने लगता था। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कमल पुष्प नहीं अपितु क्रांति की राजमुद्रा ही था। उच्च कोटि का कोई महान् वक्ता भी अपनी वक्तृत्व कला से जिन वीर भावनाओं को जागृत करने में सफल नहीं हो पाता उस वीर भावना का संचार इन युद्ध हेतु सन्नद्ध सैनिकों में अपनी मूक भाषा से ही रक्त कमल बड़ी सरलता सहित कर रहा था। इसकी लालिमा ही उन्हें क्रांति के उस महान् आविर्भाव का उपदेश दे रही थी जिसमें लाशों की फसल उगाई जाती है और रक्त का पानी दिया जाता है।

कमलपुष्प ! शुचिता, यश एवं प्रकाश के काव्यमय प्रतीक के रूप में कवियों से मान्यता प्राप्त करता आया है ! कितना चमत्कारी है उसका रंग ? रक्तोज्ज्वल ! इस पुष्प के स्पर्शमात्र से ही हृदय-पुष्प खिल उठता है। सैकड़ों सैनिकों के हाथों में होता हुआ यह कमल पुष्प जब एक से दूसरे तक पहुंचाया गया होगा तब निश्चित रूप से ही इस पुष्प ने अपनी मूक भाषा में ही एक नितान्त ही गहन अर्थ तथा महान साधना की अभिव्यक्ति करते हुए उन्हें प्रचण्ड स्फूर्ति प्रदान की होगी। वस्तुतः इस रक्त कमल ने इन सभी अन्तःकरणों को एक सूत्र में पिरो दिया था, क्योंकि बंगाल का जवान (सैनिक) और किसान समवेत स्वर में कह उठा था "सब कुछ लाल हो जाएगा।" और इन शब्दों का उच्चारण करते समय उनके नेत्रों में एक ऐसी चमक उभरती थी जिससे तत्काल यह निश्चय हो जाता था कि उनके इन शब्दों में बड़ा ही गहन अर्थ निहित है। "सब कुछ लाल हो जाएगा", किन्तु प्रश्न चिन्ह उपस्थित था कि किसके द्वारा होगा यह कार्य ![१]

इस रक्तकमल तथा उसके द्वारा प्रस्फुटित होनेवाली भावना ने प्रत्येक व्यक्ति

---

१. ट्रेवेलियन-कृत 'कानपुर'

के हृदय में एक ही गूंज व्याप्त कर दी थी।

एक सिपाही से दूसरे सिपाही तक पहुंचने वाले पत्र तो इस गुप्त रीति से लिखे जा रहे थे। परन्तु इस क्रान्ति संगठन के नेताओं के पत्र तो नितान्त ही महत्वपूर्ण थे। अतः उनके लिखने में नितान्त ही सावधानी बरती जाती थी। भिन्न भिन्न प्रान्तों में स्वतन्त्र रूप से कार्य करनेवाले संगठनकर्ताओं में पारस्परिक संबंध स्थापित करने के लिए अनेक प्रवासी भी स्वतन्त्र रूप से कार्य में लगे हुए थे। अब तक जो भीं पत्र लिखे जा रहे थे वे भी बड़ी ही रहस्यमयी भाषा में बिना किसी व्यक्ति को सम्बोधित किए ही लिखे जाते थे। किन्तु जब अंग्रेज अधिकारी अपनी शंकाओं के कारण प्रत्येक पत्र को ही खोलकर पढ़ने लग गए तब अपनी योजनाओं का किंचित मात्र रहस्य भी शत्रुओं को पता न लग जाए, इस दृष्टि से क्रान्तिकारी दल के इन कार्यकर्ताओं ने आंकड़ों अथवा रेखाओं की भाषा में ही, जिसे सांकेतिक भाषा का ही नाम दिया जा सकता है, ये पत्र लिखने आरम्भ कर दिए।[१]

परन्तु इन संकेत चिन्हों और गुप्त पत्रों से भी राष्ट्रीय उद्बोधन देने में जो सफलता प्राप्त नहीं हो सकी वह उद्बोधन भविष्यवाणियों ने हिन्दुस्थान को दे दिया। भविष्य की मन की उड़ान ही तो वस्तुतः भविष्यवाणी है। हिन्दुस्थान का अन्तःकरण स्वातन्त्र्य की दिव्य भावनाओं से आलोकित हो उठा था अतः इन भविष्य कथनों में भी स्वराज्य का उल्लेख किया जाने लगा। इन भविष्यकथनों की सत्तावन के इतिहास और उसके पृष्ठों पर भी अमिट छाप पड़ी थी। वह भविष्य कथन यह था कि राज्य स्थापना से ठीक १०० वर्ष के उपरान्त फिरंगी राज्यसत्ता की समाप्ति होने वाली है। प्लासी के युद्ध को हुए १०० वर्ष हो रहे थे। अतः १८५७ के जनवरी मास से ही एक विलक्षण आशा, एक विलक्षण चेतना राष्ट्र की नसनस में व्याप्त होने लगी थी। इस एक ही भविष्यवाणी ने सम्पूर्ण राष्ट्र में ऐसा दिव्य चैतन्य व्याप्त कर दिया कि आबाल-वृद्ध सभी के मुख से एक ही बात गूंजने लगी कि अब अंग्रेजी राज्य निश्चित रूप से ही समाप्त हो जाएगा और इसी दृष्टि से इस भविष्य काल को वर्तमान काल में बदल देने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र संकल्पबद्ध होकर सिद्ध हो उठा।

सत्तावन के इस वर्ष में कंपनी का राज्य समाप्त हो जाएगा, इस भविष्यवाणी ने सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वातन्त्र्य की अगवानी करने के लिए तैयार कर दिया था। और यह सिद्धता भी ऐसी थी कि प्रत्येक व्यक्ति इस संबंध में भी पूर्णतः सतर्क

---

१. इन्स-कृत 'सिपाही विद्रोह', पृष्ठ ५५

था कि रणदेवता द्वारा स्वातन्त्र्य दान दिए जाने से पूर्व किसी प्रकार की भी आकस्मिक घटना नहीं होनी चाहिए। सिपाही, सेनापति, पुलिस, पाटिल, कुलकर्णी, जमींदार आदि अंग्रेजी राज्य में जिस जिस स्थान पर नियुक्त थे वहां वहां रहते हुए ही वे स्वतन्त्र राज्य की सेवा बिना किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित किए करते रहेंगे ऐसा व्रत उन सबने ग्रहण कर लिया था। इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन के पुरोधाओं ने सम्पूर्ण राष्ट्र को कितनी सावधानी सहित एकता के सूत्र में बंधा था, उनके समक्ष अपना लक्ष्य कितना सुस्पष्ट था यह उनकी इसी नीति निपुणता से ही स्पष्ट हो जाता है।

जनक्षोभ को और अधिक भड़काने की दृष्टि से लखनऊ में उत्तेजक व क्रांतिकारी भित्तिपत्रक लगाए जा रहे थे। इन भित्तिपत्रकों में यही आह्वान दिया गया था कि सभी भाई एक साथ उठे और हिन्दुस्थान में स्वराज्य की स्थापना करें। प्रातःकाल होता था और नगर के सभी चौराहों पर एक नया भित्तिपपक व हस्तपत्रक दृष्टिगोचर होने लगता। अंग्रेज अधिकारी भी इन पत्रकों को पढ़ते थे और इनके लेखकों पर हँसते और कुढ़ते थे। कारण यह था कि पुलिस के कर्मचारी स्पष्ट शब्दों में ही कहते थे कि यह पत्रक कौन लिखता है और कौन लगाता है। कुछ दिनों के उपरान्त अंग्रेज अधिकारियों को यह विदित हुआ कि ये पुलिस कर्मचारी भी क्रान्तिकारी दल के ही लोग थे। दासता के संरक्षण की अपेक्षा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए पुलिस ने रूस की राज्यक्रान्ति का साथ दिया था। इसी भांति भारत में भी उन्होंने राज्यक्रान्ति का साथ दिया। उत्तर हिन्दुस्थान में यह संगठन जितनी कुशलता से हुआ यदि दक्षिण भारत में भी इतनी ही कुशलता सहित हुआ होता तो कितनी सुखद स्थिति उत्पन्न हो जाती।

इस भाँति यत्र तत्र क्रान्ति संगठन की ज्योति प्रज्वलित हो उठी थी। अब नानासाहब क्रान्तिकारी दल की इन विभिन्न कड़ियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए ब्रह्मावर्त से निकल पड़े। सत्तावन के अप्रैल मास में वे अपने भाई बालासाहब एवम् आकर्षक व्यक्तित्व के धनी नितान्त ही मेधावी मन्त्री अजीमुल्ला खाँ के साथ दिल्ली पहुंचे। वहां जो वार्ता हुई उसमें किस विशेष बात पर बल दिया गया था यह तो दीवाने खास अथवा उस समय का दिल्ली का वायुमण्डल ही भली-भांति बता सकेगा। ठीक उन्हीं दिनों आगरा से मोर्लेन्ड नामक एक न्यायाधीश उनसे भेंट करने के लिए भी आया था। नानासाहब ने उनका नितान्त ही भव्य स्वागत किया। वह बेचारा क्या जानता था कि दो-एक मास में ही अंग्रेजों का किसी और ही ढंग से स्वागत होने वाला है। और उसी अनुपम स्वागत की आवश्यक व्यवस्थाएं करने में नानासाहब प्राणपण से लगे हुए हैं। दिल्ली में किए गए सभी प्रबन्धों को स्वतः देखकर सन्तुष्ट होने के उपरान्त नानासाहब

अंबाला पधारे। अंबाला के बाद आप १८ अप्रैल को क्रान्ति के सर्वाधिक महत्व-पूर्ण केन्द्र लखनऊ में पधारे। उसी दिन लखनऊ में ऐक विशेष घटना घटित हुई। वहां के चीफ कमिश्नर सर हैंनरी लारेन्स की गाड़ी पर कुछ लोगों ने आक्रमण कर उस पर पथराव भी किया। इस घटना से लखनऊ नगर में एक अनोखे आनन्द की लहर व्याप्त हो गई। नगर के मुख्य-मुख्य राजमार्गों से नानासाहब की एक भव्य और विशाल शोभायात्रा निकाली गई थी। जनता में अपने भावी सेनापति के दर्शन करने की असीम लालसा प्रदर्शित हो रही थी। इस महान सेनानी को अपने मध्य पाकर उनका सुप्त आत्मविश्वास पुनः जागृत हो उठा था। नानासाहब स्वयं ही लारेन्स से भेंट करने गए और उसे बताया कि लखनऊ की सैर करने भर के लिए ही मैं आया था। लारेन्स ने अपने सहयोगी कर्मचारियों को आदेश दिया नानासाहब का भली भांति स्वागत सम्मान किया जाए। बेचारे लारेन्स को क्या कल्पना भी होगी कि नानासाहब की यह सैर किस उद्देश्य के लिए हैं ? लखनऊ से श्रीमन्त नानासाहब कालपी पहुंचे। इसी बीच जगदीशपुर के कुंवरसिंह से भी नानासाहब का पत्रव्यवहार जारी था और राजनैतिक गतिविधियों का भी सूत्र जुड़ा हुआ था।[1] इस भांति दिल्ली, अम्बाला, लखनऊ, कालपी आदि केन्द्रों में क्रान्ति के नेताओं से भेंट कर आगामी संग्राम की तिथि निर्धारित कर स्वयम् रूप-रेखा बनाकर नानासाहब बिठूर वापस लौट आए।

इधर क्रान्ति-यज्ञ के प्रमुख आयोजकों से भेंट और इस पावन अनुष्ठान की तिथि का निर्धारण करने के निमित्त श्रीमन्त नानासाहब की यात्रा चल रही थी और उधर सम्पूर्ण देश में भावी मंगलकार्य में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देते हुए क्रान्ति-दूतों की एक मण्डली देश भर के पर्यटन में संलग्न थी। राज्य क्रान्ति के इन दूतों की यह सूझ नवीन नहीं थी, क्योंकि हिन्दुस्थान में जब भी क्रान्ति का मंगल कार्य आरम्भ हुआ तब ही क्रान्ति-दूतों—चपातियों द्वारा देश के एक छोर से दूसरे छोर तक इस पावन सन्देश को पहुंचाने के लिए इसी प्रकार का अभियान चलाया था। क्योंकि वेल्लोर के 'विद्रोह' के समय भी ऐसी ही चपातियों ने सक्रिय योगदान दिया था। देश के सुदूर अंचलों तक अपने अदृश्य पंखों के बल पर उड़ानें भरने वाली इन देव-दूतिकाओं ने अपने ज्वलन्त सन्देश से प्रत्येक व्यक्ति के सुप्त अन्तः-करण में क्रान्ति की ज्वाला जागृति की थी। ये कहां से आतीं थीं और कहां चली जाती थीं यह रहस्य भी किसीको कानोंकान विदित न हो पाता था। हां, यह भी सत्य है कि जो लोग इन विचित्र चिन्हों के शुभागमन में अपनी पलकों के पांवड़े बिछाए रहते थे, उन्हें दर्शन देकर एक रहस्यमय मन्त्र प्रदान कर ये देव-दूतिकाएं

---

१. रेड पैम्फलेट

अन्तर्धान हो जाती थीं। किन्तु यह भी तथ्य है कि क्रान्ति की ये सन्देशवाहिकाएं जिनके पास अनायास ही पहुंच जाती थीं, उनसे ये सविस्तर चर्चा करती थीं और उन्हें अपने वशीकरण मन्त्र से पूर्णतः सम्मोहित कर लेती थीं। यदा-कदा कतिपय मूर्ख अंग्रेज अधिकारियों ने इन चपातियों को अपने अधिकार में लेकर इन्हें चूर्ण-चूर्ण कर बोलने के लिए विवश करने का भी जी तोड़ प्रयास किया था। किन्तु आश्चर्य की वात यह थी कि ज्योंही वे इनसे बोलने का आग्रह करते किसी दीक्षित के समान ये अपना मुख जोरों से बन्द कर लेती थी। यों तो ये चपातियां गेहूं और बाजरे के आटे से ही बनाई जाती थीं, इन पर कोई लेख भी नहीं लिखा जाता था, किन्तु जिसके भी हाथ में ये पड़ जाती थीं, इनके स्पर्श मात्र से ही उस प्रत्येक व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग में क्रान्ति की चेतना का संचार हो जाता था। प्रत्येक ग्राम के मुख्य अधिकारी के हाथों में चपातियां पहुंचती थीं, वह उसमें से कुछ का आहार कर बची हुई चपाती को प्रसाद के रूप में वितरित कर देता था। फिर जितनी चपातियां किसी ग्राम में पहुंचती थी उतनी ही चपातियां उस ग्राम का अधिकारी तत्काल तैयार कराकर समीप के दूसरे ग्राम में पहुंचा देता था। वहाँ का ग्राम अधिकारी भी उनको प्रसाद के रूप में उसी भांति वितरित करता था। इस भांति क्रान्ति की यह ज्वलन्त अग्निशलाकाएं प्रत्येक नगर, प्रत्येक ग्राम में प्रवेश कर क्रान्ति की अग्नि को सम्पूर्ण देश में दहका रही थीं।

जाओ हे क्रान्ति की देव-दूतिके ! शीघ्रातिशीघ्र जाओ। हिन्दुस्थान के सभी सत् पुत्रों को यह पावन सन्देश दे दो कि जन-जन की स्वाधीनता हेतु अपना राष्ट्र महान धर्म-युद्ध हेतु सन्नद्ध हो गया है। चलो ! क्रान्ति दूतिके आगे बढ़ो। दशों दिशाओं में परिक्रमा करो। तिमिराच्छन्न रात्रि में भी विश्राम न लो। सर्वत्र वातावरण में यही एक जयघोष गुंजा दो, "तुम्हारी माता पर संकट है, अतः उसकी रक्षार्थ समरांगण में कूद पड़ो।" यदि नगर कोटों के राजद्वार बन्द हों तो भी तुम ठहरना मत, अपितु आकाश मार्ग से उड़ती हुई भीतर प्रविष्ट हो जाओ।

तुम्हारे मार्ग में दुर्गम दर्रे हैं, कगार कटे-कंटे हैं, ढालू हैं; भयंकर बियाबान वन हैं; सरिताओं का जल भी अपनी अगम गहराई के साथ प्रवाहित हो रहा है, फिर भी तुम पथ की इन भयावह बाधाओं की किंचितमात्र भी चिन्ता न करना, अपितु तीर से प्रचण्ड वेग सहित इस प्रलय सन्देश को प्रसारित करती हुई आगे बढ़ती जाना। तुम्हारे तीव्र वेग पर ही हमारी माता के जीवन-मरण का प्रश्न आधारित है। अतः तुम जितने भी तीव्र वेग से उड़ान भर सकती हो भरो, उड्डयन की पराकाष्ठा कर दो। शत्रु यदि तेरी एक देह को चूर्ण-चूर्ण कर दे तो एक-एक कण से वैसे सैकड़ों रूपों को धारण कर राष्ट्र के निर्वाण प्रसंग को पूर्ण करने हेतु अपनी एक-एक देह में लाखों जिह्वाओं को निकालती हुई देव-दूतिके आगे बढ़ती

जाओ। सब का आह्वान कर। पति को और पत्नी को, माता और बालक को, भाई और भगिनी को, सभी संबंधियों को स्वातन्त्र्य समर में सहकुटुम्ब सम्मिलित होने का आमन्त्रण दे। मराठों के भालों, राजपूतों की तलवार, सिखों की कटार, इस्लाम के चांद-सितारे इन सभी की स्वातन्त्र्य समरांगण में अवतरित होकर कार्य सिद्धि हेतु सपरिवार योगदान देने की विनती कर! कानपुर के रणदेवता को पुकार! कर्णभेरी, दुंदुभि, ध्वज, पताका, रणगीत, गर्जना, गड़गड़ाहट इत्यादि समर-भूमि के सभी साजों को सजने का आग्रह कर। राष्ट्र देवता महा-मंगल समारोह हेतु सुसज्ज होकर उत्सुक हो उठा है अतः उसके सभी अनुगामियों को निमन्त्रण दे, आह्वान कर, जिससे कि जन-जन को इस सत्य का दर्शन हो जाए कि महान मंगल की पुनीत वेला उपस्थित है, अतः सावधान हो जाओ।"

सावधान! मित्रो सावधान! इस हरीतिमा युक्त शान्त पर्वत शिखर पर पग धरने वाले शत्रु तुम भी सावधान हो जाओ। इस पर्वत शिखर पर तुम्हें जो हरियाली दृष्टिगोचर हो रही है, ये पर्वतमाला इतनी ही शान्त है यह समझने की भूल कदापि न कर।[१] तो क्या तुम इसके गर्वोन्नत मस्तक को अपने पदाघात से टूक-टूक करने की दुरभि-सन्धि अपने हृदय में संजो रहे हो। तुम तोड़ो तो सही, देखें कैसे तुम यह दुस्साहस कर सफल हो पाते हो! क्योंकि अब कुछ ही क्षणों में इस सत्य का सबको साक्षात्कार होने वाला है कि कालिदास का निम्नलिखित कथन हिन्दुस्थान के संबंध में यथार्थ रूप से चरितार्थ होने वाला है—

शम प्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमास्ति तेज।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता,
स्तदन्यतेजोऽभिभवाद्विमन्ति॥

—शाकुन्तल (द्वितीयांक, श्लोक ७)

अर्थात् "तप और शान्ति ही जिनका दान है, उनमें भस्मसात् कर देने वाला प्रचण्ड अग्नितेज भी गुप्त रूप से भरा हुआ है। स्मरण रहे, यदि एक बार यह अग्नि प्रज्वलित हो उठी तो सम्पूर्ण विश्व को जलाकर राख की ढेरी में परिणत कर देने की महान सामर्थ्य भी इसमें सन्निहित है।"

हे विश्व! हमारा यह हिन्दुस्थान तपोधन है, सहिष्णुता इस धरती का स्वाभाविक गुण है, किन्तु कोई हमारी मातृभूमि की उदारता का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास कदापि न करे। उसे स्मरण रखना चाहिए कि जिस हिन्दुस्थान के हृदय-स्थल में सभी के साथ सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करने की महान परम्परा

---

१. "संपूर्ण देश पूर्ण रूपेण शान्त है", चार्ल्स बाल

विद्यमान है, उसीमें प्रलयंकारी अग्नि भी सुरक्षित है। शंकर के तृतीय नेत्र की कथा तो तुम्हें विदित होगी ही। जब तक शिव ध्यानमग्न रहते हैं, तब तक वे हिमतुल्य शान्त, शीतल और गम्भीर हैं। किन्तु ज्योंही उनका तृतीय नेत्र खुलता है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भस्मीभूत कर देनेवाली ज्वालमालाएं प्रज्वलित हो उठती हैं। तुमने कभी ज्वालामुखी देखा भी है। उस ज्वालामुखी पर भी हरी-भरी घास अठखेलियां करती रहती है। किन्तु ज्योंही उसका मुख खुलता है, वह तप्त लावा उगलने लग जाता है, उससे विस्फारित होने वाले इस अग्निरस से दसों दिशाएं सुलग उठती हैं। इसी प्रकार अब भगवान भूतभावन शंकर के तृतीय नेत्र से भी प्रचण्ड हिन्दुस्थान का जागृत ज्वालामुखी भड़क उठने को आतुर है। अब उसके उदर में अंगारों के स्रोत खौल उठे हैं। विस्फोटक रसायन की मिश्रण क्रिया पूर्ण हो चुकी है। उस पर अब स्वातन्त्र्य प्रेम का तप्त स्फुल्लिंग भर रहा है। अतः हे इस ज्वालामुखी के मस्तक पर नृत्य करने में मदमस्त बने अत्याचारियों ! अभी भी संभलो और भली भांति विचार लो। अन्यथा हिन्दुस्थान पर मदान्ध होकर अत्याचारों का अम्बार लगानेवालो, इस तथ्य को हृदयंगम कर लो. कि अब इस देश के प्रतिशोध ज्वालामुखी में विस्फोट होने ही वाला है। यह तथ्य सुस्पष्ट है, असन्दिग्ध है।

● ● ●
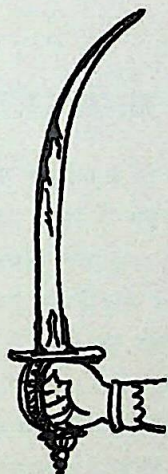
द्वितीय खण्ड
विस्फोट

: १ :

अमर हुतात्मा मंगल पाण्डे

सन् सत्तावन के इस क्रान्ति-युद्ध के इतिहास की एक नितान्त ही आश्चर्यजनक बात यह है कि इस महान संग्राम की रचना के संबंध में जो गोपनीयता रखनी आवश्यक थी, उसका पूर्ण रूपेण निर्वाह किया गया। जिस क्रान्ति की ज्वाला को समग्र हिन्दुस्थान में धधकाने के लिए प्रभावी और सक्रिय प्रयास किए गए थे, उस क्रान्ति की गूंज समग्र हिन्दुस्थान में एक वर्ष तक होते रहने के उपरान्त भी अंग्रेजों सरीखे चतुर राज्यकर्ताओं को भी इसके संबंध में इतना अल्पज्ञान ही हो पाया था कि अनेक अधिकारियों का यही मत था कि इस क्रान्ति के विस्फोट का एकमात्र कारण चरबी द्वारा चिकने किये गए कारतूस मात्र ही थे। किन्तु अब कतिपय अंग्रेज इतिहासज्ञ शनैः-शनैः इस सत्य का साक्षात्कार दबी जबान से ही क्यों न हो करने लग गए हैं कि कारतूस तो केवल एक आकस्मिक कारण मात्र था। वस्तुतः १८५७ के क्रान्ति-दूतों ने स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापनार्थ ही अपने हाथों में शस्त्र धारण किए थे।[1]

---

१. मैलेसन ने लिखा है—"एक बहाने मात्र के रूप में ही और केवल इसी रूप में ही कारतूस क्रान्ति का कारण सिद्ध हुए थे। षड्यन्त्रकारियों ने इस बहाने का पूर्ण लाभ उठाया था और उन्हें यह अवसर इसलिए उपलब्ध हुआ था, जैसाकि मैंने सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि सैनिकों तथा जनता के कतिपय वर्गों के मन में यह विश्वास बद्धमूल करा दिया गया था कि उनके विदेशी स्वामी प्रत्येक कार्य ही दुष्ट हेतु को लेकर कर रहे हैं।"

मेडली ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"वस्तुतः चरबी से चिकने किये गए कारतूसों की बात ने तो केवल उस सुरंग में अंगार मात्र ही लगाया था जिसका निर्माण अनेक कारणों द्वारा किया गया था।" "श्री डिजरैली ने तो सुस्पष्ट शब्दों में इस धारणों को अस्वीकार किया था कि चिकने कारतूस ही

हिन्दुस्थान सरीखे विस्तीर्ण देश में राज्य-क्रान्ति जैसे गम्भीर कार्य को अंग्रेजों के समान चतुर और सतर्क सत्ताधीशों को रंच मात्र भी सन्देह न होने देते हुए जिन्होंने गुप्त रूप से महान क्रान्तिकारी संगठन का निर्माण किया, वास्तव में उन श्रीमंत नानासाहब, मौलवी अहमदशाह, वजीरअली नक्कीखाँ इत्यादि नेताओं की जितनी भी प्रशंसा की जाए उतना ही कम है। इन नेताओं ने बड़ी ही सफलता सहित, सिपाही, पुलिस, जमींदार, देशस्थ अधिकारी, कृषक, व्यापारी और साहूकार इत्यादि जनता के सभी वर्गों एवम् हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों में क्रान्ति की सफलता हेतु कंधे से कंधा मिलाकर एक दूसरे की सहायता करने की पुनीत भावनाएं जागृत कर दी थीं। क्रान्ति की कल्पना से उनके हृदय जगमगा उठे थे। वस्तुतः इन नेताओं की संगठन-कुशलता सर्वथा अनुपम थी। इधर इस गुप्त क्रान्ति संगठन ने पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर लिया था और दूसरी ओर इन्हीं दिनों सरकार ने बंगाल में सैनिकों को नवीन कारतूसों का प्रयोग करने के लिए विवश करना आरम्भ कर दिया था। ऐसी संभावना प्रतीत होने लगी थी कि सर्वप्रथम १९वीं पलटन को ही इन कारतूसों का प्रयोग करने के लिए विवश किया जाएगा। बंगाल में स्थित सभी पलटनों में ३४वीं पलटन क्रान्ति के समरांगण में कूद पड़ने के लिए सर्वाधिक व्यग्र थी। यह पलटन उन दिनों बैरकपुर में थी। कलकत्ते के समीप ही अपना डेरा डाल कर रहने वाले अली नकीखाँ ने इस पलटन के सभी सैनिकों को क्रान्ति के पावन मंत्र की दीक्षा देकर समरांगण में अवतरित होने का संकल्प ग्रहण करा दिया था। इसी पलटन की कतिपय कम्पनियों को कुछ समय तक १९वीं पलटन के साथ रखा गया था।

उन्हीं दिनों में इनका जो पारस्परिक संबंध स्थापित हुआ था, उसके फलस्वरूप संपूर्ण १९वीं पलटन भी क्रान्तिसमर में कूद पड़ने को संकल्पबद्ध हो गई थी। किन्तु अंग्रेजों को इसकी किंचितमात्र भी कल्पना नहीं थी। इसीलिए उन्होंने

इस विद्रोह का मूल कारण थे।"

—चार्ल्स बाल-कृत 'इन्डियन म्युटिनी', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६२९

इससे भी एक पग आगे रखकर एक लेखक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"यह तो असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया गया है कि कारतूसों का भय था तो अनेकों के लिए एक बहाना मात्र ही था। जिन कारतूसों की टोपी दांत से तोड़ने पर अपने धर्म से हाथ धो बैठने का भय निर्माण कर बात का बतंगड़ बनाया गया था, हमसे युद्ध करते समय उन्हींको वे ही सिपाही हम पर चलाते समय किसी प्रकार के संकोच का प्रदर्शन नहीं करते थे।"

नवीन कारतूसों का प्रयोग करने हेतु १९वीं पलटन का चयन किया था और इस संबंध में उनके साथ कड़ाई भी करनी आरम्भ कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि इस सम्पूर्ण पलटन ने ही इस राजाज्ञा को नितान्त साहस सहित ठुकरा ही नहीं दिया अपितु सुस्पष्ट शब्दों में यह चुनौती भी दे दी कि यदि इस संबंध में उनके साथ किसी प्रकार से भी सख्ती की गई तो वे अपनी तलवारों को हाथ में लेकर प्रतिकार करने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे। अंग्रेजों ने अपने स्वभाव के अनुसार इन "काले आदमियों" पर बलात अपनी आज्ञा थोपने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें शीघ्र ही इस सत्य का भी साक्षात्कार हो गया कि अब यह "काला आदमी" भी पहले सरीखा निरीह प्राणीमात्र नहीं रह गया है। इस सत्य का साक्षात्कार उन्हें इन सैनिकों के शस्त्रास्त्रों की झंकार ने कराया था। अंग्रेजों को खून का कड़ुआ घूंट पीकर इस अपमान को मन मसोसकर सहन कर लेने पर बाध्य होना पड़ा, क्योंकि इन सिपाहियों को भय प्रकम्पित कर देने हेतु उनके पास गोरी सेना भी तो नहीं थी। अतः इस कमी की पूर्ति हेतु मार्च मास में ब्रह्म देश से गोरी सेना की एक टुकड़ी को कलकत्ता ले आया गया। तदुपरान्त १९वीं पलटन को भंग ही कर देने की आज्ञा प्रसारित कर दी गई और इसका सर्वप्रथम प्रयोग भी बैरकपुर में ही करने का निर्णय कर लिया गया।

किन्तु अपने देश बान्धवों का यह अपमान मुख पर ताले जड़ कर सहन कर लेना और किंकर्त्तव्य विमूढ़ बने रहकर देखते रहना बैरकपुर की भारतीय सेना ने स्वीकार नहीं किया। इन सैनिकों ने में से वीरवर मंगल पाण्डे की तलवार ने तो अपने राष्ट्र के अपमान अपमान की इस दुखद बेला में भी म्यान में बन्दी बने रहने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया। १९वीं पलटन के समान ही ३४वीं पलटन ने कम्पनी सरकार की सेना से निष्कासित हो जाने की सिद्धता कर लेना ही श्रेयस्कर माना। इस पलटन के प्रत्येक देशभक्त सैनिक की यही इच्छा थी कि यदि पलटन भी तोड़ दी गई तो यह नितान्त ही शुभ कार्य होगा। किन्तु नीतिज्ञ और विचारवान नेताओं ने उन्हें एक मास तक धैर्य धारण करने का परामर्श दिया, जिससे कि सहयोगियों से आवश्यक परामर्श किया जा सके। बैरकपुर से विभिन्न स्थानों पर स्थित पलटनों को पत्र भी भेजे गए, जिनमें क्रान्ति की शुभ घड़ी का निर्धारण करने के संबंध में परामर्श मांगा गया। किन्तु इधर मंगल पाण्डे का खड्ग तो अपने धैर्य की सीमा तोड़ चुका था।
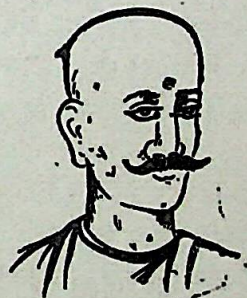
मंगल पाण्डे

वीरवर मंगल पाण्डे ने ब्राह्मण कुल में जन्म तो अवश्य ग्रहण किया था किन्तु

वे अपने कर्म से तो क्षत्रिय ही थे। अपने साथियों में भी उनकी ख्याति एक शूर वीर सैनिक के रूप में ही व्याप्त थी। असीम साहस के धनी, समरांगण में महान पराक्रमी, विशुद्ध चरित्र के स्वामी एवं पाप कर्म से पूर्णतः घृणा करने वाले किन्तु स्वधर्म के लिए प्राणों पर खेल जाने को आतुर इस तेजस्वी ब्राह्मण युवक का दिल स्वदेश प्रेम की पावन अग्नि से धधक रहा था। उसके रोम-रोम में स्वाधीनता की साधना रम रही थी और स्वातन्त्र्य विद्युत से ही उसकी सम्पूर्ण काया परिपूर्ण थी। भला ऐसे वीर की तलवार कब तक म्यान में पड़ी रहकर जंग खाती रह सकती थी। हुतात्माओं की तलवारें कभी व्यर्थ में नहीं लटकती रहतीं। जो नर केहरी यश-अपयश की चिन्ता का परित्याग कर अपनी पावन साधना को उष्ण रक्त से स्नान कराने की सिद्धता रखते हैं हौतात्म्य का दीप्तिमान राजमुकुट उन्हीं के मस्तक पर विराजमान हो पाता है। वस्तुतः इस 'व्यर्थ' की वलि का पावन रक्त ही उस निर्मल मूर्ति को साकार रूप प्रदान करता है। इस विचार से ही नरसिंह मंगल पाण्डे का हृदय द्रवित हो उठा था कि अपने धर्म वन्धुओं पर अब अत्याचारों की गाज गिरने वाली है। अतः उन्होंने उसी क्षण यह हठ ठान ली कि सम्पूर्ण पलटन को स्वातन्त्र्य यज्ञ का हवनकुण्ड प्रज्वलित कर देना चाहिए। जब उसे यह विदित हुआ कि क्रान्ति के नेतागण उसके इस आग्रह को स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं हैं तो वह अपने आप पर से नियन्त्रण खो बैठा। उसने सहसा ही अपने हाथों में एक राइफल थाम ली और संचलन भूमि की ओर यह रणघोष करते हुए दौड़ पड़ा कि "बन्धुओ ! उठो, उठो, अब भी किस चिन्ता में निमग्न हो। उठो, तुम्हें अपने पावन धर्म की सौगन्ध ! चलो स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की पावन अर्चना हेतु इन अत्याचारी शत्रुओं पर तत्काल प्रहार कर दो।"

उसे समारांगण में अवतरित होते ज्योंही सार्जेन्ट मेजर ह्यूसन ने देखा उसने तत्काल सिपाहियों को आदेश दिया कि मंगल पाण्डे को बन्दी बना लिया जाय। किन्तु अबतक अंग्रेजों को जो देशद्रोही सिपाही मिलते आये थे अब मिलने दुर्लभ हो गये। उस सार्जेन्ट द्वारा आदेश दिए जाने पर भी एक भी सिपाही मंगल पाण्डे को बन्दी बनाने के लिए आगे न आया। इतना ही नहीं हुआ अपितु मंगल पाण्डे की राइफल से एक सनसनाती हुई गोली निकली और इस गोरे सैनिक अधिकारी का शव एक क्षण में ही भूलुंठित होकर धूल चाटता दिखाई दिया। अभी यह गड़बड़ हो ही रही थी कि लैफ्टिनेन्ट बॉव्ह भी वहां आ पहुंचा। ज्योंही वह अपने अश्व पर आरूढ़ होकर वीरवर पाण्डे की ओर बढ़ने का प्रयत्न करने लगा त्योंही मंगल पाण्डे की बन्दूक से दूसरी गोली चली और घोड़े सहित लैफ्टिनेन्ट भी भूलुंठित हो गया। मंगल पाण्डे अभी अपनी राइफल में तीसरी गोली भर ही रहे थे कि लैफ्टिनेन्ट संभल कर उठ बैठा

और उसने अपनी पिस्तौल तान ली। मंगल पाण्डे ने इस बात की चिन्ता नहीं की। उन्होंने अपनी तलवार संभाली और गोरे पर टूट पड़े। बाब्ह ने गोली से निशाना साधा, किन्तु उसका सन्धान असफल रहा। अतः उसने भी अपने हाथ में तलवार संभाल ली। किन्तु तत्काल ही वीरवर पाण्डे ने अपनी तलवार से एक भीषण प्रहार किया और लैफ्टिनेन्ट महोदय दूसरे ही क्षण धराशायी हो गया। उसी क्षण एक और गोरा मंगल पाण्डे की ओर बढ़ा। किन्तु तत्काल ही एक सिपाही ने अपनी बन्दूक के दस्ते से उसके सिर पर प्रचण्ड प्रहार कर दिया। उसी समय सभी सैनिक एक साथ गरज उठे 'मंगल पाण्डे को हाथ लगाने का कोई दुस्साहस न करे।' तभी कर्नल व्हीलर वहां आ धमका और उसने मंगल पाण्डे को बन्दी बना लेने का आदेश दिया। किन्तु सभी सैनिकों की समवेत वाणी गूंज उठी 'हम अपने पूज्य ब्राह्मण को किसीको भी हाथ नहीं लगाने देंगे।' अंग्रेजों के लाल रक्त को बहते तथा सैनिकों की प्रचण्ड वीर वृत्ति को देखकर कर्नल व्हीलर वहां एक क्षण भी न ठहर पाया और जनरल के बंगले की ओर ही पलायन करता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। इधर रक्त से सने अपने हाथों को ऊंचा करते हुए वीरवर मंगल पाण्डे गरज उठे 'मर्दो उठो, वीरो उठो।'ऐसी भीम गर्जना करते हुए यह महावीर इधर उधर टहल रहा था, उसी समय किसीने कर्नल हीअर्सी को इस सम्पूर्ण काण्ड से अवगत करा दिया और वह अपने साथ कतिपय यूरोपियन सैनिकों को लिए हुए वहां आ पहुंचा। वह मंगल पाण्डे की ओर दौड़ा। उसी समय वीरवर मंगल पाण्डे ने विचारा कि अब मैं शत्रुओं के हाथों में पड़ जाऊंगा। शत्रु द्वारा बन्दी बनाया जाने की अपेक्षा स्वतः ही मृत्यु का वरण करना सहस्र गुना श्रेयस्कर है, यही संकल्प कर इस हुतात्मा ने अपनी राइफल से ही अपनी छाती पर गोली दागली। क्षण भर में ही इस महाबली की पावन काया घायल होकर उस भूमि को नमस्ते करती दिखाई दी जिसके सम्मान और स्वाभिमान की रक्षार्थ उसने यह महान अख्यान अपने पावन रक्त से लिखा था। घायल सिंह को रुग्णालय में पहुंचाया गया। सभी अंग्रेज अधिकारी भी इस अकेले सिपाही के वीरत्व को देखकर लज्जित होते हुए अपने-अपने शिविरों में वापस लौट गए। २९ मार्च १८५७ को हुआ था क्रान्ति युद्ध का यह प्रथम विस्फोट।

तदनन्तर सैनिक न्यायालय के समक्ष वीराग्रणी मंगल पाण्डे पर अभियोग चलाया गया। इस समय की गयी पूछताछ के समय भी उन्हें भांति-भांति से भय-भीत कर यह पूछा गया कि वे बता दें कि उनके साथ इस षड्यन्त्र में अन्य कौन-कौन व्यक्ति सम्मिलित थे। किन्तु इस धैर्यवान युवक के मुख से अन्य किसी का नाम न निकला। उसी समय इस तेजस्वी युवक ने नितान्त ही स्पष्ट शब्दों में यह भी घोषणा की कि जिन अंग्रेज अधिकारियों की मेरी गोलियों के कारण मृत्यु

हुई है उनके साथ मेरा कोई व्यक्तिगत विद्वेष नहीं था। यदि मंगल पाण्डे ने किसी व्यक्तिगत शत्रुता के वशीभूत इन अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की होती हो उसका नाम हुतात्माओं की पावन श्रेणी में नहीं, अपितु क्रूर हत्यारे के रूप में उल्लिखित होता। परन्तु मंगल पाण्डे ने यह साहसपूर्ण कृत्य एक तत्वनिष्ठा के वशीभूत होकर संपन्न किया था। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षार्थ ही मंगल पाण्डे ने यह प्रहार श्रीकृष्ण द्वारा गीता में प्रदत्त "सुखे दुखे समे कृत्वा" का अनुगमन करते हुए ही किया था। स्वधर्म और स्वदेश का अपमान अपने नेत्रों से टुकर-टुकर देखते रहने की अपेक्षा मृत्यु को गले लगाना कहीं अधिक श्रेयस्कर है, इसी महान भ ने उसको मानसिक सिद्धता प्रदान की थी। उसके इस महान कृत्य से जहां उसकी स्वदेश और स्वधर्म भक्ति प्रतिविम्बित होती है वहां उसकी तलवार के पानी की कहानी भी स्वतः स्पष्ट हो जाती है। ऐसे इस महांन वीर युवक को ८ अप्रैल को प्राण दण्ड दिए जाने का निर्णय सुना दिया गया। शहीदों के रक्त में कोई भी दिव्य स्फूर्ति और तेज प्रवाहित होता हो किन्तु आज भी तो उसके पावन नाम का उच्चारण मात्र करने से ही एक नव चैतन्य का सृजन होने लगता है। फिर जिन लोगों ने हौतात्म्य को निश्चिन्त होकर गले लगाने के लिए स्वयं सिद्ध इस प्रणवीर को साक्षात जीवित और जागृत अपने समक्ष खड़ा देखा होगा उनके हृदय में श्रद्धा की कौन-सी पुनीत मन्दाकिनी प्रवाहित हुई होगी, उसके प्रति भक्ति की कैसी गंगा प्रवाहित हुई होगी इसकी तो कल्पना मात्र ही आज की जा सकती है। उस सम्पूर्ण बैरकपुर नगर में एक भी ऐसा व्यक्ति न मिल सका जो इस महान देशभक्त को फांसी देने का दुस्साहस कर सकता। अन्ततः इस हीन कार्य को सम्पन्न करते हेतु कलकत्ता से चार बधिक बुलाए गए। ८ अप्रैल को भगवान सूर्य देव के प्राची दिशा में उदित होने से पूर्व ही उसे बधस्तम्भ के पास लाया गया। किन्तु वह बड़ी ही आन, बान और शान सहित बधस्तम्भ पर चढ़ा। चारों ओर प्रबल पहरा था और बधस्तम्भ पर चढ़कर भी इस महान तेजस्वी पुरुष ने केवल एक ही वाक्य दोहराया "अपने सहयोगियो और क्रान्तिदूतो के नाम मैं कदापि नहीं बता सकता।" इधर उसके श्रीमुख से इन शब्दों का उच्चारण हुआ और उधर उसके पैरों के नीचे स्थित आधार खिसका दिया गया। फांसी के फंदे में उसकी नश्वर काया झूल गई। मंगल पाण्डे की दिव्य आत्मा अपने नश्वर कलेवर मात्र का परित्याग कर स्वर्गारोहण कर गई। रह गई केवल उसकी पार्थिव देह मात्र ही वहाँ।

इस प्रकार १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम विस्फोट हुआ और मातृभूमि की स्वतन्त्रता के हेतु किए गए इस पावन समर में, इस महान यज्ञ में सर्वप्रथम वीरवर मंगल पाण्डे ने ही अपनी जीवन समिधा समर्पित करने का गौरव प्राप्त किया। अमर हुतात्मा मंगल पाण्डे का पावन रक्त इस सक्रिय क्रान्ति में

बलिदान की परम्परा को प्रारम्भ करने वाला महान स्रोत है। उसका पावन नाम, उसकी अमरस्मृति हमारे अन्तःस्थल में सदैव सुरक्षित रहनी आवश्यक है। सन् सत्तावन में हिन्दुस्थान के स्वातन्त्र्य के बीज को अंकुरित करने हेतु सर्वप्रथम मंगल पाण्डे ने ही उसके सिंचन का महान अवसर उपलब्ध किया था। इसे पल्लवित करने हेतु उसने ही सर्वप्रथम अपने उष्ण रक्त की अंजलि प्रदान की थी। अब जब स्वातन्त्र्य का यह बीज पुष्पित और पल्लवित होगा, इसे सघन वृक्ष का रूप प्राप्त होगा तब पहले नैवेद्य का मान मंगल पाण्डे को ही प्राप्त होगा।

मंगल पाण्डे तो मरकर अमर हो गए। उनकी नश्वर काया अब नहीं रही थी, किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त पावन प्रेरणा समग्र हिन्दुस्थान में रम गई। जिस तत्व के लिए उस अजेय सेनानी ने अपने प्राण सर्मपित किए थे, वह तत्व भी चिरजीवी हो गया। मंगल पाण्डे ने सत्तावन के इस क्रान्तियुद्ध के लिए अपना उष्ण रक्त प्रदान किया था। किन्तु इसके साथ-ही-साथ उसने अपना नाम भी अमिट रहनेवाले अक्षरों में अंकित कर दिया। स्वधर्म और स्वराज्य हेतु लड़े गए १८५७ के स्वातन्त्र्य समर में भाग लेने वाले सभी क्रांतिकारियों को भी इस क्रान्ति के शत्रुओं ने 'पाण्डे' नाम से संबोधित किया।[1] प्रत्येक माता का यह पावन दायित्व है कि वह अपने बालक को इस पवित्र नाम का स्वाभिमान सहित उच्चारण करना सिखला दे।

● ● ●

---

१. यह नाम भारत-भर में सभी विद्रोही सिपाहियों के लिए उपनाम के रूप में ख्याति प्राप्त कर गया।

—चार्ल्स बाल

सिपाहियों को सामान्यतः 'पाण्डे' कहकर सम्बोधित किए जाने का उद्गम स्थल यह नाम ही था।

—लार्ड राबर्ट्स कृत 'भारत में ४१ वर्ष'

: २ :

मेरठ

देशरत्न मंगल पाण्डे ने सन् सत्तावन में अपनी शहादत से, अपने रक्तदान से जिस बीज का आरोपण किया था, अब वह अंकुरित होने ही वाला था। जिस १९वीं रेजिमेंट में मंगल पाण्डे थे, उस रेजिमेंट के सूबेदार के विरुद्ध भी रात्रि में क्रान्तिकारी दल की गुप्त सभाओं के आयोजन का आरोप लगाया गया और इस महावीर को भी फाँसी के फन्दे पर लटका कर अंग्रेज अधिकारियों ने क्रान्ति के इस महायज्ञ में स्वतः ही एक और समिधा समर्पित कर दी। जब कतिपय ऐसे दस्तावेज उपलब्ध हो गए जिनसे इस तथ्य की पुष्टि होती थी कि १९वीं और ३४ वीं रेजिमेंटों ने परस्पर सहयोग द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र में क्रान्ति की ज्वाला धधकाने की एक योजना बनाई है, तो इन दोनों रेजिमेंटों को भी निःशस्त्र कर भंग कर देने का दण्ड दिया गया। सरकार की दृष्टि में तो यह दण्ड था, किन्तु इन दोनों रेजिमेंटों के सिपाहियों ने इसे अपना महान सम्मान मानकर शिरोधार्य किया। जिस दिन उन्हें शस्त्र रख देने का आदेश दिया गया उस दिन यूरोपीय रेजिमेंट पूर्ण रूपेण तैयार खड़ी थी। अंग्रेज अधिकारी समझते थे कि इन भारतीय सिपाहियों को पश्चात्ताप करना पड़ेगा, परन्तु इन सहस्रों मातृभक्तों ने एक नितान्त ही त्याज्य वस्तु के समान अंग्रेज सरकार की नौकरी को प्रसन्नता से ठोकर मार दी। उन्होंने दासता की बेड़ियों से स्वतन्त्रता प्राप्त कर महान हर्ष की अभिव्यक्ति की। इन वीरों ने अपने बूट उतार फेंके और गणवेश भी फाड़ दिये। इतने दिनों तक की गई गुलामी के पाप का प्रच्छालन करने के लिए वे तुरंत माता भागीरथी की ओर चल पड़े। गंगा की लोल लहरों में डुबकियाँ लगाकर उन्होंने अपने पाप धो दिए। सिपाहियों की यह रीति थी कि वे अपनी सैनिक टोपी अपने ही धन से खरीदते थे, अतः कंपनी ने इन सैनिकों को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में ये टोपियाँ अपने साथ ले जाने की अनुमति दे दी। किन्तु जिन सैनिकों ने गंगा के पावन जल में दासता का कलंक धो दिया था क्या वे गुलामी के इस चिह्न को अपने साथ रखने

का पाप कर सकते थे ? नहीं-नहीं कदापि नहीं। इनमें से तो कोई भी ऐसा पाप नहीं करेगा। वे दिन लद गए जब भारत दूसरों की टोपियाँ अपने शीश पर ओढ़ा करता था। एक नारा गूँज उठा, फेंक दो इन दासता की प्रतीक टोपियों को। सहस्रों टोपियाँ हवा में उड़ने लगीं, परन्तु गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के फलस्वरूप वे पुनः भारत की पवित्र धरती पर आ गिरीं, पुनः भू देवी पर दासता का पटल पड़ गया। चलो वीर सैनिकों अंग्रेज अधिकारियों से भी पहले आगे चलो, दासता के उन अन्य प्रतीकों को भी तोड़-फोड़ दो और धूल में मिला दो। हजारों सिपाही दासता से दूषित इन टोपियों को फाड़ने लगे। उन टोपियों के ऊपर भारतीय सैनिकों को आनन्द से नृत्य करते देखकर अंग्रेज अधिकारी अपनी सत्ता के इस मूर्तिमंत स्वरूप के अपमान से क्षुब्ध हो उठे, क्रोध में उनकी आँखों से अँगार बरस उठे।[1]

उत्तर प्रदेश के एक कुलीन ब्राह्मण कुल में जन्म लेनेवाले पराक्रमी पुरुष मंगल पाण्डे के पावन रक्त ने केवल बंगाल में ही स्वतन्त्रता का बीज नहीं बोया था, अपितु भारत के दूसरे कोने में स्थित अम्बाला में भी उनके बलिदान ने विद्यु-चेतना का संचार कर दिया था। अम्बाला अँग्रेजी सेना का मुख्य केन्द्र था। यहाँ प्रधान सेनापति एन्सन रहा करता था। अम्बाला के सिपाहियों ने एक नवीन योजना बनाई थी, वह यह थी कि जो भी हमारे विरुद्ध जाएगा हम उस प्रत्येक अधिकारी का घर-बार जलाकर छार-छार कर देंगे। प्रत्येक रात्रि में ही अत्याचारी और देशद्रोहियों के घरों पर अग्निदेव का प्रकोप होने लगा। यह कार्य इतनी तत्परता और गोपनीयता सहित संपन्न होता था, जिससे ऐसा लगने लगा मानो अग्निदेव स्वयं भी इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन के सदस्य बन गए हों। इतने अधिक अग्निकाण्ड हुए कि इनके लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के बन्दी बनाने के लिए हजारों रुपये के पुरस्कार घोषित किए गए, किन्तु क्रान्तिकारियों में से किसी ने भी देशद्रोह का पाप न किया, और अन्ततः प्रधान सेनापति एन्सन को अत्यन्त निराश होकर गवर्नर जनरल को लिखना पड़ा कि—

"It is really strange that the incendiaries should never be detected. Everyone is on the alert here, but still there is no clue to trace the offenders." अप्रैल के अन्त में उसने पुनः लिखा "We have not been able to detect any of the incendiaries at Umballa. This appears to me extraordinary; but it shows how close are the combinations among the miscreants who have recourse to this mode of revenging what they conceive to be

---

१. रेड पैम्फलेट, भाग प्रथम पृष्ठ-३४

their wrongs, and how great is the dread of retaliation to any one who would dare to become an informer !"

भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का आधार ही देशद्रोहियों पर आधारित रहा है। किन्तु जब अम्बाला में एक भी देशद्रोही न मिला तो अंग्रेज प्रधान सेनापति हताश हो गया। वह जहां एक ओर प्रतिशोध से जल-भुनकर अंगार के समान तमतमा उठा, वहां साथ-ही-साथ उसे सिपाहियों के इस गुप्त षड्यन्त्र पर दांतों तले उंगलियां भी दबानी पड़ीं।

अब यह प्रचण्ड अग्नि भारत के कोने-कोने में दहक उठी थी। यह तो स्वाभाविक भी था कि यज्ञ की पुनीत वेला के आगमन के पूर्व ही यत्र तत्र अंगारों का प्रस्फुटन होता। नानासाहब के लखनऊ आगमन के उपरान्त तो यह गड़बड़ और भी अधिक विस्तृत होने लगी थी। वहां भी विदेशियों और देशद्रोहियों के निवास-स्थानों पर अग्निदेव का प्रकोप होना आरम्भ हो गया। यह योजना निर्धारित की गई थी कि ३१ मई को समग्र हिन्दुस्थान में एक साथ ही इस महान यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित होनी चाहिए, जिससे कि अंग्रेजों को अपनी रक्षा के लिए कोई भी स्थान न मिल पाए और जिस भारत को सदा अपनी दासता में आबद्ध रखने का स्वप्न संजोकर वे भारत में आए हैं, वे उसी देश में दम तोड़ दें। यद्यपि क्रान्तिकारी संगठन की लखनऊ शाखा ने इस योजना की सहमति दे दी थी, किन्तु फिर भी वहाँ के तेजस्वी सिपाही अपने रोष पर संयम न रख पा रहे थे। प्रत्येक रात्रि में क्रान्तिकारी संगठन की ओर से होनेवाली गुप्त सभाओं में जो उद्दीपक भाषण होते थे तथा जले हुए भवनों के स्थलों ने भी उनके इस रोष में और अधिक वृद्धि कर दी थी। ३ मई को ऐसे ही चार अनियन्त्रित सिपाही बलात् लैफ्टिनेन्ट मैशम के तम्बू में घुस गए और गरज उठे "व्यक्तिगत रूप से तो तुम्हारे प्रति हमारे मन में कोई द्वेष भावना नहीं है, किन्तु तू फिरंगी है अतः तुझे मरना ही चाहिए।"[1] इन काल-रूप विकराल सैनिकों को सहसा ही अपने समक्ष उपस्थित देखकर वह लैफ्टिनेन्ट गिड़गिड़ाते हुए उनसे विनती करने लगा, "आप लोगों के मन में आए तो आप एक क्षण में मेरे प्राण ले सकते हैं। परन्तु मुझ जैसे निरीह प्राणी की हत्या करने से तुम्हें भला क्या मिलेगा ? कोई अन्य व्यक्ति मेरे स्थान को ग्रहण कर लेगा। दोष तो मेरा नहीं, अपितु इस शासन-पद्धति का है,. अतः तुम मुझे जीवन दान क्यों नहीं दे देते ?" उसके इन शब्दों को सुनकर इन वीर सिपाहियों की उत्तेजना तनिक शान्त हुई और उन्हें यह तथ्य स्मरण हो आया कि उनका वास्तविक लक्ष्य तो इस सम्पूर्ण राज्यसत्ता को ही पूर्णतः समाप्त कर देना है। अतः वे तत्काल वहाँ

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी' खण्ड प्रथम, पृष्ठ ५२

से वापस लौट पड़े। किन्तु यह समाचार अधिकारियों के कानों तक पहुँच गया। अतः सर हैनरी लारेन्स ने एक चाल चलकर इस सम्पूर्ण रेजीमेन्ट को ही निःशस्त्र कर दिया।

परन्तु इधर मेरठ में एक नया ही रंग उभरता आ रहा था। कतिपय अंग्रेजों के मस्तिष्क में यह बात बैठ गयी कि चलो इस बात की परीक्षा ही कर देखें कि क्या वास्तव में ही सिपाहियों को इन कारतूसों के चलाने पर कोई आपत्ति है। अतः उन्होंने ६ मई को घुड़सवार सैनिकों के एक पथक को ये कारतूस देने का निर्णय किया। उन्होंने देखा कि ९० सिपाहियों में से केवल ५ ने ही उनको स्पर्श किया। तदुपरान्त उन्हें ये कारतूस पुनः दिए गए कि वे उनका प्रयोग करें। उन सबने पुनः इन कारतूसों को स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया। वे अपने-अपने शिविरों में चले गए। जब जनरल को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उसने इन सब सैनिकों को सैनिक न्यायालय के समक्ष उपस्थित कराकर इन सभी सिपाहियों को ८ से १० वर्ष तक के कारावास का दण्ड दे दिया।

९ मई को घटित हुई थी यह हृदयद्रावक घटना। इन ८५ सिपाहियों को यूरोपियन कम्पनी एवं तोपखाने के पहरे में खड़ा किया गया। सभी हिन्दुस्थानी सिपाहियों को भी इस दृश्य को देखने के लिए उपस्थित होने का आदेश दिया गया था। तदुपरान्त इन ८५ देशभक्त सिपाहियों को अपने गणवेश उतार देने का आदेश दिया गया। उनके गणवेश फाड़ दिए गए और हथियार छीन लिए गए। फिर इन ८५ सैनिकों के हाथों और पैरों में हथकड़ियां और बेड़ियां डाल दी गईं। अब तक उनके जिन हाथों में शत्रुओं के सीनों में घुसेड़ देने के लिए संगीनें सुशोभित होती थीं अब उनमें हथकड़ियां पड़ी हुई थीं। इस दृश्य को देखकर सभी भारतीय सिपाही सिहर उठे। किन्तु दूसरी ओर तोपखाने को सामने देखकर उनके हाथ अपनी तलवारों की मूंठ पर तत्काल नहीं पड़े। तब इन ८५ सिपाहियों को यह आदेश दिया गया कि उन्हें १० वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। हाथों-पैरों में भारी बेड़ियां पहनाकर उन धर्मवीरों को कारागार की ओर ले जाया गया। इस अवसर पर अपने धर्म के संरक्षण हेतु कारागार की ओर जानेवाले इन धर्मवीरों को उनके स्वदेश बन्धुओं ने क्या नेत्र संकेत दिया था, यह तो भविष्य का घटनाक्रम ही बताएगा। इस संकेत ने निश्चित रूप से ही उनका उत्साह बढ़ाया होगा। इस नेत्र-संकेत का एक ही अर्थ था कि हम उस विदेशी दासता को समाप्त कर देंगे, जिसमें गाय और सुअर की चर्बी से युक्त कारतूसों को चलाने से इन्कार करने पर १० वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया जाता है। हम शीघ्र ही उन बेड़ियों को ही नहीं काट फेंकेंगे, जो तुम्हारे पैरों में डाली गई हैं, अपितु उन दासता की बेड़ियों को भी काटकर फेंक देंगे जो एक सौ वर्षों से हमारी प्रिय

मातृभूमि के चरणों में बंधी हुई हैं।

यह प्रातःकाल की बेला थी। किन्तु अब ये वीर सिपाही बहुत देर तक धैर्य नहीं रख सकते थे। वे अपनी बैरकों को लौट रहे थे, किन्तु उनके अन्तःस्थल उस अपमान की ज्वाला से दग्ध हो रहे थे, जो उनके हृदय में अपने उन धर्मरक्षक आत्म-सम्मानी बन्धुओं को विदेशियों द्वारा बन्दी बनाए जाने के कारण दहक उठी थी। जब वे सैनिक बाजारों में पहुंचे तो वहाँ महिलाओं ने उन पर ताने कसे कि "तुम्हारे भाई कारागारों में हैं और तुम यहाँ मक्खियां मारते हुए घूम रहे। तुम्हारे जीवन पर शत बार धिक्कार है।"[1]

यों तो पहले ही अपमान के शूल इनके हृदयों में कसमसा रहे थे, किन्तु मार्ग में महिलाओं द्वारा पड़नेवाली इन फटकारों ने तो उनके हृदयों में सुलगते अंगार और भी अधिक दहका दिए। अब उनके लिए मौन रह पाना असम्भव हो गया। उस रात्रि में सैनिक शिविर में स्थान-स्थान पर अनेक गुप्त बैठकें आयोजित हुईं। अब ३१ मई की तिथि तक प्रतीक्षा करते रहना उनके वश में नहीं रहा। उनके धर्म बन्धु कारागार की काली दीवारों में सड़ते रहें और वे यहाँ हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहें, यह उनके लिए सर्वथा असह्य हो गया। जब ग्रामों की नारियाँ ही नहीं बालक भी उंगलियां उठा उठाकर यह संकेत करने में संकोच न करते हों कि "ये जा रहे हैं देशद्रोही" ऐसी स्थिति में वे अन्य स्थानों के सैनिकों की बाट जोहते हुए कैसे निश्चित बैठे रह सकते थे। ३१ मई आने में तो अभी अनेक दिन रहते हैं, तब तक क्या वे इन फिरंगियों की पताका तले ही खड़े रहेंगे? नहीं, कदापि नहीं, कल रविवार है, अतः कल भगवान सूर्यनारायण के अस्ताचल गमन के पूर्व ही उन कारागार में बन्दी बनाकर रखे गये देशभक्त वीरों की बेड़ियां काट दी जानी चाहिए। इसके साथ ही साथ स्वदेश जननी की पराधीनता की बेड़ियां भी टूट जानी चाहिएँ और स्वतन्त्रता की परम पुनीत पताका का उत्तोलन हो जाना चाहिए। इस प्रकार संकल्प ग्रहण कर उन्होंने तत्काल ही एक सन्देशवाहक दिल्ली भेज दिया कि हम "११ अथवा १२ मई को पहुंच रहे हैं, सम्पूर्ण व्यवस्थाएं पूर्ण रहनी चाहिए।"[2]

१० मई को भगवान भास्कर प्राची दिशा में उदित हुये। सत्तावन की इस सिद्धता के सम्बन्ध में अंग्रेजों को भी इतनी कम जानकारी थी कि मेरठ में सिपाहियों की जो गुप्त बैठकें आयोजित हुई थीं, उनका समाचार भी इनके कानों तक नहीं पहुँच पाया था। अन्य स्थानों के सैनिकों और मेरठ के सैनिकों के मध्य सन्देशों का जो आदान-प्रदान हो रहा था, उससे भी वे पूर्णतः अनभिज्ञ ही थे। रविवार को

---

१. जे० सी० विल्सन

२. 'रेड पैम्फलेट'

सैनिकों ने उठकर अपना नित्यक्रम नितान्त शान्ति सहित आरम्भ किया। घोड़ा, गाड़ियां, शोतोपचार, सुगन्धित पुष्प, सैर, गीत, संगीत, यह सभी कार्य नित्य प्रति के सामन ही हो रहे थे। सहसा ही अंग्रेजों के घरों में काम करनेवाले कतिपय सेवक अपनी नौकरियाँ छोड़कर चल दिये। इस पर भी किसी को विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। इधर सैनिकों की बैठक में इस विषय पर जोरदार चर्चा चल रही थी कि सामूहिक हत्याकाण्ड किया जाए अथवा न किया जाए। बीसवीं पलटन और अश्वारोहियों का मत था कि ज्योंही फिरंगी चर्च में चले जाएं हमें हर हर महादेव का जय घोष करते हुए असैनिक और सैनिक अंग्रेजों की सपरिवार हत्याएं करते हुए दिल्ली की दिशा में प्रस्थान कर देना चाहिए। वाद-विवाद के उपरान्त सर्व-सम्मति से यही निर्णय किया गया।

इधर मेरठ नगर में आस-पास के ग्रामों के हजारों लोग भी अपने पुराने शस्त्रास्त्रों को हाथों में लिए मेरठ की ओर बढ़ते आ रहे थे। इन ग्रामवासियों की स्वदेश कार्य हेतु यह सिद्धता देखकर मेरठ के नगर निवासियों को भी सिद्ध होना पड़ा। किन्तु यह सबकुछ होते रहने पर भी अंग्रेज अधिकारी निश्चिन्त ही थे। अतः रविवार की सन्ध्या घिरने लगी और सायंकाल ५ बजे चर्च के घण्टे ने इस शान्त वातावरण में धीरे-धीरे एक कोलाहल का उद्‌भव किया। अंग्रेज अपनी-अपनी पत्नियों सहित प्रमुदित मन चर्च की ओर जाने लगे। किन्तु इस दिन बजता हुआ चर्च का यह घण्टा केवल प्रार्थना का घण्टा नहीं था, अपितु उनकी मृत्यु का भी घण्टा था। क्योंकि उधर घण्टा बज रहा था और इधर सैनिक शिविरों में यह घोष भी गूंज उठा था कि "मारो फिरंगी को"। इन जयघोषों से वायुमण्डल भी गूंज उठा था।

सर्वप्रथम कारागार में वन्दी बनाकर रखे गए देशभक्त सैनिकों की बेड़ियां काटने हेतु सैकड़ों अश्वारोही बन्दीगृह पर जा पहुंचे। उस बन्दीगृह के पहरेदार भी भी क्रान्तिकारियों के सहयोगी हो गए थे। ज्योंही उन्होंने 'मारो फिरंगी' का जय-घोष सुना कि कारागार के कपाट खोल दिए गए। वे भी अपने स्वदेशबन्धुओं के साथ आकर मिल गए। क्षण-भर में ही दुर्दैव के सूचक उस कारागृह की प्राचीरों की ईंट-से-ईंट बजा दी गई। जिस कक्ष में दस वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड देने के लिए इन वीर-सैनिकों को रखा गया था, वह भी प्रकम्पित हो उठा। तभी एक देशाभिमानी लुहार वहां पहुंचा और उसने उन वेड़ियों के टुकड़े-टकड़े कर दिए जो इन देश-भक्तों के हाथों और पैरों में डाली गई थीं। प्रचण्ड वीर गर्जनाओं के साथ वे धर्म-वीर कारागार से बाहर आ गए। घोड़ों पर सवार हुए और अपनी मुक्ति के हेतु आए हुए अपने देश-बान्धवों सहित उस कारागृह को छोड़कर चर्च की ओर चल पड़े। इसी बीच एक पैदल पलटन ने भी क्रान्ति का नगाड़ा बजा दिया था। ११वीं

पलटन के कर्नल फिनिस ने अपने स्वभाव के अनुसार वहां पहुंचकर उन्हें डांटना-डपटना आरम्भ कर दिया था। किन्तु देश-भक्त सिपाही उस पर मृत्युदूत के तुल्य झपट पड़े। २०वीं पलटन के एक वीर सैनिक ने अपनी पिस्तौल साधकर गोली चलाई और अश्व के साथ अश्वारोही को भी भूलुंठित कर दिया। पैदल-सेना से अश्वारोही और हिन्दू से मुसलमान तक सभी गोरों का गला दवाने का सुकृत्य करने हेतु आतुर थे। मेरठ के बाज़ारों में भी यह समाचार जा पहुंचा और वहां भी वातावरण नव-चैतन्य से भर उठा। प्रत्येक सड़क और गली में गोरों का पीछा किया जाने लगा। जहाँ भी कोई फिरंगी दिखाई दिया उसे यमलोक का मार्ग बता दिया गया। बाज़ार के लोगों के जिन हाथों में गज और तराजू सुहाते थे अब वे ही हाथों में तलवारें, भाले और चाकू जो कुछ भी मिला लेकर निकल पड़े। अंग्रेजों के बंगलों, कार्यालयों, निवास-स्थानों और होटलों को भी अग्निदेव को समर्पित किया जाने लगा। मेरठ का आकाश भी भय से संत्रस्त हो उठा। चारों ओर एक भयानक वायुमण्डल उभर उठा। धुएं के अम्बारों और प्रचण्ड अग्नि-ज्वाल-मालाओं से प्रस्फुटित होते हुए अंगारों के साथ ही साथ वातावरण "मारो फिरंगी को" की पुकारों से भी गूंज उठा। सहस्रों कण्ठों से उच्चारित इस समवेत जय घोष से दशों दिशाएं निनादित हो उठीं। इधर क्रान्ति-यज्ञ का पुनीत प्रारम्भ हुआ और उधर पूर्व-निर्धारित योजनानुसार दिल्ली से सम्पर्क स्थापित रखनेवाले तार काट दिए गए। इतना ही नहीं, उस ओर जाने वाले सम्पूर्ण मार्गों पर भी पहरा बैठा दिया गया। यह तिमिराच्छन्न रात्रि अंग्रेजों के लिए काल-रात्रि तुल्य सिद्ध हो रही थी। कोई अस्तबल में जा छिपा था तो कोई अपने प्राण बचाने के लिए रात्रि-भर झाड़ियों में ही मुख छिपाए घुसा रहा। किसी ने अपने मकान की ऊपर की मंजिल में छिपकर प्राणरक्षा की तो अनेक खड्डों में छिपकर बैठ गए। कोई कृषकों से प्राणों की भीख मांगता रहा तो कोई अपने रसोइयों की चरण वन्दना करने में ही जीवन की कुशलता समझता रहा। रात्रि का आगमन होते ही विद्रोही वीर सैनिकों ने दिल्ली की दिशा में प्रयाण कर दिया तो ग्रामों में प्रतिशोध लेने का दायित्व मेरठ नगर निवासियों ने अपने ऊपर ले लिया। अंग्रेजों से प्रतिशोध लेने की भावना इतनी अधिक प्रचण्ड हो चुकी थी, ऐसा रौद्र रूप धारण कर चुकी थी कि अंग्रेजों के जिन मकानों को जलाकर क्षार-क्षार करने में अग्नि ज्वालाएं समर्थ सिद्ध न हो पाईं उनको गिराकर भूमिसात् कर दिया गया। चमकती अट्टालिकाएं खण्डहारों में परिणत कर दी गईं। कमिश्नर ग्रीदेड का बंगला भी अग्निदेव के मुख में झोंक दिया गया। किन्तु पता लगा कि वह कहीं छिपा हुआ है। अतः मेरठ के नगर निवासियों ने शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर बंगला घेर लिया। अपनी मृत्यु के सन्देशवाहकों को समक्ष देखकर ग्रीदेड गीदड़

बन गया और उसने अपने बावर्ची के पैरों में नाक रगड़ते हुए अपने तथा अपने परिवार वालों के प्राणों की भीख मांगी। रसोइए का हृदय द्रवित हो उठा। अतः उसने भुलावा देकर लोगों को वहां से हटा दिया। अग्नि-ज्वालाएं इधर बंगले को निगल रही थीं और उधर कमिश्नर अपने प्राण बचाकर निकल रहा था। इधर विद्रोहियों की भीड़ ने श्रीमती चैम्बर्स को उसके निवास-स्थान से बाहर खींचकर खुखरी भोंक दी और उसे यमलोक पठा दिया। कैप्टन क्रेवी ने अपने परिवार के सदस्यों महिलाओं और बालकों को अश्वारोहियों के वस्त्र पहनाकर और उन्हें काला-सा बनाकर रात्रि-भर एक देवालय में छिपाकर रखा। डॉक्टर ख्रिस्टी और पशु-चिकित्सक फिलिप्स को भी विद्रोहियों ने मृत्यु के घाट उतार दिया। लैफ्टि-नेन्ट-टेंपलर को मरणोन्मुख बनाकर फेंक दिया गया। कैप्टन टेलर, कैप्टन मैक-डोनल्ड, लैफ्टिनेन्ट हैंडरसन, लैफ्टिनेन्ट पैट का पीछा करके इनको चिर निद्रा में सुला दिया गया। अनेक महिलाएं और बालक उन घरों में ही अग्निदेव का ग्रास बन गए जिनको विद्रोहियों ने अग्नि-ज्वालाओं को समर्पित कर दिया था। ज्यों-ज्यों अंग्रेजों के रक्त की आहुतियां पड़ती जा रही थीं, त्यों-त्यों ही क्रान्तिकारियों की प्रतिशोध की ज्वाला में भी मानो घी पड़ रहा था। वह और भी अधिक उग्र रूप धारण करती जा रही थी। मार्गों से जाते हुए पथिक भी फिरंगियों के शवों पर पदाघात करके आगे बढ़ते थे। यदि किसीको किसी अंग्रेज पर दया उमड़ आती तो सैकड़ों लोग वहाँ आकर एकत्रित हो जाते और जय घोष निनादित हो उठता "मारो फिरंगी को।" फिर वहाँ उन ८५ सैनिकों में से यदि कोई उपस्थित होता तो उसकी कलाई में पड़े हुए बेड़ियों के चिह्नों को दिखाकर लोग गरज उठते "इसका प्रतिशोध अवश्य लो।" और फिर तो दया के लिए कोई अवसर ही न रह पाता और तलवारें म्यानों से बाहर आकर चमचमा उठतीं। वार पर वार होने आरम्भ हो जाते।[1]

वास्तव में समग्र हिन्दुस्थान में जहाँ से विद्रोह की ज्वाला के सर्वप्रथम भड़क उठने की किंचित् मात्र भी संभावना नहीं थी, वह स्थान मेरठ ही था। क्योंकि वहाँ देशी सिपाहियों की केवल दो पैदल रेजीमेन्ट और एक अश्वारोही रेजीमेन्ट ही थी। जबकि वहाँ गोरे सिपाहियों की एक पूरी राइफल बटैलियन तथा एक ड्रैगून रेजीमेन्ट भी थी। इतना ही नहीं एक नितान्त उत्तम तोपखाने पर भी उन्हीं का पूर्ण अधिकार था। ऐसी स्थिति में मेरठ के सिपाहियों के यश प्राप्ति की तनिक-सी भी आशा नहीं थी। किन्तु अब तो क्रान्ति ज्वाला धधक ही उठी थी। अतः अंग्रेजों के प्रतिशोध से निपटने का कार्य मेरठवासियों पर छोड़कर क्रान्ति के ये

१. एक हिन्दू द्वारा लिखित 'विद्रोह के कारण।'

अग्रदूत तत्काल त्वरित गति से दिल्ली की ओर बढ़ चले। उनका पीछा करना, तथा उन्हें रोक देना ही नहीं अपितु उनका सम्पूर्ण विनाश कर पाना भी अंग्रेज सेना के लिए एक नितान्त ही सरल कार्य था, किन्तु अंग्रेजी सैनिकों और उनके अधिकारियों ने उस अवसर पर जिस भीरुता का प्रदर्शन किया, जो अव्यवस्था और अनुशासनहीनता दिखाई उसके कारण तो अंग्रेज अधिकारियों को भी लज्जा से नतमस्तक ही होना पड़ा है। भारतीय अश्वारोही दल का प्रमुख कर्नल स्मिथ यह सुनते ही अपने प्राण बचाने के लिए भाग निकला कि उसके सैनिकों ने विद्रोह की पताका फहरा दी है! अभी तोपखाने का प्रमुख अपनी तोपों को एकत्रित कर उन्हें मोर्चे पर लाने का विचार करने मात्र में ही उलझा हुआ था कि विद्रोही सैनिक कभी के दिल्ली के द्वार पर दस्तक देने के लिए बढ़ चुके थे। किन्तु सारी अंग्रेज सेना इन नरसिंहों से इतनी अधिक भयभीत हो चुकी थी कि रात्रि-भर उनका एक पग बढ़ाने का भी साहस नहीं हो पाया। वस्तुस्थिति यह थी कि मेरठ में सहसा ही धधकी इस विद्रोह की ज्वाला से अंग्रेजों के छक्के छूट गए थे और वे मतिभ्रमित हो गए थे। यही कारण था कि वे अगले दिन तक भी असमंजस में ही पड़े रहे। किन्तु सैनिकों का सभी कार्यक्रम पूर्व-निर्धारित था। उनका कार्यक्रम इस प्रकार था कि "सर्वप्रथम अचानक आक्रमण किया जाए, बन्दियों को कारागृह से मुक्त कराते ही अंग्रेजों का नरमेध आरम्भ कर दिया जाए, जब अंग्रेज इस सहसा होने वाले विस्फोट से घबरा उठें तो सब मेरठवासी चारों ओर से लूट-मार तथा अग्निकाण्ड करते हुए अंग्रेजों को यह विदित न होने दें कि इस विद्रोह का केन्द्रस्थल कहाँ है। इस भांति अंग्रेजों की बुद्धि काम ही न कर पाएगी और वे अपने प्राण बचाने के प्रयास में ही उलझे रहेंगे, उसी समय सैनिक दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दें।" यह सम्पूर्ण कार्यक्रम बड़ी ही बुद्धिमत्ता सहित बनाया गया था। सर्वप्रथम हिन्दुस्थान के हृदय दिल्ली पर नियन्त्रण प्राप्त कर इस विद्रोह को क्रान्ति युद्ध का रूप देना तथा अंग्रेजों के सम्मान और प्रभाव को धूल में मिला देना ही क्रान्तिकारी नेताओं की सुविचारित कल्पना थी। निःसन्देह ही क्रान्तिकारी नेताओं ने महान् चातुर्य का प्रदर्शन किया था। यह सम्पूर्ण कार्यक्रम जितनी चतुराई से बनाया गया था, उतनी कुशलता सहित इसे पूर्ण भी कर दिया गया। विद्रोह होने की सूचना अंग्रेज अधिकारियों के कानों तक पहुंचने से भी पहले ये दो हजार क्रान्तिदूत सैनिक तारों को काटते, मार्गों पर मोर्चा बन्दियां बना तथा कारागार से अपने धर्मवीर सहयोगियों को मुक्त कराकर अत्याचारी अंग्रेजों के रक्त से धरती की प्यास बुझाते हुए, अपनी रक्तरंजित तलवारों को हवा में लहराते तथा 'चलो दिल्ली, दिल्ली चलो' के जय घोष गुंजाते हुए हिन्दुस्थान की राजधानी की ओर द्रुतगति से बढ़ते जा रहे थे।

• • •

: ३ :

दिल्ली

श्रीमंत नानासाहब पेशवा अप्रैल मास में दिल्ली गए थे। उसी समय निर्धारित किए गए कार्यक्रम के अनुसार दिल्ली का जन जन ३१ मई के रविवार के आगमन की बड़ी व्यग्रता सहित प्रतीक्षा कर रहा था। यदि ३१ मई के रविवार को निर्धारित कार्यक्रमानुसार सम्पूर्ण हिन्दुस्थान हर हर महादेव के रणघोष से दिग् दिगन्त निनादित करता हुआ एक साथ क्रान्ति के रणदेवता का आह्वान करता तो अंग्रेजी राज्य सत्ता के विनाश और भारतीय स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के राज्य तिलक का पावन प्रसंग उपस्थित होने में १८५७ ई० के उपरान्त अधिक अवधि न लगती। किन्तु मेरठ में समय से पूर्व ही विद्रोहाग्नि प्रज्वलित हो उठने से क्रान्तिकारियों की अपेक्षा अंग्रेजों को ही अधिक सुविधा उपलब्ध हो गई।[1] मेरठ के बाजारों में जिन

---

१. इतना सुनिश्चित था कि यदि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में सहसा ही विद्रोह की ज्वाला धधक उठती और अंग्रेजों को इस विद्रोह के होने से पूर्व इसका पता न लग पाता तो हमारे (गोरे) बहुत ही थोड़ व्यक्ति इस वेगवान संहार से बच पाते। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश राष्ट्र के लिए भारत पर पुनः विजय प्राप्त कर पाना एक अत्यन्त ही कठिन कार्य होता अथवा अपने पूर्वी साम्राज्य में पराजय का एक अमिट कलंक सर्वदा के लिए हमारे मस्तक पर अंकित हो जाता।'

मॅलेसन, खण्ड ५

"मेरठ के इस भयानक विद्रोह से हमें एक महान लाभ अवश्य हुआ। वह यह था कि समूचे भारत के सैनिकों के विद्रोह का कार्यक्रम ३१ मई, १८५७ के निश्चित दिन क्रियान्वित होना था। किन्तु इस समय से पूर्व भड़के उभार ने हमें समय से ही जागृत कर दिया।

—व्हाइट का इतिहास, पृष्ठ १७

तेजस्वी देवियों ने सिपाहियों पर अपने मर्मस्पर्शी वाग्बाण छोड़े थे, उन्हें अपने देशभक्त सैनिक बन्धुओं को बन्धनमुक्त कराने के लिए प्रोत्साहित किया था, उनके कारण इतिहास में एक गौरवपूर्ण घटना को तो निश्चित रूप से ही स्थान मिल गया, किन्तु इसके कारण शत्रु को भी समय से पूर्व चेतावनी मिल गई और इस कारण इन स्त्रियों के इस कृत्य ने अनजाने में ही अपने देश-बान्धवों को आपदा-ग्रस्त बना दिया। दिल्ली में तो सभी भारतीय सैनिक ही थे। मंगल पाण्डे के पावन बलिदान ने उन्हें भी अधीर बना दिया था, किन्तु सम्राट् बहादुरशाह और बेगम जीनत महल ने अपने बुद्धि कौशल से उनकी भावनाओं के उद्वेग को संयम के बांध से बांध देने में सफलता प्राप्त कर ली थी। परन्तु इसी समय मेरठ के गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र से उन्हें यह सन्देश प्राप्त हुआ—"हम कल पहुँच रहे हैं, आप लोग आवश्यक व्यवस्थाएं कर लीजिए।" यह अनपेक्षित और विचित्र संदेश दिल्ली भेजा गया था और मेरठ के मरदाने, दो सहस्र-स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के दीवाने "दिल्ली चलो" के जय घोषों से दशों दिशाओं को निनादित करते हुए दिल्ली की ओर बढ़ते ही जा रहे थे। रात्रि का अन्धकार चतुर्दिक व्याप्त था, किन्तु स्वातन्त्र्य ज्योति के प्रकाश से आलोकित पथ पर ये धर्मवीर बढ़ते जा रहे थे। सहस्रों अश्वों की टापों और हिनहिनाहट से, तलवारों की झंकारों और सैनिकों की रणहुंकारों से उनकी शत्रु हृदय को भेद देने वाली रहस्यमयी वार्ताओं के कारण भला नींद किसके पास फटक सकती थी। जब प्रातःकाल प्राची दिशा में अंशुमाली उदित हो गए तो उस समय मेरठ का तोपखाना भी उनका पीछा नहीं कर रहा है। रात की थकान भी इन सैनिकों ने विस्मृति के गर्त में सुलादी और शेष रही मंजिल को पूरा करने के लिए पुनः अश्वों को ड़ लगा दी। इनके पग उठने लगे और मंजिल घटने लगी। मेरठ और दिल्ली के मध्य ३२ मील का अन्तर है। किन्तु स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के इन पुजारियों के उत्साह का परिचय इसी एक तथ्य से मिल जाता है कि प्रातः ८ बजे मेरठ की इस मस्तानी सेना का अग्रभाग परम पावन यमुना सरिता के समीप पहुंच गया था। स्वतन्त्रता के पावन कार्य के लिए प्रस्थान करने वाले योद्धाओं को अपने शीतल जल से गुजरती हुई बयारों से प्रोत्साहन देने वाली भगवती यमुना के जब इन धर्मवीरों ने दर्शन किए तो इन हजारों सैनिकों ने "जय जमना मैया की" कहकर इस पुण्यमयी कालिन्दी की वन्दना की। यमुना नदी पर दिल्ली नगर में प्रविष्ट होने के लिए नौकाओं का जो पुल बना हुआ था, उस पर भारतीय अश्व सरपट दौड़ने लगे। किन्तु वस्तुतः क्या पावन यमुना को इनके परम पवित्र कार्य की अनुभूति थी? अतः इस पावन सरिता को अपने महान् अभियान से अवगत कराकर उसका शुभाशीष प्राप्त करने के उपरान्त ही आगे बढ़ना आवश्यक था। अतः उस गोरे को पकड़ लो जो

यमुना को पार करने का दुस्साहस करता है, और हां उसका लाल रक्त यमुना के कृष्ण जल में मिला दो, कर दो उससे भगवती यमुना का अभिषेक। यह अभिषेक ही इस पुनीत सरिता को उन सैनिकों के महान अभियान का कारण समझाता रहेगा जो इस पुल पर से दौड़ते हुए दिल्ली की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। अब नौकाओं का पुल पार करने के उपरान्त दिल्ली के छोर पर जा पहुंचे थे। यह समाचार ज्योंही अंग्रेज अधिकारियों को प्राप्त हुआ उन्होंने दिल्ली के सभी भारतीय सिपाहियों को पथ संचलन भूमि में आकर पंक्तिबद्ध हो जाने का आदेश दे दिया। जब वे सैनिक वहाँ एकत्रित हो गए तो उनके समक्ष ये अंग्रेज अधिकारी 'राज्य निष्ठा' पर व्याख्यान देने लगे। उसी समय कर्नल रिप्ले ने ५४ वीं पलटन को विद्रोही सैनिकों का सामना करने का 'सदुपदेश' दिया। तभी इस पलटन के सिपाही बोल उठे "कर्नल साहब, हमें दिखाइए तो सही कहां है वे मेरठ के सिपाही।' फिर हम उन्हें भली भांति देख लेंगे।" उनके इन शब्दों को सुनकर उत्साह से प्रफुल्लित होता हुआ कर्नल बोल उठा "शाबास।" और उसी समय यह पलटन मेरठ के क्रान्तिकारियों की अगवानी करने के लिए आगे बढ़ी। कुछ दूर पर ही उन्हें मेरठ के अश्वारोही दुर्ग की ओर बढ़ते दिखाई दिये। इस अश्वारोही दल के पीछे-पीछे बढ़ते हुए आ रहे थे अंग्रेजों के उष्ण रक्त से अपनी पिपासा बुझाने की आकांक्षाओं को हृदय में बसाए पैदल सैनिक। दोनों ओर की सेनाएँ कुछ ही क्षणों में एक दूसरे के सामने आ खड़ी हुई। दोनों ओर के सैनिकों ने परस्पर मान वन्दना की। और दूसरे ही क्षण दिल्ली के सैनिक मेरठ के इन धर्मवीर मर्दानों से गले मिलते दृष्टिगोचर हुए। मेरठ की सेना ने जयघोष किया "फिरंगियों के राज्य का नाश हो," "बादशाह की जय हो।" इसके उत्तर में दिल्ली वालों ने जयघोष किया "मारो फिरंगी को"। कर्नल रिप्ले इस दृश्य को देखकर स्तब्ध रह गया और आवेश से तमतमाता हुआ यह गोरा अधिकारी चीख उठा "यह क्या मामला है ?" उसे अपने प्रश्न का उत्तर गोलियों की बौछारों से मिला। उसका शरीर अनेक गोलियों से बिधकर छलनी हो गया और शव भूमि पर लोटता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। इसी भाँति उस रेजीमेंट के अन्य अंग्रेज अधिकारियों को भी एक एक कर मृत्यु के घाट उतार दिया गया। इस भाँति दिल्ली के सैनिकों ने फिरंगी रक्त से अपनी देशभक्ति पर मुद्रा अंकित कर दी। उसी समय मेरठ के अश्वारोही भी अपने अश्वों पर से उतर पड़े। वे दिल्ली के सिपाहियों से बड़े प्रेम से गले मिले। उसी समय दिल्ली का इतिहास प्रसिद्ध कशमीरी दरवाजा खोल दिया गया और "दीन दीन" के नारे लगाते हुए स्वाधीनता के यह राजदूत भारत की राजधानी में प्रविष्ट हो गए।

मेरठ की सेना की दूसरी टुकड़ी भी 'कलकत्ता द्वार' से दिल्ली में प्रविष्ट होने के लिए प्रयत्नशील थी। पहले तो यह द्वार बन्द कर दिया गया था, परन्तु

इन स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के प्रबल पुजारियों के प्रहारों से वह हिलने लगा और फिर खुल ही गया। द्वार के पूर्णतः खुल जाने पर वहाँ के प्रहरी भी "दीन-दीन" के नारे लगाते हुए इन क्रान्तिकारी सैनिकों से आ मिले। 'कलकत्ता दरवाजे' से प्रवेश करने वाले ये सैनिक सर्वप्रथम दरियागंज स्थिति अंग्रेजों के बंगलों की ओर बढ़ चले। किन्तु उन्होंने देखा कि उनके पहुंचने से भी पहले ही ये बंगले अग्नि की ज्वालाओं में धू धू करते हुए भस्मासात हो रहे थे। इन अग्नि ज्वालाओं से जो अंग्रेज अपने प्राण बचाने में सफल हो गए थे, उन्हें इन वीर सैनिकों की तलवारों ने चाटकर अपनी पिपासा शान्त कर ली। समीप में ही विदेशी औषधियों से भरा और केवल अंग्रेजों को ही आश्रय देने वाला एक अस्पताल था। दरियागंज में अंग्रेजों को आश्रय देने वाले बंगलों को अग्निदेव की प्रचण्ड जिह्वा उदरसात् कर गई है, यह देखकर भी इस अस्पताल ने कुछ फिरंगियों को शरण दे दी थी। अतः इस पर क्रांतिकारियों का प्रकोप होना सुनिश्चित ही था। अतः उन्होंने औषधालय में प्रविष्ट होकर वहाँ रखीं सभी बोतलें तोड़ दीं। ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस औषधालय को नष्ट कर स्वयं महाकाल ही अपने विभिन्न रूपों में अंग्रेजों के रक्त से अपनी पिपासा शान्त करने हेतु घर-घर में चक्कर लगा रहा है। महाकाल के इन दूतों के हाथ में एक ध्वज होना भी तो आवश्यक था। किन्तु कपड़े का ध्वज भला इन क्रान्तिदूतों के सम्मान का प्रतिमान कैसे बनता। अतः जहाँ कहीं भी कोई गोरा मिला, उसका शीश काटकर भाले की नोक पर उसे लटकाकर ऐसे अनेकों भयभीत करने वाले ध्वजों का निर्माण कर लिया गया। ये स्वातंन्त्र्य दूत अपनी इन अनुपम पताकाओं को हाथों में उठाये नितान्त वेग सहित आगे बढ़ते जा रहे थे।

इधर दिल्ली के राजमहल में बादशाह के नाम का जयघोष करते हुए सिपाही और नागरिक सहस्रों की संख्या में एकत्रित हो रहे थे। राजमहल बादशाह के जयजयकारों से गूंज रहा था। उधर समीप में ही एक स्थान पर घायल हो जाने वाला कमिश्नर शीघ्रतासहित राजमहल में प्रवेश करने लगा। उस पर मुग़ल बेग नामक एक व्यक्ति की दृष्टि पड़ी और उसने तत्काल उसके गले पर वार किया। उसका संकेत पाते ही सभी विद्रोही आकर एकत्रित हो गए और उसके शव पर चढ़कर उसको कुचलते हुए क्रान्तिवीर आगे बढ़े। वे सीढ़ियों द्वारा महल की ऊपरी मंजिल में जाने लगे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने एक अंग्रेज अधिकारी जेनिग्स तथा उसके परिवान के निवास-स्थान पर जा धमके। भीतर से द्वारबन्द करने का प्रयास किया गया तो इन वीर सिपाहियों ने अपने आघातों द्वारा उसे तोड़ दिया। जेनिग्स, उसकी युवा पुत्री तथा अतिथि के रूप में आई हुई एक अन्य अंग्रेज महिला के रक्त से इन विद्रोहियों ने अपनी तलवारों की पिपासा शान्त की। दिल्ली के मार्गों से भय प्रकम्पित होकर भागने वाला कैप्टन डगलस कहाँ है?

पकड़ो और यमलोक भेज दो। और यह कोने में प्राण छिपाकर बैठे हुए हैं कलेक्टर साहब, चलो उसको भी निकालो और आयुपर्यन्त का अवकाश प्रदान कर दो! हाँ, तो अब दिल्ली के राजमहल में एक भी फिरंगी नहीं रह पाया है। अब क्रान्तिदूतो, यदि तुमने क्षण भर अपनी थकान मिटाने के लिए विश्राम किया तो कोई हानि नहीं! अश्वारोहियो चलो अपने अश्वों को राजमहल के प्रांगण में बांध दो। हे सम्पूर्ण रात्रि लम्बी यात्रा पूर्ण करके आने वाले सिपाहियों तुम भी राजमहल के दीवाने आम में विश्राम कर लो और अपनी थकन उतार लो।

इस भांति दिल्ली के राजमहल पर लोक सैन्य का अधिकार हो गया। अब बादशाह, बेगम साहिबा तथा सिपाहियों के नेतागण एकत्रित होकर भावी योजना पर विचार करने लग गए। अब तो ३१ मई तक प्रतीक्षा करते रहना मूर्खता करने के तुल्य ही होता। वहाँ कुछ समय तक संकोच का प्रदर्शन करने के उपरान्त बादशाह ने खुलकर क्रान्तिकारियों के साथ आना स्वीकार कर लिया। इसी बीच मेरठ के तोपखाने के अनेक विद्रोही सैनिक भी दिल्ली आ पहुँचे। उन्होंने बादशाह तथा नवोदित स्वातन्त्र्य सूर्य की २१ तोपों से अभ्यर्थना की और सैनिक मानवन्दना भी। क्रान्तिकारी नेताओं से विचार-विमर्श के उपरान्त भी जो थोड़ा बहुत सन्देह बादशाह के मन में रह गया था उसे तोपों की इन प्रचण्ड घन गर्जनाओं ने तिरोहित कर दिया। सम्राट्-पद की प्राप्ति की सैकड़ों लालसाओं के दीप उसके अन्तःकरण में प्रज्वलित हो उठे। फिरंगियों के रक्त से रंग-बिरंगी हुई अपनी तलवारों को हवा में फहराते हुए क्रान्तिकारी नेताओं ने बादशाह से कहा "मेरठ में अंग्रेजों को भयंकरपराजय का मुख देखना पड़ा है। दिल्ली तो आपके ही हाथों में है। अब तो पेशावर से कलकत्ता पर्यन्त सभी सैनिक ही नहीं अपितु जनता भी केवल आपके आदेशमात्र की प्रतीक्षा में है। अब तो सम्पूर्ण हिन्दुस्थान विदेशियों द्वारा डाली गई पराधीनता की बेड़ियों को अपने वज्र पौरुष का प्रदर्शन कर तोड़ देने के लिए व्यग्र हो उठा है। जागृत है समग्र भारतवर्ष। अतः आप स्वातन्त्र्य की पुनीत पताका को अपने कर कमलों में थामिए, जिससे कि हिन्दुस्थान के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए असंख्य नरकेसरी उसकी छाया में एकत्रित हो सकें। हिन्दुस्थान ने स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पावन अर्चन-वन्दन का संकल्प घोषित कर दिया है। आपने यदि हमारा नेतृत्व ग्रहण किया तो हम या तो क्षण-भर में ही इन फिरंगी शैतानों को अतल सागर के जल में डुबा देंगे अथवा इनके नर-मुण्डों और अस्थि पिंजरों का आहार करने के लिए गिद्धों को निमन्त्रित कर लेंगे।"[1] इस भांति हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों के नेताओं की सहमति और उनकी ओजपूर्ण वक्तृ-

---

१. चार्ल्स बॉल-कृत 'इंडियन म्युटिनी', खण्ड १, पृष्ठ ७४

ताओं ने बादशाह को भी धैर्य और उत्साह प्रदान किया। उसकी कल्पना के समक्ष भी अकबर और शाहजहां के चित्र सजीव से होकर उभरने लगे। इस भांति विदेशियों की दासता के बन्धनों को सहन करके जीवित रहने के स्थान पर मृत्यु का वरण करना कहीं श्रेष्ठ है, यह पावन विचार भी बादशाह के हृदय में बद्धमूल हो उठे। तदुपरान्त बादशाह ने इन वीर सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा "मेरे पास तो राजकोष में भी कुछ नहीं, फिर मैं तुम्हारा वेतन कहां से दे पाऊंगा।" सिपाही तुरन्त गरज उठे "हम अंग्रेजों का कोष लूट कर आपके चरणों में समर्पित कर देंगे।"[1] इसके उपरान्त "मैं तुम्हारा नेतृत्व करना स्वीकार करता हूँ।" ऐसे अभिवचन वयोवृद्ध बादशाह से प्राप्त करने के उपरान्त राजमहल में एकत्रित सभी सैनिकों का समवेत स्वर गूंज उठा "सम्राट की जय।"

इधर राजमहल में ये गतिविधियां चल रहीं थीं तो बाहर नगर में भयंकर हलचल व्याप्त थी। दिल्ली के सैकड़ों निवासी अपने-अपने घरों से उपलब्ध शस्त्रास्त्रों को उठाकर क्रान्तिकारी सिपाहियों के साथ सम्मिलित होते जा रहे थे। वे फिरंगियों की नरबलि से स्वतन्त्रता की महाकाली को प्रसन्न करने हेतु गली गली और राजमार्गों पर घूम रहे थे। मध्याह्न में लगभग १२ बजे दिल्ली के एक बैंक पर धावा बोल दिया गया। बैंक का व्यवस्थापक बेरिस कोर्ड नामक एक अंग्रेज था। क्रान्तिकारियों की प्रतिशोध की अग्नि ने उसे तथा उसकी पत्नी और ५ पुत्रों को भी निगल लिया। इतना ही नहीं इस बैंक का भवन भी उनकी क्रोधाग्नि में पड़कर भस्म हो गया। अब ये लोग दिल्ली गजट के मुद्रणालय की ओर बढ़ चले। अभी वहाँ के कर्मचारी मेरठ का समाचार मुद्रित करने में ही मगन थे कि उसके द्वार पर "दीन दीन" की गर्जना हो उठी और कुछ क्षणों में ही इस मुद्रणालय के सभी ईसाई कर्मचारी हज़रत ईसा मसीह की शरण में सदा के लिए भेज दिए गए। यहाँ के टंकन अक्षर नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए और फिरंगियों के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाने वाले यंत्रों को भी तोड़-फोड़ दिया गया। अंग्रेजों के छूने से अपवित्र हो जाने वाली प्रत्येक वस्तु ही धूल धूसरित कर दी गयी थी। अब क्रान्ति-ज्वाला धधक उठी थी, उसका रूप विकराल हो उठा था। अरे! किन्तु अभी तो वह गिरजाघर खड़ा हुआ दिखाई दे रहा है। इधर जब क्रान्ति की ज्वाला धू धू कर धधक रही है तो वह कब तक अपना गर्वोन्नत शिखर उठाए खड़ा रह सकता है। इसी गिरजाघर में तो हिन्दुस्थान में अंग्रेजी राज्य को चिरजीवी रखने की प्रार्थनाएं की जाती हैं। इसी में तो 'अंग्रेजी साम्राज्य' अमर रहे के बोल गूंजते थे। हिन्दुस्थान पर तुम्हारा राज्य करना अत्यन्त भयंकर पाप है, ऐसा क्या इसने अपने

---

१. मेटकाफ

अनुयायियों को एक बार भी समझाने का भी प्रयास किया था ? नहीं नहीं, इसके सर्वथा विपरीत पाप कर्म में रत अधिकारियों को, उन अत्याचारियों को शरण देकर यह तो उनके पारिलौकि ककल्याण की अपेक्षा उनके ऐहिक स्वार्थ साधन का ही केन्द्रस्थल बना रहा था। इस प्रकार के हिंसागृह को तुमने अपने देश में निर्मित होने दिया, इसीका परिणाम तो तुम्हें गौ और सुअर की चर्बी से निर्मित कारतूसों के रूप में प्राप्त हुआ था। अतः अब किस चिन्ता में रत हो, चलो बढ़ो आगे और इस क्रूर ईसाई धर्मचिह्न को भूलुंठित कर दो। इसकी दीवारों पर लगे सभी चित्रों को गिरा दो। चूर्ण चूर्ण कर दो इस ईसाई ध्यानागार को और ख्रिस्तीपीठ को। एक ही रण हुंकार भरो "जय क्रान्ति।" इस गिरजाघर में प्रतिदिन ही तो घंटाध्वनि होती रही है। तुम भी आज लौटते हुए इन घण्टों को पूर्ण उत्साह सहित बजाओ। घन घन की प्रचण्ड ध्वनि घण्टों होने दो ! किन्तु आज क्या हो गया है, घण्टों घनाघन और टनाटन होते रहने पर भी आज तो एक भी अंग्रेज इसकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहा। ऐसा क्यों ? बोलो तो हे घण्टो ! किन काले हाथों का स्पर्श तुम्हें कितना सुहाता है ? हाँ, तो हम समझ गए तुम्हारे लिए इनका स्पर्श भी असह्य हो उठा है। अच्छा तो फिर नीचे आ जाओ। हमारे बन्धु तुम पर नृत्य करने के लिए लालायित खड़े हैं। जब एक एक घण्टा अपने स्थान से नीचे गिरता और अन्तिम बार उससे घनघनाहट का स्वर होता और उसे सुनकर क्रान्तिकारी सिपाही भी विकट हास्य करते तथा परस्पर कहने लगते "यह क्या तमाशा है, क्या मजेदार ध्वनि है।"

किन्तु दूसरी ओर तो इसमें भी भयंकर तमाशा चल रहा था। राजमहल के समीप ही अंग्रेजी सेना के लिए बारूद तथा शस्त्रास्त्रों का एक विशाल शस्त्रागार था। इस शस्त्रागार में युद्ध की दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोगी अपार सामग्री संग्रहीत थी। इस शस्त्रागार में कम-से-कम नौ लाख कारतूस, आठ दस हजार बन्दूकें, तोपें तथा विस्फोट करनेवाली सुरंगमालिकाएँ भरी हुई थीं। विद्रोही इस बात के लिए कृत संकल्प हो उठे कि इस शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया जाए। किन्तु यह कार्य कोई सरल कार्य नहीं था। इस शस्त्रागार के प्रहरी अंग्रेज वहाँ संग्राम करने के लिए जाने वाले सभी सिपाहियों को खाक में मिला देने के लिए इस बारूद के अम्बार को एक तिल्ली लगाकर ही निश्चिन्त हो सकते थे। अतः यह कार्य एक नितान्त ही दुष्कर कार्य था। किन्तु इस पर अधिकार किए बिना तो क्रान्ति की भी अकाल मृत्यु हो जाने की आशंका थी। अतः सहस्रों सैनिक इस सत्कार्य को सम्पन्न करने हेतु सन्नद्ध हो उठे। इस शस्त्रागार के अंग्रेज अधिकारी को सम्राट् के नाम से एक आदेश प्रसारित किया गया कि वह उसे सम्राट् को समर्पित कर दे। किन्तु भला कहीं ऐसे काग़ज़ी सन्देशों से भी राज्यों का लेन-देन सम्पन्न हो

पाता है। शस्त्रागार के अधिकारी लैफ्टिनेन्ट विलोवी ने इस आदेश का उत्तर देने तक की भी चिन्ता नहीं की। इस अपमान से क्षुब्ध सहस्रों सैनिक शस्त्रागार के सामने एकत्रित हो गए। शस्त्रागार में ९ अंग्रेज तथा कतिपय भारतीय भी थे। जब उन भारतीय सैनिकों ने देखा कि दुर्ग पर सम्राट् की पताका फहरा रही है तो उन्होंने भी क्रान्ति का जय-जयकार कर अपने स्वदेश बन्धुओं से हाथ मिला लिए। अब ये ९ अंग्रेज भी निराश हो गए, किन्तु अन्तिम मोर्चा लेने लगे। किन्तु सैनिकों की इस प्रचण्ड संख्या से वे कितनी देर तक धैर्य रखते हुए संग्राम कर सकते थे। उन्होंने भी यह निश्चय कर लिया था कि जब शस्त्रागार पर अपना अधिकार रख पाना असम्भव हो जाएगा तो उसके बारूद में अंगार लगाकर उसे पूर्णतः नष्ट कर देंगे। क्योंकि वे यह भी समझते थे कि सम्पूर्ण शस्त्रागार क्रान्तिकारियों को सौंप देने पर भी तो यह विश्वास नहीं है कि उनकी प्राणरक्षा हो सकेगी। किन्तु सैनिक भी इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि यदि शस्त्रागार के बारूदी अम्बार को आग लगा दी गई तो उनके सैकड़ों साथियों का भी बलिदान हो जाएगा। इस पर भी उन्होंने आक्रमण जारी रखा। अन्ततः दोनों दलों को ही जिसकी अपेक्षा थी वही हुआ। सैकड़ों तोपों के एक साथ गरज उठने के समान प्रचण्ड धमाका हुआ। धुएं का अम्बार आकाश में छा गया और सैकड़ों अग्निस्तम्भ आकाश में उड़ते परिलक्षित हुए। इन अंग्रेज वीरों ने शस्त्रागार को शत्रुओं को सौंप देने के स्थान पर उसमें अग्नि दहकाकर आत्मबलि दे दी। एक भयंकर विस्फोट हुआ। कानों को फाड़ देनेवाली प्रचण्ड आवाज के साथ २५ सैनिक और उनके आसपास एकत्रित हुए लगभग ३०० अन्य व्यक्तियों की बोटी-बोटी आकाश में उड़ती हुई दिखाई दी।

किन्तु क्रान्तिकारियों ने इस कारागार को अपने अधिकार में लेने के लिए अपने पक्ष का जो भयानक विनाश देखा वह तो हुआ-परन्तु उनकी बलि निरर्थक न हुई, क्योंकि बारूद में जलकर जो लोग भस्मसात हो गए थे, उन्होंने आत्म-यज्ञ से इस राष्ट्रीय क्रान्ति को अपूर्व सामर्थ्य प्रदान कर दी। जबतक इस प्रचण्ड शस्त्रागार पर अंग्रेज़ों का अधिकार था तब तक छावनी में रहने वाले हिन्दुस्थानी सिपाही भी अपने अंग्रेज अधिकारियों के ही अधीन थे। यद्यपि उन्होंने अपने स्वदेश-बान्धवों से संग्राम करना अस्वीकार कर दिया था, किन्तु वे अंग्रेज़ों के विरुद्ध खुलकर विद्रोह भी नहीं कर सके थे। दोपहर को लगभग ४ बजे एक भयंकर विस्फोट हुआ, जिससे सम्पूर्ण दिल्ली नगरी थर्रा उठी। उसी समय छावनी में रहने वाले सभी भारतीय सिपाही भी एकत्रित हो गए एवम् "मारो फिरंगी को" की गर्जना करते हुए अंग्रेजों पर टूट पड़े। उन्होंने मेन गार्ड गोर्डन को उड़ा दिया। तो स्मिथ और रेव्हेल को भी उन्होंने सदा के लिए धराशायी कर दिया। जिधर भी उन्हें कोई

गोरा दृष्टिगोचर होता उनके प्राणों में एक प्रचण्ड कम्पन होता था। शताब्दियों के उपरान्त उभरे इस राष्ट्रीय क्षोभ ने अपने भयानक जवड़ों में नर, नारी, बालक, घर द्वार, ईंट और पाषाण, मेज और कुर्सी, रक्त, मांस और अस्थियां सभी वस्तुओं को, चाहे वे सचेतन थीं अथवा अचेतन, निगल लिया। हाँ, बादशाह द्वारा प्रसारित किए गए एक कड़े आदेश के कारण कुछ अंग्रेज मृत्यु के मुख में पड़ने से तो बच गए, किन्तु उन्हें भी राजमहल के वन्दीगृह में विश्राम करने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु बादशाह की इस राजाज्ञा के विरुद्ध लोकमत इतना अधिक उभरा कि उसे भी चार-पांच दिन के उपरान्त ऐसे ५० अंग्रेजों को लोगों के हाथ सौंपना ही पड़ा। १६ मई को इन ५० फिरंगियों को एक सार्वजनिक मैदान में उपस्थित किया गया। सहस्रों नागरिक भी इन्हें देखने के लिए इस मैदान में उपस्थित थे। उन्होंने भी फिरंगी राज्य की दुष्टता की जी भरकर भर्त्सना की। आदेश प्राप्त होते ही इन ५० अंग्रेजों के सिर पर सैनिकों की तलवारें उठीं और उनके सिर धड़ से पृथक हो गए। शव तड़फते हुए दिखाई दिए। इनके वार से बच जाने वाले एकाध अंग्रेज़ पुरुष अथवा स्त्री ने दया की याचना की तो उपस्थित सहस्रों कंठों से गर्जना होने लगी "मेरठ का प्रतिशोध लिया जाएगा।" "परतन्त्रता का बदला ले लो।" "शस्त्रागार में चढ़े बलिदानों का प्रतिशोध लेने में संकोच न करो।"

तलवार पुनः उठी और इस गिड़गिड़ाते हुए फिरंगी के रक्त में स्नान कर रंग गई। ११ मई को दिल्ली में अंग्रेजों का जो नरमेध आरम्भ हुआ था उसकी पूर्णाहुति १६ मई को पड़ी। इसी अवधि में सैकड़ों अंग्रेज दिल्ली से अपने प्राण बचाकर भाग निकले थे। अनेक अंग्रेजों ने अपने शरीर पर काला रंग पोत लिया और जिस काले आदमी से उन्हें घृणा थी उसीका वेश अब वे अपने प्राण बचाने के लिए धारण करने पर विवश हो गए थे। कुछ अंग्रेज प्राण बचाने के लिए वनों की ओर भाग निकले किन्तु वहाँ प्रचण्ड गर्मी ने उनके प्राणों का बलिदान ले लिया। अनेक अंग्रेजों ने कबीर की साखियां रट लीं और उनका अलाप करते हुए ग्रामों में संन्यासियों का वेश बनाकर घूमने लगे। किन्तु ज्योंही उनका यह रहस्य ग्रामवासियों के समक्ष उद्घटित हुआ तो ग्रामवासियों ने ही उनकी इहलीला समाप्त कर दी। कोई अंग्रेज यदि चलते-चलते मार्ग में थककर बैठ जाता तो ग्रामवासी उसे देखते ही यमलोक पठा देते, किन्तु यह भी सत्य है कि कतिपय उदार हृदय ग्रामवासियों ने उनका अतिथि सत्कार कर उन्हें मेरठ छावनी तक भी पहुंचा दिया।

इस शस्त्रागार में हुए विस्फोट के बावजूद विद्रोही सैनिकों को अनेक हथियार भी प्राप्त हुए। हथियार इतने थे कि इनके बांटने पर प्रत्येक सैनिक को चार-चार बन्दूकें प्राप्त हो गईं। अंग्रेजी राज्य के प्रति जनमानस में इतना अधिक रोष विद्यमान

था कि दिल्ली में जो हत्याकाण्ड हुआ उसकी चर्चा इतनी त्वरित गति से सर्वत्र प्रसारित हो गई कि सैकड़ों ग्रामवासियों ने भी यह निश्चय कर लिया कि हम अपने ग्राम में भी किसी फिरंगी के अपावन चरण नहीं पड़ने देंगे। परन्तु किसी ग्राम में अथवा दिल्ली में एक भी ऐसी घटना नहीं घटित हुई कि किसी अंग्रेज महिला के पातिव्रत्य का भंग किया गया हो। यह तथ्य तो अंग्रेजों द्वारा नियुक्त की गई जांच-समिति ने भी मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।[१] दिल्ली के हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में 'अपने संस्मरणों' को लिखने वाले अंग्रेज धर्म-प्रचारकों ने निश्चय ही अनेक मिथ्या बातें प्रसारित की हैं। उनके द्वारा किए गए निन्दनीय, घृणास्पद और मिथ्या प्रचार तो सम्भवतः अब तक भी किसीने नहीं किया होगा। दिल्ली के राजमार्गों में अंग्रेज महिलाओं को नग्न कर उनके जलूस निकाले गए, चौराहों पर महिलाओं से बलात्कार किया गया। उनके स्तन काटे गए और अंग्रेज कुमारियों से दुर्व्यवहार किया गया इत्यादि अमानुषिक सत्य जिस राष्ट्र के धर्मोपदेशक ही प्रसारित करते हों अंग्रेजों का वह राष्ट्र सत्य का कितना आदर करता है।[१] यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।[२] १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का कारण यह तो नहीं था कि भारतीयों को अंग्रेज महिलाएं नहीं मिलती थी, अपितु यह संघर्ष तो भारत से गोरों का अस्तित्व ही समाप्त कर देने के पावन लक्ष्य से प्रेरित होकर आरम्भ किया था।

इस भांति मेरठ की महिलाओं की फटकार से उठा हुआ यह बवण्डर इतना प्रचंण्ड था कि इसने ५ दिन की अवधि में ही भारत में एक शताब्दी से बद्धमूल हुए दासता के विषवृक्ष को समूल उखाड़कर फेंक दिया था। क्रान्तिकारी नेताओं ने इस स्वातन्त्र्य युद्ध के प्रथम पांच दिनों में ही जो यश प्राप्त हुआ उसका कारण यही था कि सभी जातियों और प्रवृत्तियों के लोग पराधीनता के पाश से भारत माता को बन्धन मुक्त कराने के लिए संगठित होकर- समरभूमि में अवतरित हो गए थे। मेरठ की महिलाओं से लेकर दिल्ली सम्राट् पर्यन्त सभी के अन्तःकरण में स्वातन्त्र्य एवं स्वधर्म रक्षा की अनिवार्य आकांक्षा बद्धमूल हो चुकी थी। उनकी इस आकांक्षा को क्रान्तिकारी गुप्त संगठन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था।

---

१. चाहे कितनी भी क्रूरता अथवा रक्तपात क्यों न किया गया, और बाद में कितनी भी जन श्रुतियाँ क्यों न प्रसारित की गई हों कि महिलाओं से भी छेड़छाड़ की गई है, उनका अपमान किया गया है, किन्तु जहांतक मैंने जांच की है, इसकी सत्यता का कोई भी प्रमाण मुझे नहीं मिला।
आनरेबिल सर विलियम म्यूर के० सी० एस० आई० गुप्तचर विभाग के प्रमुख।
२. चार्ल्स बाल, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १०५

इसी का यह परिणाम था कि केवल पांच दिन की अवधि में ही स्वतन्त्रता की पुनीत पताका भारत की राजधानी पर फहरा उठी। हिन्दुस्थान की इतिहास प्रसिद्ध राजधानी में स्वराज्य की प्राण प्रतिष्ठा हो गई। १६ मई को दिल्ली में फिरंगी राज्य सत्ता का एक भी चिह्न बाकी नहीं रह गया था। अंग्रेजों और अंग्रेजी वस्तुओं के प्रति दिल्ली में रोष की वह प्रचण्ड अग्नि व्याप्त हो गई थी कि यदि किसी के मुख से भूल में भी अंग्रेजी शब्द का उच्चारण हो जाता था तो उस पर मर्मान्तिक वाक् प्रहार किया जाता था। अंग्रेजों की पताका टुकड़े-टुकड़े करके राजमार्गों में पैरों तले रौंदी जा रही थी और स्वतन्त्रता की पुनीत पताका पराधीनता के धब्बों को उष्ण रक्त से धोकर ससम्मान फहरा उठा था। स्वतन्त्रता की उर्मियां इतनी प्रबल हो उठी थीं कि इस पांच दिन की अवधि में ही दिल्ली में एक भी देशद्रोही का नाम निशान बाकी न रह गया था। नर-नारी धनी और निर्धन, आबाल वृद्ध, सैनिक और नागरिक, मौलवी व पण्डित, हिन्दू और मुसलमान सभी स्वदेश की पावन पताका की छाया में संघबद्ध होकर विदेशी दासता पर अपने शस्त्रास्त्रों से प्रचण्ड प्रहार कर रहे थे। ऐसी विलक्षण स्वदेश प्रीति और स्वातन्त्र्य प्रेम का प्रस्फुटन हुआ था। वस्तुतः मेरठ की महिलाओं की वाणी से निकले शब्दों ने जो ओज और तेज उत्पन्न किया था उसका ही यह सुपरिणाम हुआ कि दिल्ली का सिंहासन पुनः प्रतिष्ठित हो गया।

ये पांच दिवस हिन्दुस्थान के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। इसका कारण यह है कि महमूद गजनवी के आक्रमण से चला आ रहा हिन्दू-मुसलमान का प्रचण्ड युद्ध इन पांच दिनों ने समाप्त कर दिखाया था। इन पांच दिनों ने ही समस्त संसार को बता दिया था कि हिन्दू-मुसलमान-संघर्ष की समाप्ति हो गई है और अब उनका विजित और विजेता का प्रश्न मिट गया है। मुसलमानों की जिस पराधीनता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रतापसिंह, छत्रसाल, प्रतापादित्य और गुरु गोविन्दसिंह तथा महादजी शिन्दे ने संघर्ष कर भारत माता को मुक्ति प्राप्त कराई थी वही भारत माता इन दिनों में इस दिव्य मन्त्र का उच्चारण कर रही थी "अब तुम दोनों समान हो, मैं तुम दोनों की जन्मधात्री हूं और तुम परस्पर सहोदर भाई हो। हिन्दुस्थान तुम्हारा स्वदेश है और तुम सगे भाई हो।" इस गर्जना को ही दोहराते हुए हिन्दू और मुसलमानों ने परस्पर संगठित होकर दिल्ली के राज्य सिंहासन को गौरव प्रदान कर स्वराज्य की धूल-धूसरित पताका का पुनः उत्तोलन किया था। ये पांच दिवस भारतीय इतिहास में अविस्मरणीय रहेंगे।

इन पांच दिनों में ही हिन्दुस्थान में लोकशक्ति का प्रथम बार उदय हुआ था। इन्हीं पांच दिनों में इस संवेदना का जन्म हुआ था कि राज्यसत्ता का कौन

संचालन करेगा, इसका निर्णय करने का कार्य लोकपक्ष द्वारा किया जाएगा। इस लोक पक्ष ने ही फिरंगी की दासता का पटल उतार फेंका था। उसीने अपनी सम्मति से राज्य सिंहासन के सम्बन्ध में निर्णय किया था। यही भावना थी कि जनता की इच्छा के अनुकूल ही शासन चलेगा। लोकतन्त्र की वास्तविक भावना की जयन्ती स्वरूप ये पांच दिन हिन्दुस्थान के इतिहास में अमर रहेंगे। ● ● ●

: ४ :

मध्यान्तर तथा पंजाब

दिल्ली के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार ऐसी विद्युत गति से प्रसारित हुआ था कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में स्वकीय एवम् परकीय सभी क्षण भर के लिए स्तम्भित होकर रह गए। अंग्रेज तो इस अचानक ही हुए विस्फोट का अर्थ ही नहीं समझ पाए। कलकत्ता में लार्ड केनिंग तो इसी विश्वास के साथ कल्पना लोक में विचरण कर रहा था कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में शान्ति का साम्राज्य स्थापित है। प्रधान सेनापति ऐन्सन शिमला की शीतल बयारों का आनन्द उपलब्ध करने हेतु शिमला प्रस्थान करने की योजना बना रहा था। इन्हें जब दिल्ली में स्वतन्त्रता की पुनीत पताका फहरा दिए जाने का समाचार एक संक्षिप्त से तार द्वारा प्राप्त हुआ तो पहले तो उसे पढ़ लेने पर भी उन्हें उसका अर्थ ही समझ में नहीं आ पाया। यह समाचार एक अंग्रेज द्वारा प्रेषित तार से प्राप्त हुआ था, अतः इस सूचना से हिन्दुस्थान की भी समस्त जनता आश्चर्यचकित रह गयी थी। इसका कारण यह था कि दिल्ली में सहसा ही हुए इस विस्फोट से ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि मानों क्रान्ति-रचना का सम्पूर्ण तारतम्य ही बिखर गया है। दिल्ली में सहसा ही जल उठी क्रान्ति की ज्वाला के कारण अंग्रेज सैनिक गतिविधियों की दृष्टि से एक बार जो भूल कर बैठा था, अब उसकी पुनरावृत्ति की कोई संभावना नहीं रह गयी थी। इसके स्थान पर अब तो उन्हें अपनी भूल का परिमार्जन करने का ही अवसर उपलब्ध हो गया था। यद्यपि यह सत्य है कि एक दो दिन के प्रयास में ही क्रान्तिकारियों ने दिल्ली के राज्य सिंहासन को उनके हाथों से छीन लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी, किन्तु यदि ३१ मई को पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार सम्पूर्ण देश में सार्वजनिक रूप से क्रान्ति का विस्फोट होता तो सम्पूर्ण हिन्दुस्थान की राज्यसत्ता पर भी क्रान्तिकारी एक दिन में ही अधिकार प्राप्त कर सकते थे। परन्तु मेरठ के इस विद्रोह ने तो इस योजना को ही छिन्न भिन्न कर दिया था। तथापि मेरठ के इस अनपेक्षित विस्फोट के बावजूद भी क्रान्तिकारियों

ने दिल्ली पर अपनी विजय पताका फहरा दी थी, इसके कारण इस विद्रोह को एक राज्यक्रान्ति का रूप मिल गया था। इससे सम्पूर्ण देश में एक राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव भी हो गया था। अब क्रान्तिकारियों के समक्ष यही प्रश्नचिह्न उपस्थित था कि इस चेतना का लाभ एकदम उठाया जाए अथवा ३१ मई की पूर्व-निर्धारित तिथि तक प्रतीक्षा की जाए ? दिल्ली की इस क्रान्ति का अन्य स्थानों पर क्या प्रभाव हुआ था ? क्रान्तिकारी संगठन के समक्ष यही प्रश्न विद्यमान था कि यदि सभी केन्द्रों में इसी भांति अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार क्रान्ति की चिंगारियां फूट पड़ीं तो क्या उसी प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होगी जैसी कि मेरठ में जल उठी इस क्रान्ति की ज्वाला के फलस्वरूप उत्पन्न हो गई है ? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विचार करने में क्रान्तिकारी नेता विभिन्न केन्द्रों पर लिप्त थे। किसी भी निष्कर्ष पर न पहुंच पाने के कारण वे निष्क्रिय से हो गए थे। अनिश्चय और अस्थिरता से बढ़कर अन्य कोई भी विष क्रान्ति का प्राणहरण करने में सफल रहनेवाला नहीं है। क्रान्ति का विस्तार जितना त्वरित और आकस्मिक होता है उसकी विजय की संभावना भी उतनी ही अधिक हो जाती है। इस विस्तार की गति मन्द हुई कि शत्रु को संभलने की स्वर्णिम सन्धि प्राप्त हो जाती है। यह देखकर क्रान्तिकारियों का उत्साह मन्द पड़ जाता है कि उनके साथ तो अन्य कोई भी आकर खड़ा नहीं हो रहा है। उनका साहस टूटने लगता है और शत्रु सचेत होकर नवीन विद्रोहियों के मार्ग में अवरोध उप-स्थित करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। शत्रु अनेक विघ्नों का निर्माण कर देता है। प्रथम आक्रमण और क्रान्ति के प्रसार के मध्य शत्रु को समय दे देना सदैव ही किसी क्रान्ति की योजना के लिए प्रचण्ड हानि का कारण बनता आया है। इसी भांति पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के सर्वथा विपरीत सहसा ही हुए इस विस्फोट से अन्य स्थानों पर योजना की पूर्ति में संलग्न नेतागण आश्चर्यचकित हो गए। वे इस असमंजस में पड़ गए कि क्या करें अथवा न करें।

क्रान्तिकारी दल में उत्पन्न हुई इस निष्क्रियता से अंग्रेज अत्यधिक लाभान्वित हुए। जब से उन्होंने हिन्दुस्थान की धरती पर अपने पग धरे थे तब से यह प्रथम अवसर ही था कि उन्हें ऐसा हतप्रभ कर देनें वाला समाचार सुनने को मिला था। इस मई मास में बैरकपुर से आगरा पर्यन्त ७५० मील के इस महायुद्ध में अंग्रेजों की केवल एक ही रेजीमेन्ट थी। ऐसी स्थिति में यदि क्रान्तिकारी दल द्वारा निर्धा-रित योजना के अनुसार इस सम्पूर्ण भूखण्ड में एक ही समय पर क्रान्ति का विस्फोट होता तो एक क्या यदि ऐसे १० इंगलैंड भी सुसज्जित और सन्नद्ध होकर आते तो भी वे हिन्दुस्थान को अपनी दासता की बेड़ियों में जकड़े रखने में कदापि सफल न रह पाते। अंग्रेजों की यह एक मात्र रेजीमैन्ट दानापुर में थी। पंजाब तथा

सीमाप्रान्त में भी गोरी सेना की कई रेजीमेन्ट थीं, किन्तु उनका वहाँ रखना नितान्त अनिवार्य था। ऐसी स्थिति में लार्ड केनिंग ने सर्वप्रथम यही निश्चय किया कि गोरी सेना को अधिकाधिक संख्या में एकत्रित किया जाए। अंग्रेजों के सौभाग्य से उन्ही दिनों ईरान का युद्ध भी समाप्त हो गया। अतः वहाँ की सेना को भी तत्काल भारत वापस लौट आने का आदेश दे दिया गया। ईरान का युद्ध तो रुक गया था, किन्तु अंग्रेजों ने चीन से संघर्ष मोल ले लिया था और वहाँ सेना भेजने की सिद्धता की जा रही थी। किन्तु भारत में सहसा ही धधक उठी इस क्रान्ति की ज्वाला के कारण चीन प्रस्थान करने वाली सेना को भी भारत में रोक रखना ही केनिंग ने उपयुक्त समझा। इन दोनों सेनाओं के अतिरिक्त रंगून की सेना को भी कलकत्ता में ही रुके रहने का आदेश दे दिया गया। इसके साथ ही साथ मद्रास के गवर्नर को यह आदेश दिया गया कि वह ४३वीं पलटन तथा बन्दूकधारी (फ्युझिलियर) सेना को पूर्णतः सुसज्जित रखे।

इस भांति चतुर्दिक से गोरी सेनाओं को कलकत्ता में एकत्रित करके केनिंग ने सैनिकों के हृदय में दहकते हुए क्रान्ति के अंगारों पर पानी डालने का एक बार पुनः प्रयास किया। उसने हिन्दुस्थानी सैनिकों को यह समझाने का प्रयास किया कि "तुम्हारे धर्म अथवा जाति विषयक एवम् वर्ण विषयक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने का हमारा किंचित मात्र भी इरादा नहीं है। तुम यदि चाहते हो तो अपने हाथों ही कारतूसों का निर्माण कर सकते हो। इस पर भी तुम कंपनी की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हो। स्मरण रखो, तुम कंपनी का नमक खा चुके हो, अतः उसके विरुद्ध विद्रोह करना एक महान पाप है।" इसी प्रकार के उपदेशों से युक्त-पत्रक भी उसने प्रत्येक प्रान्त, नगर तथा ग्राम में चिपकवाए। किन्तु अब इन पत्रकों पर मुद्रित थोथे उपदेशों को पढ़ने का भी अवकाश किसके पास था। जहाँ यह विवाद उपस्थिति हो गया हो कि हिन्दुस्थान में अंग्रेजों को इस प्रकार के पत्रक प्रसारित करने का अधिकार भी है अथवा नहीं वहां इस प्रकार की घोषणाओं से विद्रोह की अग्नि के दमन का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। इसके स्थान पर उनसे भारतवासियों की क्रोधाग्नि अधिक ही भड़क रही थी। हिन्दुस्थान के पास अब इन निस्सार घोषणा-पत्रकों को पढ़ने का समय नहीं था। अब तो जन-जन के कान दिल्ली से प्रसारित होने वाली दिव्य राज्याज्ञा की ओर ही लगे हुए थे। कितनी रोचक स्थिति थी। एक ही समय पर दो घोषणा पत्र प्रसारित हुए थे। दिल्ली से स्वतन्त्रता का तो कलकत्ता से दासता का घोषणा-पत्र। भारतवर्ष ने दिल्ली से प्रसारित हुई राजाज्ञा को शिरोधार्य किया। परिणामतः केनिंग ने भी अपनी लेखनी को तोड़कर प्रधान सेनापति को तुरन्त दिल्ली पर तोपें दाग देने का आदेश दे दिया।

प्रधान सेनापति एन्सन को शिमला में ही दिल्ली में क्रान्ति का विस्फोट होने का समाचार प्राप्त हुआ था। वह उसे पढ़ने के उपरान्त यही विचार कर रहा था कि अब क्या किया जाए। उसी समय केनिंग का आदेश उसे प्राप्त हुआ कि दिल्ली पर तत्काल अधिकार कर लो। विद्रोहियों की शक्ति के संबंध में अंग्रेजों के अज्ञान की अभिव्यक्ति इसी तथ्य से हो जाती है कि उन्हें यह विश्वास था कि एक सप्ताह में ही दिल्ली पर पुनः हमारी पताका फहरा उठेगी तथा एक मास की अवधि में ही इस विद्रोह की ज्वाला को सदा के लिए बुझा दिया जाएगा। पंजाव के मुख्य अधिकारी सर जान लारेन्स ने भी एन्सन को तत्काल दिल्ली पर अधिकार कर लेने को तार भेजा था। किन्तु दिल्ली पर पुनः अपनी पताका फह-राना कितना दुष्कर कार्य है इसकी अनुभूति केनिंग अथवा लारेन्स की अपेक्षा प्रधान सेनापति एन्सन को ही अधिक थी। अतः उसने पूर्ण सिद्धता होने तक धैर्य धारण करना ही उपयुक्त समझा। वह अभी शिमला की पर्वत मालाओं से उतर कर अम्बाला की सैनिक छावनी तक ही पहुँच पाया था कि उसे शिमला में भी प्रचण्ड गड़वड़ उत्पन्न हो जाने का समाचार प्राप्त हो गया। वहाँ गोरखों की नासिरी वटैलियन ने विद्रोह कर दिया है, यह अफवाह फैल जाने से अंग्रेजी सेना के होश गुम हो गए। शिमला के अंग्रेज भी थर्रा उठे। उस वर्ष शिमला में रहकर भी ग्रीष्म ऋतु की उष्णता को सहन कर पाना अंग्रेजों के लिए असंभव प्रायः हो गया था। उनके लिए तो शीतल समीरण से आप्लावित पर्वतमालाओं पर बनी हुई ये कोठियां भी कष्टदायिनी सी ही बन गई थीं। "गोरखा पलटन आ गयी रे, आ गई रे" का स्वर सुनते ही गोरी महिलाएं और वालक भी शरण लेने के स्थल की खोज करते हुए भाग निकले। भागने की इस स्पर्धा में भी पीठ पर बोझ लादे हुए भी पुरुषों ने ही महिलाओं को पराजित कर दिया। अंग्रेजों की वीरता का यह प्रदर्शन दो दिन तक खुले मैदान में होता रहा किन्तु जब उन्हें कोई गोरखा दृष्टिगोचर न हुआ तो इस दृश्य का प्रदर्शन भी समाप्त हो गया। इसी भाँति कलकत्ता में भी प्रतिदिन कुछ ऐसे ही दृश्य उपस्थित होते थे। ज्योंही वहाँ यह समाचार प्रसारित होता कि बैरकपुर की सेना ने अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति की पताका फहरा दी है, त्योंही अंग्रेज, उनकी स्त्रियां, और बालक दुर्ग की ओर तीव्र-गति से पलायन करने लग जाते थे। उनमें से अनेकों ने इंग्लैण्ड के टिकट भी मंगा लिए थे। कुछ ने अपना सम्पूर्ण सामान आदि बांधकर तैयार रखा हुआ था, जिससे कि किसी भी क्षण दुर्ग की ओर भाग निकलने में सुगमता रहे। इनके अति-रिक्त अनेक ही गोरांग वीर थे जिन्होंने अपना काम छोड़कर अपने कार्यालयों के कोनों में मुख छिपा लेने की 'महान् वीरता' का भी प्रदर्शन किया था। यह धाक तो केवल मेरठ के विद्रोह की ही थी, आंग्ल शिविर में इतनी खलबली तो केवल

दिल्ली के करवट बदलने से ही मच चुकी थी। अभी तो अंग्रेजों ने कानपुर की रणहुंकार सुनी ही नहीं थी।

प्रधान सेनापति एन्सन ने अम्बाला पहुंचते ही दिल्ली पर तोपखाने से धावा बोलने की योजना बनाकर तोपों तथा अन्य विस्फोटक सामग्री को सिद्ध रखने की दृष्टि से कार्य आरम्भ कर दिया था। हिन्दुस्थान में इतना भयंकर संकट अंग्रेजों के समक्ष इससे पूर्व कभी उपस्थित नहीं हुआ था। किन्तु अब तो अंग्रेजों की दुर्बलता का भाण्डा चौराहे पर फूट रहा था। उनका सवा लाख का दर्प अब खाक बनकर रह गया था। एन्सन के लिए किसी प्रकार से भी शीघ्रता कर पाना असंभव प्रायः ही हो गया था। अब तक तो अंग्रेज अधिकारियों का काम केवल यही था कि वे काले सिपाहियों को आदेश देते थे। किन्तु अब जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसमें इन अंग्रेज अधिकारियों के लिए अपने इस दर्प और अहंकार का प्रदर्शन कर पाना भी सर्वथा असंभव ही हो गया था। किन्तु आज तक उनका जो दर्प बढ़ता रहा था, वह एक दिन में समाप्त हो पाना भी तो संभव नहीं था। तथापि अब उनमें प्रत्येक पग पर भारतीय सिपाहियों से बेगार करा लेने की भी क्षमता नहीं रह गई थी। अब तो उनके लिए वाहन, मजदूर और खाद्य-सामग्री ही नहीं, रुग्ण लोगों के लिए वाहनों की व्यवस्था कर पाने में भी भारी कठिनाई उपस्थित हो गई थी। एडज्यूटेन्टे क्वार्टर मास्टर, कमिसारी, चिकित्सा विभाग किसी को भी सहायकों, सेवकों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं से परिपूर्ण करना असम्भव प्रायः हो जाने से उनके समक्ष भारी कठिनाइयां उपस्थित थीं। स्पष्ट हो गया था कि हिन्दुस्थान के सहयोग के आभाव में आंग्ल सत्ता कितनी विवश है। अभी तो प्रथम ही अवसर था जब हिन्दुस्थानी सिपाहियों ने अंग्रेजों की सत्ता को चुनौती दी थी, किन्तु इस एक ही रणगर्जना के फलस्वरूप अम्बाला से दिल्ली तक प्रस्थान कर पाना भी कठिन हो गया था। "इसका कारण यह था कि सभी वर्गों एवं जातियों के भारतीय हो रही घटनाओं से पूर्णतः तटस्थ बने इन सब दृश्यों का अवलोकन कर रहे थे। धनी हो अथवा निर्धन कोई भी आगे आकर इस डूबती हुई आंग्ल सत्ता को बचाने का प्रयास करने को तैयार नहीं था।"[१]

यदि वस्तुतः ही हिन्दुस्थानवासी इतने उदासीन रहे होते जितना उनके संबंध में उपरोक्त पक्तियों में वर्णित है तो यह तथ्य सुनिश्चित समझा जाना चाहिए कि भारत में अंग्रेजी राज्य सत्ता एक दिन में ही धूलधूसरित हो जाती। किन्तु १८५७ ई० में तो वह सौभाग्यशाली दिवस आ ही नहीं पाया था। यही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि सत्तावन का यह वर्ष तो गहन तिमिरा-

---

१. के-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २

च्छन्न रात्रि के उपरान्त प्रस्फुटित हुई नव जागरण की उषा मात्र ही थी। जिन्होंने आगामी प्रकाश के आविर्भाव की कल्पना स्पष्ट रूप से पहले ही कर ली थी वे तो अपनी शैयाओं का परित्याग कर जागृत हो उठे थे, किन्तु जिनकी मान्यता यही थी कि अभी भी रात्रि का अवसान नहीं हो पाया है उन्होंने पराधीनता की चादर का वितान तानकर निश्चिन्त खर्राटे भरना ही श्रेयस्कर माना था। वे दासता की ओढ़नी को पुनः ओढ़ने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान रहे थे। इन निद्रा-वीरों ने तो अपनी नींद में कुम्भकर्णी निद्रा को भी पछाड़ देने का संकल्प ग्रहण कर लिया प्रतीत होता था। पटियाला, नाभा और जींद इन तीन देशी राज्यों में तो मानो निद्रा देवी के प्रति अनुरक्ति के प्रदर्शन की प्रतिस्पर्धा ही चल रही थी। क्रान्ति को अमरत्व प्रदान करना अथवा उसकी हत्या कर देना ये दोनों बातें इन राज्यों पर ही अवलम्बित थीं। ये तीनों राज्य दिल्ली और अम्बाला के मध्य में स्थित थे। अतः इनका सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व था। क्योंकि इनके सहयोग के आभाव में अंग्रेजों को अपना पृष्ठ भाग संभालने में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी। यदि कतिपय अन्य राज्यों की तरह इन राज्यों में भी क्रान्ति के प्रति उपेक्षा नीति पर ही आचरण किया होता तब भी क्रान्ति के यशस्वी होने की संभावनाएं बढ़ जातीं, किन्तु इसके सर्वथा विपरीत क्रान्तिकारियों से सहयोग करने के स्थान पर पटियाला, नाभा और जींद के इन राज्यों ने क्रान्तिकारियों पर अंग्रेजी सेना से भी अधिक मर्मान्तिक प्रहार करने में कोई संकोच न किया। इन्हींके क्रियाकलापों के कारण दिल्ली और पंजाब का संबंध भी खण्डित हो गया। इन तीनों ही राज्यों ने दिल्ली के सम्राट् के निमंत्रण को ठुकरा ही नहीं दिया, अपितु उनके सन्देश-वाहक सवारों को भी मृत्यु के घाट उतार कर तथा अपने राज्य कोषों से धन का अम्बार बलिहार कर अपनी आंग्लभक्ति का परिचय दिया। इतने पर ही ये शान्त नहीं हुए अपितु इन्होंने अंग्रेजों के लिए रंगरूट भर्ती किये। जिन भागों से होते हुए अंग्रेजी सेना को दिल्ली की ओर प्रस्थान करना था उनकी रक्षा भी की तथा दिल्ली को पुनः पराधीनता की बेड़ियां पहनाने में भी भागीदार बने। किन्तु जिन क्रान्तिकारियों ने अपने पारिवारिक सुखों को अंगार लगाकर दिल्ली में फहराती राष्ट्र पताका को शान से फहराये रखने के निमित्त प्राणों की भेंट चढ़ा दी उन्हीं क्रान्तिवीरों को अपने आपको गुरु गोविन्दसिंह का शिष्य (सिख) कहने वाले इन राज्यों ने अनेक प्रकार से उत्पीड़ित किया और यन्त्रणाएं दीं तथा उनमें से अनेकों का प्रवंचना द्वारा वध किया।[१]

---

२. "इस वस्तुस्थिति की अपेक्षा अधिक हृदयद्रावक वास्तविकता सत्तावन के क्रान्ति-युद्ध में उपलब्ध हो पानी कठिन है। जिन प्रदेशों में अंग्रेजों को संरक्षण मिला

पटियाला, नाभा और जींद जैसी देशी रियासतों की सहायता प्राप्त हो जाने के कारण अंग्रेजों का साहस बढ़ा और उन्हें विलक्षण धैर्य की अनुभूति हुई। पटियाला के शासक ने अपने भाई के साथ अपनी श्रेष्ठ सेना एवम् तोपखाना भेजकर उसे थानेसर मार्ग की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व दे दिया। जींद के शासक ने पानीपत की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। इस भांति इन दो प्रमुख मोर्चों की सुरक्षा-व्यवस्था हो जाने के उपरान्त अंग्रेजों के लिए अम्बाला से दिल्ली तक का सम्पूर्ण मार्ग निष्कंटक और निरापद हो गया था। अब वे इस सम्पूर्ण अंचल के संचलन करने की दृष्टि से निश्चिन्त हो गये थे। २५ मई को प्रधान सेनापति ऐन्सन ने अम्बाला छोड़कर दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। परन्तु दिल्ली के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार प्राप्त होने से वह हतप्रभ हो गया था। इसके साथ ही इस विचार ने भी उसके मन पर आतंक की छाप लगा दी थी कि वह अब तक तो शिमला की हिमशीतल छाया में ग्रीष्म से बचकर सुखद जीवन व्यतीत कर आया है, किन्तु अब उसे वीरान मैदानों में प्रचण्ड उष्णता को सहन करते हुए अपने शरीर को झुलसाना पड़ेगा। मानसिक उत्पीड़न और भावी आपदाओं के प्रचण्ड रौद्ररूप की कल्पना मात्र से उसके हाथ-पैर फूल रहे थे। इसी विपन्नावस्था में ऐन्सन का २७ मई को हैजे के रोग से देहान्त हो गया और उसी दिवस उसका स्थान बर्नार्ड नामक अधिकारी ने ग्रहण कर लिया और अब वह प्रधान सेनापति हो गया।

इस भांति पुराने प्रधान सेनापति के शव को दफनाकर अब अंग्रेज सेना ने नए सेनापति के नेतृत्व में दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। उस समय अंग्रेज सैनिकों में इतना उत्साह व्याप्त था कि वे ऐसी दर्पपूर्ण घोषणाएं करने लग गये थे कि "दिल्ली में प्रातःकाल युद्ध आरम्भ होगा ओर सायंकाल तक हम शत्रुओं के रक्त से अपनी पिपासा शान्त कर लेंगे।" जब इस सेना ने अम्बाला से प्रस्थान किया, उसी समय इसके गोरे सैनिकों के काले अन्तःकरण में कलुपित भावनाओं का प्रकटीकरण होने लगा था। उन्होंने मेरठ के भारतीय सिपाहियों को काफिर और शैतान कहना आरम्भ कर दिया था। ये अंग्रेज सैनिक आरोप लगा रहे थे

उन प्रदेशों में स्वधर्म और स्वराज्य के लिए अपने शीश हथेली पर रखकर रणभूमि में अवतरित होनेवालों को मार्ग भी न मिल पाया। इतना ही नहीं अपितु उनके साथ हजारों लोगों ने शत्रुओं से भी अधिक छल करते हुए उनकी हत्याएं भी कीं। इस पाप का प्रायश्चित्त हिन्दुस्थान के इतिहास में कब हो पाएगा।"

—'टू नेटिव नेरेटिव्स आफ म्युटिनी'

कि "मेरठ और दिल्ली में कारतूसों संबंधी अफवाहों पर विश्वास करके ही इन्होंने निरपराध अंग्रेजों को मौत के घाट उतारा है। इन घटनाओं से स्पष्ट हो रहा है हिन्दुस्थान में धर्म और सभ्यता भी कितने जंगली रूप में है।" परन्तु जो कुछ भी गुप्त रूप है उसका आविष्करण भी कभी न हो पायेगा। कारण इसका यह है कि झूठी अफवाहों से सत्य और बर्बरता से सभ्यता पर घृणा करने हेतु परमात्मा को भी प्रवृत्त होना पड़ेगा। इस विडम्बना का प्रक्षालन तप्त लोहू की उष्ण धाराओं द्वारा ही किया जा सकेगा। भारतीय सैनिकों को नराधम और काफिर की संज्ञा देने वाले इन अंग्रेजों के क्रियाकलापों से वस्तुतः उनकी 'महान सभ्यता' का ही भाण्डा चौराहे पर स्वतः फूट जाता है।

अम्बाला से दिल्ली पर धावा बोलने के लिए चली अंग्रेज सेना ने मार्ग में मिले ग्रामों के निवासियों को एक पंक्ति में खड़ा किया तथा सैनिक न्यायालय उन्हें फांसी का दण्ड सुनाता गया और अपने-आपको सभ्यता का ठेकेदार माननेवाले गोरे इन निरीह प्राणियों के वध द्वारा अपनी साम्राज्यवादी पिपासा बुझाते हुए आगे बढ़ते गये। मेरठ में हिन्दुस्थानियों ने अंग्रेजों की हत्याएं की थीं, यह सत्य है, किन्तु यह भी इतना ही अकाट्य सत्य है कि उन्होंने बर्बरता और क्रूरता का कदापि अनुगमन न किया था। वे तो अपनी तलवार के एक ही वार से गोरे का सिर धड़ से पृथक कर देते थे, किन्तु आंग्ल प्रभुओं की भद्रता तो देखिए कि उन्होंने इस भद्दे तरीके में भी नवीन सुधार कर दिया था। प्रथमतः सैनिक न्यायालय अपना निर्णय सुना देता और निर्णय सुनाए जाने के समय से लेकर फांसी पर लटकाए जाने की घड़ी तक इन निरपराध भारतीय ग्रामीणों पर अंग्रेज सैनिक अवर्णनीय अत्याचार करते जिन्हें देखकर पशुता भी लज्जा से गर्दन झुका लेती थी। मृत्युदण्ड प्राप्त इन निरपराधों के सिर का एक एक बाल नोचा जाता था, संगीनें घोंपकर उनके शरीर को क्षत विक्षत किया जाता था, और इससे भी बढ़कर अत्याचार की पराकाष्ठा तो यह थी कि उन्हें एक ऐसे कार्य के लिए विवश किया जाता था जिसके समक्ष ये ग्रामीण मृत्यु को तो खेलमात्र ही समझते थे। गोरे सिपाही इन निर्धन, सात्विक एवम् निरपराध हिन्दुओं के, इन अभागे ग्रामीणों के मुख में भालों और संगीनों की नोकों से गोमाता का कच्चा मांस ठूंस देते थे।[१]

तो यह सैनिक न्याय का नाटक अभी भी पूर्ववत् चल ही रहा था। ग्रामों से सैकड़ों निरपराध ग्रामवासी भेड़-बकरियों के समान सैनिक न्यायालय रूपी इस बाड़े में एकत्रित किए जाते थे और उन्हें एक साथ बैठाकर 'न्यायदान' दिया जाता था। नीदरलैण्ड में जब राज्यक्रान्ति की ज्वाला धधकी तो उसके पूर्व वहाँ भी

---

१. होम्स-कृत 'हिस्ट्री आफ दि सीज ऑफ दिल्ली'

अल्ह्वा ने भी वहाँ इसी प्रकार के न्यायालय स्थापित किए थे। इन न्यायालयों में न्याय भी कितना अधिक अचूक और विलक्षण था उसका परिचय इस बात से ही मिल सकता है कि यदा कदा तो न्यायाधीश ही न्यायाध्यक्ष के आसन पर निद्रा-मग्न पाया जाता था। जब उससे निद्रा से जगाकर न्याय के दान हेतु आग्रह किया जाता तो वह एक बार नितान्त ही गम्भीर मुद्रा में अपराधियों पर दृष्टिपात करता और दूसरे ही क्षण उसके मुख से निकल पड़ते थे ये शब्द "इन सबको मृत्यु-दण्ड।" ऐसा प्रतीत होता है कि नीदरलैण्ड के इतिहास-प्रसिद्ध मृत्युदण्डालय (डेथ चैम्बर) का संशोधित एवं परिवर्धित रूप ही हिन्दुस्थान में अस्तित्व में आ गया था, क्योंकि इन न्यायालयों में 'न्याय' करने वाले न्यायाधीश अपने आसनों पर कदापि न सोते थे। इतना ही नहीं वे अपने कर्त्तव्य के प्रति भी पूर्णतः सजग रहते थे क्योंकि उन्हें न्याय के आसन पर विराजमान होने से पूर्व ही यह शपथ ग्रहण कर लेनी पड़ती थी कि "मैं अपराधियों के निर्दोष अथवा दोषी होने पर विचार न करता हुआ, उन्हें निश्चित रूप से मृत्युदण्ड ही दूंगा।"[1] जिन अंग्रेज सैनिक पंचों ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की होती थी वे ही सब काले लोगों को समवेत स्वर में मृत्युदण्ड सुनाने का कार्य जिस आसन पर बैठकर करते थे उसे ही अंग्रेजी भाषा में 'कोर्ट मार्शल' की संज्ञा दी गई थी।

मेरठ और दिल्ली में जो मुट्ठी भर अंग्रेज मारे गए थे उनकी मृत्यु का प्रति-शोध लेने के लिए मार्ग में मिलने वाले प्रत्येक मानव की हत्या करने का कुकृत्य करता हुआ तथा इसी ढंग से सहस्रों लोगों की अपनी क्रोधाग्नि में भस्म करता हुआ कमाण्डर बर्नार्ड अम्बाला से दिल्ली की ओर आ रहा था। किन्तु उसने यह निश्चय किया कि दिल्ली पर धावा बोलने के पूर्व मेरठ की गोरी सेना को भी अपने साथ ले लिया जाए। अतः उसने मेरठ की ओर पग बढ़ाया। यह तो लिखा ही जा चुका है कि मेरठ में गोरी सेना भारी संख्या में विद्यमान थी। यह सेना भी

---

१. सैनिक पंच न्यायालय के आसन को ग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक पंच द्वारा यह शपथ ग्रहण की जाती थी कि मैं बन्दी के अपराधी अथवा निर्दोष होने की चिन्ता न करते हुए उसे प्राणदण्ड दूंगा। और यदि उनमें से कोई इस विवेक-हीन निर्णय के विरुद्ध अपना मुख खोलता भी था तो उसके अन्य साथी उसका मुख बन्द कर देते थे। निर्णय के तत्काल उपरान्त ही फांसी के फन्दों पर जाते हुए बन्दियों को प्रताड़ना दी जाती थी और उनका उपहास भी किया जाता था। उन्हें अनाड़ी-हत्यारे भांति भांति की यंत्रणाएं देते थे और पढ़े-लिखे अधिकारी मनोरंजन करते थे।

—होम्स-कृत 'हिस्ट्री आफ दि सिपॉय वार', पृष्ठ १२४

अम्वाला से चली आ रही अंग्रेज सेना से बीच में ही मिल लेने के लिए मेरठ से प्रस्थान कर चुकी थी। किन्तु इन दोनों सेनाओं की भेंट होने से पहले ही इनसे दो दो हाथ करने के लिए क्रान्तिदूत भारतीय सैनिक भी दिल्ली से मेरठ की ओर प्रस्थान कर चुके थे। ३० मई को हिण्डन नदी के तट पर क्रान्तिकारी सैनिकों और गोरी सेना का मुकाबला हुआ। भारतीय सेना का दायाँ भाग भारी तोपखाने से सुसज्जित था, अतः उस ओर से वे निश्चिन्त रहे, साथ ही अंग्रेज सैनिकों ने भी उस ओर सिर मार कर यह समझ लिया कि उनकी दाल न गल सकेगी। अतः उन्होंने बाईं ओर घमासान युद्ध आरम्भ कर वहाँ क्रान्तिकारियों की प्रतिरोध क्षमता को दुर्वल कर दिया। अतः रणभूमि में ५ तोपों को छोड़कर भारतीय सैनिकों को अपने स्थान से हटना पड़ा। किन्तु इससे पूर्व कि अंग्रेज सेना आकर इन तोपों पर अपना अधिकार जमाती ११वीं पलटन के एक वीर सैनिक ने मृत्यु को भी चुनौती देने का सत् संकल्प कर लिया। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि कोई अपना कर्तव्य पूर्ण करे अथवा न करे देह में प्राण रहते मैं राष्ट्रसेवा के पावन व्रत का पालन करता रहूंगा। देशप्रेम की पावन अग्नि ने उसको निराशा के इस अंधकारपूर्ण वायुमण्डल में भी प्रकाश की किरण प्रदान की। अंग्रेजों द्वारा इन तोपों को अधिकार में लेने के पूर्व ही उसने वारूद में ज्वाला दहका दी। एक प्रचण्ड विस्फोट से धरा अम्बर गूंज उठे। कप्तान एन्ड्रूज तथा उसके अनेक साथी दहकते अंगारों में भस्मसात हो गए तो अनेक घायल भी हो गए। इस प्रकार माता के इस लाड़ले लाल ने अनेक शत्रुओं का काल वनकर उनके नरमुण्डों की मालभारतमाता के चरणों में समर्पित कर दी। तदुपरान्त उस हुतात्मा ने अपना शीश भी माता की गोदी में रखकर चिरनिद्रा ग्रहण कर ली। जिस भांति दिल्ली के शस्त्रागार को आग लगाकर उसे भारतीय सैनिकों के हाथों में न पड़ने देने के लिए साहस और शौर्य का प्रदर्शन करने वाले लेफ्टिनेन्ट विलोवा की कीर्ति कथा अंग्रेज इतिहासकार गौरव-सहित गाते हैं उसी भांति भारतमाता के श्रीचरणों में अपना शीश न्यौछावर कर मृत्यु का आलिंगन करने वाले इस नरवीर की स्तुति गायन करना हम सबका भी पावन दायित्व है। किन्तु मेरे महान देश! ऐसे हुतात्माओं के तो नाम मात्र का भी उल्लेख हमें अपने इतिहास में नहीं मिल पाता। किन्तु इन गुमनाम ही रह जाने वाले हिन्दुस्थान के महान सुपुत्रों के संबंध में इतिहासकार के ने लिखा है, "विद्रोहियों में भी ऐसे अनेक शूरवीर विद्यमान थे जो अपने राष्ट्रकार्य की सफलता हेतु प्रसन्नवदन मृत्यु का आलिंगन करने को तत्पर रहते थे तथा काल को भी चुनौती देते थे।"

इस प्राथमिक मुठभेड़ से अंग्रेजों को जो विजय प्राप्त हुई उससे कलकत्ता पर्यन्त अंग्रेजी सेनाओं में यही विश्वास उत्पन्न हो गया कि अव दिल्ली पर अधिकार कर

लेना तो एक दो दिन का ही खेल है। इस आशय के पत्र भी चारों ओर से अंग्रेज अधिकारियों को मिलने आरम्भ हो गए थे। किन्तु वस्तुस्थिति तो कुछ अलग ही थी ! क्रान्ति के इस अभूतपूर्व और आकस्मिक विस्फोट से विकराल रूप सम्पूर्ण देश में उभरा था, देश की विशा-दिशा में अंगार दहक उठे थे, किन्तु इस विस्फोट को उचित मार्गदर्शन देने और अनुशासनबद्ध रखने का कौशल और धैर्य दिल्ली अपने आपसे न संजो पाई थी। किन्तु यह भी सत्य है कि दिल्ली के प्रत्येक नागरिक ने यह पावन संकल्प ग्रहण कर लिया था कि "देह में प्राण रहते मैं मातृभूमि की स्वतन्त्रता के पावन दायित्व का पालन करने में एक भी पग पीछे न धरूंगा।" अतः ३० मई को मिली पराजय से इन देशभक्त नागरिकों की फटकार और धिक्कार भी भारतीय सैनिकों को सुनने को मिली। वे पुनः उत्सांहित हुए और ३१ मई को रणभूमि में उतर पड़े। क्रान्तिकारियों की तोपों ने अग्निवर्षा आरम्भ कर दी और दूसरी ओर से अंग्रेजों की तोपें भी अग्नि के अम्बार उगलने लग गईं। उस दिन क्रान्तिकारियों की तोपों के गोले अचूक निशाने साध रहे थे और एक-एक क्रान्तिकारी सैनिक अनुपम धैर्य का सफल प्रदर्शन कर रहा था। अंग्रेज धड़ाधड़ मृत्यु के कराल गाल में प्रवेश करते जा रहे थे। मई की चिलचिलाती धूप ने भी अंग्रेजों के लिए भयंकर परेशानी उत्पन्न कर दी थी। अतः अंग्रेजों ने यह योजना वनाई कि सूर्य के अस्ताचलगामी होते ही चारों ओर से एक साथ क्रान्तिकारियों पर आक्रमण किया जाएगा। परन्तु क्रान्तिकारी भी सजग थे। उनकी तोपों ने अपने मुखों से प्रचण्ड अग्निवर्षण प्रारम्भ कर दिया और फैली हुई पांती को भी संवार लिया। जिस समय अंग्रेजी सेना आक्रमण करने को ही थी उसी समय क्रान्तिकारियों की सेना नितान्त चतुरता सहित वहाँ से हट गई। क्रान्तिवीरों तुम हट गए हो, कोई चिन्ता की वात नहीं। कल भी तुम इसी प्रकार का रणकौशल दिखाना, क्योंकि अब युद्ध के लिए तो क्या एक मुठभेड़ के योग्य बल भी अंग्रेजों में नहीं रहा है। अंग्रेजों का उत्साह अब उनका साथ छोड़ता जा रहा था, तभी १ जून को उन्होंने देखा कि अंग्रेजी सेना के पड़ाव के पिछली ओर एक प्रचण्ड सैन्य दल आ रहा है। काले सैनिकों का यह प्रचण्ड दल देखते ही अंग्रेज सैनिकों के पैरों तले की धरती खिसकने लगी। वे अभी आत्मरक्षार्थ सन्नद्ध हो ही रहे थे कि उन्हें यह समाचार मिला कि यह प्रचण्ड सेना क्रान्तिकारियों की नहीं अपितु मेजर रीड के नेतृत्व में चली आ रही गोरखावाहिनी है। विधि की लीला देखिए कि अम्बाला की अंग्रेज सेना को सिखों की सहायता प्राप्त हो रही थी तो मेरठ की गोरी पलटन को नवशक्ति प्रदान करने हेतु गोरखे सन्नद्ध होकर पहुंच गए थे। अब इस स्थिति में दिल्ली के क्रान्तिकारी करते भी तो क्या करते ? ये दोनों अंग्रेजी सेनाएं अन्ततः ७ जून को एकत्रित हो गईं। इसके साथ ही साथ नाभा के

राजा की सहायता से घेरा डालनेवाली जो कम्पनी अंग्रेजों द्वारा तैयार की गई थी वह भी वहां पहुंच गई। जब यह पलटन अम्बाला पहुंची थी तो पांचवीं रेजीमेन्ट के सिपाहियों ने गोरखा सैनिकों से नितान्त ही विनम्र शब्दों में यह प्रार्थना भी की थी कि वे इस पर टूट पड़ें। किन्तु गोरखे भी स्वधर्म और स्वदेश की रक्षार्थ तैयार न हुए और परिणाम यह हुआ कि अब मार्ग को सर्वथा निष्कंटक देखकर गोरी सेना बड़ी त्वरित गति से अलीपुर ग्राम तक जा पहुंची, जो दिल्ली के समीप ही स्थित है।

इधर अंग्रेजों की वाहिनी अलीपुर पहुंची और उधर क्रान्तिकारी सैनिक भी पुनः दिल्ली से बाहर निकल पड़े। बुन्देलों की सराय के समीप अंग्रेजी सेना पर विद्रोही सिपाही टूट पड़े। अंग्रेजी सेना भी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और संगठित थी। उसके पास कुशल तोपचियों का तोपखाना था, युद्ध के लिए उपयोगी अन्य सामग्री थी, सिद्धहस्त अधिकारी थे तो अगणित नवीन सैनिक भी। साथ ही उन्होंने आक्रमण और प्रतिरक्षा दोनों की ही दृष्टि से समुचित मोर्चाबन्दी भी कर ली थी। किन्तु इसकी तुलना में यदि क्रान्तिकारियों के पास कुछ था तो वह थी उनकी पावन साधना और उसके द्वारा उत्पन्न हुआ मानसिक और नैतिक बल। उनका नेता था तो एक सम्राट् किन्तु वह भी ऐसा सम्राट् था कि जिसने जीवन भर कभी रणभूमि का मुख ही नहीं देखा था। क्रान्तिकारियों की वाहिनी में सुशिक्षित और दक्ष सैनिक कम तथा सैनिक शिक्षा से सर्वथा अपरिचित स्वातन्त्र्य साधक अधिक थे। यह सब तो था ही किन्तु इससे भी अधिक चिन्ताजनक तथ्य यह था कि अपने ही सिख और गोरखा बन्धु गोरी सेनाओं का सक्रिय सहयोग कर रहे थे। इस भयावह स्थिति को देखकर उनका ढाढ़स भी टूट रहा था। अंग्रेज सोच रहे थे कि यह युद्ध तो एक तमाशे से अधिक कुछ भी नहीं होगा। किन्तु इस सम्पूर्ण स्थिति के बावजूद स्वराज्य की महान भावना से तरंगित क्रान्तिकारियों के हृदय से एक महान दिव्य ज्योति प्रज्वलित हो रही थी। वे एक ऐसी प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे कि अपने मार्ग की सभी बाधाओं को उन्होंने खेल समझकर जीवन जीना सीख लिया था। उस दिन समरभूमि में क्रान्तिकारियों ने ऐसी महान वीरता और शौर्य का प्रदर्शन किया कि रणदेवता भी उनके इस प्रबल पराक्रम पर धन्य-धन्य कह उठा होगा। अंग्रेजों को भी इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि इन क्रान्तिकारियों से लोहा लेना तमाशा मात्र नहीं है, अपितु यह तो प्राणों का खुला व्यापार है। दिल्ली की क्रान्तिकारी सेना के तोपचियों ने अंग्रेजों की तोपों के मुखों पर ताले से जड़ दिए। गोरे तोपची दम तोड़ रहे थे तो उनके अधिकारी भी क्रमशः दम तोड़ने लगे थे। दिल्ली की तोपें विनाश के अग्रदूत आग के गोलों को फेंक रही थीं। यह दृश्य देखकर गोरे अधिकारियों ने पैदल सैनिकों को ही तोपों पर चढ़ाई करने का आदेश दे दिया।

वे तोपखाने पर टूट पड़े। किन्तु क्रान्ति के पुजारी सैनिक अपने स्थानों से हिले नहीं, मोर्चों पर डटे रहे। स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापनार्थ आरम्भ हुए इस धर्मयुद्ध में ये क्रान्तिकारी महान वीरों के तुल्य ही डट गए और वे अंग्रेजों की संगीनों के आगे भी सीने ताने रहे। अनेक वीरों के शरीर इन संगीनों से छलनी हो गए। यदि इन दुर्दम्य शूरवीरों को धैर्य बंधाने वाला एक भी नेता होता तो उन्हें अन्य किसी भी पथप्रदर्शक की वाट जोहने की आवश्यकता ही न होती, क्योंकि संगीनों से शरीरों के क्षत विक्षत हो जाने पर भी ये देशभक्त, ये धर्मवीर समरांगण में संग्रामरत थे। देह छलनी होती जा रही थी किन्तु ये क्रान्तिपुंज रण-चण्डी को समिधाएं समर्पित करने का पावन दायित्व निभा रहे थे। जबकि इनके अनेक 'सिपहसालार' रणभूमि से पीठ दिखाकर दिल्ली में आ बैठे। इस विषम परिस्थिति में अभागे क्रान्तिकारियों की सेना पर बाईं ओर से अंग्रेज अश्वारोहियों ने तो पीछे की ओर से होप्टन ग्रान्ट के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी नें आक्रमण कर दिया। यह सैनिक टुकड़ी तोपखाना लिए हुई थी। उस समय परायों से तो परायों से अपनों से भी सताए गए वीर क्रान्तिकारी दिन भर के युद्ध से चकनाचूर से होकर रह गए थे। विन भर की थकान ने शत्रु के प्रचण्ड प्रहारों ने, उनकी पंक्तियों को तोड़ दिया और क्रान्तिकारी दिल्ली की ओर लौट पड़ने को विवश हो गए। सेनापति बर्नार्ड ने अपनी विजयश्री की पुष्टि करने की दृष्टि से अंग्रेजी सेना को आगे बढ़ते रहने का आदेश दे दिया। परिणामतः अंग्रेजों की सेना सायंकाल तक दिल्ली की देहरी तक जा पहुंची। इस दिन के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि विद्रोही सेनाओं का इस दिन तक नगर के बाहर के जिस क्षेत्र पर अधिकार था अब वह उसके हाथों से निकल गया। अब अंग्रेजों को दिल्ली पर मोर्चा लगाने की दृष्टि से उत्तम स्थान भी उपलब्ध हो गया। इस दिन के युद्ध का विवरण प्रस्तुत करते हुए अंग्रेज इतिहासकारों ने सीमूर के नेतृत्व में अंग्रेजों की ओर से युद्ध करनेवाली गोरखा सेना के पराक्रम की गाथा मुक्त कंठ से गायी है। हाँ, इनका जयगान गाना तो आवश्यक भी था, क्योंकि इन्होंने स्वदेश की स्वतन्त्रता हेतु रणांगण में उतरने वाले अपने ही बन्धु बान्धवों की गर्दनों पर वार करने में बड़े ही उत्साह और अद्वितीय शौर्य का परिचय दिया था। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उनके इस कथित शौर्य प्रदर्शन से ही गोरखों का शौर्य पावन इतिहास में शापित भी हुआ है।

इन देशद्रोही गोरखों की सहायता से अंग्रेजों ने बुन्देल की सराय के हुए इस संग्राम में विजय प्राप्त कर ली, यह सत्य है। किन्तु इस विजय ने उनके मन का एक भ्रम भी तोड़ दिया। क्योंकि जिन अंग्रेज अधिकारियों को यह आशा थी कि दोपहर को युद्ध आरम्भ होगा तो उसी दिन रात्रि में हम दिल्ली में प्रविष्ट होकर

रिपुओं को रक्तस्नान कराने का महान कार्य सम्पूर्ण कर लेंगे, यह दिवा स्वप्न भंग हो गया था। उन्हें इस सत्य का अनुभव हो गया था कि दिल्ली की क्रान्तिकारी सेना में इधर-उधर के घुमक्कड़ ही आकर एकत्रित नहीं हो गए हैं। अपितु इस सेना में वे नरवीर सम्मिलित हुए हैं जिनकी तलवारें स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना के पावन उद्देश्य से म्यान से वाहर आई हैं तथा जिन पर सात्विक प्रति-शोध की तत्त्वनिष्ठा का पानी चढ़ा है। इस सत्य को भी इस युद्ध के उपरान्त अंग्रेजों ने भली भाँति देख लिया। इस युद्ध में अंग्रेजी सेना के १३४ व्यक्ति घायल हुए, चार अधिकारी तथा ४७ अन्य व्यक्ति रणभूमि में मारे गए, परन्तु इन सब लोगों की मृत्यु की अपेक्षा भी जिस बात ने अंग्रेजों की सेना में दुःख एवं उदासीनता का वातावरण व्याप्त कर दिया वह यह थी कि अंग्रेजी सेना का एडज्यूटेन्ट जनरल कर्नल चेस्टर भी इस युद्ध में रणभूमि में खेत रहा था। युद्ध में क्रांतिकारियों की जो क्षति हुई थी उसका विवरण प्रस्तुत करते समय कई स्थानों पर तो अंग्रेज इतिहासकारों ने उपन्यासों की शैली को भी मात दे दी है। परन्तु इस पहले महत्त्व-पूर्ण संघर्ष के संबंध में ही इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस दिन अंग्रेजों के हाथों में आई विद्रोहियों की तोपों की संख्या जहाँ एक इतिहासकार ने १३ लिखी है तो दूसरे ने उनकी संख्या २६ बताई है। और यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि ये दोनों ही लेखक इस युद्ध में स्वतः उपस्थित रहने वाले अंग्रेज अधिकारी ही थे।

इस भांति दिनांक ८ जून को सायंकाल अंग्रेजों की सेना ने दिल्ली की देहरी पर डेरे डाल दिए। अम्बाला और दिल्ली की ओर से आनेवाली अंग्रेजी सेनाओं का सुरक्षित रूप से दिल्ली तक पहुँच पाना एक बड़ी मात्रा तक पंजाब की स्थिति पर ही निर्भर था। अतः इन बातों पर विचार किया जाना भी आवश्यक है कि मेरठ के विद्रोह की उस प्रान्त पर क्या प्रतिक्रिया हुई, वहाँ के राष्ट्रवादी विचार रखने वाले लोगों ने इस विद्रोह से क्या लाभ उठाया तथा उनकी गतिविधियाँ क्या थीं एवम् अंग्रेज उनके विरुद्ध कौन-से पासे फेंक रहा था तथा उससे किस सीमा तक सफलता प्राप्त हो रही थी ? पंजाब में सिखों के साम्राज्य की समाप्त कर वहाँ अंग्रेजी राज्य की स्थापना होते ही लार्ड डलहौजी ने एक ऐसी सुविचारित योजना का क्रियान्वयन आरम्भ कर दिया था कि उससे सिख जाति को स्वातन्त्र्य आकांक्षा एवम् क्षात्रवृत्ति दोनों ही गुण अतीत की स्मृतियां बनते जा रहे थे। अंग्रेजों को लूट में मिले इस नये प्रान्त का संचालन सूत्र जब सर हेनरी लारेन्स एवं सर जॉन लारेन्स जैसे अधिकारियों के हाथों में आया तो उन्होंने प्रथम पग उठाया लोगों का निरस्त्रीकरण तथा सिखों को अंग्रेजी सेना में भर्ती कर उनकी स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति का दमन। तदुपरान्त उनके द्वारा उत्तर भारत की अधिकांश

गोरी सेना को भी पंजाब में एकत्रित कर लिया। इस भांति चारों ओर से किए जा रहे इस दमन और दलन का स्वाभाविक परिणाम यही हुआ कि जनता को अपने पेट की ज्वाला बुझाने के लिए कृषिकार्य पर पूर्णतः निर्भर हो जाना पड़ा। उनके समक्ष पेट के अतिरिक्त चिन्ता करने के लिए अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। जिस राष्ट्र की सम्पूर्ण जनशक्ति पेट की ज्वाला का शमन करने हेतु खेती-बाड़ी में ही रह गयी हो उस जाति की क्षात्रवृत्ति का शनैः शनैः लुप्त हो जाना स्वाभाविक प्रक्रिया ही होती है। लोग शान्ति के युग को सदा ही श्रेयस्कर मानते हैं। उनके कृषिकार्य में जिन क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण व्यवधान पड़ता है, उसमें योगदान देना भी उन्हें नहीं सुहाता। अंग्रेजों की कूटनीति का यह कुटिलतम सिद्धान्त पंजाब में पूर्णतः सफल सिद्ध हुआ था। सिख साम्राज्य का विनाश हुए अभी केवल १० ही वर्ष हुए थे किन्तु इतनी अल्पावधि में ही सम्पूर्ण सिख समाज तलवारों को पूर्णतः विस्मृत कर दल हाथों में थामकर पेट की समस्याओं का समाधान खोजते रहने में सबसे महान कर्तव्य की इति श्री समझने लग गया था। अभी भी थोड़े से सिख ऐसे थे जिन्होंने शस्त्रों का परित्याग नहीं किया था, किन्तु वे भी उनका प्रयोग अंग्रेज के इंगित पर अपने ही देश बान्धवों के विरुद्ध करने लग गए थे। इस प्रकार पूर्ण व्यवस्था हो चुकी थी। सर जॉन लारेन्स को पूर्ण विश्वास था कि अब पंजाब में किसी प्रकार की भी गड़बड़ी होने की अणु मात्र भी संभावना नहीं है। अन्य अंग्रेज अधिकारियों के समान उसे भी मई मास के प्रारम्भ तक आगामी भीषण संकट का आभास मात्र भी न हो पाया था। ग्रीष्म के ताप से बचने के लिए वह भी मसूरी की पर्वतमालाओं में जाकर सैर करने का कार्यक्रम निर्धारित कर चुका था। किन्तु सहसा मेरठ और दिल्ली में जो क्रान्ति की लपटें उठीं उन्होंने पंजाब को भी तपा दिया। चतुर अंग्रेजों ने विद्रोह के इन समाचारों की गम्भीरता को शीघ्र समझकर विदेशी साम्राज्यवाद का मूलोच्छेद करने के लिए तत्पर देशभक्तों से लोहा लेने की दृष्टि से अपना मसूरी प्रस्थान भी स्थगित ही नहीं कर दिया अपितु इस विचार का परित्याग ही कर दिया।

उन दिनों पंजाबी सेना में से अधिकांश मियां मीर में थी। यह छावनी लाहौर के समीप ही स्थित थी, अतः लाहौर दुर्ग की रक्षार्थ भी अधिकांश भारतीय सैनिक ही तैनात थे। मियां मीर छावनी में भारतीय सैनिकों की संख्या अंग्रेज सैनिकों की अपेक्षा चौगुनी थी। इतने पर भी मेरठ में विद्रोह होने का समाचार प्राप्त होने से पहले तक अंग्रेजों को भारतीय सैनिकों पर किंचित मात्र भी सन्देह नहीं हो पाया था। किन्तु ज्योंही मेरठ में क्रान्ति की ज्वाला धधकने का समा-समाचार प्राप्त हुआ प्रत्येक भारतीय सैनिक पर अंग्रेजों की शंकालु दृष्टि पड़ने लगी। वे उनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में ही यह विचारने लगे कि कहीं उसका भी

विद्रोहियों से कोई सम्पर्क तो नहीं है। लाहौर में सेना का मुख्य अधिकारी भी रावर्ट मोन्टगुमरी। सर जॉन लारेन्स एवं मोन्टगुमरी दोनों ही बड़े धैर्यवान एवं संयमी व्यक्ति थे। कितनी भी भयंकर आपत्ति आ पड़ने पर भी उनकी विचार शक्ति कुण्ठित न होती थी। अनपेक्षित स्थितियों में भी उनकी सामयिक सूझ-बूझ वस्तुतः सराहनीय ही थी। उस समय पंजाब स्थित सैनिकों पर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की लहर का कितना प्रभाव पड़ा था इसका अवलोकन करना भी उपयुक्त रहेगा। अंग्रेजों ने भारतीय सिपाहियों की मनःस्थिति को समझने के लिए एक ब्राह्मण गुप्तचर की नियुक्ति की थी और यह ब्राह्मण भी अपने देशद्रोह के दायित्व को बड़ी निष्ठा सहित निभाता रहा। उसने एक दिन मोन्टगुमरी से कहा "साहब वे सब फिसाद करने की भावनाओं से भरे हुए हैं।" उसने अपना हाथ अपने गले पर लगाकर अपने आशय को स्पष्ट करने का प्रयास किया कि सभी सैनिकों में क्रान्ति का विष पूर्णतः रम चुका है। ब्राह्मण द्वारा अभिनय की मुद्रा में व्यक्त किए गए आशय को समझते ही लारेन्स और मोन्टगुमरी सतर्क और सावधान हो गए। वे कल्पना लोक से वास्तविकता की भूमि पर उतर पड़े। वे इस तथ्य से परिचित हो गए कि क्रान्तिकारियों का संगठन केवल उत्तर भारत में ही विस्तृत नहीं हुआ अपितु पंजाब भी उससे अछूता नहीं रहा। पंजाब में भी भीतर ही भीतर क्रान्ति का ज्वालामुखी दहक रहा था, उसमें भी विस्फोट होने मात्र की ही देरी थी। इस गुप्त रहस्य का पता मेरठ से सहसा हो गए विस्फोट के कारण लग गया था। मोन्टगुमरी ने मन ही मन मेरठ के विस्फोट को आभार माना और तत्काल सभी सैनिकों को निःशस्त्र कर दिए जाने का आदेश भी प्रसारित कर दिया। ३० मई को प्रातःकाल ही मियां मीर छावनी के सभी सैनिकों को पथ संचलन का आदेश दे दिया गया। कहीं भारतीय सैनिकों को अपने भविष्य के सम्बन्ध में कोई आशंका उत्पन्न न हो जाए इस सम्बध में पूर्ण सतर्कता वरतते हुए इस अवसर पर गोरों के सुन्दर नृत्य का कार्यक्रम भी आयोजित किया गया। इस मनोरंजन के रहस्य को अभी भारतीय सैनिक समझने का प्रयास ही कर रहे थे कि सहसा ही गोरों की पलटन और तोपखाने ने भारतीय सिपाहियों को चारों ओर से आ घेरा। सिपाही आश्चर्यचकित रह गए। जब संचलन चालू ही थी उसी समय तोपों का तैयार कर लेने का भी आदेश प्रसारित कर दिया गया था। सिपाहियों को शास्त्रास्त्र रख देने पर विवश होना पड़ा। यद्यपि सैनिकों के दांत क्रोध से बज रहे थे, किन्तु सामने तोपखाना और तोपची सिद्ध खड़े थे। अतः उन्होंने मौन रहकर अपने हथियारों को रखकर बैरकों को लौट जाना ही उचित समझा।

बड़े ही शूरवीर थे ये सैनिक, इन्होंने ही अफगानिस्तान के युद्ध में अंग्रेजों के प्राण बचाए थे। इधर इनसे शास्त्रास्त्र रखवाये जा रहे थे, उधर गोरी सेना की

एक टुकड़ी लाहौर दुर्ग की ओर भेज दी गई थी। इन गोरे सैनिकों ने तोपखाने के बल पर लाहौर दुर्ग में रहने वाले भारतीय सैनिकों से हथियार रखवा लिए थे। उन्हें वहां से निष्कासित कर दुर्ग पर अंग्रेजों ने पूर्णतः अपना ही नियन्त्रण स्थापित कर लिया। यदि अंग्रेज थोड़ी सी भी ढिलाई बरतते अथवा अकर्मण्यता उन्हें दो सप्ताह भी दबाए रखती तो विश्व देख लेता कि एक पखवाड़े की अवधि में ही ऊपर से शान्त प्रतीत होने वाले पंजाब प्रदेश में स्थान-स्थान पर क्रान्ति की ज्वालाएं भभक उठतीं, क्योंकि पेशावर, अमृतसर, फिल्लौर और जालन्धर की छावनियों के भारतीय सिपाही मियां मीर के उन वीरों की ओर ही टकटकी लगाए देख रहे थे, जिन्होंने लाहौर दुर्ग पर धावा बोलकर पंचनद की पावन धरती पर क्रान्ति का शंखनाद करना था। किन्तु ज्योंही मियां मीर छावनी के भारतीय सिपाहियों को निःशस्त्र कर देने तथा लाहौर दुर्ग को पूर्ण रूपेण अंग्रेज सैनिकों को सौंप दिए जाने का समाचार पंजाब में प्रसारित हुआ तो उनका आतंक सर्वत्र व्याप्त हो गया और उनकी स्थिति सुरक्षित हो गई तथा धाक जम गई।[1]

किन्तु लाहौर दुर्ग की अपेक्षा भी अमृतसर के समीप स्थित गोविन्दगढ़ अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। गोविन्दगढ़ सिखों का पावन तीर्थस्थान है। अतः यदि कहीं वहाँ कोई गड़बड़ी हो गई तो सभी लोग भड़क उठेंगे और विद्रोह की संभावनाएं बढ़ जाएंगी। अतः इस स्थान पर भी सैनिकों की विशेष रूप से दृष्टि पड़ रही थी। इधर यह अफवाह फैल गयी थी कि मियां मीर में जो भारतीय सिपाही निरस्त्र कर दिए गए हैं, वे गोविन्दगढ़ पर अधिकार करने की योजना बनाकर अमृतसर की दिशा में प्रयाण कर चुके हैं। अंग्रेजों में घबराहट व्याप्त हो गयी थी। अतः उन्होंने अमृतसर की रक्षा करने के लिए जाट और सिख किसानों से विनम्र प्रार्थना की। उनके अनुनय विनय से द्रवित होकर इन किसानों ने अंग्रेजों की प्रार्थना स्वीकार करने की भूल की और १५ मई से ही पहल अमृतसर और लाहौर इन दोनों नगरों को ही विद्रोह की चिंगारियों का विस्फोट होने की आशंका से पूर्णतः सुरक्षित कर लिया। इस भांति पंजाब प्रदेश के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण सामरिक दुर्गों को क्रान्ति से सर्वथा अछूते रखने में सफलता प्राप्त हो गई।

---

१. यदि पंजाब हाथ से चला जाता तो हमारा सर्वनाश हो जाना निश्चित था। ऊपरी प्रदेश में सेना पहुंचने से पहले ही सभी अंग्रेजों की अस्थियाँ धूप में सूखने के लिए डाल दी गई होतीं। इस संकट से बचकर पूरब में अपनी सत्ता पुनः स्थापित करना तथा गर्व से माथा ऊंचा उठाना इंग्लैण्ड के लिए असम्भव ही हो जाता।"

—लाइफ आफ लार्ड लारेन्स

पंजाब की सुरक्षा व्यवस्थाओं से पूर्णतः निश्चिन्त होकर सर जॉन लारेन्स ने अब प्रदेश के बाहर अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। उसने दिल्ली का समाचार प्राप्त होते ही यह घोषणा भी कर दी थी कि "यह विद्रोह नहीं अपितु राज्यक्रान्ति है।" किन्तु इतना सुस्पष्ट चिन्तन होने पर भी वह अभी तक इसी भ्रम से ग्रस्त था कि ज्योंही अंग्रेज दिल्ली पर अधिकार जमा लेंगे फिर अन्ययत्र कहीं भी क्रान्ति की चिंगारी भड़कने का कोई कारण ही नहीं रह जाएगा। अपनी इस धारणा के आधार पर वह सेनापति एन्सन को बार-बार पत्र प्रेषित करता रहा और यही आग्रह करता रहा कि जून के प्रथम सप्ताह तक ही हमें दिल्ली पर अधिकार कर लेना चाहिए। इतना ही नहीं उसने पंजाब में सर्वत्र शान्ति-स्थापित रखने का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। अम्बाला से दिल्ली की दिशा में सेना के प्रयाण के कारण अम्बाला में जो सैनिक शक्ति घटी थी उसकी पूर्ति हेतु उसने पंजाब के सेना विभागों का वहाँ भेजा जाना जारी रखा। इस सहायक सेना की प्रथम पलटन के रूप में डेली के नेतृत्व में 'गाइड कोर' को भेजा गया था। सर जान लारेन्स को डेली के शौर्य और पराक्रम तथा कार्यक्षमता पर प्रचण्ड विश्वास था। इसीलिए उसे गाइड कोर का नेतृत्व करते हुए दिल्ली पर धावा बोल देने का आदेश प्रसारित कर दिया गया था। नितान्त वेग सहित अपना मार्ग तय करता हुआ डेली अपनी सेना सहित बुन्देल की सराय की मुठभेड़ के दूसरे ही दिन वहाँ पहुँच गया था। अब दिल्ली पर धावा करने के लिए दो देशद्रोही सेनाएं एकत्रित हो चुकी थीं। एक थी वीड के नेतृत्व में सक्रिय गोरखा सेना तथा दूसरी थी डेली के नेतृत्व में संघर्ष करने वाली पंजाबी सेना। इन दोनों सेनाओं पर ही अंग्रेजों का अपार प्यार था। भला इस प्रेम को अनुपयुक्त भी कौन कह सकेगा? क्योंकि इन दोनों देशी सेनाओं ने देशद्रोहपूर्ण कृत्य कर अंग्रेजों के मन को जो मोह लिया था।

जब डेली की पलटन ने दिल्ली की दिशा में प्रस्थान कर दिया तो सर जान लारेन्स ने पंजाब की तात्कालिक स्थिति का एक बार पुनः सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक समझा। इस प्रदेश में हिन्दू, मुसलमानों तथा सिखों में सदैव ही पारस्परिक शत्रुता अखण्ड रूप से चली आ रही थी। उत्तर हिन्दुस्थान में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही राष्ट्र-भावना से प्रेरित होकर परस्पर हाथ मिलाए थे वैसी वरेण्य भावना पंजाब प्रदेश में उत्पन्न नहीं हो पाई थी। उत्तर भारत के समान यहाँ भी हिन्दू-मुसलमानों में भ्रातृभावना का उद्भव होना आवश्यक था। पंजाब प्रदेश के निवासियों को अभी तक भी एकता की भावनाओं के महान वरदानों की अनुभूति नहीं हो पाई थी। यों तो अभी पंजाब प्रदेश पर अंग्रेजों की दासता का पटल पड़े १० वर्ष मात्र ही हुए थे किन्तु १८४६ ई० में जो सिख अपनी तलवारों

से अंग्रेजों के नरमुण्ड काटने के लिए समरभूमि में सन्नद्ध खड़े हुए थे वे ही १८५७ में अंग्रेजों के इंगित पर मस्त होकर उनके साथ नृत्य करने में लिप्त दिखाई दे रहे थे। इस विचित्र ऐतिहासिक रहस्य का स्पष्ट कारण यह था कि अभी सिक्खों को अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोये हुए बहुत अधिक समय नहीं हुआ था कि १८५७ ई० में स्वतन्त्रता की ज्वाला धधक उठी थी। मुसलमानों की दासता से जिस आन-बान की धनी तथा शूरवीर जाति को इतनी अधिक घृणा थी कि निरन्तर १०० वर्ष तक वह मुसलमानों से संग्राम करती रही। जब तक पंजाब को दासता के बन्धनों से स्वतन्त्र नहीं करा लिया तब तक इस वीर जाति ने अपनी तलवारें म्यान में नहीं रखीं। किन्तु इन्हीं 'खालसा' के अनुगामी सिक्खों ने यदि अंग्रेजों की परतन्त्रता के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया होता तो वह सुनिश्चित था कि वे अंग्रेजी राज्य सत्ता को एक क्षण के लिए भी टिकने देने का अवसर प्रदान न करते। अभी इन महावीरों के अंतःकरण में यह भावना बद्धमूल ही नहीं हो पाई थी कि अंग्रेजों की दासता भी शत प्रतिशत दासता ही है कि १८५७ के क्रान्तियज्ञ की ज्वाल मालाएं उभर उठीं। अग्रेजों का राज्य भारतवर्ष में ऐसी स्थिति में स्थापित हुआ था जबकि यहाँ जल प्रलय का प्रारम्भ हो रहा था। अनेक शताब्दियों के उपरान्त स्थान-स्थान पर संचित स्रोत बंध तोड़कर प्रवाहित हो उठे थे और प्रचण्ड महानदी में विलीन होने के लिए आगे बढ़ रहे थे। यह महानदी थी राष्ट्रीय प्रवृत्ति की महानदी। विश्व के सभी महान और संगठित राष्ट्रों को ऐसी महानदी में स्नान का सौभाग्य प्राप्त होने से पहले पारस्परिक मतभेद, फूट और व्यवस्थाओं की स्थिति से अनिवार्यतः ही गुजरना पड़ता है। इटली, जर्मनी और इंग्लैण्ड पर क्रमशः रोमन, सेकशन और नार्मन अपनी दासता का पटल डाले हुए थे। जब तक ये देश परतन्त्र थे तब तक इनमें जो यादवी प्याप्त थी, विभिन्न धर्मों और प्रदेशों में जितना अधिक मतभेद और जितनी व्यापक शत्रुता विद्यमान थी उसकी तुलना में वर्तमान भारत में व्याप्त मतभेद, फूट और झगड़े तो सर्वथा महत्वहीन से प्रतीत होते हैं। इस वस्तुस्थिति को कौन अस्वीकार कर सकता है कि इन राष्ट्रों ने अपने देश में निवास करने वाली विभिन्न जातियों की एकता को पारस्परिक झगड़ों और विदेशी शासन की अग्नि दग्ध भट्टी में तपाकर कुन्दन के समान विशुद्ध बना लिया है। आज ये राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रों के रूप में विश्व के रंगमंच पर विद्यमान हैं, इस तथ्य की कौन उपेक्षा कर सकता है ? हिन्दुस्थान में भी ऐसी ही ऐतिहासिक प्रक्रिया चल रही थी। इस भूखण्ड में निवास करनेवाले विभिन्न वर्णों, वंशों के व्यक्ति एक ही सांचे में ढल रहे थे, उनमें राष्ट्रीयता की पावन भावना उदित हो रही थी। अंग्रेजों की दासता की भट्टी में गलकर उत्तर भारत की जनता की पारस्परिक फूट और मतभेद स्वाहा हो रहे थे। अब इस एकता के

फलस्वरूप ही अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने का पावन व्रत ग्रहण कर जनता कर्तव्य पथ पर अनुगामी हो रही थी। किन्तु पंजाब को दासता के फल का खट्टा स्वाद चखने के लिए १० वर्ष की अवधि पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकी थी। विशेषतः सिख सत्तावन में प्रस्फुटित हुई राष्ट्र तेज की अग्नि को न समझ पाए और वे इस राष्ट्रयज्ञ में योगदान न दे सके।[1]

पंजाब के अंग्रेज अधिकारियों ने इस सत्य को भली भांति हृदयंगम कर लिया था। अतः उन्होंने सिखों और मुसलमानों को जाटों के विरुद्ध उभारने के लिए प्रत्येक हथकण्डा इस्तेमाल किया। सिखों में प्रचलित इस भविष्यवाणी का एक योजनानुसार उन्हें स्मरण कराया गया कि "जिस स्थान पर मुगल बादशाह ने सिख गुरुओं की हत्या की थी, उसी दिल्ली पर १२ दिन खालसा वीर आक्रमण कर उसे धूल में मिला देंगे।" अंग्रेजों ने खालसाओं में यह धारणा प्रसारित करनी आरम्भ कर दी कि वह समय ही अब आया है। उन्हें विश्वास दिलाया गया कि यह भविष्यवाणी निश्चित रूप से ही सत्य सिद्ध होगी। किन्तु यदि केवल सिख ही दिल्ली पर धावा बोलकर वहां अपनी विजय पताका फहरा देंगे तो उससे अंग्रेजों को तो कोई लाभ नहीं होगा। हाँ, इतना ही होगा कि बहादुरशाह के स्थान पर कोई रणजीतसिंह सिंहासनारूढ़ हो जाएगा। किन्तु जो चतुर जाति बहादुरशाह और रणजीतसिंह दोनों को ही सत्ता से च्युत कर दिल्ली के राज्य सिंहासन पर स्वतः विराजमान होने के लिए लालायित थी, उसने यदि उपरोक्त भविष्यवाणी में अपनी ओर से भी कोई सम्मिश्रण कर दिया हो तो भी तो आश्चर्यजनक कुछ नहीं है। अतः इस संशोधित भविष्यवाणी द्वारा यह बताया जा रहा था कि "सिख दिल्ली के राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लेंगे, मुगल सत्ता भी धूल धूसरित हो जाएगी, किन्तु यह कार्य खालसा वीरों और ताम्रवर्ण वाले लोगों के पारस्परिक सहयोग से ही सम्पन्न हो सकेगा।" धन्य है, कितनी शानदार भविष्यवाणी थी। सिख अंग्रेज़ों की चाल में फंस गए और भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो गई। धूर्त गोरों ने गुरु के शिष्यों को अपनी चाल में भली प्रकार फंसा लिया था। दिल्ली सम्राट के विरुद्ध सिखों के हृदयों में रोष की ज्वाला को और भी अधिक प्रज्वलित

---

१. सर जान लारेन्स ने अपने २१ अक्तूबर १८५७ ई० को लिखे गए एक पत्र में लिखा था कि—"यदि सिख हमारे विरुद्ध क्रान्तिकारियों के साथ मिल जाते तो हमारी रक्षा करना मानवी शक्ति से परे था। किसीको यह आशा नहीं थी, न ही कोई यह कल्पना ही कर पाया था कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को हड़पने वालों से प्रतिशोध लेने का अवसर ये लोग गवाँ देंगे और इस क्षोभ का संवरण कर लेंगे।"

करने की दृष्टि से यह अफवाह भी फैलायी गई कि बहादुरशाह ने प्रथम आदेश ही यह प्रसारित किया है कि जहाँ कहीं भी कोई सिख मिले उसकी हत्या कर दी जाए। हतभाग्य वृद्ध बहादुरशाह! कैसी विडम्बना है कि जिन दिनों अंग्रेज इस प्रकार का मिथ्या प्रचार करने में संलग्न थे उन्हीं दिनों वृद्ध बहादुरशाह दिल्ली की गली-गली में यह अलख जगा रहा था कि यह युद्ध तो हमने फिरंगियों के विरुद्ध आरम्भ किया है। अतः इस संघर्ष में किसी भी भारतीय का बाल बाँका नहीं होना चाहिए।[1]

क्रान्तिकारियों के अथक प्रयासों के बावजूद भी सिखों ने अंग्रेजों का ही साथ दिया! किन्तु अभी पंजाब में ऐसी पलटनें भी तो थीं जिनमें सभी सिपाही भारतीय ही थे। उन्होंने अंग्रेजों से लोहा लेने का तो निर्णय कर ही लिया था, वे तो केवल समुचित अवसर की प्रतीक्षा में थे। केवल सैनिकों में ही स्वतन्त्रता के लिए रणचण्डी का आवाहन करने के लिए प्रस्तुत लोग थे, ऐसा नहीं, अपितु सहस्रों अन्य लोग भी थे जो क्रान्ति मंत्र को चतुर्दिक गुंजाने के लिए प्रस्तुत थे। यद्यपि मियाँ-मीर छावनी के भारतीय सिपाहियों को अंग्रेजों ने निरस्त्र कर दिया था, किन्तु गोरी सत्ता को यह भी विदित हो गया था कि जिस धरती को नितान्त ही सुदृढ़ समझकर वे उस पर खड़े हैं उसमें भीतर ही भीतर सेंध लग चुकी है और उसके परिणाम स्वरूप वह भी खोखली हो गई है। अंग्रेजों ने लाहौर और अमृतसर के दो दुर्गों को भले ही सुरक्षित कर लिया हो, किन्तु अभी फीरोजपुर का गोला-बारूद का आगार तो असुरक्षित ही पड़ा था। अंग्रेजों ने यह जानने के लिए कि विद्रोही सिपाहियों द्वारा उसे अपने अधिकार में लेने का प्रयास तो नहीं किया जा रहा है, १३ मई को सिपाहियों के पथ संचलन का निर्णय किया। किन्तु उस दिन सैनिकों ने ऐसी अनुपम शान्ति और धैर्य का प्रदर्शन किया कि उनके अन्तःस्थल में धधकते हुए प्रतिशोध के अग्निकुण्ड का एक पतंगा मात्र भी अंग्रेजों को दिखाई न दे सका। अतः उन्हें सशस्त्र ही रहने देने का विचार सम्मत हुआ। दो सेनाओं में विभक्त किया गया। एक सेना को सैनिक रीति से घुमाया गया। किन्तु अंग्रेजों को यह पता न था कि उस समय बाजारों में क्या कुछ बिक्री हो रहा था। दूकानदारों एवं खरीददारों के क्रय विक्रय ने सैनिकों में स्वाधीनता की लहर पैदा की। बाजार भ्रमण के बाद सिपाहियों ने सामूहिक रूप से अपने दिलों में यह निश्चय किया कि तत्काल हरहर महादेव का घोष करते हुए बढ़ें कि अंग्रेजों यह मुनासिब कि वे फीरोजपुर के शस्त्रागार को जला भस्म करें।

इसके बाद जिस दिल्ली का राष्ट्रीय ध्वज सब हिन्दुस्थानवासियों को एक

---

१. मेटकॉफ-कृत 'टू नेटिव नेरेटिव्स आफ दि म्युटिनी'

जगह इकट्ठे होने का जो जोश दे रहा था उसी दिल्ली की ओर वीर सिपाही मुड़े। फीरोजपुर की जनता ने विद्रोह किया और अंग्रेजों के निवासस्थानों, क्लबों, गिरजाघरों आदि को जला कर खाक कर दिया। गोरों का सर्वनाश करने के लिए लोग घूम रहे थे, पर मेरठ तार द्वारा सूचना मिलने से सब गोरे अंग्रेज बैरकों में ही लुके-छिपे रहे। सिपाहियों की निगरानी कर रहे गोरे सिपाहियों को जो भी जन मिले उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया एवं दूर तक उनका पीछा कर उन्होंने घृणित एवं पैशाचिक मनोवृति का परिचय दिया ही। वे अपने ऐसे दुष्कर्मों की प्रशंसा करते भी न थकते थे।

क्रांतिकारी सेनाओं की भांति सीमोत्तर प्रांत के जंगली अफगान गिरोहों की भी अंग्रेजों पर पूरी धाक थी। १८५७ के विद्रोह का गुप्त प्रचार बड़ी तेजी से होता था उस समय लखनऊ की एक गुप्त संस्था ने काबुल के अमीर से सहायता की प्रार्थना की थी। १८५५ में फॉरसीथ के हाथ लगे एक पत्र से यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि लखनऊ के मुसलमान अमीर दोस्त मुहम्मद से संबंध जोड़ने में लीन थे। उस पत्र में लिखा है "अवध पर तो अब दखल हो चुका है, हैदराबाद की भी वही गत होगी। तब मुसलमानी अधिपत्य के नाम पर कुछ भी न बचेगा। समय पर ही इसका इलाज होना चाहिए। यदि स्वराज्य के लिए लखनऊ के लोग बलवा करें तब अमीर साहब हम आपसे किस प्रकार की सहायता पर भरोसा रख सकते हैं?' लखनऊ के इस पत्र के उत्तर में केवल विचार तक करने को ही कहा था। वैसे अमीर ने पहले ही से ब्रिटेन से मित्रता स्थापित कर ली थी। अंग्रेजों को अमीर की अपेक्षा पेशावर के मुसलिम गिरोहों से अधिक भय था। अंग्रेजों ने बहुत-से मुल्लाओं को उनमें यह प्रचार करने भेजा था कि वे अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह न करें। पेशावर के निकट तैनात अंग्रेज सिपाही, जो बड़े ही रणकुशल एवं तेजतर्रार थे उस पार के खतरे को भांप गये थे और अत्यन्त परेशानियां झेलते हुए लारेन्स के पिट्ठू निकल्सन एडवर्डस तथा चेम्बरलेन इन अंग्रेजी अफसरों ने सत्वर ही निदान ढूंढ़ लिया एवं पठानों की फौज भर्ती करना आरम्भ किया। लालची पठान रुपये पर कुर्बान होता आया है, अतः वे अंग्रेजों के मित्र बन गये। पठानों की गश्ती सेनाएं खड़ी की गयीं।

पेशावर के हिम्मत वाले गोरे अफसरों ने पहला प्रहार करने के विचार से सैनिकों के शस्त्र छीनने की ठानी। परन्तु अंग्रेज सेनाध्यक्षों एवं अधिकारी जनों द्वारा अपनी पलटनों के सिपाहियों पर ढाये जाने वाले अत्याचारों से उन्हें बड़ा दुःख होता था। यही कारण था कि १८५७ के स्वातन्त्र्य समर का संगठन इतनी गोपनीयता से किया गया कि गोरे अफसर भरोसा नहीं कर सकते थे कि उनके अन्तर्गत कोई क्रान्तिदल के सिपाही होंगे। फिर भी कांटन और निकल्सन ने २१ मई को गोरी

सेना के पहरे में इन्हीं हिन्दी सैनिकों को खड़ा कर शस्त्र डाल देने के लिए कहा। इस अचानक कार्रवाई से सैनिकों ने हथियार नीचे रख दिये। किन्तु अफसर इस कार्रवाई से बड़े कुंठित हुए एवं उनको नितांत असह्य लगा। वे अपने-अपने पदक एवं अफसरी परिधान त्याग कर सिपाहियों में जा मिले।

पेशावर की सेना के शस्त्रत्याग के उपरान्त अंग्रेजों को होतीमर्दान की ५५वीं पलटन पर यही प्रयोग करने का अवसर मिला। पंजाब के शासकों को विदित हो चुका था कि सेना को क्रान्तिकारियों की हवा लग चुकी थी। पर स्थानीय सेनाधिकारी स्पाटीस्वुड सरकारी संदेह को ठीक न समझता था। वह जोर देकर अपने सैनिकों की निष्ठा पर भरोसा व्यक्त करता था। परन्तु सरकार उन सिपाहियों के हथियार छीनना ही चाहती थी। कर्नल स्पाटीस्वुड इससे बड़ा चिढ़ गया। उसका अन्तःकरण व्यग्र हो उठा। अतः २४ मई को सैनिक नेताओं ने जब उससे यह प्रश्न किया कि "क्या पेशावर से गोरी सेना हम पर आक्रमण करने के लिए आ रही है?" तो उसने उनके प्रश्न का ऊटपटांग-सा उत्तर दे दिया। सिपाही अपनी शंका का समाधान न पाकर वापस लौट पड़े। वस्तुतः पेशावर का दृश्य दोहराने और इन सिपाहियों से शस्त्र त्याग कराने के विचार से पेशावर से गोरी पलटन प्रस्थान भी कर चुकी थी। कर्नल स्पाटिस्वुड सैनिकों के अपमान का यह दृश्य देखने को तैयार नहीं था। अतः उसने मानहानि के इस दृश्य को न देखने के लिए आत्महत्या कर लेना ही अधिक उचित माना और उसने अपने कमरे में ही अपने प्राण समर्पित कर दिए। ज्योंही उसके आत्मार्पण का समाचार सैनिकों को प्राप्त हुआ उन्होंने राजकोष पर धावा बोल दिया। ५५वीं पलटन ने अपने शस्त्रास्त्र और पताकाएं संभाल लीं। उन्होंने राजकोष लूटा और परतन्त्रता के प्रतीक परिधान का परित्याग कर दिल्ली की ओर प्रयाण कर दिया। किन्तु दिल्ली भी तो समीप नहीं थी। उन्हें तो सम्पूर्ण पंजाब में की गई गोरों की नाकाबन्दी को तोड़कर आगे बढ़ना था। साथ ही एक अंग्रेजी सेना भी तो उनका पीछा कर ही रही थी। उन्होंने देखा कि अब विजय की प्राप्ति की तो किंचित मात्र भी आशा नहीं की जा सकती। अतः उनमें परस्पर यह चर्चा भी होने लगी कि यदि पेशावर के सैनिकों के समान हम भी शस्त्रास्त्रों को उतार कर रख देते तो अधिक उपयुक्त रहता। किन्तु अन्त में उनकी हार्दिक दुर्बलता दूर हुई और उन्होंने यही संकल्प ग्रहण किया कि फिरंगियों की दासता की बेड़ी में पड़ने की अपेक्षा तो हँसते-हँसते मृत्यु के पाश को कंठहार बना लेना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने जयघोष लगाका कि "हम लड़ते-लड़ते मरेंगे" और ५५वीं पलटन के इन नरवीरों ने अंग्रेजी सेना को खुली चुनौती दे दी। उन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य के लिए इच्छा मृत्यु का वरण किया। वस्तुतः इस पलटन के सैनिकों

का आत्मबलिदान भी सत्तावन के स्वातन्त्र्य संग्राम का एक महत्त्वपूर्ण आख्यान ही रहेगा। अंग्रेजी सेना ने इनका इतना अधिक जोरदार पीछा किया कि निकल्सन एक क्षण को भी विश्राम लेने में असमर्थ रहा। तुमुल संग्राम हुआ, सैकड़ों सैनिक मारे गये। अवशिष्ट लड़ते-लड़ते सीमा प्रान्त से भी दूर जा पहुँचे। किन्तु यहाँ भी आश्रय कौन प्रदान करता। पठानों के गिरोहों ने उन्हें परेशान किया। कोईअकेला सिपाही इधर-उधर मिल जाता तो उसे बलात् मुसलमान भी बना लेने में संकोच न किया जाता। इस भाँति ये वीर सैनिक अपने प्राण हथेली पर रखकर कर्मभूमि में निकल पड़े थे और काश्मीर नरेश महाराजा गुलाबसिंह से आश्रय प्राप्त करने की दृष्टि से उनके राज्य की ओर बढ़ रहे थे। उनके पास पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए अन्न का एक भी कण नहीं था तो शरीर को कंपकंपा देने वाली शीत से बचने को वस्त्रों का भी अभाव था। उनके पास तापने को अग्नि भी न थी। इस भाँति इन सैकड़ों हिन्दू सैनिकों को सम्पूर्ण भूमण्डल पर धर्म का दाता एक भी व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। शोकाश्रु प्रवाहित करते और पर्वतमालाओं को लांघते हुए ये सैनिक कशमीर की ओर बढ़ते जा रहे थे, किन्तु अंग्रेज भी तो कम चतुर नहीं था। उन्होंने स्थान-स्थान पर इन्हें घेरकर वन्य पशुओं के समान इनका आखेट किया। इस पर भी यह प्रबल आकांक्षा अपने हृदय में लिए कि हिन्दू धर्म का कोई न कोई त्राता हमारी करुण गुहार अवश्य ही सुनेगा कुछ सैनिक येन केन प्रकारेण बचकर कशमीर पहुँच गए। किन्तु उनका यह भ्रम भी कशमीर जाने से मिट ही गया। कशमीर के क्षत्रिय वंशी नरेश महाराजा गुलाब सिंह को जब यह विदित हुआ स्वधर्म और स्वदेश की रक्षार्थ काल के कराल जबड़ों का चिन्तन न करते हुए कुछ भारतीय सैनिक उसके राज्य की सीमा में प्रविष्ट हो गए हैं तो उसने आदेश दिया कि इनको कशमीर राज्य में कहीं भी न ठहरने दिया जाए। इतना ही नहीं अपितु, अपनी इस कृति से अंग्रेजों को अवगत कराकर उनकी वाह-वाह प्राप्त करने की दृष्टि से उसने यह आदेश भी प्रसारित कर दिया कि जहाँ कहीं कोई भी विद्रोही भारतीय सिपाही दिखाई दे उसको तत्काल गोली मार कर हत्या कर दी जाए। अब तो इन वीरों के समक्ष यही विकल्प रह गया था कि या तो वे अपने प्रिय धर्म का परित्याग करते अथवा हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करते। किन्तु धन्य हैं ये धर्मवीर। इन्होंने मृत्यु को गले लगाना ही श्रेयस्कर समझा। उन सैनिकों की हत्या इतनी निर्ममता सहित की गयी कि मैदानों में गाड़े गए वधस्तम्भ रात्रि, दिवस हत्या कार्य करते-करते थक गए थे। तदुपरान्त तोपों के मुख आगे बढ़ाए गए और ५५वीं रेजीमेन्ट के जिन सैनिकों ने अंग्रेजी रक्त का एक बिन्दु तक भी प्रवाहित नहीं किया था, उनमें से जो प्रचण्ड हत्याकाण्ड के पश्चात बच गए थे उन्हें तोपों के मुखों पर बांधकर उड़ा दिया गया। एक हजार हिन्दू क्षण

भर में ही यमराज के चरणों में चढ़ा दिए गए। किन्तु उस अन्तिम प्रयाण के क्षणों में भी इन हिन्दू वीरों ने अपनी वीरता का परित्याग नहीं किया। क्योंकि फांसी दी जाए अथवा तोप से उड़ाया जाए, इस प्रश्न का उत्तर उन सब ने यही दिया था "कुत्तों के समान मुझे फांसी के फन्दे पर लटका कर लज्जित करके मारने से तो यही श्रेयस्कर है कि तुम मुझे तोप के गोलों से उड़ा दो।"[1]

क्रूरता के जो कृत्य करते हुए नितान्त असभ्य व्यक्तियों को भी लज्जा आ जाती हो, ऐसे क्रूर तरीकों से अंग्रेजों ने इन नरसिंहों का नरमेध किया। इस संबंध में एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि इसमें तो कोई शंका ही नहीं हो सकती कि जो दण्ड दिए गए थे वे क्रूरतम थे। किन्तु तात्कालिक क्रूरता ही वस्तुतः मानवता के मंगल की सर्वदा के लिए प्रतिश्रुति थी। "मानवता के मंगल हेतु यह क्रूर कर्म किए गए थे," अंग्रेज इतिहासकारो तुम अपने इस वाक्य को सदैव स्मरण रखना। "घड़ी भर की क्रूरता में सदैव के लिए मानवता का मंगल निहित था।" इस वाक्य के वास्तविक अर्थ से तुम परिचित ही हो। किन्तु तुम्हें यह स्मरण रखना होगा कि कहीं भविष्य में तुम अपने इस वाक्य का अर्थ ही न भुला बैठो। हाँ, तो तुमने मानवता की मंगल कामना करते हुए इस पाशविकता का प्रदर्शन किया था। ठीक है ! किन्तु तुम यह भी स्मरण रखो कि कानपुर में महान हिन्दू वीर नानासाहब भी रह रहे हैं।

यहां एक अन्य बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है। जो अंग्रेज इतिहासकार क्रान्तिकारियों द्वारा की गई हत्याओं को अतिरंजित रूप देने का प्रयास करने में एक दूसरे को पछाड़ देने में प्रतिद्वन्द्विता करते हैं वे ही अपने देशवासियों द्वारा की गई अक्षम्य पाशविकताओं के सम्बन्ध में एक शब्द भी न कहते हुए निर्लज्जता-सहित अपने मुख पर ताले जड़ लेते हैं। अंग्रेजों ने दुर्दैवग्रस्त इस पलटन के अभागे किन्तु देशप्रेम से ओतप्रोत सैनिकों की हत्या करने से पूर्व कितने भयंकर अत्याचार किए होंगे इसकी तो कल्पना कर पाना भी आज सम्भव नहीं है। क्योंकि अंग्रेज इतिहासकारों ने स्वेच्छा-सहित इस प्रसंग को इतिहास में स्थान नहीं दिया है। एक प्रमुख अंग्रेज लेखक के ने सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "अंग्रेज अधिकारियों द्वारा किए गए अवर्णनीय अमानुषिक अत्याचारों का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक पत्र मेरे पास हैं। किन्तु भविष्य में विश्व के समक्ष कभी इस विषय पर चर्चा ही न हो सके, अतः इस सम्बन्ध में एक भी अक्षर न लिखना ही उचित रहेगा।" धन्य, धन्य, यही है वास्तविक इतिहासकार का सही रूप। जिन नराधमों ने दिल्ली के राजमार्गों पर चलने वाले प्रत्येक ग्रामीण के मुख में गोमांस ठूंसने का

---

१. के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त।

कलंकित कृत्य किया था, उन्होंने ही ५५वीं पलटन के वीर सैनिकों को तोपों के गोलों से उड़ा देने के पहले बलात् उनके मुख में गोमांस ठूंसने की पाशविकता प्रदर्शित न की होगी, इसका भी हमारे पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

जहां पेशावर में इन अत्याचारों की आंधी चल रही थी, क्रूरता और पाशविकता का नग्न नृत्य हो रहा था, वहां जालन्धर में क्रान्ति का प्रबल तूफान उमड़ रहा था। जान लारेन्स द्वारा पंजाब में एक सिरे से सभी भारतीय सिपाहियों को निःशस्त्र करने का क्रम अबाध गति से जारी था। फिल्लौर और जालन्धर में भी अब तक यह कार्य पूर्ण हो जाना चाहिए था, किन्तु वहां के सैनिकों द्वारा प्रदर्शित किए गए महान संयम और संगठन क्षमता के कारण अभी वहां ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाई थी। वे अभी तक इस संकट से बचे हुए थे। जालन्धर और दोआबा के शूर सैनिकों ने भी पंजाब के अपने अन्य सैनिक बन्धुओं के समान ही विद्रोह की सम्पूर्ण सिद्धता की हुई थी। दिल्ली पर किए गए धावे के समय एक देशभक्त हवलदार को बन्दी बनाया गया था। उसके द्वारा प्रस्तुत विवरण तथा अन्य कतिपय पत्रों आदि से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जालन्धर और दोआब में एक ही समय पर विद्रोह का विस्फोट होने की सम्पूर्ण व्यवस्थाएं की जा चुकी थीं। निर्धारित योजना के अनुसार एक दल को जालन्धर से होशियारपुर जाना था। वहां से ३१वीं पलटन को विद्रोह की पावन पताका अपने हाथों में संभाले फिल्लौर की दिशा में गमन करना था। वहां पहुंचते ही फिल्लौर की तीसरी पलटन ने भी 'क्रान्ति अमर रहे' का जयघोष गुंजा देना था। तदुपरान्त इन दोनों ने मिलकर दिल्ली की दिशा में प्रयाण कर देना था। (किन्तु निर्धारित योजनानुसार यह सब कुछ गुप्त न रह सका) किन्तु फिल्लौर की सेना ने नितान्त ही आश्चर्यजनक ढंग से योजना को अन्त तक गोपनीय रखने में सफलता प्राप्त कर ली। दिल्ली को घेरा डाल कर बैठी हुई कंपनी और उसके पास विद्यमान सभी सामग्री की धज्जियां उड़ा देना फिल्लौर के इन वीर सैनिकों के लिए एक सरल सा कार्य था। किन्तु सर्वसम्मति से निर्धारित किए गए कार्यक्रम में किसी प्रकार से भी व्यवधान उपस्थित न हो इस दृष्टि से समय की प्रतीक्षा करते हुए इन वीरों ने शान्त रहना ही श्रेयस्कर माना। अन्ततः ९ जून को पूर्व-निर्धारित कार्यक्रमानुसार जालन्धर क्वीन्स रेजिमेन्ट के कर्नल का निवासस्थान अग्नि देव को समर्पित कर दिया गया। यह संकेत प्राप्त होते ही उसी दिन जालन्धर के सैनिकों ने अर्धरात्रि में क्रान्ति का शंखनाद कर दिया। यों तो उस समय भी कुछ गोरे सैनिक तथा तोपें तैयार थीं किन्तु सहसा ही इस क्रान्ति के विस्फोट और सैनिकों के प्रबल रण गर्जन से अंग्रेज अधिकारी चकित रह गए। अंग्रेज नर-नारी, आबाल वृद्ध सुरक्षित स्थलों की खोज में भाग खड़े हुए। किन्तु इन सामान्य प्राणियों के रक्तप्रवाह का अवकाश जाल-

न्धर के वीर सिपाहियों को कहां था ? उनमें से प्रत्येक उस दिल्ली की ओर तीव्र गति से पग बढ़ा रहा था, जहाँ तक फहराती हुई स्वातन्त्र्य पताका को अपना इंगित बनाने के लिए अंग्रेज सेना और तोपखाना रण हेतु सन्नद्ध हो चुका था। एडजुटेन्ट बॉगशो ने जब अकारण ही मुंह चलाया तो एक अश्वारोही सैनिक दौड़ता हुआ आया और उसने उसे गोली का निशाना बना दिया। परन्तु "जालन्धर के सिपाही हमारे विश्वासपात्र सैनिक हैं, अतः उन्हें निःशस्त्र करने की कोई आवश्यकता नहीं" यही बात अंग्रेज अधिकारियों ने अपनी प्रान्तीय सरकार को लिखी थी। क्योंकि इन सिपाहियों पर अंग्रेजों को पूर्ण विश्वास था, अतः उन्होंने इन अंग्रेज अधिकारियों में किसी को हाथ नहीं लगाया। इतना ही नहीं अपितु जालन्धर छोड़ते समय भी जो अंग्रेज अधिकारी उनके हाथ पड़े उनको भी उन्होंने अभय दान दे दिया। जालन्धर के सैनिकों ने अपने कार्यक्रम को गुप्त रखने में पूर्णतः सफलता प्राप्त की। उनकी इस गोपनीयता में फंसकर जिन व्यक्तियों ने उन पर विश्वास किया था, भारतीय सिपाहियों ने उनके साथ भी महान उदारता का प्रदर्शन किया।[१] किन्तु इन व्यक्तिगत संबंधों को उन्होंने राष्ट्र कार्य में रोड़ा बनने

---

१. अंग्रेजों ने अपनी कुटिलता का प्रदर्शन करते हुए जो मनगढ़न्त कहानी प्रसारित की है उसे 'कलकत्ते की अन्ध कोठरी' का नाम दिया गया। उनकी इस कपोलकल्पित गाथा पर विश्वास कर सभ्य संसार अंग्रेजों के कुटिल मस्तिष्क की उपेक्षा कर सिराजुद्दौला को शाप देता है। सत्य है कि एक काल कोठरी की सत्य कथा सुनकर आपकी भी 'काटो तो खून नहीं' वाली दशा ही होगी। इसका विवरण भी अंग्रेजों की 'शौर्य की कहानी' कहने वाले क्रूर कर्म करने वाले एक व्यक्ति से जबानी सुना जा सकता है। उसने लिखा है "हथियारों का परित्याग कर देने पर विवश होना पड़ेगा इस वास्तविक भय के कारण पलायन करने वाले कतिपय सैनिक अजनाला के समीप एक स्थान पर छिप गए थे। इन सभी २८२ सिपाहियों को कूपर द्वारा बन्दी बनाकर अजनाला ले आया गया। वहाँ रखकर भी इन लोगों का क्या किया जाए, यह प्रश्नचिह्न अंग्रेजों के समक्ष उपस्थित था। जहाँ उनकी नियमानुसार चौकसी की जाती वहाँ तक उनको पहुंचाना भी वाहनों के अभाव में असंभव ही था। परन्तु कूपर ने विचार किया कि यदि इन सब लोगों को एक साथ ही मृत्युदण्ड दे दिया जाए तो अन्य विद्रोहियों एवं क्रान्तिकारी सैनिकों के मन में आतंक व्याप्त हो जाएगा, जिसके परिणाम स्वरूप संभावित रक्तपात न हो सकेगा। अतः एक भारी दायित्व का आभास होते हुए भी उसने उन सब को प्राणदण्ड दे देने का निर्णय कर ही लिया। तदनुसार दूसरे

का अवसर नहीं दिया। स्वदेश और स्वातन्त्र्य के आवाहन पर वे रणांगण में कूद पड़े और उन्होंने अपने महान कर्त्तव्य का पालन करते हुए आत्मार्पण कर दिया, यह वस्तुस्थिति घटनाक्रम से सुस्पष्ट हो जाती है।

रात्रि में ही विद्रोह करने के पूर्व ही फिल्लौर के सैनिक बन्धुओं को सूचित करने हेतु एक अश्वारोही को रवाना किया गया था। ज्योंही यह अश्वारोही जालन्धर से फिल्लौर पहुँचा वहां भी क्रान्ति का शंखनाद गूंज उठा। अब तो केवल जालन्धर के लोगों के फिल्लौर पहुँचने की ही कमी रह गई थी। किन्तु यह कार्य भी तो कोई सरल कार्य नहीं था, क्योंकि उन्हें भी वहाँ से अंग्रेज रिसाले और तोपखाने को वंचिका देकर ही बाहर आना था। इधर अंग्रेजी सेना में उथल-पुथल व्याप्त थी तो इधर क्रान्तिकारी सैनिकों का कार्यक्रम अनुशासनबद्ध तथा सुनिर्धारित था। अतः जालन्धर के सैनिक बिना किसी प्रकार की अव्यवस्था के ही फिलौर जा पहुंचे। फिल्लौर के सैनिक भी अपने धर्मबन्धुओंका सहयोग करने हेतु आगे बढ़े। इन दोनों स्थानों के स्वातन्त्र्य वीरों ने एक-दूसरे का आलिंगन किया। अब स्वदेशी सूबेदारों और जमादारों की आज्ञानुसार स्वातन्त्र्य वीरों

दिन प्रातःकाल ही उसने १०-१० सैनिकों को जत्थों में खड़ा करा दिया और कतिपय सिखों से उन पर गोली वर्षा कराई। इस प्रकार २१६ वीरों के तो प्राण ले लिए गए, किन्तु अभी भी ६६ सैनिक तहसील के कच्चे कारागार में बन्दी थे। प्रतिकार किए जाने की आशंका होते हुए भी कूपर ने इस कारागार के द्वार खोल देने का आदेश दे दिया। किन्तु वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उसे कोठरी से किसी प्रकार की भी हलचल का संकेत मात्र भी न मिला। जब भीतर झाँककर देखा गया तो ४५ व्यक्तियों की निष्प्राण देहें वहाँ पड़ी थीं। क्या इसका कारण कूपर को विदित नहीं था। इस कोठरी के खिड़की और द्वार सभी बन्द कर दिए गए थे, जिसके कारण ये अभागे सैनिक इस कोठरी में ही प्राण विसर्जित कर बैठे और यह कोठरी ही वास्तव में काल कोठरी (ब्लैक हॉल) सिद्ध हो गई थी। अब जो २१ व्यक्ति बाकी बच गए थे, उन्हें भी गोली मारकर धराशायी कर दिया गया। (दिनांक १-८-१८५७)। कूपर द्वारा संपन्न किए गए इस महत्वपूर्ण कार्य के संबंध में कतिपय दयालु सज्जनों ने आलोचना करके भले ही चीख पुकार की हो, किन्तु राबर्ट मांटगुमरी ने बड़े ही विश्वासपूर्ण शब्दों में यह घोषणा की कि कूपर के इस कार्य के परिणामस्वरूप लाहौर की पलटनों में विद्रोह-भावना का प्रसार होना रुक गया। उसका काम पूर्णतः ठीक था।

—होम्सकृत 'हिस्ट्री आफ दि म्युटिनी', पृष्ठ ३६३

का यह समूह दिल्ली की ओर चल पड़ा। मार्ग में एक सरिता ही तो थी और उसके दूसरी ओर इन स्वातन्त्र्य वीरों की चरण धूलि अपने मस्तक पर धारण करने हेतु लुधियाना नगरी पलक पावड़े बिछाए प्रतीक्षा रत थी।

परन्तु लुधियाना नगर में प्रातःकाल ही जालन्धर के विद्रोह का समाचार तार द्वारा अंग्रेज अधिकारियों को प्रेषित किया गया था, किन्तु वह उन्हें पर्याप्त विलम्ब से प्राप्त हुआ। अतः वहाँ के अधिकारियों की यह आशा तो निराशा में ही परिणत हो चुकी थी कि नगर-स्थित सिपाहियों को नियन्त्रण में रखा जाना संभव है, क्योंकि इन अंग्रेज अधिकारियों को तार प्राप्त होने से पहले ही सैनिकों को अपने जालन्धर के देशबान्धवों के प्रस्ताव का समाचार प्राप्त हो चुका था। फिल्लौर से प्रस्थान करने वाले सैनिकों को लुधियाना के इस ओर ही सतलज सरिता पर रोके रखने की योजना लुधियाना के अंग्रेज अधिकारियों ने बड़ी ही चतुरता सहित वनाई। तदनुसार पुल को नष्ट कर, नदी के तट पर अंग्रेज, सिखों और नाभा नरेश के सहायक दलों को तैनात कर दिया गया था। क्रान्तिकारियों को भी यह समाचार प्राप्त हो गया था। अतः रात्रि में ही ४ मील ऊपर जाकर नदी को पार करना आरम्भ किया। नौकाओं में कुछ ने सरिता पार कर ली थी तो कुछ अभी भी आ ही रहे थे, कुछ अभी अपनी वारी आने की प्रतीक्षा में रत थे। उसी समय अंग्रेजों और सिखों ने उन पर तोपों से गोलों की झड़ी लगा दी। रात्रि के लगभग १० बजे थे। क्रान्तिकारियों के गोरे सैनिकों के ठिकानों का ठीक पता ही नहीं लग पाया। ऐसी विभ्रान्त अवस्था में अंग्रेजों और सिख सैनिकों ने तोपखाने को आगे कर धावा वोला। यह प्रबल आघात ज्योंही थोड़ा धीमा हुआ त्योंही क्रान्तिकारी भी शीशं हथेली पर धरकर गोलियों की वर्षा करने लगे। यद्यपि अंग्रेजों के अप्रत्याशित आक्रमण से भारतीय रणबांकुरों में कुछ अस्त-व्यस्तता व्याप्त हुई थी, किन्तु दो घण्टे तक जमकर लोहा लेने के उपरान्त उन्होंने अपनी पंक्तियों को सुव्यवस्थित कर लिया। उसी समय एक देशभक्त सैनिक की गोली तीर सी चली और वह सेनापति विलियम को वेधती हुई निकल गयी। विलियम सदैव के लिए चिरनिद्रा में मग्न हो गया। तभी अर्ध रात्रि के घनघोर अन्धकार में गगनांचल में अपनी धवल ज्योत्सना विस्फारित करते हुए चन्द्रदेव उदित हुए। इस मधुर चांदनी के शीतल प्रकाश में अंग्रेजों के सभी दाव पेंचों पर पड़े पर्दे उघड़ गए और क्रान्तिकारियों के समक्ष उनकी कुटिल तैयारियों का रहस्योद्‌घाटन हो गया। वे वीर कराल काल बनकर टूट पड़े। इस प्रबल प्रहार को सहन करने में स्वतः को असफल समझते हुए अंग्रेज सेना अपने राज्यनिष्ठ सिख सैनिकों सहित अपने जीवन की खैर मनाती हुई रणभूमि से पीछे हट गयी।

मध्य रात्रि में प्राप्त की गई थी विजय। घनघोर संग्राम के उपरान्त उदित

हुआ था सुप्रभात। इसलिए उसमें तो वीर श्री और भी अधिक दैदीप्यमान हो उठी। इससे उत्साहित होकर विद्रोही सिपाही दूसरे दिन दोपहर तक ही लुधियाना में प्रविष्ट हो गए। इस नगर में एक मौलवी "अंग्रेजों की दासता की श्रृंखलाएं तोड़कर स्वराज्य की स्थापना का पावन उपदेश" जन जन को प्रदान कर रहा था। इस मौलवी के मन्त्रदान से लुधियाना नगर भी क्रान्तिकारियों का महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। इधर आह्वान् हुआ "पराधीनता की वेड़ियों पर अन्तिम प्रहार करने के लिए आगे बढ़ो" और उधर प्रत्युत्तर में गूंज उठा प्रबल घोष "क्रान्ति अमर रहे" "स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की जय।" राज्य के गोदाम लुटे ही नहीं उन्हें अग्नि की भी भेंट चढ़ा दिया गया। गोरों के गिरजाघर जले, बंगले फुंके तो समाचारपत्रों के कार्यालय और मुद्रणालय भी भस्मसात कर दिए गए। अंग्रेजों के निवासस्थानों और उनके क्रीतदासों के सही ठिकानों का पता बताने में लुधियाना के नागरिक भी सिपाहियों के साथ कदम मिलाने में बाजी मार रहे थे। बन्दीगृहों के द्वार खोल दिए गए। जो भी सरकारी वस्तु अथवा अंग्रेज अधिकाकारियों की संपत्ति मिली उसे जला दिया गया। जिसे अग्नि ज्वाला न समेट सकी उसे समतल बना दिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण लुधियाना नगर विद्रोह की ज्वाला में धू धू करता हुआ जल उठा।

किन्तु अभी तो विद्रोहियों का दिल्ली पहुंचना भी अभीष्ट था। लुधियाना का दुर्ग एक प्रकार से तो पंजाब की कुंजी ही था और उस पर अधिकार रखना सामरिक दांव पेंच तथा नैतिक विजय की दृष्टि से भी नितान्त ही लाभदायक सिद्ध होता और यदि उसे भी दिल्ली के समान ही क्रान्ति का केन्द्रस्थल बना दिया गया होता तो इससे भी अंग्रेजों की राज्यसत्ता पर प्रचण्ड आघात लगता। इन सभी तथ्यों से क्रान्तिकारी सैनिक पूर्णतः अवगत थे। किन्तु जिन परिस्थितियों में लुधियाना पहुंचे थे उनमें उनके लिए वहाँ ठहरना दुष्कर हो गया था। क्योंकि न तो वहाँ उनका कोई नेता ही था और न ही थी उनके पास पर्याप्त युद्ध सामग्री। वे तो सभी सामान्य सैनिक गण थे। ऐसी अवस्था में यदि लुधियाना में नानासाहब, खान बहादुर खाँ अथवा मौलवी अहमदशाह के समान कोई नेता होता तो निश्चित रूप से ही क्रान्तिकारियों द्वारा लुधियाना पर पूर्ण नियन्त्रण रखा गया होता। किन्तु अब तो उनके समक्ष दिल्ली प्रस्थान करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। अतः वे यह नारा लगाते हुए चल पड़े कि "स्वाधीन रहेंगे अथवा पराधीन" अब इस प्रश्न का उत्तर तो दिल्ली की किलाबन्दी से ही प्राप्त होगा। उन्होंने दिल्ली की दिशा में प्रस्थान कर दिया। अंग्रेजों के होश उड़ गए। क्रान्ति के दूत दिन में ही दिल्ली की ओर प्रयाण कर रहे थे, उनके पग तेजी से बढ़ रहे थे, किन्तु उनका पीछा करने का साहस भी किसी अंग्रेज सैनिक

अथवा अधिकारी में नहीं हुआ।

मेरठ के विद्रोह के उपरान्त लगभग तीन सप्ताह तक क्रान्तिकारियों में जो शिथिलता व्याप्त रही, उसका तथा सैनिकों की विवशता का पंजाब के अंग्रेज अधिकारियों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया था। पंजाब में अंग्रेजों की प्रचण्ड वाहिनी विद्यमान थी, अतः सैनिकों से हथियार डलवाना अथवा उन्हें कठिन परिस्थितियों में डालकर विद्रोह करने के लिए विवश बना देना दोनों ही कार्य उनके लिए नितान्त ही सुगम थे। जब अंग्रेजों ने यह देख लिया कि पंजाब के सिख नरेश तथा उनकी प्रजा क्रान्तिकारियों के साथ कोई सहयोग नहीं कर रही है, अपितु हमारा साथ दे रही है तो उन्होंने सम्पूर्ण सीमान्त अंचलों से पंजाब के हिन्दुस्थानियों को हटा दिया। इस प्रकार उन्होंने उस दिशा में हो सकने वाली क्रान्ति की आशंका से निवृत्ति प्राप्त कर ली। केवल सैनिकों को ही नहीं हटाया गया, अपितु ग्रामों तथा नगरों में सुखपूर्वक निवास करने वाले हजारों भारतवासियों को अंग्रेजों के इंगित मात्र पर ही सीमा के इस पार हटा दिया गया। इस भांति पंजाब पर अधिकार कर लेने के उपरान्त वहाँ से पूर्णतः निश्चिन्त होकर यूरोपियन सेना ने दिल्ली की दिशा में प्रयाण कर दिया। गोरी सेना बड़ी ही तीव्रता से उस ओर बढ़ने लगी।

पंजाब के अंग्रेजों के इंगित पर नाचने के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम तो यह था कि सिखों ने अंग्रेजों का खुलकर पक्ष लिया। यदि इन लोगों ने उस समय केवल तटस्थता नीति को अपनाया होता तब भी पंजाब में अंग्रेजी शासन का एक दिन के लिए भी टिका रह जाना दुर्लभ हो जाता। यों तो क्रान्तिकारियों ने भी सिखों का सहयोग प्राप्त करनेके निमित्त प्रत्येक प्रयास किया था। दिल्ली के स्वतन्त्र होते ही सम्राट् के एक विश्वासपात्र सेवक ने पंजाब की तत्कालीन परिस्थितियों एवं घटनाक्रम से बादशाह को अवगत कराने हेतु एक विस्तृत पत्र बड़ी ही रोचक भाषा में लिखा था। बादशाह के इस विश्वासपात्र दूत ने अपने पत्र में लिखा था कि "पंजाब के सभी सिख सरदार आलसी बनकर रह गए हैं। उनमें कायरता इतनी आ गई है कि वे भारतीयों का सहयोग न देते हुए फिरंगियों के बूटों के तस्में खोलना ही अहोभाग्य समझने लगे हैं। मैंने उन सभीसे व्यक्तिगत रूप से भेंट की और वार्ता भी की। मैंने अपना हृदय निकाल कर उनके समक्ष रखा और कहा कि फिरंगी के साथ मिलकर तुम जो स्वराज द्रोह कर रहे हो उसका कारण क्या है? क्या स्वराज्य प्राप्ति में तुम्हारा भी लाभ निहित नहीं है? यदि किसी अन्य कारण वश नहीं, तो कम से कम अपने स्वार्थ की दृष्टि से तुम्हें दिल्ली के बादशाह के साथ सहयोग करना चाहिए। मेरी यह बात सुनकर उन्होंने यही उत्तर दिया "हम सब तो अवसर की खोज में ही हैं। दिल्ली के बादशाह का आदेश प्राप्त होते ही हम

इन मलेच्छों का एक क्षण में ही उन्मूलन करके दिखा देंगे।" किन्तु जब बादशाह का आदेशपत्र लेकर अश्वारोही सिख राजाओं के पास पहुंचे तो उन्होंने उनका वध ही कर डाला। इस प्रकार पंजाब में अंग्रेजों को अपने पंजे जमाए रखने में इतनी सुगमता क्यों हुई इसका प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण कारण स्पष्ट हो जाता है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि सिखों का विरोध होने के कारण पंजाब से अंग्रेजों को निष्कासित करना सर्वथा असंभव था। क्योंकि मई मास में हुए अचानक विस्फोट से अंग्रेज प्रकम्पित हो उठा था। उसका लाभ लेते हुए एवम् अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार क्रान्ति की ज्वाला पंजाब भर में एक ही साथ भड़क उठती तो सिखों को भी उस समय विद्रोहियों का ही साथ देना पड़ता। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि सहस्रों सिपाहियों को अलग-अलग नियंत्रण में लेकर उनका दमन करने की आंग्ल योजना भी सफल न हो पाती। यह कथन सर्वथा निराधार है कि पंजाब प्रदेश में उन दिनों स्वतन्त्रता की कोई लगन न थी। थानेसर के विद्वान ब्राह्मण हो अथवा लुधियाना के मौलवी, फीरोज़पुर का सामान्य व्यापारी हो अथवा पेशावर का मुसलमान सभा तो स्वराज्य और स्वधर्म के लिए धर्मयुद्ध अथवा जिहाद का पावन प्रचार करने में निशिवासर दत्तचित्त थे। उन्हीं दिनों ताजुद्दीन ने बादशाह को एक पत्र लिखा था। इसमें वह लिखता है "यदि शाहंशाह की ओर से कोई एकाध भी सेनापति सेना में भेज दिया जाए तो पंजाब को स्वतन्त्र होने में एक दिन भी नहीं लग पाएगा। प्रत्येक स्थान के सैनिक क्रान्ति का जय-जयकार करते हुए सम्राट की पताका के नीचे एकत्रित हो जाएंगे। अंग्रेजों को उस स्थिति में प्राणरक्षा करना भी दुर्लभ हो जाएगा। मैं विश्वास करता हूं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों द्वारा ही आपके राजसिंहासन को श्रद्धा सहित नमन किया जाएगा। क्रान्ति का विस्फोट यदि जून मास में होगा तो अत्यन्त उत्तम रहेगा। क्योंकि जेठ मास की तप्त दोपहरी में खड़े होने से ही अंग्रेजी सेनाओं को दिन में तारे दिखाई देने लगेंगे। तलवारों का प्रहार तो बाद में ही होगा पहले तो वे सूर्य की प्रचण्ड किरणों के ताप से ही दग्ध हो जाएंगे।" पंजाब की जनता तो दिल्ली की ओर आकर्षित थी; किन्तु बेचारे क्रान्तिकारी इन भावनाओं का कोई लाभ नहीं उठा सके। इसका कारण केवल यही था कि दिल्ली के स्वतन्त्र होने के उपरान्त क्रान्ति की लहर को तीन सप्ताह तक रोका गया था। यदि निश्चित कार्यक्रम के अनुसार एक ही दिन सब स्थानों पर क्रान्तियज्ञ का पुनीत प्रारम्भ होता तो अंग्रेजों को हताश ही होना पड़ता और वे क्रान्ति के इस ज्वालामुखी से उफनते हुए लावे को रोकने में समर्थ हो पाने के स्थान पर उसी में बहकर दग्ध हो जाते। फिर पंजाब की भारतीय पलटनों से शस्त्रास्त्र रखवा देने की क्षमता उनमें कहां से आ पाती। क्रान्ति का सागर अपने पूर्ण रोष और आक्रोश

के साथ उभरता तो तट पर बैठे सिख भी उसमें आकर मिल जाते। जब क्रान्ति का यह वैभवपूर्ण रूप निखर उठता तो जिनकी क्रान्ति से मौन सहानुभूति थी वे भी अपने शीश हथेली पर रखकर रणचण्डी का आह्वान कर देते। भारत के कोने-कोने में साहस का संचार हो जाता और सम्पूर्ण देश स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता, तात्पर्य यह है कि मेरठ में समय से पूर्व सहसा ही हुए क्रान्ति विस्फोट और सिखों के देशद्रोह ने पंजाब प्रान्त में क्रान्ति की जड़ें ही हिला दी थीं। पंजाब को दिल्ली की रीढ़ की अस्थि होने जैसा महत्व प्राप्त था। रीढ़ टूट गयी और क्रान्तिकारियों का सत्साहस भी टूट गया।

अभी तक हमने क्रान्तिकारी सैनिकों तथा अंग्रेजों की गतिविधियों का विवरण प्रस्तुत किया है। हमने तीन सप्ताह तक चले घटनाक्रम पर प्रकाश डाला है, इस तीन सप्ताह की अवधि में अंग्रेजों ने क्रान्ति की ज्वालाओं पर पानी डालने की पूर्ण सिद्धता प्राप्त कर ली थी। तदनुसार कलकत्ता से प्रयाग की ओर आनेवाले सहायक अंग्रेज सैनिकों का प्रवाह आरम्भ हो गया था। अंग्रेज अधिकारी इस बात का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे थे कि बम्बई, मद्रास, राजस्थान और सिन्ध प्रदेश में क्रान्तिकारी दल के केन्द्र कहां-कहां हैं और उनसे किस-किसको सहानुभूति है। उनको पंजाब के समान ही निःशस्त्र करने का उपक्रम पूर्ण सिद्धता सहित प्रारम्भ कर दिया गया था। उन्हें विश्वास हो गया था कि यह परमात्मा की ही कृपा है कि उसने उन्हें क्रान्ति के विस्फोट का पूर्व संकेत दे दिया है। अतः वे जहां-जहां भी क्रान्ति के शोले भड़कने की सम्भावना है, उनको बुझा देने में सफलता प्राप्त कर लेंगे। इधर इन तीन सप्ताह में जहां अंग्रेजों ने इतनी सिद्धता कर ली थी, दूसरी ओर क्रान्तिकारियों की सामान्य सी गतिविधियों को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र शान्ति सी व्याप्त हो गई थी। किन्तु ३० मई को परिस्थितियों ने सहसा ही एक करवट ली। अंग्रेजों के मन में उत्पन्न हुआ प्रचण्ड आत्मविश्वास कैसे धूल धूसरित हो गया, क्रान्ति की ज्वालाएं तीन सप्ताह तक अत्याचारों और दमन के अंगारों के सुलगते रहने पर क्यों न भड़कीं और फिर वे कैसे गगनांचल तक व्याप्त हो उठीं, इस इतिहासक्रम पर हमें दृष्टिपात करना चाहिए। निश्चित नियमों के अनुसार तो आज तक किसी भी क्रान्ति का संचालन नहीं हो पाया है। क्रान्ति कोई घड़ी के समान एक सुनिर्धारित नियम के अनुसार चलनेवाला यन्त्र तो नहीं है! हां यह एक अकाट्य सत्य है कि क्रान्ति का नियमन एक मोटे सिद्धान्त से होता है! छोटे-छोटे नियमोपनियम तो उसके एक विस्फोटमात्र में ही तितर-बितर हो जाते हैं। क्रान्ति का दिग्दर्शन का तो केवल एक ही नियम है "रुको नहीं, बढ़ते चलो।" क्रान्ति तो एक विचित्र पक्षी के तुल्य है। जिस स्थान में वह दीर्घकाल तक बन्दी रहता है, उससे मुक्त होते ही वह उस स्थान पर पुनः पहुंचने के पूर्व गगनांचल के

ओर-छोर से अपने पंखों के बल पर चक्कर लगाता है, उड़ान भरता है। उसके लिए इस प्रकार का उड्डयन अनिवार्य होता है। अतः जिसे इस पक्षी के पंखों पर बैठकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति करनी हो उसे इस पक्षी की पीठ पर संभलकर बैठने की सिद्धता तो करनी आवश्यक ही है, क्योंकि मुक्त होकर प्रथम परिक्रमा करने पर जब उसके पंख अपनी स्वाभाविक गति पर स्थिर हो जाते हैं तब वह ही उन पर नियन्त्रण प्राप्त कर पाने में सफलता प्राप्त कर सकता है जिसने अपना आसन सुदृढ़ता से जमा लिया है। मेरठवालों ने क्रान्ति के पक्षी को भले ही समय से पूर्व मुक्त कर दिया हो, किन्तु इससे क्रान्ति के प्रणेता टस से मस नहीं हुए थे। हे इतिहास के देवता, अब तुम ही बताओ कि नानासाहब, लखनऊ के मौलवी, झांसी की विद्युतलता-सी छबीली, इत्यादि धुरन्धर वीरों ने इस क्रान्ति के गरुड़ की पीठ पर कितना सुदृढ़ आसन बनाया था ? उन्हें अपने इस महान पराक्रम में सफलता किस भांति प्राप्त हो सकी थी ? हे इतिहास के देव ! तुम इस बात का उल्लेख करना भी न भुला देना कि इन वीरों के समान हिन्दुस्थान के अन्य लोगों ने इस पक्षी पर कसकर नियन्त्रण रखने की सिद्धता नहीं दिखाई। इसके फलस्वरूप वह छटककर आकाश में कैसे उड़ चला। तुम भी हमारे साथ पूर्वार्ध में स्तुति स्तोत्र गाओ और उत्तरार्ध में हमारे साथर हो। आओ, हे इतिहास तुम भी हमारे साथ अपने नेत्रों से अश्रुधाराएं बहाओ।
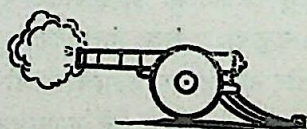
: ५ :

अलीगढ़ तथा नसीराबाद

मेरठ में हुए प्रचण्ड विस्फोट से धरती कांप उठी थी और अम्बाला और पंचनद का सम्पूर्ण प्रदेश भी इससे प्रकम्पित हो उठा था। इसी प्रकार दिल्ली के दक्षिणांचल में स्थित प्रदेश भी इस विस्फोट के कारण हिल उठा था। दिल्ली के दक्षिण में स्थित अलीगढ़ नगर में भारतीय सिपाहियों की ९वीं रेजीमेन्ट थी। इसी सेना की कतिपय टुकड़ियां मैनपुरी, इटावा तथा बुलन्दशहर में भी थीं। इस नवम् रेजीमेन्ट पर सरकार को इतना अधिक विश्वास था कि वे बड़े गर्व सहित घोषणा करते थे कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान के सिपाही चाहे विद्रोह करें, किन्तु यह पलटन विद्रोह में कदापि सहयोग नहीं देगी। यद्यपि बुलन्दशहर के बाजारों में क्रान्तिकारी गुप्त संगठनों की कार्रवाईयों के आरम्भ होने के समाचार अंग्रेज अधिकारियों को मिलते थे, किन्तु फिर भी वे ९वीं पलटन की राज्यनिष्ठा के संबंध में पूर्णतः आश्वस्त होकर लम्बी ताने पड़े रहे।

मई मास का आगमन हुआ। बुलन्दशहर के आस-पास के ग्रामवासियों ने अपने में से एक माननीय तथा स्वातन्त्र्यप्रिय ब्राह्मण का चयन कर उसे बुलन्द-शहर की ओर भेज दिया। लम्बे-लम्बे पग धरता हुआ यह ब्राह्मण बुलन्दशहर की छावनी की ओर बढ़ता जा रहा था। कभी उसके मन में आशंका उत्पन्न होती कि क्या बुलन्दशहर की छावनी में मैं सफलता की देवी के दर्शन कर सकूंगा तो कभी उसके मन में आशा की किरण प्रस्फुटित होती, उसे वे सैनिक भी स्वातन्त्र्य देवी 'की आराधना हेतु स्वराज्य मन्दिर की ओर प्रयाण करते हुए प्रतीत होते। जहां अंग्रेजों को बुलन्दशहर के भारतीय सैनिकों की राज्यनिष्ठा पर अदम्य विश्वास था वहां यह ब्राह्मण सोच रहा था कि "ये सैनिक भी तो मेरे ही देशबन्धु हैं, मातृभूमि के उद्धार और स्वधर्म की रक्षार्थ सन्नद्ध होने का मेरा आग्रह वे स्वीकार करेंगे अथवा नहीं? स्वराज्य के सर्वोपम वायुमण्डल में स्वतन्त्र विचरण करने की उनकी आशा बलवती है? मैंने भविष्य में उनसे जो आशाएं लगाई हैं

क्या वे उसे ठुकरा ? क्या वे देंगे पुनः पराधीनता की मादकता में चूर रहकर मेरे स्वप्नों को अंगार लगा देंगे ? मैं तो भविष्य के वैभवशाली रूप का कल्पना चित्र उनके समक्ष प्रस्तुत करने जा रहा हूं। किन्तु कहीं ये सैनिक उनकी तन्द्रा को भंग करने के अपराध में मुझे दण्ड देकर अपने ही देशवासियों के विरुद्ध शस्त्रास्त्र तो नहीं उठा लेंगे ?" ऐसी अनेक आशंका और निराशा की तरंगों से उसका हृदय आप्लावित हो रहा था। आशा-निराशा की लहरों में उसका हृदय भले ही तरंगित हो रहा हो, किन्तु उनके मुखमण्डल पर एक अनोखा तेज व्याप्त था। वह ब्राह्मण क्रान्ति के महान सन्देश को छावनी तक पहुंचाने हेतु छावनी में प्रविष्ट हो गया। वहां उसका हार्दिक अभिनन्दन किया गया। उसके द्वारा दिया जाने वाला महान क्रान्ति सन्देश सुनने हेतु सैनिकों ने प्रचण्ड आस्था का प्रदर्शन किया। विद्रोह के कार्यक्रम से इन महान वीरों को अवगत कराते हुए इस ब्राह्मण ने उन्हें परामर्श दिया कि किसी विवाह की घूमधाम का अवसर खोजकर ही क्रान्तियज्ञ का पुनीत कार्य प्रारम्भ किया जाए। उसने उन्हें समझाया कि यहां के अंग्रेजों को भूलुण्ठित करने के उपरान्त दिल्ली की ओर प्रयाण कर देना। यद्यपि अंग्रेजी राज्य को समाप्त करने के प्रश्न पर सभी एक मत थे, किन्तु उनमें क्रान्ति के कार्यक्रम के क्रिया-वदन पर विचार-विमर्श आरम्भ हुआ। किन्तु दुर्भाग्यवश, उसी कम्पनी के तीन सैनिकों ने उस ब्राह्मण के संबंध में अंग्रेज अधिकारियों को सूचित कर दिया; जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण को वन्दी बनाकर बुलन्दशहर की सैनिक टुकड़ी के केन्द्र अलीगढ़ में उसे भेज दिया गया। वहां सैनिकों की उपस्थिति में ही उसे प्राणदण्ड का आदेश दिया गया। इधर बुलन्दशहर में जिन तीन सैनिकों ने राज्य-निष्ठा का प्रदर्शन किया था, उन्हें अपशब्द कहकर अपमानित कर निकाल कर बाहर कर दिया गया। अब बुलन्दशहर के सभी सैनिक अपने अधिकारियों से किसी प्रकार की अनुमति न प्राप्त कर अलीगढ़ जा धमके। वे मन ही मन उन्हें लाखों गालियां दे रहे थे। २० मई को इस क्रान्ति के सन्देशवाहक ब्राह्मण को मृत्युदण्ड देने हेतु वधस्तम्भ पर लटकाया जाना था। अंग्रेजों का आदेश था कि सभी सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य है। सैनिक इस विचार में पड़ गए कि अब क्या किया जाय ? यदि ३१ मई की निर्धारित तिथि तक मौन रहा गया तो वह ब्राह्मण फांसी के तख्ते पर लटका दिया जाएगा। अभी सिपाही इसी असमंजस में पड़े हुए थे और दूसरी ओर इस महान देशभक्त ब्राह्मण की पवित्र आत्मा ने स्वर्ग की दिशा में प्रस्थान कर दिया था। वधस्तम्भ पर तो अब उसकी पार्थिव देह ही प्रतिशोध का भयंकर और आतंकपूर्ण सन्देश देती हुई झूल रही थी। मूक ही सही किन्तु एक महान सन्देश वह निर्जीव देह दे रही थी। वहां धारा प्रवाह वाणी के स्रोत के स्थान पर रक्तबिन्दु प्रवाहित हो रहे थे। शायद उतना प्रभावशाली

भाषण उस ब्राह्मण ने अपनी जीवित अवस्था में कभी न दिया होगा, जितना दिव्य और ओजपूर्ण आह्वान् उस दिन वधस्तम्भ से वह गुंजा रहा था। क्योंकि अभी एक ही क्षण वीता था कि एक सैनिक आगे बढ़ा। उसने अपनी तलवार खींच ली और उस पार्थिव देह की ओर इंगित करते हुए बोला "बन्धुओ। तुम देख रहे हो इस हुतात्मा ने रक्त से स्नान कर लिया है।" इस पराक्रमी सैनिक के मुख से ये शब्द निकले और वाण के समान कहां उपस्थित सहस्रों सैनिकों के अन्तःस्थल को एक साथ वेध गए। बारूद के ढेर पर चिंगारी के पड़ने के उपरान्त होने वाले विस्फोट की क्रिया भी इसके समक्ष मंद होकर रह गई थी। सहस्रों सैनिकों की तलवारें सहसा ही एक साथ म्यानों से बाहर मचल पड़ीं, वे क्रोध से तमतमा उठे और सम्पूर्ण वायुमण्डल से गूंज उठा यह समवेत स्वर "अंग्रेजी राज्य को समाप्त करो।" इस प्रचण्ड गर्जना के साथ ही सहस्रों सैनिक क्रान्ति के अग्रदूत बनकर नाच उठे।

इस दृश्य को देखकर अंग्रेज अधिकारियों का भय से कांप उठना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अब ९वीं रेज़ीमेन्ट के सैनिकों ने विद्रोह ही नहीं किया था, अपितु वे स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा भी कर रहे थे कि "यदि अंग्रेजों को अपने प्राणों से तनिक सा भी मोह है, तो उन्हें अलीगढ़ से तुरन्त प्रस्थान कर देना चाहिए।" भारतीय सैनिकों की इस उदारता का लाभ उठाते हुए श्रीमती ओट्रम तथा अन्य अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने सपरिवार अलीगढ़ से प्रस्थान कर दिया। अर्धरात्रि होने तक अलीगढ़ में अंग्रेजी राज्यसत्ता का कोई चिन्ह तक भी न रह गया।

अलीगढ़ के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार २२ मई को मैनपुरी भी पहुंच गया। इससे पूर्व ही हम यह बता चुके हैं कि ९वीं पलटन का एक भाग वहां भी था। इन सिपाहियों के मन में कौन से विचार तरंगित हो रहे थे, इनका परिचय तो अलीगढ़ के सैनिकों के उपरोक्त क्रिया-कलाप से ही स्पष्ट हो जाता है। मैनपुरी स्थिति अंग्रेज अधिकारियों को समाचार मिला कि राजनाथसिंह नामक एक सिपाही, जिसने मेरठ में क्रान्ति की ज्वाला धधकने के समय अंग्रेजों से युद्ध किया था, वह जीवन्ती नामक ग्राम में पहुंचा है। अतः उन्होंने ९वीं रेजीमेन्ट के कतिपय सैनिकों को इस वीर पुरुष को बन्दी बनाने हेतु भेजा। किन्तु इन सैनिकों ने जीवन्ती ग्राम में पहुंचकर उस सैनिक को बन्दी नहीं बनाया, अपितु वहां से सकुशल निकाल कर अन्यत्र भेज दिया। वे वापस अपनी छावनी में लौटे और उन्होंने अंग्रेज अधिकारियों को आकर सूचना दी कि इस नाम का कोई व्यक्ति उस ग्राम में नहीं आया। रामदीनसिंह नामक एक सिपाही को अंग्रेज अधिकारियों ने अनुशासन के आरोप में दण्डित करने के लिए अलीगढ़ भेजा था। जो पहरेदार उसे लेकर अलीगढ़ जा रहे थे, उन्होंने मार्ग में पहुंचकर उसकी हथकड़ी-बेड़ियां काट दीं और उसे सकुशल निकल जाने का मार्ग बताकर स्वयं मैनपुरी वापस आ गए। इन

घटनाओं से सिद्ध हो जाता है कि इन सभी सैनिकों के हृदय देश-भक्ति की पावन ज्योति से आलोकित हो रहे थे। वे तो केवल क्रान्तियज्ञ दहकाने हेतु निश्चित निर्देश की प्रतीक्षा में ही पलक पांवड़े विछाए हुए खड़े थे। वे इस सम्बन्ध में पूर्णतः सतर्क थे कि उनकी क्रान्तिसिद्धता की सूचना अंग्रेजों को प्राप्त नहीं होनी चाहिए, अन्यथा उन्हें भी निरस्त्र कर अपंग-सा वना दिया जाएगा। इसलिए वे ऊपर से पूर्णतः शान्त थे। इतने अधिक शान्त कि अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें भारत के सर्वश्रेष्ठ राज्यनिष्ठ सैनिक होने का प्रमाणपत्र भी दे दिया था। बुलन्दशहर से आए ब्राह्मण की महान यात्रा से सैनिक ही नहीं अलीगढ़ तहसील के सामान्य नागरिक भी क्रोध से तमतमा उठे थे। इस कम्पनी को अलीगढ़ तहसील में उभरती हुई क्रान्ति भावना को दवाने के निमित्त ही भेजा गया था। जव ये सैनिक अलीगढ़ वापस लौटे तो वाजारों में इनसे खटीक और कसाई भी यह प्रश्न करते थे कि "यूरोपियनों को ठिकाने लगाकर स्वतन्त्रता की पताका कव फहराओगे ?"[१] जिस कार्य के करने को खटीक और कसाई भी उतावले हो उठे थे, भला उसे करने में सिपाही कव तक संयम से काम ले सकते थे। जब अलीगढ़ के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार मैनपुरी पहुंचा तो वहां के मर्दाने भी जाग उठे। वहां के क्रान्तिकारियों ने भी अंग्रेज अधिकारियों को प्राण-दान तो दे दिया, किन्तु सम्पूर्ण शास्त्रास्त्रों और वारूद-गोले को अपने अधिकार में ले, उसे ऊंटों पर लादकर वे भी २३ मई को दिल्ली के लिए प्रस्थान कर गए।

ठीक इसी समय इटावा की स्थित सैनिक टुकड़ी में भी हलचल व्याप्त हो गई। इटावा नगर के प्रमुख मजिस्ट्रेट तथा जिलाधीश एलेन ओ० ह्यूम को जब मेरठ की क्रान्ति का समाचार प्राप्त हुआ था, तभी उसने अपने अधीन काम करने वाले सहायक मजिस्ट्रेट डेनियल की सहायता से इटावा के आसपास स्थित मार्गों की सुरक्षा के लिए कतिपय चुने हुए लोगों का एक दल संगठित कर लिया था। १९ मई को मेरठ से आए हुए कुछ सैनिकों के एक दल से इनकी मुठभेड़ भी हो चुकी थी। मेरठ के सिपाहियों को घेर लिया गया था और उन्हें शास्त्रास्त्र समर्पित करने का आदेश दे दिया गया। किन्तु इन वीर सैनिकों ने शास्त्र समर्पण का कृत्य भी नितान्त ही विचित्र ढंग से क्रियान्वित किया। उन्होंने एक साथ हथियार उठाए और घेरने वालों के ही टुकड़े कर दिखाए। इससे पूर्व ही कि यह समाचार चतुर्दिक फैल जाए, मेरठ के ये महावीर सैनिक एक हिन्दू मन्दिर में जा पहुंचे। जब जिलाधीश ह्यूम को यह समाचार प्राप्त हुआ तो वह भी डेनियल तथा कुछ भारतीय सैनिकों को साथ लेकर इस मन्दिर पर आक्रमण करने के लिए बढ़ चला

---

१. चार्ल्स बाल, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १३४

ह्यूम को आशा थी कि अपने सैनिक दस्ते के साथ मन्दिर तक पहुंचने से पूर्व ही ग्रामवासी इन विद्रोहियों को ठिकाने लगा चुके होंगे। किन्तु जब वहां पहुंचा तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि ग्रामवासी इन वीरों को ठिकाने लगाने के स्थान पर इनकी वीरता की विरुदावलि गा रहे थे। उनके सिए भोजनादि की व्यवस्था करने में लगे हुए थे। डेनियल ने सोचा ग्रामवासियों ने यदि यह दुष्टता की है तो कोई बात नहीं, अब हमारे सिपाही और सैनिक तो कटिबद्ध हैं ही। उसने उन्हें आज्ञा दी कि मन्दिर पर एक साथ टूट पड़ो। वह स्वयं भी आगे बढ़ा। किन्तु वहाँ अब उसका साथ देने वाला भी कौन था। उसके साथ आए सैनिकों में से केवल एक ही मन्दिर पर आक्रमण करने को आगे बढ़ा। मन्दिर में खड़े स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पुजारी सैनिकों ने इस गोरे अधिकारी और उसके काले दास के उत्साह को अपनी गोलियों से ठंडा कर दिया। उनकी निष्प्राणं देह धरती पर लोटती दिखाई दीं। बड़े ही गर्जन-तर्जन सहित आए हुए ह्यूम महोदय भी मन्दिर वाले सिपाहियों से बचने के लिए अपने होश-हवाश खोकर तीव्र गति से पलायन कर गए।

१६ मई को ही इटावा के सैनिकों के विद्रोह का भी समाचार जोरों से फैला था। किन्तु क्रान्तिकारी दल का केन्द्र अलीगढ़ था और वहाँ से निर्देश प्राप्त करने के उपरान्त ही इन सैनिकों को भी विद्रोह करना पड़ा था। अतः अभी इटावा के सैनिक पूर्णतः शान्त थे। वे ३१ मई तक पूर्णतः संयमित रहकर क्रान्ति की सुनिश्चित तिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु १२ मई को अलीगढ़ की क्रान्ति का समाचार ज्योंही इटावा के इन सैनिकों को प्राप्त हुआ उन्होंने भी क्रान्ति का शंखनाद कर दिया। इस संकटकालीन स्थिति में अंग्रेज सपरिवार पलायन करने लगे। जिलाधीश ह्यूम भी भारतीय सिपाहियों की उदारता का लाभ उठाते हुए एक भारतीय महिला का वेष धारण कर इटावा से नौ दो ग्यारह हो गए।[१] उसने भी जो भाग जाएगा बचा रहेगा कि नीति का अनुगमन किया। इस ह्यूम बाई के पलायन कर जाने से इटावा के स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा भी चारों ओर कर दी गई। इटावा के वीर सैनिक भी अपना काम पूर्ण कर दिल्ली जाने वाली पलटन के साथ सम्मिलित होने के लिए दिल्ली की ओर चल पड़े।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण रेजीमेन्ट ने एक व्यक्ति के रूप में अपने उभार का प्रदर्शन किया। उन्होंने अलीगढ़, बुलन्दशहर, मैनपुरी और इटावा आदि सभी स्थानों में सरकारी खजाना लूटा, स्वतन्त्रता की घोषणा की, शरण में आए हुए अंग्रेजों को अभयदान दिया, गोला-बारूद तथा अन्य शस्त्रास्त्र सामग्री का संचय किया और इस सम्पूर्ण कार्यक्रम को उन्होंने अनुशासनबद्ध ढंग से पूर्ण किया।

---

१. रेड पैम्फलेट, खण्ड २, पृष्ठ ७०

जिस सेना पर अंग्रेजों को इतना विश्वास था कि यदि सम्पूर्ण भारत की सेना ही विद्रोही बन जाएगी तब भी इस ९वीं पलटन का क्रम सबसे अन्त में आएगा, वही सर्वप्रथम संग्रामरत होकर परतन्त्रता की बेड़ियों को काट देने में अग्रगण्य सिद्ध हुई। अतः अब स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गयी कि अंग्रजों की शान्ति-संबंधी आशाएं भी विलुप्त हो गयीं। ये दृश्य उस समय के अंग्रेज अधिकारी आयुपर्यन्त विस्मृत न कर पाए होंगे।

अजमेर से लगभग ६ कोस की दूरी पर नसीराबाद नामक ग्राम स्थित है। वहाँ एक अंग्रेज पलटन, ३०वीं भारतीय पैदल सेना तथा एक तोपखाना भी था। इसी ग्राम में हाल ही में मेरठ से आई हुई बम्बई की प्रथम भालाधारी व १५वीं पलटन भी थी। इस सेना में भी अंग्रेजों के प्रति विद्वेष तथा उन्हें शीघ्रातिशीघ्र भारत से निष्कासित कर देने की भावना नितान्त उग्र रूप से विद्यमान थी। मेरठ के एक सहस्र के लगभग राजकीय उपदेशकों ने मेरठ में हुई गुप्त सभाओं में पारित प्रस्तावों की जानकारी यदि नसीराबाद के सैनिकों को न दी होती तो वास्तव में ही आश्चर्य की बात होती। बम्बई के भालाधारियों को छोड़कर अन्य सभी सैनिक एकमत थे। वे सभी समुचित अवसर की बाट जोह रहे थे। उन्हें २८ मई को यह अवसर उपलब्ध हो गया, क्योंकि उस दिन तोपखाने पर नियन्त्रण में काफी ढिलाई आ गयी थी। अतः निर्देश प्राप्त होते ही मेरठ की १५वीं रेजीमेन्ट ने विद्रोह की रणभेरी बजाकर सर्वप्रथम तोपखाने पर ही अधिकार जमाया। उस पर पुनः अपना नियन्त्रण करने के लिए यूरोपियन सैनिक और बम्बई के कतिपय भालाधारी सैनिक तोपखाने पर नियन्त्रण कर लेने वाले इन भारतीय रणबांकुरों पर टूट पड़े। किन्तु कुछ समय पश्चात ही भालाधारी सैनिकों को भी सही स्थिति का ज्ञान हो गया। वे वापस लौट पड़े, किन्तु अंग्रेज अधिकारी वहीं रह गए और उन्हें सदा के लिए धराशायी कर दिया गया। न्यूबरी को प्राणों से हाथ धोना पड़ा। कर्नल पेनी और, कैप्टन स्पॉटिशवुड भी इस संघर्ष में खेत रहे। अब इस नगर पर अधिकार किए रखने की उनकी सभी आशाएं विलुप्त हो चुकी थीं। अतः वे सभी बिस्तर-बोरिये लेकर भाग निकले। विद्रोहियों ने राज्यकोष को अपने अधिकार में ले लिया और सर्वसम्मति से चुने गए एक सेनापति ने बादशाह की ओर से सैनिकों में वीरता के पुरस्कार वितरित किए। अंग्रेज अधिकारियों के निवासस्थान अग्निदेव को समर्पित कर दिए। नसीराबाद की स्वतन्त्रता की घोषणा भी चारों ओर करा दी गई। अब दो-तीन हजार विद्रोहियों की सेना अपने शस्त्रास्त्र चमकाती, सैनिक शान सहित अपने नवीन देशी सेनापति के नेतृत्व में विजय-गीत और रण-संगीत सुनाती हुई दिल्ली की दिशा में बढ़ चली।

● ● ●

: ६ :

रुहेलखण्ड

रुहेलखण्ड प्रान्त की मुख्य राजधानी बरेली नगर में थी। इस प्रदेश में रुहेले पठानों का राज्य था, जिसे अंग्रेजों ने निगल लिया था। इस प्रदेश में अपमान का प्रतिशोध लेने को उतावले, शूरवीर एवं आन पर प्राणदान करने वाले मुसलमान पठानों का निवासस्थान था। सत्तावन में अंग्रेजों की दासता की शृंखला को तोड़ने के लिए जो महान अनुष्ठान होने वाला था और उसकी सिद्धता जिन अंचलों में की जा रही थी उनमें रुहेलखण्ड और उसकी राजधानी को भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। उन दिनों बरेली में ८वां अनियमित अश्वारोही दल, भारतीय सैनिकों की १८वीं तथा ६८वीं रेजीमेन्ट और भारतीय सैनिकों द्वारा संचालित तोपखाने की भी एक टुकड़ी थी। इसका ब्रिगेडियर था सिबाल्ड। अप्रैल मास में ही कतिपय सैनिकों ने कारतूसों के सम्बन्ध में अपनी आशंकाएँ व्यक्त की थीं। किन्तु उनकी आपत्ति की ओर ध्यान न देते हुए उन्हें इन कारतूसों का प्रयोग करने के लिए बाध्य भी किया था। पुनः एक-दो बार कुछ गड़बड़ी भी हुई, सैनिकों में कुछ उत्ते-ज़ना भी व्याप्त हुई, किन्तु इतने पर भी अंग्रेज अधिकारी स्थिति की गम्भीरता का आंकलन न कर सके।

इधर मेरठ के विद्रोह का समाचार बरेली में १४ मई को ही प्राप्त हो गया। अंग्रेज अधिकारी भी सतर्क हुए और उन्होंने अपने परिवारों को नैनीताल भेजकर सिपाहियों में से अश्वरोही को सन्नद्ध रहने का निर्देश दे दिया। यद्यपि ये अश्वा-रोही हिन्दुस्थानी ही थे, किन्तु फिर भी इन पर अंग्रेज अधिकारियों को पूर्ण विश्वास था। अश्वारोही पथक के साथ ही १५ मई को सभी सैनिकों को पथ संचलन के लिए एकत्रित होने का आदेश प्रसारित कर दिया गया। संचलन के अवसर पर अंग्रेज मुख्याधिकारी ने उन्हें "राज्यनिष्ठा तथा सदाचरण" का उपदेश दिया। उसने इस अवसर पर यह घोषणा भी की कि "आज से नये कारतूसों का प्रयोग किया जाना भी बन्द किया जाता है और वे पुराने कारतूस ही सैनिकों को दिए

जाएंगे जिनके सम्बन्ध में उन्हें आपत्ति नहीं है।" इसके साथ ही उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा भी कर दी कि "यदि नए कारतूस कहीं उपलब्ध भी हो जाएं तो उन्हें तत्काल ही भूमि में गाड़ दिया जाएगा।" उसने अपनी भाषण कला का प्रदर्शन करते हुए सैनिकों के हृदयों में उभरते हुए रोष के ज्वार का शमन करने का पूर्ण यत्न किया। किन्तु अब तो कारतूसों के सम्बन्ध में कोई भी घोषणा की जानी निरर्थक ही थी, क्योंकि स्वातन्त्र्य पताका को गगनांचल में फहराने के सम्बन्ध में इन सैनिकों को दिल्ली से त्वरित निमन्त्रण भी मिल गया था। यह निर्देश दिल्ली के स्वतन्त्र स्वदेशी राजसिंहासन द्वारा प्रसारित किया गया निर्देश था। यह कैसे सम्भव था कि इस शाही निमन्त्रण को कोई बहाना करके टाल दिया जाए। इस निमन्त्रण पत्रिका में लिखा था—

"दिल्ली के वीर सैनिकों का बरेली के वीर सैनिकों को सप्रेम आलिंगन। बन्धुओ, दिल्ली में हमारा अंग्रेजों से संघर्ष चल रहा है। परमात्मा की कृपा से प्रथम आघात में ही हमने अंग्रेजों को करारी पराजय दे दी है। हमने उनका उत्साह इतना अधिक तोड़ दिया है कि सम्भवत: बाद की दस पराजयों से भी वे इतने अधिक हतोत्साहित न होंगे। दिल्ली में तो स्वदेश और स्वधर्म एवं स्वराज्य के लिए संघर्ष करनेवाले राष्ट्रवीरों का तांता ही लग गया है। ऐसी स्थिति में यदि आप वहां भोजन कर रहे हों तो हाथ धोने के लिए यहां पहुंच जाइए। दिल्ली सम्राट् आपका स्वागत करेंगे और आपकी सेवाओं को पूर्ण सम्मान देंगे। आपकी तोपों की गर्जनाओं को सुनने के लिए हमारे कान उसी ओर लगे हुए हैं तो हमारे नेत्र भी आप सबके दर्शनों के लिए लालायित हैं। आप शीघ्रातिशीघ्र आओ, क्योंकि वसन्त का आगमन हुए विना गुलाब के पादप पर कुसुम कैसे प्रमुदित हो सकते हैं? दूध के अभाव में भला शिशु का जीवित रहना कैसे सम्भव रह सकता है?"

भला इतना प्रेमपूर्ण निमन्त्रण कैसे अस्वीकार किया जा सकता था? उधर यह निमन्त्रण आ रहा था और इधर हाफिज रहमतखां के वंशज रुहेलों का अन्तिम स्वतन्त्र सेनापति खान बहादुरखां गुप्त क्रान्तिकारी संगठन का जाल बिछाने में अहर्निश सक्रिय था। क्योंकि खानसाहब हाफिजजी के वंशज थे, और अंग्रेजों के न्याय विभाग में न्यायाधीश के पद पर भी कार्य कर चुके थे। अत: उन्हें दो-दो पैंशनें प्राप्त हो रही थीं। सम्पूर्ण रुहेलखण्ड में ही उनकी ख्याति अंग्रेजों के कृपापात्र के रूप में सर्वविदित थी। किन्तु बरेली में सक्रिय सम्पूर्ण क्रान्तिकारी और गुप्त गतिविधियों के केन्द्र भी वही थे। किन्तु पूर्व-निर्धारित कार्य-क्रमानुसार इस निमन्त्रण के बावजूद ३१ मई तक धैर्य रखने का ही निर्णय किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि सैनिक भी कदापि आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए अंग्रेजों के प्रत्येक आदेश को शिरोधार्य करेंगे। वे अपना सभी कार्य सुचारु रूप से

चलाते रहे। कुछ ही दिन पूर्व मेरठ के क्रान्तिकारियों में से लगभग १०० सैनिक भी गुप्त रूप से इसी छावनी में आकर रहने लगे थे। उन्होंने मेरठ के सम्पूर्ण घटनाक्रम पर विस्तारसहित प्रकाश डाला और यहां के सैनिकों में क्रान्ति की चिंगारी फूंककर वे यहां से प्रस्थान कर गए। किन्तु अभी भी सैनिक ऊपर से पूर्णतः शान्तभाव का ही प्रदर्शन कर रहे थे। इतना ही नहीं कतिपय सूबेदारों ने तो अंग्रेज अधिकारियों से यह भी अनुमति मांगी कि उन्हें उनके परिवारों को छावनी में ले आने की अनुमति प्रदान कर दी जाए। अभी उनकी इस प्रार्थना पर विचार किया ही जा रहा था कि २९ मई को सहसा ही यह अफवाह फैल गई कि "सैनिकों ने स्नान करते समय यह शपथ ग्रहण की है कि आज दो बजने के पूर्व ही अंग्रेजों का नरमेध सम्पन्न कर दिया जाएगा।" अंग्रेजों ने तत्काल ही अपने राजभक्त अश्वारोही पथक को सतर्क कर दिया। इस आदेश पर अश्वारोहियों ने तनिक सी भी आनाकानी का भाव अपने मुख पर न उभरने दिया। अतः अंग्रेज अधिकारी भी बड़े शान्त-भाव से अपने निवासस्थानों को लौट पड़े। उन्होंने जाते समय यह भी कहा कि यह अफवाह तो असत्य थी ही, साथ ही यह भी सिद्ध हो गया है कि अश्वारोही पथक कदापि विश्वासघात नहीं करेगा। तभी उन्हें अपने प्रामाणिक सूत्रों से यह समाचार भी सुनने को मिला कि अश्वारोही पथक (रिसाले) के सैनिकों ने यह संकल्प ग्रहण कर लिया है कि "हम अपने बन्धुओं के विरुद्ध न तो शस्त्र ही उठाएंगे और न ही अंग्रेजों से किसी प्रकार का सहयोग करेंगे।" अब अंग्रेजों की स्थिति 'काटो तो खून नहीं' के तुल्य हो गयी थी। वे इसी चिन्ता में निमग्न थे कि किसका विश्वास किया जाए? इसी दुविधापूर्ण स्थिति में २९ के उपरान्त ३० मई भी व्यतीत हो गई। पूर्णतः शान्ति रही और विशेपतः ३० मई को सिपाहियों का व्यवहार इतना अधिक शान्तिपूर्ण था कि अंग्रेज अधिकारियों और उनके भारतीय चाटुकारों को पूर्ण विश्वास हो गया कि सम्पूर्ण सैनिक ही राजभक्त हैं और अब उनसे किसी प्रकार के उपद्रव की आशा रखना भी अन्याय है।

३१ मई को प्रातःकाल भगवान भुवन भास्कर प्राची दिशा में उदित हुए। उधर आकाश में लालिमा थी तो इधर धरती पर भी कैप्टन ब्राउन लो के बंगले के चारों ओर लालिमा बिखर उठी। उसका निवासस्थान धू धू करता हुआ जल उठा। इस पर भी अंग्रेज इसे एक सामान्य-सी घटना ही मानते रहे। उस दिन रविवार था। साप्ताहिक संचलन भी निर्बाध रूप में सम्पन्न हो गया। भारतीय अधिकारियों ने विधिवत अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। अंग्रेजों ने भी भारतीय सिपाहियों को अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक अनुशासनबद्ध होकर कार्य करते हुहै देखा। गिरजाघरों में गोरों की प्रार्थनाएं भी निर्विघ्न संपन्न हुई। तात्पर्य यह

कि भगवान अंशुमाली के गगनांचल में दिखाई देते रहने तक कोई भी कार्रवाई न हुई।

रात्रि में घड़ी ने ११ बजाए और छावनी से तोपों की गड़गड़ाहट आरम्भ हो गयी। वायुमण्डल में अभी तोपों का यह घन गर्जन गूंज ही रहा था कि राइफलों और संगीनों की दनदनाहट और खनखनाहट से धरा आकाश गुंजित हो उठे। बरेली में विद्रोह की योजना इतनी तत्परता सहित क्रियान्वित हुई थी कि यह भी निर्धारित था कि कौन किस अंग्रेज को ठिकाने लगाएगा। ११ बजे ६८वीं कंपनी के जवान छावनी के अंग्रेजों पर चढ़ दौड़े। ब्रिगेडियर सिबाल्ड को उनकी पहली ही रणहुंकार ने सदा के लिए मौन कर दिया। कैप्टन कर्बी, लैफ्टिनेन्ट फ्रेजर, सार्जेन्ट वॉल्टन, कर्नल ट्रूप, कैप्टन राबर्ट्सन तथा इनके अनेक साथी क्रान्तिकारियों के क्रोध का आहार बन गए। केवल ३२ गोरे ही येन केन प्रकारेण इस प्रतिशोध के सागर में विलीन होने से बच पाए और वे प्राण बचाकर नैनीताल पहुंच गए। विश्व ने देख लिया कि प्रातःकाल सूर्योदय होने से पूर्व ही बरेली से पराधीनता का अन्धकार समाप्त हो गया और वहाँ स्वतन्त्रता का सूर्य दमक उठा।

ज्योंही यूनियन जैक को उतारकर स्वातन्त्र्य पताका बरेली में उत्तोलित की गई, तोपखाने के सूबेदार बख्त खां ने भी स्वातन्त्र्य दूतों का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। बख्त खाँ का उल्लेख पुनः दिल्ली के घेरे के अवसर पर भी करना ही पड़ेगा। उसने सिपाहियों के समक्ष एक नितान्त ही उत्साहवर्धक और ओजपूर्ण भाषण किया। उसने बताया कि स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त सिपाहियों का व्यवहार कैसा होना चाहिए तथा उन्हें किस प्रकार अपने दायित्व को पूर्ण करना चाहिए। उसने यह भी समझाया कि स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए दायित्वों का निर्वाह करना भी आवश्यक होता है। तदुपरान्त यह स्वदेशी ब्रिगेडियर अंग्रेज ब्रिगेडियर की बग्घी में सवार होकर नगर-भर में घूमा।[1] उसके पीछे नव नियुक्त भारतीय अधिकारी थे। वे भी अपनी-अपनी श्रेणी के अंग्रेज अधिकारियों के वाहनों में सवार थे। सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में सम्पूर्ण रुहेलखण्ड का अधिपति खान बहादुर खाँ नियुक्त किया गया। जनता ने भी जय जयकार कर उसकी मानवन्दना की। बरेली स्थित अंग्रेजों के गृहद्वार तो पहले ही अग्नि देव को समर्पित कर राख के अम्बार बना दिए गए थे। जो अंग्रेज स्वातन्त्र्य दूतों ने बन्दी बनाए थे, उन्हें खान बहादुर ने अपने समक्ष उपस्थित किए जाने का आदेश दिया। खान बहादुर पहले अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुके थे। अतः अंग्रेजी दण्ड विधान की भी उन्हें पूर्णतः जानकारी थी। उन्होंने

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड प्रथम, पृष्ठ १७५

इन अंग्रेजों का निर्णय सुनाने के लिए ज्यूरी का आयोजन किया। अभियुक्तों में थे उत्तर-पश्चिम सीमा प्रदेश के गवर्नर का जामाता, एक डाक्टर, बरेली के राजकीय महाविद्यालय का प्राचार्य, बरेली का प्रधान न्यायाधीश। कल तक जो बहादुर खाँ एक राजभक्त के रूप में अंग्रेजों के एक सम्मानीय मित्र की स्थिति में उन्हीं लोगों के साथ कुर्सी से कुर्सी सटा कर बैठता था, जो आज अभियुक्तों के रूप में उपस्थित थे और खान बहादुर उनके समक्ष सिंहासन पर विराजमान था। कल वह जिनके साथ बैठा था आज उन्हींमें से कुछ उसके समक्ष अपराधियों के कठघरे में खड़े थे। ज्यूरी ने शपथ ग्रहण की और सदैव के समान निर्णय सुनाने को बैठ गए। अभियुक्तों को राजद्रोह से सम्बन्धित अनेक आरोपों में दोषी ठहराया गया और इनमें से ६ को तो वहीं वधस्तम्भ पर लटका दिया गया। रुहेलखण्ड का अंग्रेज कमिश्नर अपने प्राण बचाकर भाग निकला था। खान बहादुर ने उसे मृत अथवा जीवित बन्दी बनाने के लिए एक हजार मुहरों का पारितोषिक घोषित किया। इस भांति अंग्रेजों के रक्त से उन्होंने अपने शासन को सींचकर उसकी जड़ों को दृढ़ बनाया और रुहेलखण्ड की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दूतों को दिल्ली की दिशा में भेज दिया। उस दिन ११ बजे विद्रोह आरम्भ हुआ था, सूर्यास्त होने से पहले ही पहले सम्पूर्ण रुहेलखण्ड ने पराधीनता का पाश उतारकर फेंक दिया था।

सम्पूर्ण प्रान्त के स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा कोई कोरी शाब्दिक घोषणामात्र नहीं थी। उधर बरेली की विद्रोही तोपों की गड़गड़ाहट से अंग्रेज सत्ता प्रकम्पित हो रही थी। इधर शहजहाँपुर में भी गोरों का रक्त स्वतन्त्रता को फलवती करने के लिए बिखराया जा रहा था। बरेली से शाहजहाँपुर लगभग ४० मील की दूरी पर स्थित है, वहाँ २८वीं पैदल सेना तैनात थी। मेरठ के विद्रोह का समाचार शाहजहाँपुर १५ मई को ही पहुँच गया था। परन्तु सिपाहियों ने एक भी ऐसा कृत्य नहीं किया था, जिससे कि अंग्रेज अधिकारी सावधान हो पाते। वहाँ भी ३१ मई की क्रान्तिकारियों द्वारा निर्धारित तिथि पर भी किसी प्रकार की हलचल दृष्टिगोचर न हुई। उस दिन रविवार का दिन था और सभी गोरे गिरजाघरों में गए। उनकी प्रार्थना के स्वर अभी मन्द ही हुए थे कि सहसा ही सिपाही उस ओर दौड़ पड़े। चर्च का चैप्लेन बाहर आया ही था कि एक क्रान्तिकारी सैनिक की तलवार के एक ही प्रहार से उसका हाथ उड़ गया। इस प्रकार नरमेध का आरम्भ हुआ। नगराधीश रिफेट्स को ठिकाने लगा दिया गया तो सर बाडोर की भी चर्च में ही पंखुड़ियां बिखर गईं। चर्च पर आक्रमण करने के लिए सिपाहियों का एक दल इधर आया था तो दूसरा दल छावनी में यूरोपियनों के ठिकाने के लिए प्रस्थान कर गया था। उसने वहाँ रक्तपात आरम्भ कर दिया था। सहा-

यक मजिस्ट्रट भोजन करके वापस आ ही रहा था कि बरामदे में ही उसे जीवन-मुक्त कर दिया गया। डाक्टर बाऊलिंग ने सिपाहियों से दो शब्द कहने आरम्भ किए। अभी सिपाही उसके दो शब्दों को सुन ही रहे थे कि दुर्दैव से उसने उन्हें राजद्रोही कह दिया। उसे राजद्रोह के इस उच्चारण करने का उत्तर एक सन-सनाती हुई गोली से मिला, जो सूं-सूं करती हुई आई और उसे चिरनिद्रा में सुला गई। चर्च की ओर जो विद्रोही गए थे वे तो हाथों में तलवार व लाठियाँ लेकर ही गए थे, किन्तु यहाँ स्वातन्त्र्य सैनिक अब बन्दूकें हाथ में उठा पंक्तिबद्ध होकर खड़े थे। अंग्रेज महिलाएं व कतिपय पुरुष कुछ सिख सिपाहियों एवं बावर्ची इत्यादि नौकरों की सहायता से एक राजा के निवासस्थान पर भागकर जा पहुँचे थे। किन्तु इस राजा ने भी इन्हें शरण देना अस्वीकार कर दिया। अतः उन्हें वहाँ से भी निराश होकर पलायन करना पड़ा और यह महमरी की ओर भाग निकले। इस प्रकार ३१ मई की सन्ध्या के साथ-साथ शाहजहाँपुर में स्वतन्त्रता के मंगलवाद्य बज उठे।

बरेली से उत्तर-पश्चिम दिशा में ४८ मील के अन्तर पर मुरादाबाद स्थित है। यह जिला केन्द्र है। यहाँ २९वीं पैदल पलटन तथा देशी तोपखाने की भी आधी पलटन छावनी में रहती थी। इस सेना के मन में मेरठ के विद्रोह के उपरान्त कितनी राजनिष्ठा अवशिष्ट है इसका अनुमान लगाने के लिए अंग्रेज अधिकारियों को एक स्वर्ण सन्धि प्राप्त हुई। गोरे अधिकारियों को १८ मई को यह समाचार प्राप्त हुआ कि मेरठ के कतिपय विद्रोही सैनिक मुरादाबाद आए हुए हैं। अंग्रेज अधिकारियों ने १९वीं पलटन को आदेश दिया कि रातोंरात उन विद्रोही सैनिकों पर छापा मारा जाए। सैनिकों ने अंग्रेजों का आदेश शिरोधार्य किया और रात्रि के अन्धकार में वे मेरठ के इन वीर सैनिकों पर टूट पड़े। किन्तु मेरठ के सभी विद्रोही सैनिक सकुशल भाग निकले। परन्तु ये सिपाही क्या करते? आक्रमण तो जोरदार हुआ था, किन्तु रात्रि पूर्णतः अन्धकारपूर्ण थी, अतः वे करते भी क्या? वस्तुस्थिति यह थी कि मेरठ के ये सिपाही मुरादाबाद के सैनिकों के संकेत और निर्देशन पर ही वहाँ से निकल गये थे, इतना ही नहीं मेरठ के कतिपय सिपाही तो मुरादाबाद के सैनिकों के साथ ही छावनी में सोए हुए थे। विशेष बात तो यह थी कि २९वीं पलटन का आक्रमण बड़ा ही जोरदार था। अतः अंग्रेज अधि-कारियों के मन पर भी उनकी राजनिष्ठा की धाक जम गयी। मई के अन्त तक भी कोई ऐसी घटना घटित नहीं हुई जिससे कि अंग्रेज अधिकारियों का विश्वास डगमगा जाता।

बरेली एवं शाहजहाँपुर के मध्य बदायूँ नामक एक जिला है। यहाँ का कले-क्टर एवं मजिस्ट्रेट मि० एडवर्ड्स इसी नगर में रहता था। रुहेलखण्ड में अंग्रेजी

राज्य का आरम्भ होते ही वहाँ के जमींदारों पर करों का असह्य भार थोपा गया था, जिसके कारण सभी जमींदार अंग्रेजी राज्यसत्ता से क्षुब्ध थे। किन्तु बदायूँ में तो कर-भार इतना अधिक थोपा गया था कि वहाँ की तो सम्पूर्ण जनता ही इस अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए किसी भी अवसर की प्रतीक्षा में सन्नद्ध खड़ी थी। वह अंग्रेजी साम्राज्य का नाश करने का मार्ग खोजने में संलग्न थी। एडवर्ड्स भी इस तथ्य से अवगत था। अतः उसने बरेली से सैनिक सहायता प्राप्त करने की भी याचना की थी। किन्तु बरेली में तो पहले ही विषम परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। अतः वहाँ से किसी प्रकार की भी सैनिक सहायता मिलना असंभव ही था। इतने पर भी उसे बरेली से यह सन्देश प्राप्त हुआ कि "१ जून को गोरे अधिकारियों के नेतृत्व में एक अंग्रेज सेना प्रस्थान कर रही है।" इस आश्वासन से एडवर्ड्स को सान्त्वना मिली थी और वह १ जून को पलक पावड़े बिछाए अपलक बरेली के मार्ग की ओर निहार रहा था। तभी उसे एक सरकारी कर्मचारी बदायूँ की ओर भागकर आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। एडवर्ड्स ने उसे बदायूं आने वाली अंग्रेजी सेना का अग्रदूत समझकर रोका। वार्तालाप करने पर उसे यह दुःखद समाचार प्राप्त हुआ कि बरेली से तो अंग्रेजी साम्राज्य की ही शवयात्रा निकल चुकी है। बदायूँ में राजकोष की सुरक्षार्थ कुछ सैनिक नियुक्त थे। एडवर्ड्स ने उनके सेनापति को बुलाकर कहा कि बरेली से तो ब्रिटिश राज्य-सत्ता समाप्त हो चुकी है अब बदायूँ का क्या बनेगा ? सेनापति ने उसे उत्तर दिया "आप चिन्ता न कीजिए। मेरे अन्तर्गत सभी सैनिक पूर्ण रूप से राजनिष्ठ हैं।" किन्तु सायंकाल होते-होते बदायूँ में भी स्वतन्त्रता की रणगर्जना हो उठी। खजाने की रक्षक सेना के सैनिकों और अन्य नागरिक नेताओं ने खुले रूप में नगर में घोषणा कर दी कि "अब बदायूँ से अंग्रेजी राज्य-सत्ता को चिरविदाई दे दी गई है और हम पूर्णतः स्वतन्त्र हैं।" इस प्रकार स्वेच्छा-सहित ही सम्पूर्ण बदायूँ जिले ने भी खान बहादुर खाँ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। राजकोष को अपने अधिकार में लेकर यहाँ के सिपाही भी दिल्ली की दिशा में बढ़ चले। सैनिक दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे तो गोरे अपने प्राण बचाने के लिए वनों की ओर भाग निकले थे। कई सप्ताह तक भूख-प्यास से बिलबिलाते हुए वे कभी जंगल में शरण लेते कभी किसी किसान के बाड़े में रात काटते। अंग्रेज कलेक्टर, मजिस्ट्रेट और नर-नारी अपने प्राण बचाने के लिए यत्र-तत्र भटक रहे थे। इनमें से कुछ मारे गए तो कुछ को भूख की ज्वाला निगल गई। हाँ, यह भी सत्य है कि उनमें से कुछ की प्राण रक्षा भी हो गयी। किन्तु प्राण रक्षक थे वे ही 'काले लोग' जिन्होंने शरण में आए हुओं को अभयदान देने की परम्परा का पालन किया था।

इस प्रकार सम्पूर्ण रुहेलखण्ड में एक ही दिन में विद्रोह का ज्वालामुखी

फट पड़ा। बरेली, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद और बदायूं के सैनिक, सिपाही तथा नागरिक सभी ने संयुक्त रूप से एक घोषणा-पत्र तैयार किया और केवल कुछ घण्टों में ही अंग्रेजी शासन को गले से पकड़ कर निष्कासित कर दिया। अंग्रेजी सिंहासन को उखाड़ कर उसके स्थान पर स्वदेशी राज्य सिंहासन को प्रस्थापित किया गया। ब्रिटिश राज्य की पताका को उतारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। न्यायालयों, थानों और अन्य राजकीय कार्यालयों पर क्रान्ति की पावन पताकाएं ससम्मान फहरा दी गई। अब शासक का स्थान हिन्दुस्थान ने ग्रहण किया था तो ब्रिटेन अभियुक्तों को कटघरे में खड़ा कर दिया गया था। इस विचित्र क्रान्ति को कुछ घण्टों में ही आश्चर्यजनक रूप में सफलता प्राप्त हो गयी थी। कितना महान दृश्य उपस्थित था कि हिन्दुस्थानी रक्त का एक बिन्दु गिराए विना ही सम्पूर्ण रुहेलखण्ड ने स्वतन्त्रता की पताका फहरा दी थी और अंग्रेजी राज्य-सत्ता को उखाड़कर फेंक दिया गया था।

बरेली के तोपखाने के मुख्याधिकारी बख्त खाँ के नेतृत्व में अब सभी सैनिकों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया था। सम्पूर्ण प्रदेश और उसकी राजधानी में शासन सूत्र को सुचारु रूप से चलाने हेतु खान बहादुर ने अपने लोगों का ही एक दल गठित कर उन्हें दायित्व सौंप दिया था। अब प्रत्येक नागरिक ही सैनिक हो गया था। स्थानीय विभागों में अपेक्षित सुधार कर सामान्यतः सभी पुराने कर्मचारियों को ही नियुक्त कर दिया गया था। पहले जो उच्च पद केवल अंग्रेजों की ही बपौती होकर रह गए थे अब उन पर भी भारतीय अधिकारी नियुक्त कर दिए गए थे। अब भू-राजस्व दिल्ली सम्राट् के नाम पर जमा किया जाने लगा था। न्यायालय और कचहरियों की व्यवस्था पूर्ववत ही रखी गई थी। तात्पर्य यह है कि इस महान क्रान्ति के होने पर भी किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं हो पाया था। किसी विभाग को समाप्त करने की आवश्यकता भी उपस्थित नहीं हुई थी। अन्तर केवल यही था कि अब कुशासन के स्थान पर सुशासन था और अंग्रेज अधिकारियों के स्थान पर भारतीय अधिकारी विराजमान हो गए थे। खान बहादुर खाँ ने अपने प्रदेश के गठन के संबंध में दिल्ली के बादशाह को भी सूचित कर दिया था। सम्पूर्ण रुहेलखण्ड में प्रसारित करने हेतु एक घोषणा-पत्र भी तैयार किया गया था। इस घोषणा-पत्र में लिखा गया था कि—

"भारतवासियो, स्वराज्य की जिस मंगल वेला की प्रतीक्षा तुम नितान्त आतुरता सहित कर रहे थे, वह सन्निकट है। क्या तुम इसका स्वागत करोगे अथवा इसे हाथ से जाने दोगे? इस अपूर्व स्वर्ण सन्धि से तुम लाभान्वित होगे अथवा इसे गंवा दोगे? हिन्दू एवं मुस्लिम बन्धुओं! भली भांति समझ लो कि यदि तुमने अंग्रेजों को हिन्दुस्थान में रहने दिया तो वे निश्चित रूप से ही तुम्हारा धर्म भ्रष्ट

करेंगे और तुम्हारा नरमेध भी होगा। अंग्रेजों ने बहुत समय पूर्व से ही भारतवासियों के साथ विश्वासघात किया है। उनके षड्यन्त्र में फंसकर ही हम अपनी ही तलवारों से अपने गले काटते रहे हैं। अतः हमें चाहिए कि हम इस देशद्रोह को रोकें और अपने पापों का प्रायश्चित्त करें। अंग्रेज अब भी हमारे साथ अपनी कुटिलता की नीति का ही पालन करेंगे। वे हिन्दू को मुसलमान के विरुद्ध उभारने में कदापि न चूकेंगे। क्या उन्होंने ही दत्तक पुत्र के सिंहासनारूढ़ होने के अधिकार को नहीं ठुकराया ? क्या हमारे प्रदेश और राज्य उन्होंने ही उदरस्थ नहीं कर लिए हैं ? हमारा नागपुर का राज्य किसने छीना है ? अवध के राज्य सिंहासन को कौन निगल गया है ? हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही समान रूप से किसने पददलित किया है ? मुसलमानों, यदि तुम्हारी कुरान पर आस्था है, हिन्दुओं यदि तुम गौ माता को पूज्य मानते हो तो अपने पारस्परिक विवादों और मतभेदों को विस्मृत कर धर्मयुद्ध में कूद पड़ो। एक होकर संघर्ष करो, समरांगण में उतरकर रक्त की सरिताएं प्रवाहित कर उनमें अंग्रेजी दासता के कलंक का प्रक्षालन कर दो। अंग्रेजों के अपावन नाम तक को भी धो डालो। यदि इस महान् युद्ध में हिन्दू और मुसलमानों ने परस्पर सहयोग किया, उन्होंने स्वदेश और स्वाधीनता के शत्रुओं से दो-दो हाथ किए, हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ कदम से कदम मिलाकर रणदेवी की अर्चना की तो उनके इस प्रचण्ड देशाभिमान के बदले में गोमाता की जघन्य हत्या का पाप बन्द कर दिया जाएगा। इस पावन धर्मयुद्ध में अवतरित होने वाले को ऐहिक और पारिलौकिक दोनों ही सुखों की उपलब्धि होगी। जो भी इस युद्ध में भाग लेगा अथवा आर्थिक सहायता देकर योगदान प्रदान करेगा वह इस लोक में स्वातन्त्र्य का सुप्रभात देखेगा और परलोक में मोक्ष प्राप्त करेगा। परन्तु यदि किसीने स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए लड़े जाने वाले इस युद्ध का विरोध किया तो वह अपने पैरों पर ही कुठाराघात करेगा। उसका आचरण आत्महत्या के तुल्य सिद्ध होगा और इस आत्महत्या के पाप का भागीदार होने के कारण उसे नर्क में ही जाना पड़ेगा।"

● ● ●

: ७ :

काशी और प्रयाग

कलकत्ता से लगभग ४५० मील दूर श्री जाह्नवी के तट पर अपने ऐतिहासिक वैभव से सुसंपन्न पावन काशी नगरी विद्यमान है। पवित्र, शीतल एवं धवल भागीरथी के जल में प्रतिबिम्बित होने का महान् सौभाग्य इस नगरी को प्राप्त हुआ है। यह काशी नगरी सभी नगरियों में सम्राज्ञी के समान श्रेष्ठतम स्थान पाकर सुशोभित हो रही है। गंगातट से ही दृष्टिगोचर होने वाली अनुपम गगनचुम्बी भव्य अट्टालिकाएं, मंदिरों के गगन तक चमकते-दमकते हुए स्वर्ण कलश, सगर्व आकाश को स्पर्श करते से सघन वृक्षों के समूह, प्रत्येक मन्दिर से उभरती हुई प्रचण्ड घंटा-ध्वनि और इन सबसे भी अधिक सौन्दर्य की स्थली श्री काशी विश्वेश्वरनाथ का पावन देवालय ने वाराणसी नगरी को अनुपम शोभा प्रदान कर दी है। इस नगरी में सुखोपभोग और विलास के लिए सुखाकांक्षियों और भक्ति के लिए भक्तजनों, वैराग्य के लिए वैरागियों, मुक्ति की उपलब्धि के लिए मुमुक्षुओं का तांता लगा ही रहता है। जगत के वैभव का उपभोग कर निष्काम हुए लोगों के लिए यह काशी क्षेत्र वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम है। जिनकी आशा और आकांक्षाओं को विश्व के दुष्ट घातकों ने अपने प्रबल प्रहारों से क्षत-विक्षत कर दिया है, उन अभागों की भी शरणप्रदायिनी स्थली यही काशी नगरी है। जहाँ पुण्यतोया भागीरथी का पावन जल उनके दुःख, कष्ट और श्रम का परिहार कर उन्हें स्वर्गोत्तम सुख समर्पित करता है।

अंग्रेजों की कृपा के परिणामस्वरूप १८५७ में भी अनेक हतभाग्य व्यक्ति अपनी कष्टमय आयु के अवशिष्ट दिन बिताने के लिए, अपने श्रम और कष्टों का शमन करने हेतु शान्ति-भवन के समान सुशोभित होने वाला इस नगरी में एकत्रित हो गए थे। दिल्ली के भव्य भवनों से पृथक् हुए राजपुत्र, अनेक हिन्दू, मुसलमान और सिख तथा राज्यवैभव से हाथ धो बैठने वाले अनेक मराठी राजकुलों के लोग इसी काशी नगरी में अपनी कष्ट कहानी देवालयों, मस्जिदों और अन्य धार्मिक

स्थानों में सुनाते हुए दृष्टिगोचर होते थे। ऐसे इस नगर में यदि हिन्दुस्थान में चल रहे स्वधर्म के दलन और स्वराज्य के विनष्ट होने के कारणों की चर्चा हिन्दू और मुसलमानों द्वारा किया जाना भी तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। काशी के समीप ही सिक्रोली ग्राम इस प्रान्त की सैनिक छावनी था। इस छावनी में ३७वीं पदल सेना, लुधियाना की सिख रेजीमेन्ट तथा अश्वारोही दल का भी एक पथक था। इन भारतीय सैनिकों के अतिरिक्त यहां तोपखाना भी था जो पूर्ण रूपेण गोरों के अधीन था। इस छावनी के सैनिकों में भी स्वराज्य और स्वधर्म रक्षा के लिए सन्नद्ध होने की भावना विभिन्न रूपों में निर्माण की गयी थी। इन्हें भी क्रान्ति के उभार का संकेत अनेक विधियों का अवलम्बन कर दिया जा रहा था। ज्यों-ज्यों १८५७ का वर्ष समीप आता गया काशी के नगरवासियों में भी अशान्ति के चिह्न उभरते हुए दृष्टिगोचर होने लगे। इस नगर में मुख्य आयुक्त टकर, न्यायाधीश गाविन्स, मजिस्ट्रेट तथा अन्य नागरिक अधिकारी पहले से ही काशी-वासी अंग्रेजों की सुरक्षा की दृष्टि से सन्नद्ध थे। क्योंकि अनेक बार तो अशान्ति के चिह्न नागरिकों में इस रूप से उभरते कि उन पर नियन्त्रण प्राप्त कर पाना भी कठिन हो जाता था। पूरबिए तो खुले रूप से ही देवालयों में यह प्रार्थना करते हुए दिखाई पड़ते थे कि "हे भगवान, हमें फिरंगियों के इस राज्य से मुक्ति दिलाओ।"[1] कुछ समय के पश्चात तो यह स्पष्ट ही होने लगा कि क्रान्ति की सिद्धता कितनी अधिक प्रचण्डता सहित की जा रही है। वहाँ क्रान्ति-मण्डलों का गठन किया गया। मई मास में छावनी में मुस्लिम उपदेशकों की भरमार दिखाई देने लगी तो नगर के चौराहों पर ऐसे भित्तपत्रक भी लगाए जाने लगे जिनमें जनता से यह आह्वान किया गया था कि प्रचण्ड विद्रोह के लिए तैयार रहो। अन्ततः स्थिति ने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया जबकि हिन्दू पण्डितों द्वारा स्वराज्य की विजय और अंग्रेजों की पराजय के लिए देवालयों में सार्वजनिक रूप से प्रार्थनाएं की जाने लगीं।[2] उन्हीं दिनों सहसा ही बाजारों में अनाजों के मूल्यों में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई। जब अंग्रेज अधिकारी लोगों को यह समझाते थे कि "राजनैतिक अर्थशास्त्र के अनुसार अब यदि खाद्यान्नों के भावों में और अधिक वृद्धि होगी, तो अन्ततः हानि थोक अनाज व्यापारियों को ही होगी" तो लोग उन्हें सुस्पष्ट शब्दों में उनके सामने ही कह देते थे कि "इस महंगाई का एकमात्र कारण तुम स्वयं हो। तुम्हीं अब हमें उपदेश देने के लिए आए हो।" काशी नगरी में व्याप्त जनक्षोभ के इस विकराल रूप को देखकर अंग्रेज अधिकारियों के भी हृदय प्रकम्पित हो उठे थे। उनके मन में इतनी धाक बैठ गयी थीं कि विद्रोह होने से पहले कैप्टन आल्फर्टस और कैप्टन वेटसन

---

१. 'रिपोर्ट आफ दि ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट' श्री टेलर।

२. रेड पैम्फलेट, पृष्ठ ८८

आदि स्वयं गोरों से कहने लगे थे कि वे काशी छोड़कर चले जाएं। उस समय ग्युविन को अन्ततः यह कहने पर विवश होना पड़ा था कि "मैं तुम्हारे चरणों में पड़ता हूँ, कृपा करके तुम काशी से चले जाने का विचार मन में न लाओ (I will go on my knees to you not to leave Benaras)। उसकी इस अनुनय-विनय के फलस्वरूप उन्होंने कुछ समय के लिए काशी छोड़कर चले जाने का विचार स्थगित कर दिया। और अब तो नगर में रहने में कोई भय भी नहीं रह गया था, क्योंकि अंग्रेजों की सुरक्षा का भार तो अब सिखों ने ग्रहण कर लिया था। उन्होंने स्वतः एक स्वयंसेवक दल का भी गठन इस कार्य के लिए कर लिया था। भाग्य की विडम्बना देखिए कि वारेन हैस्टिंग्ज ने जिस चेतसिंह पर अपने बूट की ठोकरों का प्रहार किया था उसी के वंशज अंग्रेजों के तलुए चाटने में सौभाग्य का अनुभव करने लग गए थे। जब राजभक्ति का इस प्रकार ज्वार भाटा उभर आया हो तो अंग्रेजों को काशी छोड़कर पलायन करने की आवश्यकता ही कहाँ रह गयी थी। सत्य ही इस प्रचण्ड राजभक्ति के बल पर काशी में अंग्रेज अपने आसन को अटल मानने लग गए थे, किन्तु काशी से केवल ६० मील की दूरी पर ही स्थित आजमगढ़ में ही तो ३१वीं रेजीमेन्ट तैनात थी। इस भारतीय रेजीमेन्ट में ३१ मई से ही भयंकर खलबली आरम्भ हो गयी थी। इस गड़बड़ को शान्त करने के लिए वहाँ के मजिस्ट्रेट श्री हॉर्न ने सिपाहियों के सामने मधुर शब्दों में व्याख्यान झाड़ना आरम्भ कर दिया। परन्तु अब शब्दजाल में सैनिकों को बहका देने के दिन लद चुके थे। अब तो ३१ मई भी आ चुकी थी। उस प्रान्त में भी सिपाही विद्रोह के लिए तैयार हो गए थे। वहाँ जून मास के प्रथम सप्ताह में ही क्रान्तियज्ञ का पावन उद्घाटन होना था। आज तीन जून की तिथि है। यह मुहूर्त कब-कब आएगा। कारण गोपालपुरा और आजमगढ़ के राजकोष में ७ लाख रुपया जमा करके बनारस लाया जा रहा था।

दिनांक ३ जून की सन्ध्या धीरे-धीरे रात्रि का काला आंचल ओढ़ती जा रही थी। भारतीय सेना के सभी गोरे अधिकारी एकत्रित होकर क्लबों में भोजन करने में मगन थे। उनकी महिलाएं और बालक भी समीप में ही खेलकूद रहे थे। सहसा ही भयंकर घड़घड़ाहट की आवाज उनके कानों में गूंज उठी। जून के प्रथम सप्ताह से ही वे इस भयंकर गर्जना का आशय भली भांति समझने लग गए थे। लोग, जो नृत्य, राग रंग, खाने-पीने और मनोरंजन के कार्यक्रम हेतु एकत्रित हुए थे, इनमें सहसा ही सन्नाटा व्याप्त हो गया। उनमें परस्पर कानाफूसी होने लगी कि कहीं सिपाही तो नहीं उठ बैठे हैं। उसी समय ढोल और ताशों तथा रणसिंहों की भयसूचक आवाज वायुमण्डल में गूंज उठी। मेरठ के भयसूचक प्रसंग का स्मरण कर प्रत्येक गोरा प्रकंपित हो उठा और इधर-उधर दौड़कर अपनी प्राण-

रक्षा का प्रयास करने लगा। अधिकारी, महिलाएं और बालक तो अपनी जीवन रक्षा के संबंध में पूर्णतः निराश ही हो गए। किन्तु जब सैनिकों ने देखा कि यमराज को समक्ष विद्यमान देखकर भी ये सहमे हुए ही बैठे हैं तो उन सिपाहियों ने प्रतिशोध लेने के विचार का परित्याग कर दिया। इतना ही नहीं उन्होंने इनको आजमगढ़ से पलायन कर जाने का भी परामर्श दिया जिससे कि कोई उन्हें सता न सके। किन्तु भला उन अत्यधिक उत्साही कर्मवीरों को कौन समझा सकता था, जिन्होंने अंग्रेजों के रक्त को प्रवाहित करने का संकल्प ही ग्रहण कर लिया था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि लेफ्टिनेन्ट हचिन्सन और क्वार्टर सार्जेन्ट लुइस इन दोनों का रक्त प्रवाहित होते हुए तो इन सबको देखना ही होगा। अन्य सभी प्राण बचाकर जा सकते है। यदि पलायन करने में उनके पैर थकने लगें तो वे गाड़ियों में जा सकते हैं। किन्तु अधिकारी और मेमें विलाप कर उठीं कि अब हमें गाड़ियां कौन देगा ? भारतीय सैनिकों ने उदारता का परिचय देते हुए उन्हें सान्त्वना प्रदान की "चिन्ता न करो, हम तुम्हारे लिए सवारियों का भी प्रबन्ध कर देंगे। और उन्होंने अपना आश्वासन पूर्ण करके ही दिखा दिया। गाड़ियां आईं और अंग्रेजों की हथकड़ियां-बेड़ियां खोलकर उन्हें गाड़ियों में बैठा दिया गया। इतना ही नहीं, उनकी रक्षा हेतु कुछ अश्वारोही भी उनके साथ कर दिए गए। इस प्रकार अपनी पताकाएं तथा सत्ता के अन्य सभी संकेत-चिन्ह लेकर इन अंग्रेजों के दल ने काशी के लिए प्रस्थान कर दिया। किन्तु सात लाख का कोष, गोला-बारूद का भण्डार और ब्रिटिश शासन की शान का सूचक कारागार, कार्यालय, बैरकें और सड़कें सभी पर भारतीय सैनिकों का अधिकार हो गया। जिन अंग्रेजों को काशी जाने वाली गाड़ियों में स्थान नहीं मिल पाया था उन अंग्रेजों को उसी रात्रि गाजीपुर की गाड़ी में बिठाकर भेज दिया गया। दूसरे दिन प्रातःकाल भगवान सूर्यदेव प्राची दिशा में उदित हुए तो उन्होंने अपनी रात्रि की अनुपस्थिति की अवधि मात्र में ही एक महान और शुभ क्रान्ति को सम्पन्न हुआ देखकर सानन्द आजमगढ़ पर सगौरव फहराने वाली क्रांति-पताका पर अपनी स्वर्णिम किरणें बिखेर दीं।[1] जो ध्वज आज तक अपने मन मन्दिर में लहराता था क्रान्ति का प्रतीक आज सानन्द अपने ऊपर फहराता हुआ देखकर विजयोन्माद में उन्मत्त सभी सिपाही एकत्रित हुए और उन्होंने एक विशाल सैनिक शोभायात्रा निकाली और रणवाद्यों की ताल पर मदमाते सैनिक इस क्रान्ति पताका के आगे नृत्य करते हुए फैजाबाद की ओर जा निकले।

आजमगढ़ के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार काशी भी पहुंच गया। किन्तु वहां के अंग्रेजों को पूर्ण विश्वास था कि यहां किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं

१. सर सी० कैम्पबेल द्वारा प्रस्तुत विवरण।

होगी। मेरठ के विद्रोह का समाचार प्राप्त होते ही पंजाब के सर जान लारेन्स ने तथा कलकत्ता से लार्ड केनिंग ने क्रान्ति के प्रमुख केन्द्रों पर अधिकाधिक संख्या में गोरे सैनिक भेजने की प्राणपण से चेष्टा आरम्भ करदी थी। दिल्ली के घेरे में उत्तर की तो प्रायः सम्पूर्ण सेना ही अटकी हुई थी, जिसके कारण दिल्ली के दक्षिण विभाग की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। इसी कारण इस क्षेत्र के अंग्रेज अधिकारी नितान्त ही करुणाजनक शब्दों में यह प्रार्थनाएं कर रहे थे कि "कृपा करके हमारी सहायतार्थ कुछ अंग्रेज सैनिकों को यथाशीघ्र भेज दीजिए।" यह तो हम इसके पूर्व ही लिख चुके हैं कि लार्ड केनिंग ने बम्बई, मद्रास तथा रंगून की गोरी सेनाओं को किस प्रकार एकत्रित किया था और चीन पर चढ़ाई करने के लिए जाने वाली सेना को भी भारत में ही रोक लिया गया था। इसी योजना-क्रम के अनुसार मद्रास फ्युजिलियर्स की सेना को लेकर जनरल नील भी इन्हीं दिनों बनारस जा पहुंचा था। सहायता के लिए अंग्रेज सैनिकों के आगमन और नील के समान धैर्यवान, समर्थ तथा कुशल सेनापति को पाकर तो काशी स्थिति अंग्रेजों का धैर्य और अधिक बढ़ गया था। उसी समय दानापुर से भी अंग्रेज सैनिकों का दल काशी पहुंच गया था। इधर काशी में असन्तोष अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया था। अंग्रेजों को इस आशय की भी जानकारी मिली थी कि कतिपय सैनिक भी क्रान्ति के पावन प्रचार में योगदान दे रहे हैं। उसी समय उन्होंने यह भी विचार किया था कि क्रान्ति की भ्रूणहत्या ही क्यों न कर दी जाए। उनका विश्वास था कि नील की सेना, सिख सैनिकों और तोपखाने के संयुक्त प्रयासों से यह कार्य नितान्त ही सरलता सहित सम्पन्न किया जा सकता है। आजमगढ़ की स्वतन्त्रता का समाचार ४ जून को ही काशी में प्रसारित हो गया था। पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात सैनिकों के निःशस्त्रीकरण का निर्णय लिया गया। तदनुसार उसी दिन मध्यान्ह में २ बजे सैनिकों को संचलन का आदेश प्रसारित कर दिया गया।

सिपाही भी तत्काल ही भावी अशुभ के सम्बन्ध में सतर्क हो गए। उन्हें यह पूर्व जानकारी तो थी ही कि अंग्रेजों ने तोपखाने को पूर्णतः सिद्ध किया हुआ है। जब संचलन-प्रांगण में अंग्रेजों ने उन्हें शस्त्रों को रख देने का आदेश दिया तो वे समझ गए कि अब हमें तोपों से उड़ाने का ही आदेश दिया जाने वाला है। अतः शस्त्र रख देने के स्थान पर उन्होंने शस्त्रागार पर आक्रमण कर देना ही उचित समझा। भीषण रणगर्जना सहित वे अंग्रेज अधिकारियों पर भी टूट पड़े। तत्काल ही इन स्वातन्त्र्य वीरों को भयभीत करने के लिए एक सिख कंपनी आगे बढ़ी। उस समय तो सिखों में अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति का ज्वार इतना अधिक तरंगित हो उठा था कि वे अंग्रेजों से प्रार्थना कर रहे थे कि चाहे थोड़े समय के लिए क्यों न

हो हमें विद्रोहियों से दो दो हाथ करने का अवसर प्रदान किया जाए। एक हिन्दू सिपाही उसी समय आगे बढ़ा और उसने गाईस नामक कमान्डर पर सिंह के समान झपटकर उसका काम तमाम कर दिया। ब्रिगेडियर डोज्सन अपने स्थान पर पहुंचा ही था कि एक सिख सैनिक की गोली ने उसे धराशायी कर दिया। अन्य सिख भला उस सैनिक के इस महान अपराध पर कैसे मौन रह सकते थे। उनमें तो राजभक्ति का महासागर ठाठें मार रहा था। वे आगे बढ़े और उन्होंने इस देश-भक्त सिख वीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। अपनी राजनिष्ठा का अब समुचित पुरुस्कार प्राप्त होने ही वाला है, इस दृष्टि से राह तकने वाले सभी सिपाहियों को तोपखाने ने भस्मसात् कर दिया। हिन्दू और सिख सैनिकों में फैली इस अव्यवस्था से अंग्रेजों को यह सन्देह हो गया था कि सम्भवतः सिख सैनिक भी विद्रोहियों के ही साथ हो गए हैं। इसी भ्रम से ग्रस्त गोरों ने आव देखा न ताव सभी को भूनना आरम्भ कर दिया। अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि सिख सैनिकों के समक्ष भी क्रान्तिकारियों से हाथ मिला लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। अब वे सभी मिलकर एक हो गए थे और तीन बार तोपचियों पर उन्होंने डटकर प्रहार भी किया। १८५७ के इस क्रान्ति समर की यही एकमात्र घटना है जब हिन्दू, मुसलमान और सिख सभी ने संघबद्ध होकर अंग्रेजों पर प्रबल प्रहार किया था। किन्तु साथ ही सिख अपने इस 'महान पाप' का प्रायश्चित करने का भी पथ खोजने में जी जान से जुटे हुए थे। सैनिकों का अंग्रेजों से यह संघर्ष बैरकों के पास ही हो रहा था। अतः ग्रामवासियों के भी क्रान्ति के समर में कूद पड़ने की संभावनाएं बढ़ती जा रही थीं। इस कारण भय से ग्रस्त अंग्रेज अधिकारियों और उनकी स्त्रियों तथा बालकों में भी भगदड़ मची हुई थी। तभी सरदार सूरतसिंह उनकी रक्षार्थ आगे बढ़ा। बनारस के कोष में लाखों रुपयों की धनराशि के अतिरिक्त सिखों की रानी के वे मूल्यवान आभूषण भी थे जो लूटे गए थे। भाग्य की विडम्बना देखिए कि इस राजकोष की रक्षा भी सिखों द्वारा ही की जा रही थी। सिख सैनिकों के मस्तिष्क में भूल से भी यह पावन विचार उत्पन्न नहीं हो पाया कि इस कोष पर अधिकार करके अपनी महारानी के लूटे गए अलंकारों पर ही आधिपत्य जमा लिया जाए। राजभक्त सूरतसिंह ने अपने धर्मबन्धुओं को उपदेश दिया कि कोष को तनिक भी आंच नहीं पहुंचने दी जानी चाहिए। तदुपरान्त सिख सैनिकों को हटाकर उनके स्थान पर कोष की सुरक्षार्थ अंग्रेज सैनिक नियुक्त कर दिए गए! उसी समय पण्डित गोकुलचन्द नामक एक ब्राह्मण भी अंग्रेजों का हितैषी बना था तो काशी नरेश ने भी अपना प्रभाव, संपत्ति और सत्ता क्या सर्वस्व ही अंग्रेजों के पादपद्मों में समर्पित कर दिया था। जो सम्पदा श्री काशी विश्वेश्वर के चरणों में न चढ़ सकी थी वह गोरांग प्रभुओं के चरण कमलों में न्यौछावर कर

दी गयी थी। इस प्रकार यह सुस्पष्ट था कि केवल क्रान्तिकारी सैनिक ही थे जो तोपखाने की अग्निवर्षा कर रही तोपों के समक्ष सीने तानकर संघर्ष कर रहे थे। वे संग्राम करते तोपों के समक्ष उड़ते रहे और लड़ते-लड़ते ही सम्पूर्ण प्रदेश में फैल गए।

काशी की सिख पलटन के जो सैनिक जौनपुर में थे उन्होंने भी क्रान्तिकारियों का साथ दिया और नगर भर में क्रान्ति का पावन प्रकाश प्रदीप्त हो उठा। यह देखकर ज्वाइंट मजिस्ट्रेट ने जौनपुर की क्यूवेज सेना के समक्ष राजभक्ति पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उसका यह व्याख्यान अभी धारा-प्रवाह चल ही रहा था कि श्रोताओं में से ही एक की सनसनाती हुई गोली निकली और मजिस्ट्रेट साहब धराशायी होते हुए दृष्टिगोचर हुए। कमाण्डिंग अफसर लेफ्टिनेन्ट 'मारा' भी एक और गोली का आहार बन गया। तदुपरान्त क्रान्तिकारी कोष पर टूट पड़े और यह भी चेतावनी दी कि सभी यूरोपियन तत्काल जौनपुर से निकल जाएं। इतने में ही काशी का अश्वारोही दल (रिसाला) भी जौनपुर आ पहुंचा। उसने तो प्रत्येक गोरे की हत्या कर देने का ही संकल्प ग्रहण किया हुआ था। उन्हें मार्ग में एक वृद्ध डिप्टी कलेक्टर मिल गया। कुछ अश्वारोही उसके पीछे दौड़ पड़े। उस समय जौनपुर के कुछ लोगों ने ही उसकी प्राणरक्षा की याचना करते हुए कहा कि "इसे प्राणदान दे दीजिए, क्योंकि इसने हम पर बहुत अधिक उपकार किया है।" किन्तु उनकी इस याचना के प्रत्युत्तर में वे सिपाही गरज उठे "कुछ भी क्यों न हो, वह है तो अंग्रेज ही। अतः उसे धराधाम से उठा देना ही अभीष्ट है।"[१]

जब प्रतिशोध की इतनी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, तब भी क्रान्तिकारियों ने शस्त्र समर्पित कर देनेवाले यूरोपियनों को प्राणदान देकर चुपचाप चले जाने की अनुमति प्रदान की थी। इसका लाभ उठाकर अनेक अंग्रेज अधिकारी जौनपुर को छोड़कर पलायन कर रहे थे। काशी पहुंचने हेतु गंगाजी को पार करने के लिए कुछ नौकाएं भी किराए पर ली गयी थीं। किन्तु मंझधार में वे नाविकों द्वारा लूट लिए गए और उन्हें लाकर रेत में छोड़ दिया गया। सम्पूर्ण जौनपुर वासी क्रान्ति का जय-जयकार करते हुए एकत्रित हुए और उन्होंने गोरों के घर-बार लूटकर उनमें आग लगा दी तथा उन्हें राख के ढेरों में परिणत कर अंग्रेजों के अन्तिम चिह्न भी विलुप्त कर दिए। सैनिक भी जितना खजाना साथ ले जा सकते थे उतना साथ लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े। अवशिष्ट कोष को उन्होंने निर्धनों और भिखारियों तथा वृद्धों को सौंप दिया। यह धन उन्हें प्राप्त हुआ, जिन्होंने अपनी अब तक की आयु में कभी रुपये के दर्शनमात्र भी नहीं किए थे।

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी,' खण्ड १, पृष्ठ २४५

इन निर्धनों ने अपना शेष जीवन नितान्त ही सुविधापूर्वक व्यतीत किया और वे अन्तःकरण से क्रान्ति, स्वराज्य और दिल्ली सम्राट् का आभार मानते रहे।

इस प्रकार ३ जून को आजमगढ़, ४ को काशी और ५ जून को जौनपुर, क्रान्ति ज्वालाओं से दग्ध हो उठे। सम्पूर्ण काशी प्रान्त ही क्रान्ति की चिंगारियों, नहीं लपटों से दग्ध हो रहा था। किन्तु क्रान्ति का एक सर्वमान्य नियम यह है कि यदि किसी प्रान्त का प्रमुख नगर ही शत्रु के हाथों में रह जाए तो क्रान्ति का ज्वार भी ठण्डा पड़ जाता है। किन्तु क्रान्तिशास्त्र की दृष्टि से क्रान्तिकाल में राजधानी पर ही सम्पूर्ण प्रान्त का अवलम्बित रहना भी एक भयंकर भूल सिद्ध होती है। इटली की क्रान्ति के प्रणेता मैजिनी ने कहा था "जहां हमारी पताका फहराती है वहीं हमारी राजधानी है।" राजधानियां क्रान्ति के पीछे चलनी चाहिए, क्रान्ति को राजधानी पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए। प्रारम्भ में क्रान्ति की योजना का नियमन चाहे जितनी चतुरता सहित किया गया हो और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया हो किन्तु जब क्रान्ति की ज्वाला धधकने पर सभी कार्यक्रमों का संचालन पूर्व-निर्धारित नियमानुसार नहीं हो पाता। अतः राजधानी में क्रान्ति का विजयध्वज भले ही न फहरा पाए किन्तु अन्य स्थानों पर उसके प्रवाह और गति में तनिक-सा भी अवरोध नहीं आने देना चाहिए। इस सिद्धान्त का अनुपम उदाहरण काशी ने प्रस्तुत कर दिया है, क्योंकि प्रदेश की राजधानी काशी पर अभी भी अंग्रेजों की राज्य पताका फहरा रही थी, किन्तु सम्पूर्ण प्रान्त क्रान्ति की ज्वालमालाओं से आकंठ भर उठा था। जमींदार हो या किसान, सामान्य जन हो अथवा सैनिक जवान सभी की दृष्टि में अंग्रेजों का शासन गोमांस के समान अपवित्र माना जाने लगा था। यदि किसी छोटे-से ग्राम में भी यह विदित हो जाता कि उसकी सीमा में से होकर कोई अंग्रेज जा रहा है तो ग्रामीण उसे घेर लेते और मार-पीटकर उसे भगा देते।[1] दूसरी विशेष बात यह है कि यह घृणा अंग्रेजों से ही नहीं अपितु उनके कृपा पात्रों से भी थी। अंग्रेजों ने जिन जमींदारों की नियुक्तियां की थीं लोगों ने उन्हें पदच्युत कर उनके स्थान पर पुनः पुराने जमींदारों को ही

१. सैनिकों ने विद्रोह की बढ़ती हुई अवस्था में चारों ओर फैला हुआ गहन द्वेष, तथाकथित अन्याय के प्रतिशोध का कभी भी शान्त न होनेवाला भाव बढ़ता गया, यह तथ्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। लूट-खसोट की इच्छा तो उस द्वेष तथा प्रतिशोध की भावना की ही उपज थी, जिससे विभिन्न स्थानों पर रहनेवाले अंग्रेज अधिकारियों को भांति-भांति की आपदाओं का शिकार होने के लिए बाध्य होना पड़ा और उन पर आपदाओं के घन आ घिरे।
—चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड १, पृष्ठ २४५

अधीष्ठित कर दिया। अंग्रेजों की व्यवस्था-पद्धति, उनकी सेना, उनके न्यायालय और कचहरियां इन सभीका एक सप्ताह तक कोई अस्तित्व ही दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तार यन्त्रों के स्तम्भ आदि काट दिए गए। स्थान-स्थान पर रेलों की पटरियां उखाड़ दी गयी थीं। अंग्रेजों को रसद होते हुए भी रसद प्राप्त नहीं हो पा रही थी। स्वयं बनारस में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि वहां से भी सिपाही विद्रोह होते ही अयोध्या की ओर प्रस्थान कर गए थे।[1]

जब ४ जून को बनारस में विद्रोह का प्रयास असफल हो गया तो बन्दी बनाए जाने का क्रम जोरों से आरम्भ हो गया था। उस समय एक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ गया। ऐसे ही कतिपय अन्य सूत्रों से यह विदित हो सकता है कि क्रांति का संगठन किस भांति चल रहा था। काशी के एक करोड़पति सर्राफ तथा तीन क्रांतिकारी नेता बन्दी बनाए गए। जब उनके निवासस्थानों की तलाशी ली गई तो उनके यहां से सांकेतिक भाषा में लिखे गये कतिपय भयंकर पत्र भी मिले। ये पत्र उनके पास केन्द्रीय क्रान्तिकारी कार्यालय से भेजे गए थे। उनमें से एक पत्र 'नेता' द्वारा लिखा गया था। उसमें लिखा गया था कि "अब काशीवासियों को एक साथ विद्रोह की पताका फहरा देनी चाहिए। पहले गविन्स लिंड और अन्य गोरों को समाप्त कर दो। इस काम में यदि कोई व्यय होगा तो वह भार सर्राफ द्वारा वहन किया जाएगा?"

इस सर्राफ की जब सम्पूर्ण सम्पत्ति राज्यहृत की गई तो वहां से २०० तलवारें तथा अनेक बन्दूकें भी प्राप्त हुईं।[2]

संक्षेप में काशी का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां मेरठ अथवा दिल्ली के समान अंग्रेजों की हत्याएं नहीं हुईं। यहाँ के सैनिकों ने यूरोपियनों की हत्याएं नहीं कीं। सम्पूर्ण प्रदेश में एक भी अंग्रेज महिला पर हाथ नहीं उठाया गया। जब जनता के हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला इतनी तीव्र थी कि किसी भी अंग्रेज के दिखाई पड़ते ही "प्रतिशोध लो" के स्वर गूंज उठते थे तब भी इस काशी प्रान्त में अंग्रेजों को ग्राम से निकालकर लोग भद्रता सहित उनसे व्यवहार करते थे। यदा

---

१. "ज्योंही काशी में विद्रोह होने का समाचार अन्य जिलों में फैला कि सम्पूर्ण प्रान्त एक साथ उठ खड़ा हुआ। आस-पास के स्थानों से यातायात के मार्ग तोड़ दिए गए। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सिपाही जिस कार्य को नहीं कर सके थे उसे साफल्यमण्डित करने का प्रयास जनता और जमींदारों द्वारा संयुक्त रूप से किया जा रहा था।"

—रेड पैम्फलेट, पृष्ठ ६१

२. सर सी० कैम्पबेल द्वारा प्रस्तुत 'भारतीय विद्रोह का वृत्तान्त', पृष्ठ ६४

कदा तो ऐसा भी होता था कि वे उनकी गाड़ियों में बैल और घोड़े जोतते हुए भी दृष्टिगोचर होते थे। इस सत्य की अभिव्यक्ति अंग्रेजों ने अपने अधिकारियों के समक्ष भी की थी। यह तो है घटनाक्रम का एक चित्र। अब आगामी चित्र पर भी दृष्टिपात करें।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि विद्रोह होने से पहले ही जनरल नील काशी पहुंच चुका था। हम यह तो कल्पना भी नहीं करते कि स्वराज्य प्राप्ति हेतु काशी की जनता ने जो प्रयास किए थे, अंग्रेज उन प्रयासों में उन्हें सहायता प्रदान करते अथवा सहानुभूति का प्रदर्शन करते। किन्तु इस बात पर अवश्यमेव बल देंगे और बार-बार यह बताएंगे कि अंग्रेजों ने काशी प्रान्त में जो अत्याचार किए थे उनका तो किसी भी स्थिति में मण्डन नहीं किया जा सकता। क्योंकि सैनिकों अथवा जनता ने जिस परिमाण में अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य किए उनसे भड़ककर अंग्रेजों ने जो प्रतिशोध प्रदर्शित किया, उसमें किसी प्रकार की भी संगति नहीं बैठती। क्रान्तिकारियों अथवा भारतीय जनता ने जो "क्रूर" कर्म किए थे, उनके संबंध में नितान्त निराधार और नीचतम आरोप लगाने में अंग्रेजों ने किसी प्रकार की भी कमी नहीं रहने दी। अपने आपको सभ्य तथा समुन्नत जाति कहकर डींग हांकने वाले एक अंग्रेज अधिकारी ने काशी की जनता के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया इसीका विवरण प्रस्तुत करेंगे। हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम अपने कथन की पुष्टि में अंग्रेजों द्वारा लिखित विवरण ही प्रस्तुत करेंगे और तथ्यों की सत्यता के प्रमाण भी देंगे। फिर उसकी आलोचना करना अनावश्यक होगा और व्यर्थ भी। क्योंकि फिर विश्व के लोग स्वयं इस सम्बन्ध में अपना मत निर्धारित कर सकते हैं।

काशी के विद्रोह के उपरान्त ग्रामों में शान्ति स्थापित रखने की दृष्टि से जनरल नील ने अंग्रेजों और सिखों के सहयोग से एक सेना-विभाग का गठन किया था। इन सैनिकों के दल असहाय एवं निरीह ग्रामीणों को ग्रामों में जाकर घेरते और जो भी उन्हें मिल जाता उसे तलवार के घाट उतार दिया जाता अथवा वधस्तम्भों पर लटकाकर जिनके प्राण लिए जा रहे थे। उनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ गयी कि रात दिन चालू रहने पर भी वधस्तम्भों का यह वध-कार्य पूर्ण नहीं हो पाता था। तदुपरान्त वधस्तम्भों की भी एक पंक्ति खड़ी की गई। इनपर से अधमरों को ही झटककर फेंक दिया जाता था, इतने पर भी मरनेवालों की संख्या में कोई कमी नहीं आ पाती थी। वृक्षों को काटकर उनमें वधस्तम्भों का निर्माण करने की कल्पना को मूर्खतापूर्ण समझकर अब अंग्रेजों ने वृक्षों को ही वधस्तम्भ बनाना आरम्भ कर दिया था। वे तो कहते थे कि यदि एक वृक्ष में एक ही व्यक्ति को लट-काया जाना होता तो फिर परमात्मा ने वृक्षों में शाखाएं बनाई ही न होतीं। ऐसी

स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि एक एक वृक्ष की डालियों में अनेक रस्से लटकते दिखाई होते थे और उनमें काले लोगों के शव तड़फते थे। यह "सैनिक दायित्व" तथा ईसा मसीह के पावन धर्म का प्रचार-कार्य अहर्निश चल रहा था। इसमें तो आश्चर्य नहीं कि अंग्रेज भी इनने अधिक परिश्रम से क्लान्त हो उठे हों। अतः इस उदात्त और पावन धार्मिक कर्त्तव्य के हेतु गम्भीरता के साथ ही साथ मनोरंजन का भी तो कोई न कोई साधन उपलब्ध किया जाना आवश्यक ही था। किसी भी कृषक को पकड़कर उसे पेड़ से लटका देना तो बड़ी ही अनाड़ी-सी प्रक्रिया है, उसमें भी कलात्मकता की अभिव्यक्ति होनी अपेक्षित है। अतः नए ढंगों का भी आविष्कार किया गया। पहले प्राणदण्ड प्राप्त करने वाले लोगों को हाथियों पर बैठाया जाता था। तदुपरान्त हाथियों को वृक्षों की शाखाओं के नीचे खड़ा करके लोगों की गर्दनें डालियों से बांध दी जातीं और फिर हाथियों को जोरों से भगा दिया जाता।[1] जब अगणित शव वृक्षों की शाखाओं में क्रमहीन-से लटकती दिखाई देते थे तो यह एक ही प्रकार का दृश्य देखते-देखते अंग्रेज कुछ दिनों बाद ऊब गए थे। अतः अब इससे भी अधिक कलात्मक उपाय सोचे जाने लगे, क्योंकि अंग्रेज अधिकारी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे कि एक-सी ही प्रक्रिया का पालन करते रहने से कुछ दिनों के उपरान्त व्यक्ति में उसके प्रति आकर्षण नहीं रह पाता।

अतः अब फांसी दिए जाने के नए ढंग में भी परिवर्तन किया गया।

अब यह विधि खोजी गई कि "देशी लोगों" को फांसी देने के स्थान पर उनके शरीर की कतिपय चित्र आकृतियां बनाई जानी चाहिएं तथा उन्हें लटकाया जाना चाहिए। अब उन्हें अंग्रेजी के अंक ८ और ९ की आकृतियां बनाने के उपरान्त वधस्तम्भों पर लटकाया जाने लगा।[2]

परन्तु इन सब प्रकार के प्रयत्नों के किए जाने पर भी हज़ारों ही नहीं अपितु लाखों की संख्या में लोग जीवित रह गए थे। इतने लोगों को वधस्तम्भों पर लटका देने के लिए फांसी की डोरियां प्राप्त हो पानी असम्भव थीं। नितान्त सभ्य

---

१. सर सी० कैम्पबेल द्वारा प्रस्तुत 'भारतीय विद्रोह का वृत्तान्त', पृष्ठ १७७

२. "प्राणदण्ड देने वाले स्वयंसेवकों की टोलियां उन जिलों में विचरण करती थीं जहां शौकीन बधिकों (जल्लादों) की भी कमी नहीं थी। वे सभी अपनी-अपनी शेखी बघारते थे कि उन्होंने कितने लोगों को कितने कलात्मक ढंग से वधस्तम्भों पर लटकाया है। आम के वृक्ष को टिकटी और हाथी को पटरी बनाकर, इस वन के न्याय का आहार बनने वालों को मनोरंजन के लिए आठ (८) के अंक के आकार में टांगा जाता था।"

के एण्ड मालसन कृत 'दि इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ १७७

और महात्मा ईसा मसीह के दयावान धर्म का अनुगामी इंग्लैण्ड अब तो अत्यधिक उलझन में पड़ गया। किन्तु धन्य, धन्य ईसा मसीहा की पावन कृपा से इंग्लैण्ड को आशा की एक नवीन किरण दिखाई दी, उसे नवीन सूझ मिली और उसका प्रथम प्रयोग ही इतना अधिक यशस्वी सिद्ध हुआ कि तब से इस नूतन एवं वैज्ञानिक विधि को अपनाकर फांसी दिए जाने के सभी पुराने तरीकों का परित्याग कर दिया गया। इस नवीन अविष्कार ने परिवार नहीं अपितु ग्रामों के ग्रामों में ध्वंस लीला मचा दी। अग्नि की पेचदार लपटों से कृषकों की ग्रीवाएं जकड़कर, ऊपर से तोपखाने को सन्नद्ध रखने से भला किसी का साहस कैसे हो सकता है चूं तक भी करता। काले 'नेटिवों' को भस्म करने में विलम्ब करने का भला क्या कारण हो सकता है? सम्पूर्ण ग्राम में आग लगाकर वहां के सभी ग्रामवासियों को आग में जला डालने का कार्यक्रम अनेक अंग्रेज़ों को इतना अधिक मनोरंजक प्रतीत होता था कि वे इस मनोरंजन का सृजन करने वाला विवरण लिखकर इंग्लैण्ड में अपने सम्बन्धियों को भेजा करते थे। इस सर्वदाह का कार्यक्रम इतनी शीघ्रता और तत्परता से किया जाता था कि ग्रामवासी को अग्नि-ज्वालाओं से बाहर निकलकर भागने का अवसर ही उपलब्ध नहीं हो पाता था। निर्धन कृषक, विद्वान् ब्राह्मण, दीन मुसलमान, पाठशालाओं में विद्याध्यन करने वाले भोले सुकुमार, कुसुमवत कलिकाओं को आंचल में सिकाड़े महिलाएं, निरीह बालिकाएं, वृद्ध, अपंग और अंधे, गाय और अन्य सभी पशु एक साथ अग्नि ज्वालाओं में क्षार-क्षार हो जाते। वृद्धावस्था के कारण जो वृद्धजन अपने स्थान से उठ नहीं सकते उनकी देह उनकी शैय्याओं में ही जलकर क्षार-क्षार हो जाती थीं।[१] यदि कोई व्यक्ति इस सर्वदहन कार्यक्रम से भी येन-केन प्रकारेण बच निकलता तो उसका क्या बनता इसका विवरण एक अंग्रेज ने अपने एक पत्र में प्रस्तुत किया है। वह लिखता है—"हम नर-नारियों से भरे हुए ग्रामों को आग में जला डालते थे। हम चारों ओर से ग्रामों को घेरकर बैठ जाते और यदि कोई ग्रामीण चीखता-चिल्लाता और अग्नि-ज्वालाओं से बाहर निकल आता तो हमारी बन्दूकों से चलनेवाली गोलियां उसका शरीर छलनी कर देती थीं।[२]

ऊपर जिसका विवरण प्रस्तुत किया गया है वह अनेक ऐसे ग्रामों में से कोई एक होगा। प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रों में ग्रामों को इसी प्रकार अग्नि की भेंट चढ़ाने के लिए अनेक टोलियां भेजी गई थीं। इन टोलियों के कई अधिकारियों में से एक ने अनेक ग्रामों को अग्नि को समर्पित कर देने के क्रिया-कलापों में से एक का

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी' खंड १, पृष्ठ २४२-२४३

२. वही, पृष्ठ २४४

विवरण प्रस्तुत किया है। उसने लिखा है कि "आपको यह जानकर सन्तोष होगा कि कुल मिलाकर २० ग्रामों को इसी प्रकार अग्नि में जलाकर भस्म कर दिया है।"[१]

जिन अंग्रेज इतिहासकारों ने जनरल नील द्वारा लिए गए प्रतिशोध के सम्बन्ध में "कुछ भी न लिखना ही अच्छा है" कि नीति का परिपालन करने का संकल्प ग्रहण किया था, उपरोक्त उद्धरण तो उनके ग्रंथों में यत्र-तत्र छूट गए उल्लेखों का ही सारमात्र है। किन्तु इनसे भी उस समय की भयावह स्थिति का एक चित्र नेत्रों के समक्ष उभर आता है। बस ! अपनी ओर से इसमें एकाध शब्द भी मिलाना अंग्रेज़ों द्वारा बरती गई क्रूरता और असभ्यता के नग्न चित्र को विकृत करने के तुल्य ही होगा।

हे हताश नेत्रो, अब तुम पुण्य सलिला भागीरथी एवं कालिन्दी की सप्रेम आलिंगन करती हुई लोल लहरों के संगम स्थल की ओर दृष्टिपात करो। इस पावन संगम तट पर बसी हुई है प्रयाग की पुनीत नगरी, जो काशी से केवल ७० मील के अन्तर पर स्थित है। यह प्रयाग क्षेत्र धार्मिक पवित्रता का प्रतिमान तो है ही साथ ही यहां अकबर की निर्माणप्रियता का प्रतीक विस्तीर्ण दुर्ग भी अपनी अपूर्व भव्यता का प्रदर्शन करता हुआ सुशोभित हो रहा है। कलकत्ता से पंजाब जाने वाले सभी महत्त्वपूर्ण मार्ग इसी प्रयागराज से होकर गुज़रते हैं। प्रयाग का दुर्ग, यह सुदृढ़ और उच्च प्रसाद अपनी भव्यता सहित सम्पूर्ण प्रदेशों की गतिविधियों पर दृष्टिपात करने वाले महान् सेनापति के तुल्य प्रतीत हो रहा है। १८५७ में स्थिति यह थी कि जिसका भी दुर्ग पर अधिकार होगा उसके हाथ में सम्पूर्ण प्रान्त की सत्ता भी केन्द्रित रहती थी। अतः दोनों पक्षों द्वारा ही इस दुर्ग पर अपना अधिकार जमाने हेतु भरसक प्रयास किया जा रहा था। क्रान्तिकारियों का प्रयास था कि प्रयाग के सैनिक और नागरिकों को एक साथ विद्रोह की दुन्दुभि बजा देनी चाहिए। इस कार्य की सिद्धि के लिए गुप्त संगठन का कार्य भी चल रहा था, जिसके फलस्वरूप नागरिकों में स्वराज्य प्राप्ति के लिए भी नागरिकों की लालसा बलवती होती जा रही थी। प्रयाग के संगम के पावन जल में स्नान करने वाले हिन्दूजन स्नान के समय किए जाने वाले धार्मिक संकल्प के साथ ही राज्यक्रान्ति का पावन संकल्प भी ग्रहण करते थे। इसी भांति इस नगर के मुस्लिम क्षेत्रों में भी मुल्लाओं द्वारा आज़ादी की अलख जगाई जा रही थी। दीन और देश की मुक्ति के लिए समरभूमि में शत्रु का रक्त बहाने और अपना रक्त देकर आजादी के पौधे को पल्लवित करने के लिए संकल्पबद्ध हुए सहस्रों मुसलमान क्रान्ति का

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युनिटी,' खण्ड १, पृष्ठ २४२

संकेत प्राप्त होने वाले पावन क्षण की प्रतीक्षा में रत थे। सभी अंग्रेज लेखकों की यह मान्यता थी हिन्दुस्थानी मुसलमान हमारे शत्रु हैं। रैड पैम्फलेट के सुप्रसिद्ध लेखक ने लिखा था—

The Mohmedans, too, have shown that they cherish in their hearts the proselytising doctrines of their religion and that as Christians, they for ever detest and take advantage of every opportunity of destroying Feringhis.

उपरोक्त बात सार्वजनिक रूप से जितनी सत्य है इस नगर के सम्बन्ध में तो उससे भी अधिक खरी सिद्ध हो रही थी। इस नगर के क्रान्तिकारी केन्द्रों के अनेक प्रमुख संचालक भी मुसमान ही थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही स्वतन्त्रता के लिए प्रयास संयुक्त रूप से चल ही नहीं रहे थे अपितु इतना अधिक प्रभावी रूप ग्रहण कर चुके थे कि अनेक न्यायाधीश और मुन्सिफ भी क्रान्तिकारी दल के सक्रिय सदस्य थे, यद्यपि वे शासकीय नौकरी में थे।[1]

इलाहाबाद के दुर्ग के संरक्षण एवं प्रान्त के अन्य मुख्य थानों की सुरक्षा की अंग्रेजों ने बड़ी ही कठोर व्यवस्था की थी। किन्तु १८५७ के मई मास में सम्पूर्ण देश में आरम्भ हुई हलचल का अंग्रेज अधिकारियों को पता भी था किन्तु इतने पर भी प्रयागराज में कोई कड़ाई नहीं की गयी थी ! प्रयाग में चतुर्दिक क्रान्ति की ज्वाला को धधकाने वाले महान क्रान्तिकारी नेताओं ने अपने महान संगठन कौशल का प्रमाण दिया था कि वहाँ एक भी यूरोपीय पलटन मंगाने की आवश्यकता सरकार को प्रतीत नहीं हुई थी। जिस समय मेरठ में क्रान्ति का विस्फोट हुआ उस समय इस महत्त्वपूर्ण सामरिक स्थल पर ६वीं रेजीमेन्ट तथा सिखों की फीरोजपुर रेजीमेन्ट के २०० सिपाही मात्र ही थे। अयोध्या से कुछ अश्वारोही भी यहाँ आए थे। उस समय भी इस दुर्ग और इसकी सम्पूर्ण शस्त्र सामग्री पर भारतीय सिपाहियों का ही पहरा था। इन सिपाहियों के ऊपर जो अंग्रेज अधिकारी नियुक्त थे वे अपने भारतीय सैनिकों की राजनिष्ठा पर इतना प्रचण्ड विश्वास रखते थे कि वे उन्हें राजनिष्ठा की सजीव प्रतिमूर्तियां ही मानते थे। विशेषतः ६वीं रेजीमेंट ने तो अपनी राजनिष्ठा में कमाल ही कर दिखाया था। जब दिल्ली का समाचार प्रयागराज पहुंचा तो इस कंपनी के सिपाहियों ने अपने अंग्रेज अधिकारियों से प्रार्थना की कि "मालिक, हमें दिल्ली जाकर इन विद्रोहियों का सिर कुचलने की अनुमति प्रदान कीजिए। हम सभी इस कार्य को करने के लिए अधीर हैं।" इस विलक्षण राज्यनिष्ठा की यत्र-तत्र प्रशंसा की जाने लगी। स्वयं गवर्नर जनरल की ओर से

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युनिटी', खण्ड १, पृष्ठ २८८

६वीं पलटन की इस अनुपम राज्यनिष्ठा तथा विश्वास अभिव्यक्ति पर उसे बधाई देने का आदेश प्रसारित हुआ। किन्तु इसी समय किसी देशद्रोही ने अंग्रेज अधिकारियों को यह सूचित कर दिया कि यह ६वीं पलटन तो हृदय से क्रान्तिकारियों के साथ है। तभी छटी पलटन के सैनिकों ने दो क्रान्तिकारियों को वन्दी बनाकर अंग्रेजों के सामने उपस्थित कर दिया। अब भला उन पर सन्देह के लिए स्थान ही कहाँ रह गया था। उन्होंने चुनौती दी कि अब भी यदि सरकार को हमारी राजनिष्ठा पर सन्देह है तो हमारे हृदयों को टटोलकर हमारी घोषणा की शुद्धता की परीक्षा ले ली जाए। ६ जून को वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी स्वयं प्रयाग आ पहुंचे। उन्होंने यहाँ आकर देखा कि सैनिकों में तो राजनिष्ठा का महासागर हिलोरें ले रहा है, यहाँ तक कि कतिपय भारतीय सैनिकों ने तत्काल दौड़कर अंग्रेज अफसरों को कंठ से ही नहीं लगाया अपितु उनके दोनों कपोलों पर अपने प्रेम के प्रतीक स्वरूप चुम्बन के चिह्न भी जड़ दिए।[१]

किन्तु उसी रात्रि में छटी पलटन के सभी सैनिक उठे और उन्होंने अपनी तलवारें आकाश की ओर उछालते हुए "मारो फिरंगी को" क्रान्तिनाद से दिग् दिगन्त गुंजा दिया।

क्रान्तिकारी सैनिकों द्वारा अपनी राजनिष्ठा को प्रमाणित करने में धरती आकाश के कुलावे इसलिए मिलाए जा रहे थे कि कहीं उनकी योजनाओं का भी रहस्योद्घाटन हो जाने के फलस्वरूप उन्हें भी काशी की सेना के समान निःशस्त्र न होना पड़े। इधर अंग्रेज सिख सैनिकों और अश्वारोही पथकों की देखरेख में अपने परिवारों को प्रयाग दुर्ग में एकत्रित करने में लगे हुए थे। ५ जून को काशी के विद्रोह का समाचार प्रयाग में प्राप्त हुआ। उस दिन सम्पूर्ण नगर में इतनी चहल-पहल व्याप्त हो गई थी कि अंग्रेजों ने काशी के मार्ग में स्थित सभी पुलों को तोपों से सुरक्षित कर दिया था और दुर्ग के द्वार भी वन्द करा दिए थे। उसी रात्रि में भारतीय सिपाहियों ने अंग्रेजों को अपने कंठ से लगाकर चुम्बन लेकर अपने प्रेम का प्रकटीकरण किया था। वे जिस समय भोजन करने के लिए एकत्रित हुए थे, उसी समय उनके कानों में कुछ दूर से आते हुए तुरही के स्वर पड़ने लगे। वह स्वर भी उन्हें भयावह लग रहे थे। मानों उन्हें यह पूर्व-संकेत ही मिल रहा था कि अब राजभक्त छटी पलटन भी विद्रोह करने ही वाली है।

उसी दिन सायंकाल काशी के पुल पर रोकी गई तोपों को प्रयाग के दुर्ग में ले आने का आदेश प्रसारित किया गया। किन्तु अंग्रेजों की प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करने की परम्परा आज सहसा ही भंग होती प्रतीत हो रही थी, क्योंकि सैनिकों ने यह

---

१. सर सी० कोलन्सि-लिखित 'मिलिट्री नरेटिव'

आदेश प्रसारित कर दिया था कि तोपें दुर्ग में नहीं अपितु बाहर छावनी में रखी जाएं। अंग्रेज अधिकारियों ने अवध के अश्वारोही पथक को आदेश दिया कि इन सैनिकों को इनकी उद्दण्डता का कड़ा दण्ड दिया जाए। लैफ्टिनेन्ट अलैक्जेन्डर ओर लेफ्टिनेन्ट हारवर्ड नामक दो युवक अश्वारोही पथक को लेकर इन सैनिकों की ओर बढ़े। उस समय उषा की लालिमा प्राची दिशा में व्याप्त हो रही थी। विद्रोही सैनिकों के सम्मुख पहुंचकर ये दोनों अंग्रेज इस आशा को हृदयंगम किए आगे बढ़े कि उनका संकेत प्राप्त होते ही अश्वारोही पथक शीघ्रातिशीघ्र विद्रोहियों पर आक्रमण कर देगा। मुट्ठी भर ये सैनिक अकाल ही काल कवलित हो जाएंगे। किन्तु महान आश्चर्य ! वे सवार भी स्वदेश बन्धुओं के विरुद्ध शस्त्र न उठाने की अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहकर जहां के तहां खड़े रहे। विद्रोहियों के कंठों से उनकी प्रशंसा में जयघोष गूंज उठे। लैफ्टिनेन्ट अलैक्जेन्डर की छाती पर प्रहार हुआ और वह धराशायी हो गया। तदुपरान्त सिपाही एक-दूसरे को गले लगाकर छावनी की ओर बढ़ चले। इससे पूर्व ही दो अश्वारोही छावनी की ओर दौड़ पड़े थे और उन्होंने छावनी स्थित सैनिकों को स्थिति से अवगत करा दिया था। उस समय संचलन भूमि पर विद्यमान दृश्य भी सर्वथा अनुपम ही था। उधर अंग्रेज अधिकारियों के मुख से आदेश निकलता और इधर सनसनाती हुई गोलियां सदा के लिए उनकी बोलती बन्द कर देती थीं। एडज्युटेन्ट स्टुअर्ड प्लंकेट, क्वार्टर मास्टर प्रिंगल, मनरो, वर्च, लैफ्टिनेन्ट इनीज इत्यादि एक-एक कर चिरनिद्रा में सुला दिए गए थे। संचलन भूमि से उत्साह से परिपूरित सिपाहियों ने प्रस्थान किया और अंग्रेजों के निवासस्थानों को ज्वालाओं में समिधा सम समर्पित करने लगे। तब ही उन्हें यह सूचना मिली कि कतिपय गोरे भोजनालय में छुपकर बैठ गए हैं। सैनिक वहां भी पहुंचे और इन गोरों को ढेर कर दिया। यह तो पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि प्रयाग के दुर्ग पर अधिकार रखना भी एक महत्वपूर्ण सामरिक चाल थी। इसी दुर्ग में अंग्रेज अधिकारियों के परिवार थे तो इसीमें गोला-बारूद का अम्बार भी सुरक्षित था। इन सबकी सुरक्षार्थ अंग्रेजों ने सिख सैनिकों की नियुक्ति की थी। किन्तु सभी सैनिकों के कान तो तोपों की गड़गड़ाहट सुनने की ओर लगे हुए थे। क्योंकि सिख सैनिकों सहित वहां के सभी भारतीय सैनिकों की यह योजना थी कि अंग्रेजों को दुर्ग से निष्कासित कर देने की सूचना तोपों की गड़गड़ाहट के माध्यम से दी जाएगी।

किन्तु दुर्ग में स्थित सिख सैनिक तो वास्तविक राजनिष्ठा का प्रदर्शन करने पर ही उतर आए थे। उन्होंने अंग्रेजों की पताका यूनियन जैक को दुर्ग से हटाना ही अस्वीकार नहीं किया, अपितु सैनिकों को दुर्ग से निःशस्त्र कर निष्कासित करने में भी अंग्रेजों की सहायता की। आज भी अंग्रेज इस सम्बन्ध में आश्चर्यचकित ही

हैं कि इस संक्रमण की घड़ी में किस कारणवश सिख सैनिक क्रान्तिकारियों के साथ विश्वासघात करने के लिए सिद्ध हो गए थे।[1] यदि सिख सैनिक विश्वासघात न करते तो दुर्ग पर क्रान्तिकारियों द्वारा अधिकार करना केवल आधे घण्टे की ही बात थी। यदि प्रयागराज के दुर्ग पर क्रान्तिकारियों को अधिकार कर लेने में सफलता प्राप्त हो जाती तो अंग्रेजी शासन की रीढ़ की हड्डी ही टूट जाती। किन्तु दुर्भाग्य ! सिख सैनिकों ने यह अमूल्य आधा घण्टा मातृभूमि की परतन्त्रता का पाश काटने में ही नहीं अपितु अपनी मातृभूमि के पैरों में बंधी गुलामी की बेड़ियों को सुदृढ़ करने में ही व्यतीत किया। दुर्ग-स्थित विद्रोहियों ने बार-बार प्रयास किया किन्तु प्रत्येक बार सिख सैनिकों के सहयोग से अंग्रेजों ने उनका प्रयास निष्फल बना दिया। अन्ततः उन्हें निःशस्त्र करके दुर्ग से निष्कासित कर दिया गया। इस प्रकार दुर्ग पर अंग्रेजों का अधिकार स्थिर रहा, वहां यूनियन जैक फहराता रहा।

परन्तु ये ४०० सिख सैनिक ही तो सम्पूर्ण प्रयागराज के निवासी नहीं थे। इन्हीं से तो नगर परिपूरित नहीं था। विद्रोही की निश्चित घड़ी आई और सम्पूर्ण प्रयागराज एक रणहुंकार के साथ सन्नद्ध हो गया। संचलन भूमि से उठनेवाले जयघोषों से दसों दिशाएं गूंज उठीं। पहले तो गोरों के निवासस्थान अग्निदेव को समर्पित किए गए और बाद में सैनिकों और नागरिकों ने एकत्रित होकर कारागारों के द्वार तोड़ दिए। इन कारागारों में बन्दी जीवन व्यतीत करनेवाले अभागों से अधिक अंग्रेजों के प्रति द्वेष की अग्नि भला और किनके हृदय में प्रज्वलित हो सकती थी। कारागारों से बाहर आते ही वे गोरों के निवास-स्थानों की ओर बढ़ चले। क्रान्तिकारियों की दृष्टि सर्वप्रथम तारों और रेलपथ पर ही केंद्रित होती थी। रेलवे कार्यालय, पटरियां, तार के खम्भे, तार और इंजन सभी चकनाचूर कर दिए जाते थे। यद्यपि अंग्रेज अधिकारियों ने पूर्ण सतर्कता बरती थी, किन्तु फिर भी कुछ गोरे क्रान्तिकारियों के हाथों में पड़ ही गए। उन्हें तुरन्त ही यमलोक पठा दिया गया ! परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो न गोरे थे और न ही ईसाई, किन्तु उन्हें अंग्रेजों के पीछे-पीछे दुम हिलाते हुए चलने का स्वाद पड़ चुका था। ऐसे अर्ध गोरों पर भी क्रोध और अभिशाप पड़ा। केवल उन्हें ही प्राणदान दिया गया, जिन्होंने दिल्ली के शहंशाह के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित की एवम् अंग्रेजों से युद्ध करने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। ७ जून को प्रातःकाल ही ३० लाख रुपए के कोष पर क्रान्तिकारियों ने अधिकार कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली। मध्याह्नकाल से

---

१. स्वतः नील ने लिखा है : How the plan has not taken by the Sikhs is a wonder.

नगर भर में क्रान्ति की पुनीत पताका फहराई गई और इस पावन पताका को थाने पर फहरा दिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण नगर ही नहीं दुर्ग भी क्रान्ति की लपटों ने आत्मसात् कर लिया और नागरिकों एवम् सैनिकों ने एकत्रित होकर क्रान्ति की पावन पताका का उत्तोलन कर उसकी वन्दना की।

इस भांति नगर और दुर्ग दोनों को ही क्रान्ति की ज्वालाओं ने अपने-आपमें समेट लिया। इस प्रकार उस दिन पावन प्रयाग नगरी एक व्यक्ति के रूप में क्रान्ति का शंखनाद कर उठी। प्रत्येक स्थान में इतना महान परिवर्तन परिलक्षित होने लग गया था कि किसीको यह स्मरण भी करने में कठिनाई अनुभव होने लगी थी कि अभी कुछ समय पूर्व ही नगर पर अंग्रेजी पराधीनता का पटल पड़ा हुआ था। प्रत्येक ग्राम में क्रान्ति की पताका फहराती हुई दृष्टिगोचर हो रही थी। यदि भूल से भी कोई अंग्रेज किसी ग्राम के आस-पास आ निकलता था तो ग्रामवासी ही उसकी ठोकपीट करते अथवा उसे यमपुर का यात्रापत्र प्रदान कर देते थे। स्पष्ट हो रहा था कि पराधीनता का पाश चाहे जितने दिन किसी राष्ट्र को जकड़े रखे, किन्तु उसकी जड़ें गहनता से कदापि नहीं जम पातीं। पराधीनता के अप्राकृतिक बीज से कभी मूल का उद्भव नहीं हो पाता। यदि ऐसा कभी हो जाए तो वस्तुतः आश्चर्य की बात होती है। हे विश्व ! तुझे अभी भी इस महान सत्य का संभवतः साक्षात्कार नहीं हो पाया है।

प्रयाग प्रान्त के अनेक जमींदार मुसलमान थे तो उनकी प्रजा हिन्दू थी। अंग्रेजों को यह विश्वास ही नहीं हो पाता था कि कभी ये दोनों समाज संघबद्ध होकर भी क्रान्ति की रणहुंकार गुंजा सकते हैं। किन्तु जून १८५७ के प्रथम सप्ताह ने तो अनेक असंभव प्रतीत होने वाली बातों को संभव ही नहीं अपितु साकार करके दिखा दिया। प्रयाग में क्रान्ति की पावन शंख-ध्वनि गूंजी है अथवा नहीं, इसकी प्रतीक्षा न करते हुए प्रान्त के ग्रामवासी एक साथ ही क्रान्ति का जय जयकार कर उठे। उन्होंने स्वतन्त्रता की उद्घोषणा कर दी। एक ही माता के दो पुत्रों के रूप में हिन्दू और मुसलमानों ने स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की अर्चना की और अंग्रेजों की राक्षसी सत्ता पर ये शक्तिपुत्र टूट पड़े। सुदृढ़ देह वाले सैनिक ही नहीं अनुभवों के धनी वृद्ध भी उठे तो बन्दी भी राष्ट्रकार्य हेतु सर्वस्व समर्पित करने हेतु स्वयंसिद्ध सैनिक बनकर इस क्रान्तियज्ञ में कूद पड़े। एक दूसरे में अग्रगामी होने की प्रतिस्पर्धा का दृश्य उपस्थित हो गया। वृद्ध अपने अनुभवों की पूंजी युवा पीढ़ी पर लुटाने के लिए क्रान्तिकारी युवकों के दलों का गठन कराने लगे। उन्हें युद्ध के दाव-पेचों से भली-भांति अवगत कराने लगे। युद्धशास्त्र में पारंगत बनाने जगे। जब ऐसा महान दृश्य उपस्थित था तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात थी कि स्वधर्म और स्वराज्य के महान लक्ष्य की सिद्धि की लगन

को अपने अन्तःस्थल में बसाए वृद्ध सैनिकों में भी जवानी का जोश जाग उठा हो। स्वातन्त्र्य प्राप्ति की पावन आशा से सभी वर्गों और जातियों के लोगों के हृदय आलोकित हो उठे हों।[1]

पैंशन प्राप्त वयोवृद्ध सैनिक अपने अनुभवों की पूंजी तरुणों पर वार कर उनमें स्वतन्त्रता एवं स्वधर्म की दिव्य चेतना का संचार कर रहे थे, यह कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं थी। इतना ही नहीं, दुकानदारों और मारवाड़ी बनियों में भी स्वातन्त्र्य निष्ठा की इतनी प्रबल भावनाएं प्रज्वलित हो उठी थीं कि उनकी उष्णता का अनुभव जनरल नील को भी होने लगा था। उसने भी अपने प्रतिवेदन में इन मारवाड़ी बनियों में अंग्रेजों के प्रति उत्पन्न हुई द्वेषभावना का उल्लेख इन शब्दों में किया है "अनेक प्रमुख व्यापारियों एवं अन्य लोगों ने भी हमारे प्रति प्रचण्ड द्वेष भावना अभिव्यक्त की। इतना ही उनमें से अनेकों ने तो हमारे विरुद्ध सक्रिय युद्ध में भी भाग लिया।" (नील का द्वितीय पत्र)

परन्तु ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी अंग्रेजों को अभी कृषकों की निष्ठा का विश्वास था। उन्हें यह आशा थी कि वे तो निश्चित रूप से ही हमारा सहयोग देंगे। किन्तु प्रयागराज ने उनके इस भ्रम के हवामहल को भी अपने प्रबल प्रभंजन से उड़ाने का महान कार्य संपन्न कर दिखाया। १८५७ के इस स्वातन्त्र्य संग्राम में अन्य किसी भी गतिविधि में भाग न लेने वाले कृषक भी प्रथम पंक्ति में आकर खड़े हो गए थे। अंग्रेजों द्वारा की गई नियुक्तियों के पूर्व के जमींदारों के नेतृत्व में ये हलधर भी अपने हलों को खेतों में ही छोड़कर स्वातन्त्र्य संग्राम में विद्युत सदृश्य स्फूर्ति का परिचय देते हुए भाग ले रहे थे। उन्होंने वर्तमान स्थिति और पुराने जमींदारों के समय की स्थिति का तुलनात्मक विवेचन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि इन अंग्रेजों के शासनकाल की अपेक्षा अपने स्वराज्य का समय सहस्र गुना श्रेष्ठ था। अंग्रेजी राज्य में जब अनाचार की पराकाष्ठा हो गई तो विगत अनेक दशकों के दुष्कर्मों का प्रतिशोध लेने हेतु वे भी सन्नद्ध होने लगे थे। प्रत्येक ग्राम और उसकी विथिकाओं में स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जय जयकार गूंज उठा और अबोध बालक भी परतन्त्रता पर मार्ग में ही थू थू करने लगे। यह एक अकाट्य सत्य है कि १२-१२ और १४-१४ वर्ष की आयु वाले बालक भी मार्गों में

---

१. "कल तक जो सिपाही हमारे हाथ सहलाते थे, वे ही आज उन पैन्शन प्राप्त वृद्धों के साथ, जो रणभूमि में जाने के सर्वथा अयोग्य थे, अन्य लोगों को कायरता और क्रूरता के कार्य करने में नितान्त तत्परता सहित बढ़ावा दे रहे थे।"
के-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ १९३, रेड पैम्फलेट भी देखें।

जलूस निकालते और स्वराज्य का जय जयकार करते थे। इन दृश्यों को देखकर एक अंग्रेज आत्मग्लानि से नतमस्तक होकर अपने सेनापति के पास पहुंचा और नेत्रों से अश्रु टपकाते हुए उसने कहा कि ऐसे ही बालकों के एक दल को दिया गया मृत्युदण्ड न दिया जाए एवम् उन्हें मुक्त कर दिया जाए। किन्तु उसकी अनुनय-विनय निरर्थक रही। जिन बालकों ने स्वतन्त्रता की पुनीत पताकाएं अपने हाथों में उठाकर स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की जय जयकार करने का पावन 'पाप' किया था उनको सार्वजनिक रूप से वधस्तम्भों पर लटका दिया गया। देवदूतों के समान निष्पाप बालकों की यह जघन्य हत्याएं, इनके निर्मम वध का पाप तो निश्चित रूप से ही पापियों के सिर पर वज्रपात के तुल्य गिरने ही वाला था, इसमें शंका को स्थान ही कहां रह जाता है। अत्याचार के इस सीमोल्लंघन पर सम्पूर्ण प्रदेश क्रोध से दांत पीस उठा। किसान और ताल्लुकेदार, वृद्ध और जवान, महिलाएं और पुरुष सभी दासता की अपावन श्रृंखलाओं को चूर्ण चूर्ण कर देने का संकल्प ग्रहण कर "हर हर महादेव" का जयघोष करते हुए रणभूमि में आ खड़े हुए। "केवल गंगा पार के लोग ही नहीं अपितु गंगा और यमुना के मध्य में स्थित भूखण्ड की जनता भी उठी, किसान भी सन्नद्ध हुए और दोनों धर्मों का एक भी अनुयायी ऐसा नहीं रह गया जो हम (अंग्रेजों) पर प्रहार करने के लिए बेचैन न हो उठा हो।"[१] इस बहुजन समाज द्वारा प्रारम्भ किए गए इस प्रचण्ड प्रयत्न के यशस्वी होने के लिए प्रयागराज के पण्डित और मौलवी भी आशीर्वाद दे रहे थे।

हिन्दुस्थान के इतिहास में इतनी अधिक विक्षोभक, विद्युतवेगी, भयानक और जन सामान्य तक व्यापक राज्यक्रान्ति का द्वितीय उदाहरण मिलना दुर्लभ है, जिसमें लोकशक्ति जागृत हुई थी और जिस भांति भयंकर वर्षा से पूर्व आकाश में मेघमंडल घहरा उठता है और उनसे प्रचण्ड जलधाराएं फूट पड़ती हैं, उसी भांति इस क्रान्ति में भी शत्रु के रक्त की सरिताएं प्रवाहित की गयी थी। सन् ५७ की यह राज्यक्रान्ति भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना ही थीं। इससे भी अधिक उत्साह और प्रेरणादायक तथ्य यह था कि अपने वास्तविक कल्याण की पुनीत भावना को हृदयंगम कर हिन्दू और मुसलमान सहोदर बन्धुओं के समान कंधे से कंधा मिलाकर रणभूमि में रक्तदान कर रहे थे। इतने प्रचण्ड और अभूतपूर्व तूफान का उत्थान करने के उपरान्त यदि हिन्दुस्थान उस पर नियन्त्रण प्राप्त करने में असफल रहा तो इसमें आश्चर्य करने को स्थान भी कहां है ? आश्चर्य की बात तो यह थी कि भारत क्रान्ति का यह प्रबल उत्थान करने में सफल किस भांति हो पाया था। कारण यह है कि राज्यक्रान्ति के ऐसे किसी भी उत्थान को, उसके

---

१. के-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ १९५

प्रबल प्रवाह को कोई भी राष्ट्र नियन्त्रित करने में सफल नहीं हो सका है। यदि फ्रांस की राज्यक्रान्ति की १८५७ के इस महान अनुष्ठान से तुलना की जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अराजकता और अत्याचार, स्वार्थपरता तथा बवण्डर एवम् लूटमार तो क्रान्तिकाल के अनिवार्य नियम हैं, किन्तु फ्रांस की अपेक्षा हिन्दुस्थान की राज्यक्रान्ति में तो ये तत्व नितान्त ही अल्पमात्रा में ही उभर पाए थे। जमींदारों के परम्परागत पारस्परिक वैर-विरोध, राजनैतिक दासता के अनिवार्य परिणाम घोर दारिद्रय, तथा हिन्दू मुसलमानों में प्रवाहित हो रही शताब्दियों पुरानी प्रतिद्वन्द्विता की भावनाओं और द्वेषभाव की समाप्ति के पूर्ण प्रयास किए जाने के बावजूद भी क्रान्ति का प्रथम विस्फोट होते ही अराजकता को न उभरने देने की कल्पना साकार न हो सकी। यह नैसर्गिक नियम ही है कि सृष्टि सृजन के समय जल प्रलय होता ही है। स्वयं परम पिता परमात्मा भी तो इस प्रक्रिया को अवरुद्ध कर पाने में सफल नहीं हो पाते। जहाँ कहीं भी और जब भी राज्यक्रान्ति होगी वहाँ ये सभी तत्त्व बहुधा स्वाभाविक रूप से ही उभरते हैं।

परन्तु लूटमार व अग्निदाह के इस प्रथम सप्ताह की समाप्ति होते ही अराजकता के सब संकट टल गए थे और प्रयागराज में क्रान्ति को व्यवस्थित रूप दिया जाने का क्रम आरम्भ हो गया था। इसी प्रान्त में क्या, जहाँ कहीं भी जन असन्तोष का विस्फोट होने के उपरान्त क्रान्ति की रणहुंकार होती है वहां प्रथम आघात के उपरान्त सुयोग्य नेता का अभाव उत्पन्न हो जाता है। किन्तु प्रयाग ने इस बाधा का भी निराकरण कर दिया था। एक महान स्वातन्त्र्य प्रेमी मौलवी लियाकत अली ने आगे आकर क्रान्तिकारियों का नेतृत्व संभाल लिया था। इनके सम्बन्ध में हमें इतनी जानकारी ही उपलब्ध हो पाती है कि वे जुलाहों में धर्म-प्रचार किया करते थे। वे एक मदरसे (विद्यालय) में शिक्षक थे। उनके पावन चरित्र के कारण जनसाधारण में उनके प्रति असीम श्रद्धा विद्यमान थी ! प्रयाग के स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही उन्हें २४ परगने जमींदारों ने प्रयागराज का मुखिया और सम्राट् का प्रतिनिधि मानकर सम्मान प्रदान किया था। मौलवी साहब ने खुसरू बाग के सुरक्षित प्रांगण को अपना शिविर बनाकर वहाँ से सम्पूर्ण प्रदेश में क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को संचालित करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने अल्पकाल में ही राज्य प्रशासन की समुचित व्यवस्था कर दी। वे सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में संपूर्ण प्रदेश की प्रत्येक घटना का विवरण भी सम्राट् को पहुंचाने लगे।

मौलवी लियाकत अली के समक्ष सर्वप्रथम जो महत्वपूर्ण दायित्व उपस्थित हुआ वह था प्रयागराज के दुर्ग पर अधिकार करना। ज्योंही उन्हें यह समाचार प्राप्त हुआ कि जनरल नील के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने काशी से प्रयागराज की ओर प्रस्थान कर दिया त्योंही उन्होंने उपलब्ध सैनिकों और युद्ध सामग्री को व्यव-

स्थित कर प्रयाग दुर्ग पर आक्रमण कर देने की तैयारी कर ली। यदि उस समय भी दुर्ग में स्थिति ४०० सिख सैनिकों की बुद्धि ठिकाने आ गयी होती तो भी यह सुनिश्चित ही था कि एक भी गोली चलाए बिना ही तोपों और गोला बारूद सहित सम्पूर्ण दुर्ग पर क्रान्तिकारी सेना की विजय पताका फहरा उठती। जनरल नील भी इस भय से अहर्निश भयभीत था। अतः वह नितान्त शीघ्रतासहित काशी से प्रयाग की दिशा में प्रयाण कर रहा था। वह ११ जून को प्रयाग पहुंच गया। दोनों ओर की सेनाओं में घोर संग्राम हुआ और १७ जून को जनरल नील की सेना को नगर में प्रवेश पा लेने में सफलता मिल गयी। तदुपरान्त मौलवी ने नगर की स्थिति के सम्बन्ध में सम्राट् को अपना प्रतिवेदन भेजा तथा उस दुर्दैवी घटनाक्रम से उन्हें अवगत कराया। १७ जून को ही मौलवी के प्रधान केन्द्र खुसरू बाग पर भी अंग्रेजी सेना ने आक्रमण कर दिया, किन्तु विद्रोहियों ने उनके मुख मोड़ दिए। किन्तु दुर्ग पर अंग्रेजी सेना का अधिकार हो गया था, अतः अब वहाँ ठहरना निरर्थक मानकर मौलवी ने १७ जून को रात्रि में हां कानपुर की और प्रस्थान कर दिया और १८ जून को अंग्रेजों ने अपने राजभक्त सिखों सहित नगर में पुनः प्रवेश कर लिया।

काशी के समान प्रयागराज पर भी पुनः अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इतने पर भी क्रान्तिकारी हतोत्साह नहीं हुए। जब दुर्ग में शत्रुओं ने अपना आसन जमा लिया तो जनता का क्रोध और भी अधिक उभर उठा। प्रत्येक ग्राम के निवासियों ने प्रतिशोध की सिद्धता ग्रहण कर अपनी सम्पूर्ण सुरक्षा व्यवस्था कर ली। अब इतने अधिक क्रोध से दग्ध लोगों को रिश्वत देकर खरीद लेने की घड़ी तो कभी की जा चुकी थी। यह युद्ध तो एक सिद्धान्त के लिए किया जा रहा था। जनरल नील ने क्रान्तिकारियों के सामान्य से सामान्य नेता को बन्दी करने के लिए सहस्रों रुपए का पारितोषिक देने की घोषणा कर दी थी। किन्तु निर्धन से निर्धन कृषक ने भी उसके इस प्रलोभन को ठुकराना ही युगधर्म समझा। एक अंग्रेज को भी केवल सिद्धान्त के लिए किए गए इस युद्ध की उदात्त भावनाओं पर इन शब्दों में आश्चर्य व्यक्त करने को विवश होना पड़ा था : "मजिस्ट्रेट ने किसानों में सुपरिचित एक क्रान्तिकारी नेता का सिर काटकर उपस्थित करने पर एक हजार रुपए का पुरस्कार देने की घोषणा कर दी। किन्तु हम (गोरों) से भारतवासियों को इतना अधिक द्वेष था कि एक भी व्यक्ति ने उसे बन्दी बनाने के लिए आगे आने की चेष्टा तक भी नहीं की" (चार्ल्स बाल खण्ड १)। "अपने नेताओं का रुपयों के प्रलोभन में बन्दी बनवाना तो बहुत दूर की बात थी पैसे लेकर अंग्रेजों को कोई वस्तु देना भी सामान्य जन तक एक महान पाप समझने लगे थे। यदि कोई प्रलोभनवश ऐसा पाप कर ही बैठता था तो अन्य व्यक्ति उसे अपनी जाति से बहिष्कृत ही कर देते थे।" कोई भी ऐसा व्यक्ति जो यूरोपियनों के लिए कुछ भी करता था उसे ये

हत्यारे मार ही डालते थे।...एक निर्धन पाव रोटी वाले ने हमारे लिए पाव रोटी भेज दी थी तो बाद में देखा गया कि उसके दोनों हाथ ही काट लिए गए हैं और नाक भी साफ कर दी गई है।" यह समाचार २३ जून का है। केवल पाव रोटी बेचने के कारण ही किसानों ने उस व्यक्ति को यह दण्ड दिया था। जब इस प्रकार का राष्ट्रीय और शास्त्रीय बहिष्कार आरम्भ हो गया था तो अंग्रेजों की क्या दुर्दशा हुई होगी, इसकी कल्पना करना भी सरल नहीं है। यह सत्य है कि प्रयाग के दुर्ग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। परन्तु वहां से इधर-उधर कहीं भी जा पाना अंग्रेजों के लिए सर्वथा असम्भव कर दिया गया था। उन्हें कोई भी वाहन, औषधि आदि प्राप्त न हो पाती थी तो रोगी सैनिकों के लिए डोलों और उसे उठाकर चलनेवाले कहारों के उपलब्ध होने की तो कल्पना करना ही निरर्थक है। ये सैनिक, जो अनेक स्थानों पर बीमार पड़े थे, उनका आर्त्तनाद ही इतना भयावह था कि उनका चीत्कार सुनकर ही अनेक अंग्रेज महिलाओं के प्राण पखेरू उड़ गए थे। ग्रीष्म भी अपने पूर्ण यौवन पर आकर सनसनाती हुई वायु के बाण इन गोरों पर छोड़ रहा था। अब अंग्रेजों को इन क्रान्तिकारियों की इस योजना की सार्थकता का पता लगा कि जून में क्रान्ति की ज्वाला धधकने से गोरे भयंकर गर्मी से ही तड़फ-तड़फकर दम तोड़ देंगे। प्रत्येक गोरा सैनिक अपने सिर को ठण्डे पानी में डुबोए रखने में ही लगा रहता था। इसके साथ ही साथ रसद और खाद्य सामग्री का भी अभाव होता जा रहा था। इन अंग्रेजों को अनाज का एक कण बिक्री करनेवाले को देशद्रोहियों की श्रेणी में ही गिना जाता था। प्रयाग के एक अंग्रेज अधिकारी ने उस समय की दुरवस्था का चित्रण इन शब्दों में किया था—"आज तक हमें नितान्त ही अल्प भोजन पर अपने दिन गुजारने पड़े हैं। वस्तुतः कल मुझे अपने कलेवे में जितना भोजन उपलब्ध हुआ था उससे तो एक श्वान भी अपना पेट नहीं भर पाता।" इस प्रकार एक ओर प्रचण्ड गर्मी का प्रकोप और दूसरी ओर अन्न का भयंकर अभाव, इन दोनों आपदाओं के साथ-साथ अंग्रेजी शिविर में हैजे की महामारी भी अपना दांव लगा बैठी। इस दुःख से मुक्तिलाभ करने के लिए अंग्रेज सैनिक सुरापान कर अचेत हो अपना गम प्यालों में डुबोने लगे। ऐसी स्थिति में अनुशासन का उल्लंघन होना भी आए दिन की घटना हो गया। ये सुरापायी सैनिक अब नील के आदेशों का भी उल्लंघन करने में कोई संकोच अनुभव नहीं करते थे। इस स्थिति को देखकर एक दिन नील ने कैनिंग को लिखा कि "इन सैनिकों में से कुछको तो मैंने फांसी पर लटका देने का विचार कर लिया है।" इस भांति प्रयाग स्थिति अंग्रेजी सेना दुरभाग्य की इस पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। निरन्तर कानपुर को सहायता प्रदान करने हेतु त्वरित सन्देश पर सन्देश भेजे जा रहे थे। अन्ततः इस विषम परिस्थिति में जनरल नील को १ जुलाई

को प्रयाग में ही सड़ जाने पर विवश होना पड़ा।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जनरल नील और उसके नेतृत्व में सक्रिय फ्युजीलियर्स की सेना को मद्रास से यहाँ बुलाया गया था। यदि कहीं उन दिनों मद्रास में क्रान्ति की सामान्य सी भी चिंगारी प्रस्फुटित हो जाती तो अंग्रेजों के लिए एक दिन भी उसके दवाव को सहन कर पाना सम्भव न होता। परन्तु प्रयागराज के कृतनिश्चयी भारतीय नागरिकों ने अंग्रेज योद्धाओं को दुर्ग में ही घेरकर मार डालने का जो यशस्वी कार्यक्रम निर्धारित किया था उससे अंग्रेजों के लिए चिन्तित होने का कोई विशेष कारण नहीं था, क्योंकि अभी तो बम्बई, मद्रास, राजस्थान, पंजाब और नेपाल आदि सभी प्रदेश हिमखण्डों के समान शीतल थे। यदि कहीं कोई हलचल हो भी रही थी तो क्या, ये सभी प्रदेश तो पिशाचों के तुल्य क्रान्तिकारियों की सफलता के मार्ग में ही बाधक बन गए थे। इतना ही नहीं काशी और प्रयागराज में भी सहस्रों सिख सैनिक अंग्रेजों के साथ थे। किन्तु इसमें घबराने की बात क्या है। अन्यत्र कहीं कुछ भी क्यों न हुआ हो प्रयागराज के तो पण्डित और मौलवी, तालुकेदार एवं निर्धन किसान, छात्र एवम् शिक्षक, दुकानदार तथा ग्राहक अनन्त आपदाओं में भी स्वातन्त्र्य संग्राम को शिरोधार्य किया था। उन्होंने संघवद्ध होकर स्वतन्त्रता और स्वराज्य के महान ध्येय की प्राप्ति हेतु महान स्वार्थ त्याग किया तो उनमें से अनेकों ने अपने जीवन प्रसून ही स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के श्रीचरणों में समर्पित कर दिए। उनकी देशभक्ति को भारत का इतिहास सदैव ही अपने गले में पड़े हुए महान आभूषणों के तुल्य ही अपना प्रेम समर्पित करता रहेगा।

कारण यह है कि इन सभी देशभक्तों को दासता के विरुद्ध संघर्ष करने के पावन अपराध का बड़ा ही कड़ा दण्ड भुगतना पड़ रहा था।[1] काशी और प्रयाग

---

१. एक ब्रिटिश अधिकारी ने अपने प्रयाग के क्रियाकलापों के सम्बन्ध में यह विवरण प्रस्तुत किया था—"हां, यह प्रवास तो मुझे बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ। जब सिख सैनिकों के साथ फ्युज़िलियर्स सिपाही नगर पर आक्रमण करने गए तो हम अपनी बन्दूकों सहित जहाजों पर सवार हुए। जहाज चल रहा था और हम अपने दाएं-बाएं तटों पर गोलियों की बौछार करते आगे बढ़ रहे थे। जब हम एक खराब स्थान पर आए तो गोली वर्षा करते हुए ही तट पर उतर पड़े। मेरी दुनाली बन्दूक से बरसती गोलियों का आहार अनेक 'काले' लोग बन रहे थे। मैं प्रतिशोध लेने की भावना से उन्मादग्रस्त-सा हो गया था। दाएं-बाएं और आस-पास के स्थलों पर जब हमने अग्नि-वर्षा की तो पवन के प्रवाह से भड़की अग्नि-ज्वालाओं ने आकाश तक अपनी

प्रान्त में जनरल नील ने जो अत्याचार किए थे उनकी पैशाचिकता और पाशविक रूप की तुलना वन्य जातियों की इतिहास में की जानेवाली क्रूरता से भी की जाए तब भी उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा। मैं यहां अलंकारिक भाषा में यह विवरण प्रस्तुत नहीं कर रहा हूं। अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत विवरण को पढ़कर ही मैंने यह विवरण प्रस्तुत किया है। जनरल नील ने वृद्धों को जलाया, अधेड़ आयु के लोगों को अग्नि ज्वालाओं में झुलसाया, तरुणों को दहकते अंगारों में धक्का दिया तो उसने बालकों को भी अपनी पैशाचिकता की भट्टी में डालने में संकोच नहीं किया। इतना ही नहीं अपितु नील ने माताओं से उनकी गोदी के लाल छीने, पालनों में सोते सुकुमारों की हत्याएं कर देने में भी संकोच नहीं किया। सैकड़ों महिलाओं, बालिकाओं, माताओं, किशोरियों और युवतियों को नील के क्रोध की अग्नि-ज्वालाएं लील गईं। इसमें अक्षर भर भी असत्य का सम्मिश्रण मैंने नहीं होने दिया है। मैं आह्वान् करता हूं कि यदि इस वृत्तान्त को असत्य सिद्ध करने के लिए किसीके पास एक शब्द भी हो तो वह परमात्मा और जनता के न्यायालय के समक्ष एक क्षण ठहरने का तो साहस अपने में संजो ले।

जो लोग दण्डित किए गए उनका अपराध क्या था ? उनका एक ही अपराध था कि वे सभी लोग अपने देश की स्वतन्त्रता हेतु सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष सहन करने के लिए तैयार थे।

अभी तो कानपुर का हत्याकाण्ड होना बाकी था। यही कहना उपयुक्त होगा कि नील ने जो घोर अत्याचार किए थे उन्हींका प्रतिशोध कानपुर के हत्याकाण्ड

सैकड़ों जिह्वाएं फैला दीं। अब राजद्रोही दुष्टों से पूरा-पूरा प्रतिकार लिया जा रहा था। यह देखकर हम हर्ष और आनन्द से सुध-बुध भी खो बैठे। प्रतिदिन विद्रोहियों के ग्रामों को अग्नि की भेंट चढ़ाने के लिए हमारी टोलियां निकलती थीं और हम पूर्णतः प्रतिशोध ले रहे थे। जिन मक्कारों ने सरकार और अफसरों के साथ अपराधपूर्ण व्यवहार किया था, उनकी जांच हेतु जिस समिति का गठन किया गया था, मैं उसका अध्यक्ष था। प्रतिदिन ही हम आठ-दस व्यक्तियों को तो निश्चित रूप से ही फंसाते थे। अब इन लोगों के प्राण हमारे चंगुल में थे। मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि हमने किसीके भी प्रति तनिक सी भी उदारता का प्रदर्शन नहीं किया। पैरवी की प्रक्रिया तो बड़ी ही सामान्य सी थी। दण्डित अपराधी को उसके गले में फंदा डालकर एक गाड़ी पर चढ़ाकर वृक्ष से बांध दिया जाता था। गाड़ी को आगे बढ़ाया कि उसकी देह वृक्ष से झूल गई।

— चार्ल्स बॉल-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी,' खण्ड १

के रूप में लिया गया था। कानपुर की हत्याकाण्ड के कारण नील ने अमानुषिकता और पैशाचिकता का प्रदर्शन नहीं किया था, अपितु नील की पैशाचिकता का प्रतिशोध ही कानपुर के हत्याकाण्ड के रूप में परिलक्षित हुआ था।

१८५७ की क्रान्ति के इस वर्ष में सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में जितने अंग्रेज स्त्री-पुरुष तथा बालकों की हत्याएं हुईं उनसे अधिक संख्या में भारतीयों की हत्या केवल प्रयाग में ही जनरल नील द्वारा कराई गई थीं। और ऐसे ही अनेक नील भारत के सैकड़ों नगरों और ग्रामों में इसी प्रकार के हत्याकाण्ड करने में लिप्त थे। उनके द्वारा सहस्रों भारतवासियों का निर्ममता सहित वध किया जा रहा था। एक-एक अंग्रेज के जीवन के बदले में पूरे-पूरे ग्राम भस्म कर दिए गए थे।

इन सब घटनाओं के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहासकारों का रुख क्या रहा है ? उन्होंने तो ऐसी घटनाओं का उल्लेख तक भी नहीं किया। यदि कहीं उल्लेख हुआ भी तो नितान्त ही आडम्बर सहित। कतिपय घटनाओं का यदि कहीं विस्तृत विवरण उपलब्ध भी होता है तो वह भी जनरल नील को महान पराक्रमी प्रसिद्ध करने की दृष्टि से ही किया गया है। इस समय पर अपनाई क्रूरता से अधिक उदारता भला हो ही क्या सकती थी। अनेक इतिहासकारों ने तो यह भी कहा है कि मानवता के प्रति नील के हृदय में कितनी उदारता विद्यमान थी। यह मानवता के कल्याण हेतु उसके द्वारा की गई क्रूरता से ही स्पष्ट होता है। स्वतः पार्लामेंटरी रिपोर्टों में यह उल्लेख उपलब्ध है कि अंग्रेजों की इस प्रतिशोध लेने की नीति का परिणाम ही कानपुर के नरमेध के रूप में सामने आया था। किन्तु के महोदय ने इस बात पर शंका व्यक्त करते हुए लिखा है—"काले लोगों (भारतीयों) ने हम पर प्रहार करने की जो घोर धृष्टता प्रदर्शित की थी उससे अंग्रेजों में स्वाभाविक रूप से ही सिंहों को शोभा प्रदर्शन करने वाले महान् शौर्य का प्रकट होना ही अनिवार्य था।"[१] जनरल नील की क्रूरता के विरोध में यद्यपि श्री के ने एक शब्द भी नहीं लिखा। उसे यह पसन्द ही नहीं था कि कोई व्यक्ति इस प्रकार की बातों पर विवाद करे। उसने इस संबंध में विचार करने का कार्य तो अपने

---

१. और अत्याचारों का यह क्रम कितने दिनों तक चला, इसका विवरण इन पंक्तियों में प्रस्तुत है—"तीन मास तक आठ शव ढोने वाली गाड़ियाँ सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक उन शवों को एकत्र करने के लिए चक्कर लगाती थीं, जो राजमार्गों और बाजारों में लटकाये जाते थे। इस प्रकार लगभग छः हजार व्यक्तियों का सामान्य सुनवाई के उपरान्त प्राणदण्ड देकर उन्हें चिर निद्रा में सुलाया गया था।

—के-लिखित 'इण्डियन म्युटिनी,' खण्ड द्वितीय, पृष्ठ २०३

आसमानी बाप (परमात्मा) पर छोड़ दिया था। किन्तु नानासाहब पर कीचड़ उछालते समय इन्हीं के महोदय की लेखनी ने तनिक भी संयम अथवा संकोच या मर्यादा से काम नहीं लिया। उसने जिस अश्लीलता का प्रदर्शन किया है, उसे पढ़कर तो स्वतः अश्लीलता भी सिर धुन लेती होगी। इसी भाँति श्री चार्ल्स बाल महोदय ने भी जनरल नील की प्रशंसा करने में धरती आकाश के कुलावे मिलाए हैं। उन्होंने नील की स्तुति करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। किन्तु यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जहाँ इन लोगों ने नील को महान धर्मात्मा सिद्ध करने का प्रयास किया है, वहाँ नील ने स्वयं अपने संबंध में क्या लिखा है। वह लिखता है कि—"परमात्मा साक्षी है कि मैंने जो भी कार्य किया, वह न्याय का विचार करके ही किया है। मैं जानता हूँ कि मैंने कुछ अधिक क्रूरता प्रदर्शित की है। किन्तु इन संपूर्ण परिस्थितियों पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सभी कुछ क्षम्य है। मैंने जो-कुछ भी किया, अपने देश के लिए, इंग्लैंड के लिए, उसके कल्याण की दृष्टि से ही किया है। मैंने यह कार्य अपनी साम्राज्य सत्ता का आतंक बैठाने तथा उसे पुनः स्थिरता प्रदान करने के लिए किया है। मैंने जो भी पग उठाया है, वह उस अमानुषिक जंगली विप्लव को समाप्त कर देने की दृष्टि से ही उठाया गया है।" "स्वदेश के लिए मैंने यह घोर अत्याचार किए हैं। परमात्मा मुझे क्षमा प्रदान करेगा।" जनरल नील के इस वाक्य को प्रस्तुत करके ही अंग्रेज इतिहास उसकी प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। किन्तु इसी स्वदेशाभिमान के कारण समरांगण में अवतरित होनेवाले नानासाहब और भारतीय सैनिकों की नरक में जाएंगे की रट लगानी भी ये ही ब्रिटिश लेखक नहीं भूलते। वस्तुतः इंग्लैंड की स्वदेशाभिमान की परिभापा भी सर्वथा अनुपम ही है।

एक अन्य इतिहासकार होम्स ने लिखा है—"वृद्ध व्यक्तियों ने तो हमें कोई हानि नहीं पहुँचाई थी। असहाय अबलाओं के आँचल से अबोध शिशुओं को भी हमारे प्रतिशोध की लपट उतनी ही प्रखरता से निगल गई थी जितनी तीव्रता सहित उसने घोर अपराधियों को चाटा था। किन्तु उस परम श्रद्धेय नील के संबंध में यह तथ्य स्मरण रखना होगा कि ऐसे कठोर दण्ड देने में उसे तनिक सी भी सुखानुभूति नहीं होती थी, अपितु वह तो अपने कठोर दायित्व का पालन मात्र ही कर रहा था।"[१]

उपरोक्त उद्धरणों का वास्तविक मर्म समझकर पक्षपातविहीन इतिहास नील के प्रभु का नहीं अपितु वास्तविक परमात्मा का स्मरण कर, अंग्रेजों द्वारा की गई निर्मम और आम हत्याओं की अपेक्षा, क्रांतिकारियों को विवश होकर यत्र

---

१. होम्स कृत "सिपॉय वार" पृष्ठ २२९-२३०

तत्र जो थोड़ी-बहुत हत्याएँ करनी पड़ी थीं, उनको निस्संदेह क्षमाशील एवं कुछ सहअनुकम्पा की दृष्टि से देखेगा, ऐसा हमारा सुदृढ़ विश्वास है। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए हत्याएँ क्षम्य हैं अथवा नहीं, इस प्रश्न का निर्णय करना हम परमात्मा पर ही छोड़ देते हैं। किन्तु परमेश्वर मुझे क्षमा करो, कारण कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह अपने देश के नैसर्गिक स्वराज्य की रक्षा के निमित्त ही कर रहा हूँ, ये वाक्य जनरल नील की अपेक्षा नानासाहब के श्रीमुख से उच्चारित होने में ही अधिक शोभा पाते हैं क्योंकि स्वराज्य के लिए तो विद्रोही समरांगण में उतरे थे अंग्रेज नहीं। वस्तुतः हत्याएँ करके भी जिन्होंने अपने कर्तव्यमात्र का ही पालन किया था, वे तो स्वधर्म और स्वराज्य के लिए जूझने की आकांक्षा से मत्त बने हुए तथा अपनी मातृभूमि पर एक शताब्दी तक किए गए अवर्णनीय अत्याचारों का प्रतिशोध लेने की तड़फन को अपने अन्तःस्थल में बसानेवाले क्रांतिकारी ही थे। यह एक अकाट्य सत्य है, अखण्डनीय तथ्य है।

परन्तु इस तत्त्वज्ञान का आज उपयोग ही क्या है। नील ने प्रयागराज में भयंकर क्रूरता का जो बीजारोपण किया है, उसकी फसल तो अब कानपुर के खेतों में लहलहा उठी है। अतः शीघ्रता करो और वहाँ पहुँचो, जिससे कि यह देखा जा सके कि इस फसल के फलने से वहाँ ऋतुराज का आगमन कितनी चमक-दमक और सौन्दर्य के साथ हुआ है।

● ● ●

: ८ :

कानपुर व झांसी

दासता के नरक में पड़कर असह्य यातनाओं से पीड़ित हो रहे अपने पूर्वजों के उद्धार के पावन ध्येय से प्रेरणा ग्रहण कर क्रांति की जिस भागीरथी को रक्त की अनन्त लहरों के रूप में प्रवाहित किया गया था, जिससे संपूर्ण उत्तरी भारत आप्लावित हो रहा था, उसकी ओर से कुछ समय के लिए अपने नेत्र मूंदकर अब देखना आवश्यक है कि क्रांति गंगा के हरिद्वार में किस प्रकार से यह प्रवाहित हो रही थी। मेरठ के विस्फोट के उपरान्त से श्रीमंत नानासाहब के राजदरबार में जितने क्रांतिकारी नेताओं का जमघट लगना आरम्भ हो गया था उतने न तो लखनऊ के राजमहल में ही एकत्रित हुए थे और न ही बरेली प्रदेश अथवा दिल्ली के दीवाने-खास में ही उनका संगम कभी हुआ था। क्योंकि १८५७ ई० के इस स्वातन्त्र्य संग्राम का बीजारोपण भी तो सर्वप्रथम ब्रह्मावर्त के इस राजमहल में ही हुआ था। वहीं तो क्रांति के गर्भपिण्ड ने विस्तार पाकर एक निश्चित आकार ग्रहण किया था। यदि वस्तुतः क्रांति का यह बालक बिठूर के राजप्रासाद में ही जन्म भी ग्रहण कर लेता तो यह असंदिग्ध ही है कि उसकी अल्पकाल में ही अकाल मृत्यु हो जाने का दुखदायी प्रसंग कदापि न आ पाता। किन्तु अभी तो उसकी गर्भाधान की अवधि पूर्ण ही न हो पाई थी। मेरठ के भयंकर विस्फोट ने क्रांति के इस बालक को अधकचरी आयु में ही दुर्भाग्य से जन्म दे दिया था। किन्तु फिर भी तो समय से पूर्व ही जन्मे इस बालक को उसके भाग्य पर ही अब नहीं छोड़ा जा सकता था। इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी ब्रह्मावर्त्त का राजदरबार इस क्रांति के सुकुमार का लालन-पालन कर इसे हृष्ट-पुष्ट करने के महान प्रयास में अहर्निश दत्तचित्त होकर लगा था।

ब्रह्मावर्त्त के इस राजदरबार में ही क्रांति की साकार, सजीव प्रतिमा, स्वतंत्रता के देवदूत के तुल्य श्रीमंत नानासाहब-सा धीर-गम्भीर पुरुष उच्चासन पर

विद्यमान था। उनके समीप ही अपने महान् नेता की कल्पना, उसकी साधना की पूर्ति हेतु अपना तन, मन, धन सभी कुछ समर्पित कर देने हेतु संकल्पबद्ध हुए उनके भ्राता बालासाहब एवं बाबासाहब तथा उनके भतीजे रावसाहब भी विराजमान थे। वहीं उपस्थित था अपनी महान् कर्त्तव्यपरायणता और कठोर परिश्रम के परिणाम स्वरूप नितान्त ही सामान्य स्थिति से उन्नति करते-करते अपने महान् नेता का कृपापात्र बनने में सफल होनेवाला वह महान् व्यक्ति, जिसने यूरोप की सामरिक नीतियों और राजनीति का गहन अध्ययन ही नहीं किया था अपितु जिसने अपने इस अनुभव का उपयोग स्वदेश की पराधीनता के पाश काटने के हेतु छेड़े जानेवाले धर्मयुद्ध करने के सम्बन्ध में भी सुदीर्घ चिन्तन और मनन किया था। जिसने अपने मनःचक्षुओं के समक्ष भावी क्रांति का संपूर्ण मानचित्र निर्मित्त किया था। जो स्वयं मुसलमान था, किन्तु जिसने अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के निमित्त एक हिन्दू राजा के अभ्युदय हेतु अपनी संपूर्ण आयु समर्पित कर देने का महान् व्रत ग्रहण कर लिया था। जिसने महाभारत के इस महान् सिद्धांत 'परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पंचशतोत्तरम्' (दूसरे विदेशी के साथ संघर्ष होने की स्थिति में हम १०० से ५ अधिक अर्थात् १०५ हैं) का प्रत्यक्ष जीवन में साकार करने की साधना की थी। वह महान् देशभक्त था अजीमुल्ला खाँ। इस श्रेष्ठ तथा महान बुद्धिमान व्यक्ति इसीके अतिरिक्त राजमहल में अपनी महान् प्रतिभा द्वारा क्रांतिकारी नेताओं के अनुभवों से नवीन सूझबूझ का सम्मिश्रण करती हुई झाँसी की विद्युतलता (लक्ष्मीबाई) भी दमक रही थी।

किन्तु ऐसे इस इतिहास प्रसिद्ध राजमहल में वहाँ शस्त्रागार की दिशा में ताकता हुआ पाषाण से रगड़कर अपनी तलवार की धार को तीक्षणता देने का प्रयास करने वाला वह कौन महान वीर खड़ा है?

तात्या टोपे

पाठकवृन्द! शस्त्रागार के समीप अपनी तलवार की धार को तीक्षण करने का प्रयास करनेवाला वह महान वीर ही तो तेजस्वी मराठा योद्धा तात्या टोपे हैं। शिवाजी की उद्भट रणनीति की परम्परा में मंजा हुआ यह महान मराठा अन्तिम रणवीर है! केवल शूरवीर तो अनेक योद्धा होंगे, किन्तु यह स्वतः मातृभूमि द्वारा अपनी स्वातन्त्र्य प्राप्ति के निमित्त अपने ही हाथों से घड़ी हुई तीक्षण तलवार है, साक्षात् खड्ग है? खड्ग शान्त हो गई है, किन्तु उसका प्रहार तो समाप्त नहीं हुआ। वह तो कदापि मृत नहीं हो सकता! हिन्दू भूमि के इस अजर-अमर प्रसून को हमारा सादर अभिवादन, श्रद्धा-सहित नमस्कार!

हिन्दू भूमि के इस वरेण्य सुपुत्र ने १८१४ ई० में जन्म ग्रहण किया था।[1] उनके पिताजी का नाम श्री पाण्डुरंग था। पाण्डुरंग भट्ट की आठ सन्तानें थीं। उन्हींका द्वितीय पुत्र रघुनाथ ही भारतीय महावीरों की तेजस्वी माला का दैदीप्यमान नक्षत्र तात्या टोपे था।

पाण्डुरंग देशस्थ ब्राह्मण थे और वे बाजीराव के यहाँ ब्रह्मावर्त्त में दानाध्यक्ष के पद पर नियुक्त थे। इसी ब्रह्मावर्त्त के पटांगण में नानासाहब, लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे बाल्यावस्था में बाललीलाओं में साथ-साथ सम्मिलित होते थे। बाल्यावस्था से ही नानासाहब और तात्या में परस्पर प्रगाढ़ मैत्रीभाव उत्पन्न हो गया था। बड़े होकर जिन महान प्रसंगों के वे सृजनकर्ता सिद्ध हुए उन वीरतापूर्ण कृत्यों की शिक्षा उन्हें शैशवकाल में ही प्रकृति नटी ने तल्लीन होकर उन्हें तल्लीन बनाकर प्रदान की थी। दोनों ने ही साथ-साथ रामायण का पारायण किया था। प्राचीन हिन्दू वीरों की महान शौर्य गाथाएं पढ़-सुनकर इन दोनों कोमल बालकों के भुजदण्ड एक साथ ही फड़क उठते थे। ऐसे विद्यालय प्रत्येक शताब्दी में तो खुलते ही नहीं जिनमें नाना, तात्या, राव और लक्ष्मीबाई जैसे विद्यार्थी एक साथ ही विद्याध्ययन करते हों। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि ऐसे असाधारण बालकों द्वारा संयुक्त रूप से ही समरभूमि में अपने वीर चरित्र का लेखन-कार्य भी नहीं किया जाता। ऐसी लिखित परीक्षाएं भी तो उदीयमान छात्रों की प्रत्येक देश में ली जाने की चर्चा भी तो इतिहास पुरुष करता हुआ सुनाई नहीं पड़ता। वस्तुतः इस प्रकार के अनुपम विद्यालय के खोलने और अद्वितीय कसौटियों का सम्मान और सौभाग्य भी केवल ब्रह्मावर्त्त को ही प्राप्त हो पाया था। इस असाधारण परीक्षा का केन्द्र भी ५७ के स्वाधीनता संग्राम में बनने का महान गौरव ब्रह्मावर्त्त के राजमहल को ही मिला था।

अप्रैल मास के अन्त में क्रान्तिकारी संगठन को एक सूत्र में आबद्ध कर एकरूपता देने की दृष्टि से नानासाहब और अजीमुल्लाखाँ उत्तर भारत के सभी प्रमुख नगरों का प्रवास कर आए थे। सभी कार्यक्रम सुनिश्चित हो चुका था। अब तो वे केवल उस शुभ मुहूर्त के आगमन की प्रतीक्षा में ही रत थे। किन्तु सहसा ही १ मई को मेरठ के विद्रोह और दिल्ली की स्वतन्त्रता का समाचार कानपुर

---

१. १८५९ ई० में श्री तात्या साहब के मुख से निकले वचनों को इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

"मेरा नाम तात्या टोपे है। मेरे पिताजी का नाम पाण्डुरंग है और मैं यवला परगना पालोडा, जिला नगर का निवासी हूं। मैं बिठूर में रहता हूं और मेरी आयु लगभग ४५ वर्ष है और मैं नानासाहब की सेवा में तैनात हूं।"

पहुंच गया। किन्तु इस आकस्मिक क्रान्ति-विस्फोट से भी ब्रह्मावर्त में न तो तनिक सी भी हलचल दिखाई दी और न ही किसी प्रकार की अव्यवस्था ही व्यक्त हो पाई। क्रान्ति के महान यंत्र में तो अनेक कल-पुर्जों का समावेश किया जाता है। उनमें से कुछ त्वरित गति से घूमते हैं और तीव्रता से चक्र लगाते हैं तो कुछ की गति मन्द होती है। यह तो एक प्रकृतिसिद्ध तथ्य है। यह भी निश्चित ही है कि कुछ पुर्जे निश्चित समय पर सक्रिय होंगे तो कुछ ऐसे भी होंगे जो सहसा ही घरघरा उठेंगे। बिठूर में बैठे हुए क्रान्तिकारी आन्दोलन के सूत्रधारों ने भी तत्काल ही मेरठ की घटना से उत्पन्न स्थिति पर विचार किया और उससे भी लाभ प्राप्त करने की योजना बना ली। किन्तु लाभ उठाने का प्रकार कौन-सा होगा? उनके समक्ष दो ही थे विकल्प—तत्काल दिल्ली की दिशा में प्रयाण अथवा पूर्व-निर्धारित क्रान्ति की तिथि अर्थात् जून मास के प्रथम सप्ताह तक धैर्य धारण करना। गहन विचार और मनन के उपरान्त द्वितीय विकल्प ही श्रेयस्कर समझा गया। और इसी संकल्प के साथ क्रान्ति का चक्र भी भीतर ही भीतर गतिमान हो उठा। ब्रह्मावर्त के समीप स्थित है कानपुर नगर, जो अंग्रेजों की एक महत्त्वपूर्ण छावनी के रूप में परिणत हो चुका था। सत्तावन के मई मास में यहाँ पहली, ५३वीं और ५६वीं भारतीय पैदल पलटन, अश्वारोही दल आदि कुल मिलाकर लगभग ३००० भारतीय सैनिक तैनात थे। अश्वारोही पथक पूर्णतः अंग्रेजों के ही नियन्त्रण में था। इसके साथ ही १०० अंग्रेज सैनिक भी थे। सिख युद्ध तथा अफगान युद्ध में इस अश्वारोही दल (रिसाले) ने उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न किया था। इस सेना का सेनापति सर ओ व्हीलर था। सर व्हीलर एक वयोवृद्ध सेनापति तथा सिपाहियों में अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति था। अंग्रेज सरकार को अपने इस सेनापति की बुद्धिमत्ता और वहाँ के सैनिकों की राजनिष्ठा पर अडिग विश्वास था और वे समझते थे कि कानपुर के सिपाही कदापि किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं करेंगे। अतः वे इस छावनी के सम्बन्ध में पूर्णतः निश्चिन्त थे।

मई मास में दिनांक १५ को सम्पूर्ण कानपुर नगर में सहसा ही एक हलचल व्याप्त हो गई। मेरठ के विस्फोट की सूचना यहां पहुंच चुकी थी। सिपाही भी अपने आलस्य का परित्याग कर चैतन्य स्थिति में आ चुके थे। किन्तु अंग्रेज अधिकारियों को १८ मई तक भी मेरठ में क्रान्ति के विस्फोट का समाचार प्राप्त नहीं हो पाया था। दिल्ली से जिन तारों के माध्यम से सन्देश प्राप्त होता था वे काट दिए गए थे। अतः सर ओ व्हीलर ने इस विस्फोट के सम्बन्ध में सुविज्ञ जानकारी प्राप्त करने के लिए अपने दूतों को भेज दिया। इन दूतों को दिल्ली से आते हुए एक सैनिक से मार्ग में भेंट हो गई। किन्तु फिरंगियों को कोई भी सूचना देना उसने स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों को रह-रह-

कर यह बात परेशान कर रही थी कि दिन-रात कानों से तारों को सटाकर बैठे रहनेवाले अंग्रेज अधिकारियों को जो समाचार प्राप्त नहीं हो पाते वे ही समाचार इतनी दूरी से क्रान्तिकारियों को उनसे भी पहले तथा ठीक-ठीक किस प्रकार से प्राप्त हो जाते हैं।[१] मेरठ के विद्रोह के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी बात अवशिष्ट नहीं थी जो सैनिको को सविस्तार विदित न हो चुकी हो, क्योंकि प्रत्यक्ष घटना घटित होने के प्रथम दिवस ही मानवीय तार यन्त्र द्वारा प्रत्येक छोटे से छोटे समाचार को भी उनके पास पहुंचाने की व्यवस्था हो गई थी। जब अंग्रेजों को मेरठ के विस्फोट का समाचार प्राप्त हुआ तो उन्हें कानपुर के सैनिकों के सम्बन्ध में भी शंका हुई और वे विशेष गम्भीरता सहित विचार करने हेतु विवश हो गए। किन्तु सर ओ व्हीलर का अभी भी यही विश्वास था कि इस सम्पूर्ण हलचल का एकमात्र कारण मेरठ से मिला हुआ विचित्र समाचार मात्र ही है। वह समझता था कि समय पर स्थिति पूर्णतः शान्त हो जाएगी। किन्तु इसके विपरीत कानपुर नगर ही नहीं छावनी में भी अंग्रेजी राज्य के पग उखड़ते हुए प्रतीत होने लगे थे। वहां हिन्दू और मुसलमानों की विराट सभाएं हो रही थीं तो सैनिक भी अपनी गुप्त बैठकों का आयोजन कर रहे थे। शिक्षक और छात्रों में भी विद्रोह की घटना पर चर्चा चलती थी तो बाज़ारों में दुकान दुकान पर भी चर्चा का यही एकमात्र विषय था। इन सबका एक ही परिणाम हो रहा था कि जनमानस में अब तक विक्षोभ की जो अग्नि भीतर ही भीतर सुलग रही थी अब उसकी ज्वाल-मालाएं एक विस्फोट के साथ बाहर निकल आने को आतुर हो उठी थीं। लोग परस्पर खुलकर अंग्रेजों को निष्कासित कर देने की चर्चा करने लग गए थे। सैनिकों ने भारतीय उच्चाधिकारियों के अतिरिक्त अन्य सभी की आज्ञा का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया था।[२] एक दिन जब एक अंग्रेज महिला बाज़ार में अपने पूर्ववत रौब के साथ सामान खरीदने हेतु जा रही थी तो एक पथचारी ने उसे मार्ग में रोक दिया और उसने आवेशमयी मुद्रा सहित उसे सम्बोधित करते हुए कहा "अब तुम अपनी ऐंठ को छोड़ दो। भली-भांति समझ लो कि अब तुम्हें भारत से निकाल-

---

१. वस्तुतः इस विद्रोह की एक उल्लेखनीय बात यह है कि अत्यन्त निश्चित तथा नितान्त वेग सहित सुदूर स्थिति स्थानों के समाचार भारतीय सैनिकों तथा अन्य लोगों को किस प्रकार प्राप्त हो जाते थे। सामान्य सन्देश प्रेषण का प्रमुख माध्यम हरकारे ही थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर असाधारण फुर्ती सहित सन्देश पहुंचाते थे।"

'मिलिट्री नेरेटिव्ह', पृष्ठ २३

२. नानकचन्द की डायरी।

कर बाहर कर दिए जाने का समय सन्निकट आ गया है।" इस घटना के रूप में अंग्रेजों को कुछ उथला-सा अनुभव हुआ है। (किन्तु इस घटना में भी असभ्यता का इंगित मात्र भी नहीं था)। अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी सर्वथा निश्चिन्त बैठे रहना सम्भव नहीं रह गया। अतः सर व्हीलर ने भी विद्रोह की आंधी का सामना करने की दृष्टि से सिद्धता करनी आरम्भ कर दी।

सर्वप्रथम उसने इस सम्बन्ध में विचार करना आरम्भ किया कि यदि सहसा ही संकट उत्पन्न हो गया तो किस स्थान पर जाकर आश्रय लिया जाएगा। उसकी दृष्टि गंगाजी के दक्षिण में तथा छावनी के समीप ही स्थित एक स्थान पर पड़ी। उसने आदेश दे दिया कि उस स्थान पर खाइयां और खन्दकें खोद दी जाएं तथा बन्दूकें चलाने के मोर्चों का भी निर्माण कर लिया जाए और पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न आदि भी एकत्रित कर लिया जाए। किन्तु ऐसा बताया जाता है कि जिस व्यक्ति ने इस कार्य को पूर्ण करने का ठेका लिया था उसने सर व्हीलर को यह विदित नहीं होने दिया कि उस स्थान पर बहुत ही अल्प मात्रा में सामग्री संचित की गई है। इधर सर व्हीलर तथा अंग्रेज़ अधिकारी सन्तोष की श्वास ले रहे थे कि अब यदि सहसा ही किसी समय भारतीय सैनिकों ने विद्रोह की रणभेरी बजा भी दी तब भी उन्होंने उस स्थिति का सामना करने की दृष्टि से अपनी समुचित सुरक्षा आदि की व्यवस्था कर लीं है। वह स्थान उनके लिए सुरक्षा का एक सुदृढ़ केन्द्र सिद्ध होगा। इसके साथ ही साथ अंग्रेज अधिकारी यह भी सोच रहे थे कि यदि कानपुर के सिपाही भी अपने अन्य सैनिक बंधुओं के समान ही विद्रोह होने के उपरान्त दिल्ली की दिशा में प्रस्थान कर गए तो वे गंगा को पार कर सकुशल प्रयाग पहुंचकर वहां की सेनाओं से जा मिलेंगे। किन्तु यह बात नहीं थी कि केवल विद्रोह की स्थिति में ही अंग्रेज़ों के लिए एक सुरक्षित स्थान की व्यवस्था कर देने मात्र से ही सर ओ व्हीलर सन्तुष्ट हो गया था। उसने लखनऊ में सर लारेन्स को भी यह सूचना भेज दी थी कि वहां से तत्काल एक सहायक सेना कानपुर भेज दी जाए। किन्तु लखनऊ में तो क्रान्ति की बाढ़ इतना विकराल रूप धारण कर चुकी थी कि वहां तो लारेन्स को अपनी रक्षार्थ ही और अधिक सेना को सहायतार्थ बुलाने पर विवश होना पड़ गया था। फिर भी लारेन्स ने लैफ्टिनेन्ट अॅश के नेतृत्व में ८४ सोजीर, अंग्रेज़ी तोपखाना तथा कुछ सैनिकों को कानपुर भेज दिया था।

अंग्रेज़ों की सुरक्षा हेतु सर व्हीलर ने इन दो उपायों का अवलम्बन किया था, इसमें तो कोई विशेष बात नहीं थी। परन्तु हिन्दुस्थान में अंग्रेजी राज्य पर घुमड़े हुए संकट के घनों को चूर्ण विदीर्ण करने के लिए जिस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया था वह वस्तुतः बड़ा ही विचित्र था। किन्तु उस विचित्र योजना को भी

धूल में मिला देने वाला क्रान्तिकारी संगठन का उपक्रम वस्तुतः उस क्रान्ति रचना के कौशल की यथार्थ कल्पना प्रस्तुत कर देता है। इतिहास में अन्यत्र इसके समान घटना का प्राप्त होना ही दुर्लभ है। सर व्हीलर ने कानपुर के संरक्षण के निमित्त ब्रह्मावर्त के राजा से भी प्रार्थना की थी। यद्यपि मेरठ के विस्फोट के समाचार के कारण सम्पूर्ण कानपुर नगर में सैनिकों और जन-साधारण दोनों में ही खलबली थी, किन्तु ब्रह्मावर्त अभी भी पूर्णतः शान्त और गम्भीर ही प्रतीत हो रहा था। उसके भीतर सुलगते असन्तोष की प्रचण्ड ज्वाला का आभास मात्र भी किसी को नहीं हो पा रहा था। कानपुर में सेना में जो हलचल हुई उससे व्हीलर की तन्द्रा तो भंग हो ही गई थी, किन्तु उसके मन में यह विचार कभी उत्पन्न नहीं हो पाया था कि ब्रह्मावर्त नरेश द्वारा भी अंग्रेजों का विरोध किया जाएगा। आज अंग्रेज अपने संकट के क्षणों में उसी से संरक्षण की याचना कर रहा था जिसके राजमुकुट को कुछ ही समय पहले उसने अपने पैरों से ठुकराया था, जिस सर्पराज के फन पर पग रखकर उसने अपनी शक्ति का दम्भ प्रदर्शित किया था। ऐसा करने में उसने कोई भयंकर भूल तो नहीं की थी, क्योंकि नानासाहब तो एक सुसभ्य हिन्दू थे, दाह रखने वाले 'सर्प' सरीखी वृत्ति को तो उन्होंने कभी पास भी नहीं फटकने दिया था, क्योंकि अंग्रेजों द्वारा बूटों की एड़ियों से रगड़े जाने पर उनके तलुए चाटने में अहोभाग्य मानने वाले अनेक कायर हिन्दू भी हिन्दुस्थान में ही निवास कर रहे थे। जिन्होंने अपने अपमान के गरल को पीकर भी कभी प्रतिशोध की फुफकार मारने तक का विचार भी नहीं किया था। इस सरल किन्तु भ्रमपूर्ण मानसिक अवस्था द्वारा नानासाहब का मूल्यांकन कर वस्तुतः व्हीलर ने नागराज की 'बामी' में ही जाकर उसे छेड़ने जैसा उपक्रम किया था। भला बिठूर नरेश को इससे अच्छा और शानदार निमन्त्रण कब प्राप्त हो सकता था। अतः दिनांक २२ मई को दो तोपों, तीन सौ अंगरक्षकों एवं कतिपय पैदल सैनिकों तथा अश्वरोहियों का एक पथक लेकर नानासाहब कानपुर नगर में पधारे। कानपुर में नागरिक तो थे ही साथ ही सैनिक अधिकारी भी बड़ी संख्या में विद्यमान थे। इन अंग्रेजों के उपनगर में ही नानासाहब ने भी अपना शिविर डाल दिया। यह तो स्पष्ट ही था कि यदि कानपुर से विद्रोह की चिंगारी फटी तो राजकोप को तो निश्चित रूप से ही लूट लिया जाएगा। अब प्रश्न यह था कि उसकी रक्षा करने के लिए कौन से मार्ग का अवलम्बन किया जाए। हां, तो क्या नानासाहब के सैनिकों को ही यह महान उत्तरदायित्व सौंपना अधिक सरल और श्रेष्ठ उपाय नहीं होगा? यह एक प्रश्नचिह्न था। किन्तु अन्ततः नाना के दोसौ सैनिकों की नियुक्ति ही राजकोष की सुरक्षा की दृष्टि से की गई थी। इस दायित्व को ग्रहण कर लेने पर जिलाधीश श्री हिलर्संडन ने इस कार्य के लिए नानासाहब तथा तात्या टोपे को

अनेकानेक आभार माने। इतना ही नहीं यह भी निर्णय हो गया कि यदि संकटकाल किसी समय आकर उपस्थित हो जाए तो अंग्रेज महिलाएं और बालक तथा बालिकाओं आदि को बिठूर-स्थित नानासाहब के राजमहल में सुरक्षित रखा जाएगा।

इसका नाम था राजनीति। अंग्रेजों के आमन्त्रण पर अपनी सेना सहित कानपुर की रक्षार्थ नानासाहब का प्रस्थान, और स्वतन्त्रता के लिए उठे अपने ही देश-बान्धवों से लड़ने का आह्वान्। वे अंग्रेजों की छावनी में ही डेरा डाले रहे। लाखों रुपए के कोष की रक्षा का महान भार भी अपने ले लें और ऊपर से अंग्रेजों द्वारा उनका आभार प्रदर्शन किया जाए। यही राजनीति का विचित्रतम पांसा था। किन्तु नानासाहब ने अंग्रेज की इस चाल को अपनी शह से मात दे दी। उन्होंने "शठं प्रति शाठ्यं" के न्याय को क्रियान्वित कर दिखाया। और यह सब कुछ महान क्रान्ति ज्वाला के धधक उठने के केवल एक सप्ताह पूर्व ही हो रहा था। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि १८५७ ई० में अंग्रेज अन्धकार में भटक रहे थे और सहसा ही एक भयानक खड्ड में जा पड़े थे। उस समय की जनता के हृदय में यह तथ्य भली भांति स्थान ग्रहण कर चुका था कि स्वतन्त्रता ही हमारी एकमात्र अभिलाषा है और उसकी प्राप्ति के हेतु हमें समरांगण में कूदना ही पड़ेगा। किन्तु क्रान्ति के नेताओं, उसकी निर्धारित तिथि, प्रमुख केन्द्र आदि सभी बातों को अत्यन्त ही गुप्त रखा गया था। इनका पता अंग्रेजों को तो क्या हो पाता स्वतः क्रान्तिकारी दल के सदस्यों को भी नहीं था। इस सम्बन्ध में जानकारी यदि किसीको थी तो क्रान्ति के सूत्रधारों और उनके निकटतम विश्वासपात्र सहयोगियों को ही थी। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रत्येक सैनिक दल में एक गुप्त क्रान्तिकारी समिति क्रियाशील थी। इसका रहस्य तो अब पाठकवृन्द ! आप समझ ही गए होंगे। काशी से जो पत्र अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में आया था उसके अन्त में केवल इतना ही उल्लेख था कि यह "एक बड़े नेता की ओर से" प्रसारित किया गया है। इस क्रान्ति की सफलता के लिए किस प्रकार का व्यवहार किया जाना अभीष्ट है, इस तथ्य से प्रमुख क्रान्तिकारी नेता पूर्णतः परिचित थे। क्रान्ति का विस्फोट हो जाने के अगले दिन तक भी अंग्रेजों को यह विदित नहीं हो पाया था कि बहादुरशाह, नानासाहब और महारानी लक्ष्मीबाई से इन गतिविधियों का क्या सम्बन्ध है। ब्रह्मावर्त ने तो इस गोपनीयता को बनाए रखने का अनुपम उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिखाया था। अंग्रेज इतिहासकार के ने लिखा है कि "मराठा साम्राज्य के निर्माता छत्रपति शिवाजी का इतिहास वृत्त नानासाहब ने व्यर्थ में ही तो नहीं पढ़ा था।"

कानपुर में क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र-स्थल सूबेदार टीकासिंह का

निवासस्थान था। गुप्त सभाओं के आयोजन का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सैनिकों के एक नेता शमसुद्दीनखाँ का निवासस्थान था।[१] इन सभाओं में नानासाहव के राजदरबार के प्रतिनिधियों के रूप में ज्वालाप्रसाद और मुहम्मदअली नामक दो व्यक्ति उपस्थित रहा करते थे। सूबेदार टीकासिंह और श्री ज्वालाप्रसाद दोनों ही महान शूरवीर एवम् स्वातन्त्र्य-प्रेमी तथा लगनशील राष्ट्रभक्त थे। अतः उनके महान चरित्र से सभी लोग इतने अधिक प्रभावित थे कि सेना का प्रत्येक सैनिक उनकी आज्ञा का निःसंकोच पालन करने को तत्पर रहता था। एक प्रकार से टीकासिंह का मत ही सारी सेना के मत का संकेत-चिह्न था। अतः इन प्रमुख लोगों से नानासाहव का परामर्श करना अनिवार्य ही हो गया था। पहले तो मेरठ से सहसा ही धधक उठी क्रान्ति-ज्वाला ने सम्पूर्ण कार्यक्रम ही अस्त-व्यस्त कर दिया था, जिससे सभी ओर उथल-पुथल हो गई थी। अब सम्पूर्ण योजना पर पुनः दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक हो गया था। अतः नानासाहव और सूबेदार टीकासिंह में विचार-विमर्श किए जाने का निश्चय किया गया। प्रथम भेंट में ही सूबेदार और नानासाहव में दिल खोलकर चर्चा हुई। सूबेदार ने नानासाहव को भली भांति आश्वस्त कर दिया कि "स्वधर्म और स्वराज्य हेतु हिन्दू और मुसलमान सभी एक साथ विद्रोह करने के लिए पूर्णतः संकल्पबद्ध हैं। और वे केवल आपके आदेशमात्र की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।" कतिपय अन्य बातों पर भी दोनों नेताओं में गम्भीर मन्त्रणा हुई और तदुपरान्त सूबेदार टीकासिंह ने नानासाहव से विदा ली। इसी समय एक अन्य गुप्त बैठक का भी निश्चय कर लिया गया। १ जून को सायंकाल नानासाहव अपने भाई बालासाहव तथा मन्त्री अजीमुल्ला खाँ सहित पुण्यतोया गंगा के पावन तट पर जा पहुंचे। वहाँ टीकासिंह तथा क्रान्तिकारी संगठन के अन्य कतिपय नेता उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे सभी एक नौका में सवार हुए। गंगाजी की पावन धारा के मध्य में पहुंचकर सभीने पवित्र गंगाजल को अपनी अंजलियों में लिया और स्वदेश की स्वतन्त्रता हेतु किए जाने वाले धर्म-युद्ध में कूद पड़ने का सुसंकल्प ग्रहण किया। तदुपरान्त उनमें परस्पर दो घण्टे तक विचार-विमर्श हुआ और सभी वापस लौट आए। उनकी गुप्त वातों की जानकारी पावन जाह्नवी को ही हो पाई। वस्तुतः वही तो इस सम्पूर्ण गोपनीयता और रहस्य को अपने अन्तःस्थल में छिपाए रखने में सक्षम दी। किन्तु यह बात भी सुविख्यात है कि दूसरे ही दिन शमसुद्दीन अपनी प्रेमिका अजीजन के घर पर गया और उसने

---

१. कानपुर में क्रान्तिकारी गतिविधियों के सम्बन्ध में नानकचन्द नामक एक वकील की डायरी के आधार पर जी० ओ० ट्रेवेलियन ने 'कानपुर' नामक जो पुस्तक लिखी है, उसमें सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है।

उसने एक सिपाही पर गोली दाग दी। इस गोरे का निशाना चूक गया, किन्तु इस सिपाही ने इस सम्बन्ध में शिकायत कर दी। पूर्व नियमानुसार इस अपराधी को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया गया। निर्णय में कहा गया कि अंग्रेज युवक नशे में था और उसकी बन्दूक से गोली अपने-आप ही छूट गयी। अब तक यह ढकोसला चलता आ रहा था, किन्तु अब तो ऐसे दिन हवा हो चुके थे।[1]

इस अपमान ने सम्पूर्ण सेना में एक हलचल-सी व्याप्त कर दी। सैनिकों में परस्पर चर्चा-सी होने लगी। उनके मुख से एक ही स्वर गूंजने लगा "अच्छा, ध्यान रखना, किसी दिन हमारी बन्दूकें भी आप ही दग जाएंगी।" प्रत्येक सिपाही की वाणी पर यही वाक्य गूंज उठा। सैनिक जब परस्पर मिलते तो यही कहते "अच्छा, हमारी बन्दूकें भी अपने-आप ही दग जाएंगी, है न?" सारी सेना में पारस्परिक अभिवादन के स्थान पर यही व्यंग वाक्य गूंज रहा था। वाक्य तो प्रत्येक मुख पर गूंजा, किन्तु कानपुर वालों ने मेरठ के सैनिकों के समान धैर्य का पल्ला नहीं छोड़ा और उन्होंने अभी कुछ और दिन तक शान्त रहने का निश्चय किए रखा।

एक दिन कानपुर में गंगाजी की लहरों में एक अंग्रेज पुरुष और एक महिला के शव बहते हुए आए। इन दो शवों ने तो अग्नि में घी उड़ेलने जैसा कार्य कर दिया। कानपुर के ऊपर किसी नगर में हुए विद्रोह की साक्षी प्रस्तुत हो गई। नगर में यह चर्चा ही प्रचलित हो गई "गंगामाता, पता नहीं अभी तुम्हें कितने ऐसे पाप की गठरियां ढोनी पड़ेंगी?" अब तक "भेड़िया आया, भेड़िया आया" की पुरानी कहानी के समान ही अंग्रेजों को अनेक बार अपमान झेलना पड़ा था। किन्तु अब अंग्रेज ऐसी स्थिति में आ गया था, जो स्थिति उस बालक की हो गयी थी जो दिन-रात "भेड़िया आया, भेड़िया आया" का व्यर्थ ही चीत्कार कर अपना विश्वास खो चुका था। और जिस दिन वस्तुतः भेड़िया आया उस दिन उसकी पुकार पर भी लोग निश्चिन्त रहे और उन्होंने उस ओर कोई ध्यान भी नहीं

---

१. ट्रेवेलियन ने लिखा है—"निम्न स्तर के यूरोपियनों की क्रूरता तथा सैनिक अधिकारियों द्वारा न्याय के नाम पर की जानेवाली धींगामस्ती से सिपाही भली-भांति परिचित थे। किसी अन्य अवसर पर तो सम्भवतः उन्हें इस प्रकार के न्याय पर किसी प्रकार का आश्चर्य न होता, किन्तु अब तो उनका रक्त खौल उठा था, उनका आत्माभिमान जागृत हो चुका था, जिससे किसी एंग्लो-सेक्सन वंशज को ऐसा अधिकार एवम् सैनिक न्यायालय की विवेचना शक्ति की प्रखरता को मान्यता देने के लिए वे तत्पर नहीं थे।"

—'कानपुर', पृष्ठ ९३

दिया। इसका प्रमाण यह था कि १ जून को सर व्हीलर ने केनिंग को यह पत्र लिखा था कि "अब कानपुर को किसी प्रकार से भी कोई संकट नहीं रह गया है। यहाँ तक कि मैं अब इस स्थिति में हूं कि लखनऊ को भी आवश्यकता होने पर सहायतार्थ सैनिक भेज दूँ।" इतना ही नहीं, प्रयाग से आई हुई गोरी कंपनियों ने तो लखनऊ की दिशा में प्रयाण भी कर दिया था। अतः यह तथ्य आश्चर्यजनक नहीं कि जिस दिन वास्तविक क्रान्ति हुई और जिसमें तीन हजार सैनिकों, कानपुर की सम्पूर्ण जनता और नर्तकियों तक ने भी खुलकर योगदान दिया, उस दिन ३ जून तक उस क्रान्ति की आहट मात्र भी अंग्रेजों को तो क्या मिलती, समय से पूर्व उनके नानकचन्द जैसे क्रीतदासों को भी नहीं मिल पाई।

४ जून का दिन भी पूर्णतः शान्ति सहित व्यतीत हुआ और रात्रि में विद्रोह का धमाका हो गया। पूर्व-निर्धारित कार्य-क्रमानुसार रात्रि के अन्धकार में तीन गोलियाँ दागी गयीं और कतिपय चुने हुए भवनों का दाह संस्कार कर दिया गया। ये रक्तपात और मृत्यु के नग्न ताण्डव नर-संहार के संकेत-चिन्ह थे। सर्वप्रथम टीकासिंह का अश्व सरपट दौड़ा और उसके पीछे सहस्रों अश्वारोही प्रचण्ड वायु वेग से दौड़ पड़े। कुछ ने अंग्रेजों के निवासस्थानों पर अग्नि सुलगाई तो कुछ ने अस्तबलों को अग्निदेव को समर्पित कर दिया। कुछ अश्वारोही दूसरे सैनिक-दलों को सहयोग के लिए आह्वान देने चल पड़े तो अन्य ने सैनिक ध्वज और पताकाओं को छीनने का अभियान प्रारम्भ कर दिया। एक भारतीय सूबेदार मेजर इन सम्मान-चिन्हों का संरक्षक था। जब उसने क्रान्तिकारियों से वाद-विवाद आरम्भ किया तो एक तलवार उठी और उसने उसे धराशायी कर सदा के लिए अनन्त निद्रा में सुला दिया।

दो अश्वारोहियों ने पैदल सेना को यह सन्देश पहुंचाया "प्रथम पैदल पलटन के सूबेदार महोदय को टीकासिंह का प्रणाम। अब फिरंगियों के विरुद्ध सभी अश्वारोही समरांगण में उतर पड़े, फिर पैदल सेना क्यों विलम्ब कर रही है ?" सन्देश का मिलना था कि सभी पैदल सैनिक भी स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जय-जयकार करते हुए क्रान्तिकारियों के साथ हो लिए। यह देखते ही प्रमुख कर्नल एवर्ट ने अरण्य रोदन आरम्भ कर दिया "मेरे लाड़ले बालकों, तुम यह क्या करने लगे हो ? तुम अपनी राजभक्ति पर कलंक क्यों लगा रहे हो ? ठहरो, मेरे भाइयो ठहरो !" किन्तु अब उसका यह प्रलाप सुनने का अवकाश भी किसे था। एक क्षण में ही अश्वारोही दल से मिलने के लिए सभी पैदल सैनिक भी अनुशासन सहित बढ़ चले और फिर इस सम्पूर्ण सैन्य दल ने रणगीतों के ताल पर पथ-संचलन करते हुए नानासाहब की नवाबगंज स्थित छावनी की ओर प्रयाण कर दिया। नानासाहब के सैनिक राजकोष की सुरक्षार्थ तैनात थे। वे भी अपने बन्धुओं से सप्रेम

मिले। उन्होंने इन सैनिकों को गले लगाया और गोला-बारूद का अपना सम्पूर्ण भण्डार क्रान्तिकारियों को समर्पित कर दिया। इधर नवाबगंज में यह कार्यक्रम चल रहा था और उधर दो टुकड़ियाँ अभी कानपुर ही थीं। अंग्रेजों ने उन्हें अपने नियन्त्रण में रखने की दृष्टि से संचलन भूमि में एकत्रित हो जाने का आदेश दे दिया। तोपखाना अंग्रेजों के हाथों में था। इसलिए अपने मुख्य अधिकारियों समेत ये सेनाएं सारी रात अपने शस्त्रों-सहित संचलन भूमि में प्रतीक्षारत जमी रहीं। उषा की लालिमा प्राची दिशा में बिखर उठी और अंग्रेजों के मन में इस विश्वास की स्वर्ण रेखा विस्फारित हो गई और कोई हो या न हो, किन्तु ये दो सैनिक टुकड़ियां तो अब भी हमारे साथ हैं। उन्हें अपनी बैरकों में चले जाने का आदेश देकर गोरे भी चले गए। सैनिकों ने भांप लिया कि अब उपयुक्त अवसर आ गया। उनके दो अधिकारी एक कोने में खड़े होकर कुछ बुदबुदाए। उनमें से एक दौड़ा और उसकी वाणी गर्जना कर उठी "भाइयो, प्रभु और सत्य का आश्रय ग्रहण करो। चलो आगे बढ़ो।" उसका आह्वान् हुआ और चतुर्दिक तलवारें दमक उठीं। कठिन घड़ी का अनुमान लग गया और अंग्रेजों की तोपें भी गरज उठीं। किन्तु अब तो सभी सैनिक उनकी मार के क्षेत्र को पार कर आगे बढ़ चुके थे। इस स्थिति में अपने सभी अधिकारियों को यमलोक के यात्रापत्र प्रदान कर देने का कार्य सैनिकों के लिए बाएं हाथ का खेल था। किन्तु उन्होंने इस कार्य में अपना समय लगाने के स्थान पर अपने सैनिक भाइयों से जा मिलना श्रेष्ठ समझा। अतः उन्होंने तुरन्त वहां से प्रस्थान कर दिया। इस प्रकार ५ जून को नानासाहब के सैन्य शिविर के समीप ही इन तीन हजार वीरों ने भी अपने डेरे डाल दिए। सर व्हीलर को इस बात का ही सन्तोष था कि एक भी गोरा काल के कराल गाल में नहीं जा पाया है। वह अपने मनमोदक मन में ही फोड़ रहा था। उसे आशा थी कि अन्य स्थानों के समान ही, ये सैनिक भी दिल्ली की दिशा में ही प्रयाण कर देंगे। अतः कानपुर पूर्णतः संकट मुक्त हो जाएगा। यदि कानपुर में सिद्धहस्त नेताओं का अभाव होता तो निश्चित रूप से ही उसका यह अनुमान सही सिद्ध होता। किन्तु उस समय तो नवाबगंज में ध्येयनिष्ठ और विचारशील क्रान्तिकारी नेताओं का समूह विद्यमान था। वहाँ नानासाहब थे, बालासाहब थे, तो बाबासाहब और रावसाहब भी थे। तात्या टोपे थे और अजीमुल्ला सरीखे चतुर नीतिज्ञ भी विद्यमान थे। अतः इन तेजस्वी और परम बुद्धिमान नेताओं को छोड़कर उनके लिए दिल्ली जाने की आवश्यकता ही क्या थी? सम्पूर्ण शक्ति को ही दिल्ली में एकत्रित कर देने से तो कोई भी प्रभावशाली कार्य कर पाना ही असम्भव था। उन्होंने तो अंग्रेजों को स्थान-स्थान पर सताने की योजना ही बनाई थी। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि कानपुर तो दिल्ली, पंजाब और कलकत्ता के सम्पूर्ण

यातायात का ही केन्द्र-बिन्दु था, अतः उस पर अधिकार करना ही अधिक महत्त्वपूर्ण था। जब सूबेदारों और नानासाहब के विश्वस्त लोगों ने सैनिकों को इन तथ्यों से भली भाँति अवगत करा दिया,तो सभी सिपाहियों ने भी सर्वसम्मति से कानपुर वापस लौट चलने का निर्णय कर लिया। इन तीन हजार सैनिकों ने नानासाहब को अपना राजा घोषित कर दिया। वे उनके दर्शन करने की हठ पकड़ बैठे। जब नानासाहब ने आकर उन्हें दर्शन दिए तो श्रीमंत नानासाहब के जय-जयकार का घोष उनके कंठों से निनादित हो उठा। उन्हें राजसम्मान प्रदान कर उनकी मान वन्दना की गई। नेता का इस भांति चयन कर, सैनिकों ने प्रमुख अधिकारियों के चयन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। कानपुर के क्रान्ति-संगठन के प्राण टीकासिंह को अश्वारोही पथक (रिसाले) का प्रमुख निर्वाचित किया गया और उसे सेनापति की उपाधि से अलंकृत किया गया। इसी भांति जमादार दलगंजनसिंह को ५३वीं पलटन का और सूबेदार गंगादीन को ५६वीं पलटन का कर्नल बनाया गया। तदुपरान्त एक हाथी पर स्वतन्त्रता की पुनीत पताका की विशाल शोभायात्रा निकाली गयी और डंके की चोट पर यह घोषणा कर दी गई कि अब फिरंगी का राज्य समाप्त होकर नानासाहब का शासन आरम्भ हो गया है।

निर्वाचन और नियुक्तियों के इस कार्यक्रम के पूर्ण होते ही नानासाहब ने एक क्षण भी व्यर्थ गँवाना उचित नहीं समझा। जब अंग्रेजों को यह विदित हो गया कि सैनिकों ने दिल्ली की दिशा में प्रस्थान न कर वहीं रहने का निर्णय कर लिया है तो वे भी अपनी सुरक्षित गढ़ी की ओर बढ़ चले। उन्होंने अपने तोपखाने को भी सिद्ध कर लिया। १ हजार के लगभग अंग्रेज नर-नारी तथा बालक आदि थे। अब क्रांतिकारियों के लिए इस सुरक्षित गढ़ी पर अधिकार करना परमावश्यक था। अतः नानासाहब ने उसपर अविलम्ब टूट पड़ने-का आदेश दे दिया। अंग्रेज समझते थे कि क्रांतिकारी उन पर आक्रमण करने का साहस कदापि नहीं करेंगे। किन्तु ६ जून को प्रातःकाल ही सर ओ व्हीलर को एक पत्र प्राप्त हुआ। इस पत्र में यह मन्तव्य व्यक्त किया गया था कि "हम अब आक्रमण करने वाले हैं। अतः आपको पूर्व-सूचना दे रहे हैं।" यह तो युद्ध का खुला निमंत्रण था। इसलिए व्हीलर ने भी सभी सैनिकों, अधिकारियों और तोपखाने को युद्ध के लिए आवश्यक सिद्धता कर लेने का आदेश दे दिया।

यह बात भी नितान्त ही महत्त्वपूर्ण है कि युद्ध आरम्भ होने पर किसी प्रकार की सूचना देना आवश्यक न होने पर भी नानासाहब ने उन्हें सूचना दी। नानासाहब के स्थान पर अंग्रेज होते तो वे कदापि इस प्रकार की नैतिकता का प्रदर्शन न करते। जो लोग भी नानासाहब को बदनाम करने का समय-समय पर घिनौना

प्रयास करते रहे हैं उन्हें इस सूचना के रूप में प्रकट हुई उनकी उदारता और हृदय की विशालता के समक्ष नतमस्तक हो जाना चाहिए। विद्रोह के समय अंग्रेजों की प्राणरक्षा और खतरे के संबंध में उन्हें १२ घंटे पूर्व ही सतर्क कर देना, इन दो बातों की दृष्टिगत रखकर यदि हम भविष्य की घटनाओं पर दृष्टिपात करेंगे तो हम कानपुर की स्थिति का ठीक निरीक्षण और अध्ययन कर सही मत का निर्धारण कर सकेंगे।

अंग्रेजों को आक्रमण करने की पूर्व-सूचना देने के उपरान्त सूबेदार टीकासिंह, जो अब कर्नल बन चुके थे, ने गोलाबारूद के भण्डार पर पहुंचकर शस्त्रास्त्रों को व्यवस्थित करना आरम्भ किया और उन्हें उचित ठिकानों पर पहुंचाने में लग गए। नदी और स्थल दोनों ही ओर से अंग्रेओं की गढ़ी की दिशा में तोपों के मोर्चे खड़े किए गए। यह योजना समर-नीति की एक प्रभावी योजना थी। कानपुर में उस समय भयंकर हलचल व्याप्त थी। कोरी और जुलाहे, तलवारों के निर्माता और लुहार, बाजार के लोग, हिन्दू और मुसलमान, चाँदी-सोने के प्रभावशाली व्यापारी सभी के सभी उपलब्ध हथियारों को हाथों में लेकर अंग्रेजों से दो-दो हाथ करने के लिए सिद्ध खड़े थे। न्यायालय और कचहरियों में नये-पुराने सभी अंग्रेजी कागज-पत्रों की होलियाँ जलाई जा चुकी थीं। जो अंग्रेज गढ़ी में न जा चुके थे, उन्हें यमपुर पहुँचाया जा चुका था। दोपहर हो गई थी। १ बजे अंग्रेजों की गढ़ी को घेरने का क्रम आरम्भ हो गया और भगवान भुवन भास्कर के अस्ताचल गमन करते-करते ही युद्ध आरम्भ हो गया।

अंग्रेजों के अधिकार में उस समय आठ तोपें थीं, इसके अतिरिक्त दुर्ग में गाड़-कर रखा गया गोलाबारूद का अनन्त भण्डार भी था। क्रान्तिकारियों ने गोला-बारूद के भण्डार पर अधिकार कर लेने के उपरान्त तोपों पर भी अपना अधिकार जमा लेने में सफलता प्राप्त कर ली। अतः उनके पास भी युद्ध-सामग्री की कोई कमी नहीं रही। सेनापति टीकासिंह इससे पूर्व ही तोपखाने का सुप्रबन्ध कर चुके थे। इन तोपों से हुई गोलों की वर्षा ने गढ़ी की इमारतों की ईंट से ईंट बजा दी। ७ जून को तो क्रान्तिकारियों के तोपखाने ने ऐसी विनाश लीला आरम्भ की कि अंग्रेजों ने इससे पूर्व अपने जीवन में विध्वंस का ऐसा ताण्डव नृत्य नहीं देखा था। परिणामस्वरूप अंग्रेजों के बालक भय से संत्रस्त होकर यत्र-तत्र भागने लग गए। किन्तु अभ्यास से भृत्यु का भय भी विलुप्त हो गया था। सिरों के ऊपर से गुज़रने वाले तोपों के गोले गगन में उन्मुक्त उड़ान भरने वाले पक्षियों के समान प्रतीत होने लगे थे। चढ़ाई हुए दो दिन बीत चुके थे। अतः अंग्रेजों को गढ़ी में जलाभाव अनुभव होने लगा था। इस गढ़ी के अन्दर केवल एक ही कुआं था। किन्तु अंग्रेजों की अपेक्षा क्रान्तिकारियों की तीक्ष्ण दृष्टि ही उस पर

तीव्रता से गड़ी हुई थीं। ग्रीष्म भी अपना प्रचण्ड रूप दिखा रहा था, अतः अब अंग्रेजों के झुलसने का भी क्रम उपस्थित हो गया था। सभी के हृदय पाषाणवत कठोरता ग्रहण कर चुके थे। नर-नारी का भेद भी लुप्त हो गया तो लज्जा भी विदा ले गई। दूध के अभाव में बालक चल बसे तो उनके शोक में निपूती माताएं भी दम तोड़ बैठीं मृतकों का अन्तिम संस्कार तो दूर की बात थी कौन मरा और कौन जीवित है इसका हिसाब रखने का भी किसी को होश न रह गया। जीवितों की सूची को शीघ्रता से काटते जाने का क्रम आरम्भ हो गया। उस स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करने के लिए उस समय का एक अनुभव लिपिबद्ध करना ही अधिक सामयिक प्रतीत होता है। कैप्टन थामस ने आपबीती इन शब्दों में सुनाई है—

"जब आर्मस्ट्रांग घायल होकर गिर गया तो उसे देखने के लिए लैफ्टिनेन्ट प्रोल वहां पहुंचा। अभी उसके मुख से इस घायल को धैर्य प्रदान करने वाले दो शब्द पूर्ण भी नहीं हो पाए थे कि तभी एक सिपाही द्वारा दागी गई एक गोली सनसनाती हुई आई और उसकी जांघ को चीरती हुई निकल गई। प्रोल भी हड़बड़ाकर भूलुंठित हो गया। उसका हाथ अपने कंधे पर रखकर और अपना हाथ उसकी कमर में लपेटकर मैं उसे सार्जेन्ट के पास ले जाने के लिए उठने ही लगा था कि सायं-सायं करती हुई एक और गोली आई और मेरे कन्धे पर आकर लगी, जिससे मैं और प्रोल दोनों ही धरती पर लुढ़क गए। यह देखते ही गिल्बर्ट बक्स हमारी ओर लपका, किन्तु सहसा ही एक गोली उसकी ओर भी दगी और उसकी देह को वेधती हुई निकल गयी। वह भी मृत्यु के द्वार पर दस्तक देता हुआ धराशायी हो गया।" एक घण्टे का विवरण ही २१ दिन तक चले उस भयानक युद्ध का चित्र प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है। सर व्हीलर का पुत्र घायल हो गया था। एक कमरे में उसकी माता और दो बहनें उसके औषधोपचार में संलग्न थीं। किन्तु औषधि के उसके कंठ के नीचे उतरने से पहले ही एक भयानक विस्फोट हुआ और उसका सिर धड़ से पृथक जा गिरा। मजिस्ट्रेट हिलर्सडेन अपनी पत्नी से बरामदे में बातें कर रहा था तभी २० पौण्ड का तोप का एक गोला सहसा ही उसके सिर पर आकर फटा। उसके शरीर के खण्ड-खण्ड हो गए। कुछ दिन पश्चात जब उसकी विधवा पत्नी एक दीवार का सहारा लेकर खड़ी थी तभी दीवार घड़घड़ाकर गिर पड़ी और वह उसके नीचे दबकर ही दम तोड़ गई। गढ़ी के समीप ही एक खाई में सात महिलाओं ने शरण ली हुई थी। वहां एक बम का धमाका हुआ और वे सातों ही मारी गईं। साथ ही उस अंग्रेज युवक का भी काम तमाम हो गया जिसने विद्रोह के पहले एक भारतीय सिपाही पर निरर्थक ही गोली चलाई थी और जिसे सैनिक न्यायालय ने निरपराध घोषित कर दिया था। हां

तो इस प्रकार उस दिन सिपाहियों की बन्दूकें भी अनायास ही चल पड़ी थीं और चली भी थीं ऐसे ज़ोरदार विस्फोटों के साथ कि अंग्रेज सैनिकों की भावी पीढ़ियां मद्यपान कर मस्त होने के उपरान्त भी उन्हें कदापि विस्मृत न कर सकेंगी।

इस भीषण रणनर्तन की वेला में भी कुछ बुद्धि के परम शत्रु भारतीयों को अंग्रेजों के प्रति राजभक्ति-प्रदर्शित करने का ज्वर तेज़ी से चढ़ बैठा। केवल अपनी राजनिष्ठा प्रदर्शित करने मात्र के लिए ही वे मृत्यु की कोठरियों में आकर खड़े हो गए थे। अंग्रेजों की सेवा करना अहोभाग्य मानने वाली एक भारतीय सेविका के दोनों हाथ भी एक बम का धमाका उड़ा ले गया। अपने स्वामियों को गर्म-गर्म भोजन परोसने के लिए उतावले कई ब्वाय भी तोप से चलने वाले गोलों के धमाकों से दम तोड़ गए। अंग्रेजों को पानी पिलाने के लिए भी अनेक भिश्ती अपने प्राण संकट में डाल रहे थे। पानी का इतना प्रचण्ड अभाव था कि बालक उनकी खाली मश्कों को ही चूसकर अपनी पिपासा शान्त करने का प्रयास कर रहे थे। हैजा, अतिसार और त्रिदोष ज्वर भी अंग्रेजों से प्रतिशोध में किसी से पीछे नहीं थे। सर जार्ज पार्कर, कर्नल विलियम्स, लैफ्टिनेन्ट रूनी को एक-एक कर इन रोगों की जिव्हा निगल गई थीं। तोप के गोलों और इन भीषण रोगों से भी जो सुरक्षित रह गए थे वे अब इस जीवित श्मशान का क्रूर और वीभत्स दृश्य देखकर ही विक्षिप्त हो गए थे। इस प्रकार चतुर्दिक हाहाकार और चीत्कार मचा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक शताब्दी की जघन्य क्रूरताओं का बदला चुकाने के लिए प्रतिशोध का देवता ही अपने भयानक जबड़ों में जो भी सामने आया उसे पीसकर पचाता हुआ २१ दिन तक अट्टहास करने में मग्न था। १०० वर्षों के अन्यायों का गिन-गिनकर प्रतिकार किया जा रहा था।

इस प्रकार अंग्रेजों की सुरक्षित गढ़ी में यह दुर्दशा हो रही थी। किन्तु बाहर के मोर्चों पर अंग्रेजों ने जिन तोपों को रखा था, उन्होंने अवश्य ही सराहनीय कार्य किया था। तोपखाने के मुख्य अधिकारी ऐश, कैप्टेन मूर, कैप्टेन थामसन एवं अन्य योद्धाओं ने अपनी महान वीरता और पराक्रम का परिचय दिया था। अंग्रेजों को प्रयाग और लखनऊ से प्रचुर मात्रा में सहायता प्राप्त होने की आशा थी। किन्तु क्रांतकारियों के गुप्तचर विभाग के कारण पत्रादि का आदान-प्रदान तो असम्भव सा ही हो गया था। ऐसी विपरीत स्थिति में एक भारतीय दूत ने ही व्हीलर का पत्र एक पक्षी के पंखों में बाँधकर लखनऊ पहुँचाया जो आधी लैटिन, चतुर्थांश फ्रांसिसी और अवशिष्ट अंग्रेजी में लिखा गया था। इसमें कहा गया था कि "अविलम्ब सहायता प्रदान करो, शीघ्रता करो, अन्यथा हमारी आशा त्याग दो। यदि हमें सहायता प्राप्त हो गई तो हम आकर लखनऊ को पुनः मुक्त करा लेंगे।" किन्तु क्रांतिकारी गुप्तचरों का कार्य इतना प्रभावी था कि अंग्रेज़ों द्वारा भेजे जाने

वाले काले अथवा गोरे दूतों में से एक भी अपने गन्तव्य स्थल तक नहीं पहुँच पाता था। यदि कोई एकाध पहुँचता भी तो उसके नाक-कान काट लिए जाते थे। विद्रोहियों में फूट डालने के लिए लाखों रुपयों के देने का प्रलोभन देकर अंग्रेज अपने दूत भेजते थे। किन्तु लौटकर समाचार देनेवाला कोई भी जीवित लौटकर न आ पाता। अपने इस कथन की पुष्टि में ऐसे ही एक अंग्रेजों के पिट्ठू के संबंध में विवरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—"जब शेफर्ड की पत्नी और पुत्री का निधन हो गया तो मैंने क्रांतकारियों के शिविर से भेद प्राप्त कर कानपुर में फूट डालने का बीड़ा उठाया। एक भारतीय रसोइये का वेश धारण कर वह चल पड़ा। कुछ ही दूर जा पाया था कि उसे पकड़कर नानासाहब के समक्ष उपस्थित कर दिया गया। अंग्रेजों की स्थिति के संबंध में जब उससे पूछताछ की गई तो उसने पूर्व-निश्चय के अनुसार असत्य और निरर्थक बातें कहनी आरम्भ कर दीं। किन्तु जब उसे विदित हुआ कि उसके पहले ही दो स्त्रियों को वन्दी बनाया जा चुका है तो उसने सच्ची करुण कहानी सुना दी। वह लज्जा से गड़ गया। उसे बन्दी बना लिया गया और न्यायालय ने उसे तीन वर्ष के कारावास का दण्ड सुना दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस घमासान के युद्ध के दिनों में भी नानासाहब न्याय करने के संबंध में कितने सतर्क थे। जहाँ अंग्रेजों के गुप्तचरों की ऐसी दुर्दशा होती थी वहाँ क्रान्तिकारियों के गुप्तचर अपने कार्य में पूर्णतः सफलता प्राप्त कर रहे थे। एक बार एक भिश्ती अंग्रेजों की गढ़ी के समीप स्थित एक टीले पर चढ़कर जोर-जोर से चीखने लगा कि 'मैं अंग्रेजों का हितैषी हूँ। अतः अपने प्राणों पर खेलकर मैं तुम्हें एक शुभ सन्देश देने के लिए यहां उपस्थित हुआ हूँ। गोरी सेना तोपखाने सहित गंगा के परले काठे पर आकर खड़ी हो गई है। कल से तुम लोगों के उद्धार का कार्य प्रारम्भ हो जाएगा। इस मोर्चाबन्दी ने नीच विद्रोहियों पर मर्मान्तक प्रहार किया है। हम राजभक्त लोग अभी अंग्रेजों के साथ सहयोग करने को पूर्ण रूप से तैयार हैं।" उसके इस कथन को सुनकर अंग्रेज अधिकारी हर्षित हो उठे और उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि हमारे गुप्तचरों को शत्रुओं के शिविर में फूट उत्पन्न कर देने में सफलता प्राप्त हो गई है। और लखनऊ से गोरी सेना भी हमारी सहायतार्थ यहाँ आ पहुँची है। दूसरे दिन वही भिश्ती पुनः उसी स्थान पर आ खड़ा हुआ। उसने पुनः जोर-जोर से चीखना आरम्भ कर दिया, "अंग्रेजों की विजय हो ! गंगा में बाढ़ आ गयी है, अतः गोरी सेना के आगमन में विलम्ब हो गया है। किन्तु अब कोई बाधा नहीं रही। वे आ ही रहे हैं। सूर्यास्त से पूर्व ही हमारी सरकार की विजय की घोपणा हो जाएगी।" वह सूर्यास्त भी हुआ, रात्रि भी आई, दूसरा दिन भी बीत गया। पलक पावड़े बिछाए अंग्रेज सहायक सेना के आगमन की दिशा में निहारते रहे। किन्तु न तो सेना ही आई और न ही वह

भिश्ती ही कहीं दृष्टिगोचर हुआ। अंग्रेजों की गढ़ी के सभी समाचार अजीमुल्लाखाँ को प्राप्त हो चुके थे। अतः अब भिश्ती को अपने प्राणों पर खेलने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी। इस प्रकार की अनेक चालबाजियों का आश्रय लेकर क्रान्तिकारियों के गुप्तचर अंग्रेजों को मूर्ख बनाने में सफलता प्राप्त कर रहे थे।

६ जून को अंग्रेजों को घेरा डालने के संबंध में अग्रिम सूचना दे देने के उपरान्त नानासाहब भी अपनी सेना-सहित टीकासिंह के शिविर के समीप ही डेरे लगाकर रण हेतु सिद्ध हो गए थे। कानपुर के स्वतन्त्र होते ही सम्पूर्ण प्रदेश में क्रान्ति का ज्वार उमड़ उठा था। प्रतिदिन ही अनेक राजा और महाराजा, जमींदार और तालुकेदार अपने अनुयायियों सहित आकर नानासाहब के पक्ष में योगदान दे रहे थे। बढ़ते-बढ़ते अब श्रीमंत नानासाहब की सेना चार सहस्र तक हो गई थी। इनमें तोप दागने वाले तो अपने कार्य में सिद्धहस्त थे। इधर एक और क्रान्ति की पताका फहरा रही थी। नन्हे नवाब उसकी रक्षार्थ अहर्निश अपने शिविर में सन्नद्ध रहते थे। जब विद्रोह हुआ तो उनकी सम्पूर्ण संपत्ति राजहृत कर लिए जाने का आदेश प्रसारित कर दिया गया था। प न्तु एक समझौता हुआ और धर्म रक्षक रणांगण में नवाब के नाम का यत्र-तत्र जय-जयकार गूंज उठा। अब वहाँ सम्पूर्ण प्रदेश के पैंशन प्राप्त गोलंदाज एकत्रित हो चुके थे। अंग्रेजों की गढ़ी की इमारतों को भस्मसात करने की चेष्टा में क्रान्तिकारी संलग्न थे। तभी एक नवयुवक ने एक नवीन विस्फोटक अस्त्र का आविष्कार कर दिखाया। उसका प्रयोग इतना विजयी सिद्ध हुआ कि वे इमारतें ही सर्वप्रथम अग्नि-ज्वालाओं ने निगल लीं जिनका अंग्रेजों की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व था। ये बैरकें तुरन्त भस्मीभूत हो गईं। अग्नि मालाओं को धधकाने में इन तरुणों का साथ देने में वृद्धों ने होड़ लगा दी तो महिलाएं भी किसी से पीछे न रहीं। उच्चादर्शों और उत्साह के इस पावन प्रसंग से सामान्यजनों में भी उत्साह की भावना कितनी अधिक बलवती हो गई थीं इसका अनुमान एक ही उद्धरण से लगाया जा सकता है। एक भारतीय ईसाई ने लिखा है—जब मैं एक मुसलमान का वेष धारण किए एक चटाई पर बैठा हुआ था तो मेरे सामने से वे लोग गुजर रहे थे जो युद्ध में थक जानेवालों को पानी पिलाने का प्रबन्ध कर रहे थे। सहसा ही उनमें से एक व्यक्ति मेरे पास आया और कहने लगा "अरे बन्धु, अपने देश-बान्धव रणक्षेत्र में लोहा ले रहे हैं, और तुम्हारे सरीखा युवक यहाँ हाथ-पर-हाथ धरे बैठा हुआ है। वस्तुतः तुम्हें अपनी स्थिति पर लज्जा आनी चाहिए। चलो उठो और तोपखाने के कार्य में हाथ बंटाओ।" उसी व्यक्ति ने काने करीमअली के पुत्र द्वारा "उस दिन दिखाई गयी वीरता का मेरे समक्ष उल्लेख किया। उसने बताया कि 'उस युवक ने नवीन आविष्कार कर अंग्रेजों की इमारतें स्वाहा कर दी थीं और उसके इस कार्य के हेतु उसे एक शाल

और ६० रुपए नकद पारितोषिक के रूप में भेंट किए गए हैं।

स्वदेश की सेवा न करते हुए चुपचाप अपने घरों में दुबके रहना उन दिनों युवकों को न सुहाता था तो युवतियों को भी ऐसा करना अपमानजनक प्रतीत होता था। कानपुर की अनेक रमणियाँ पर्दों का परित्याग कर रणस्थल में कूद पड़ी थीं। किन्तु ये सब शूर युवक और युवतियाँ भी जिसकी महान निष्ठा और उत्साह के समक्ष नतमस्तक हो जाते थे वह थी रूप और लावण्य की साक्षात और सजीव प्रतिमा नर्तकी अजीजन, जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उसने वीरों के परिधान धारण कर लिए थे। कोमल गुलाब से कपोलों वाली और प्रतिक्षण मन्द मुस्कान विस्फारित करती रहने वाली वह रूपसी सशस्त्र हो अश्व की पीठ पर आरूढ़ होकर घूम रही थी और तोपखाने के संचालक सिपाही उसकी रूप सुधा का पान करते ही अपनी थकान भूल जाते थे। नानकचन्द ने अपनी दैनंदिनी (डायरी) में उसके संबंध में लिखा है, "सशस्त्र अजीजन स्थान-स्थान पर निरन्तर विद्युत लता-सी दमक रही थी। वह अनेक बार तो थके हुए सैनिकों को मार्ग में ही मेवा, मिष्ठान्न और दूध आदि देती हुई भी दृष्टिगोचर होती थी।

इधर इस प्रकार युद्ध अपने पूर्ण यौवन पर था, किन्तु श्रीमंत नानासाहब अपने शासन की आन्तरिक राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ रूप देने की दिशा में भी निरन्तर सचेष्ट थे। जब क्रान्ति की ज्वालाएं धधक रही हों तब भूराजस्व और पुलिस की समुचित व्यवस्था कर पाना वस्तुतः एक नितान्त ही कठिन कार्य होता है। इतने पर भी नानासाहब ने जनता को सर्वप्रथम न्याय और संरक्षण का लाभ प्रदान करने का प्रभावी प्रयास किया। उन्होंने कानपुर के लब्ध प्रतिष्ठित नागरिकों को एकत्रित कर उनके मध्य से ही बहुमत से श्री हुलाससिंह को प्रधान न्यायाध्यक्ष निर्वाचित किया। नानासाहब ने उन्हें आज्ञा दी कि आप उद्दण्ड सिपाहियों और गुण्डों से नागरिकों की रक्षा करें। सेना को रसद सामग्री आदि पहुंचाने का कार्य मुल्ला नामक एक व्यक्ति के सुपुर्द किया गया। दीवानी और फौजदारी अभियोगों की सुनवाई के लिए भी एक न्याय सभा का गठन किया गया। ज्वालाप्रसाद और अजीमुल्ला ने न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किया गया और बाबासाहब को उसका प्रधान पद दिया गया। इस न्याय सभा के जो थोड़े बहुत कागज-पत्र प्राप्त हुए हैं उनसे यह विदित होता है कि अत्याचार और उपद्रव करने वालों को कठोरतम दण्ड दिया जाता था। एक चोरी के अपराध में चोर का दायाँ हाथ काट लिया गया था तो गोहत्या का ज़घन्य कृत्य करने वाले एक मुसलमान को भी यही दण्ड देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया गया था। उपद्रवी गुण्डों और समाज-द्रोही तत्वों को गधों पर बैठाकर बाजारों में घुमाकर अपमानित किए

जाने का दण्ड दिया गया था। जिस भांति फ्रांस की राज्यक्रान्ति के दिनों में Commitee of Public Safety (सार्वजनिक सुरक्षा समिति) का गठन किया गया था, उसी के समान यह न्याय सभा अन्य विभागों के कार्यों को पूर्ण कराने के संबंध में भी सतर्क रहती थी। गोला-बारूद की कमी होने की स्थिति में उसकी व्यवस्था करना, सेना के गणवेश का प्रवन्ध, अंग्रेज गुप्तचरों का पता लगवाकर उन्हें बन्दी बनाना, गुण्डों, चोरों तथा ऐसे ही अन्य तत्वों को दण्डित करना भी इस न्याय-सभा के महत्वपूर्ण दायित्व थे, जिन्हें इसने नितान्त ही प्रभावशाली ढंग से संपन्न किया था। जो लोग भगोड़े अंग्रेजों को बन्दी बनाते थे, उन्हें भी इस न्याय सभा द्वारा पुरस्कृत किया जाता था।

१२ जून को क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों की किलाबन्दी को ध्वस्त करने के लिए उनकी गढ़ी पर आक्रमण कर दिया। क्रान्तिकारियों ने इस नीति का परिपालन किया कि गढ़ी पर चारों ओर से एक साथ आक्रमण करने की अपेक्षा उस पर तोपों द्वारा गोलों की झड़ी लगाकर अग्निवर्षा करना ही श्रेयस्कर होगा, जिससे कि अंग्रेज विवश होकर आत्मसमर्पण कर दें। यों तो समय-समय पर चढ़ाई भी की जाती थी, किन्तु जब दोनों पक्षों के कुछ लोग रणभूमि में प्राण विसर्जित कर देते थे तो युद्ध का यह ढंग रोक दिया जाता था। तोपखाना जिस तीव्रता से मार कर रहा था उसका सामना अश्वारोही और पैदल सैनिक नहीं कर पाए। इसी कमी का अनुभव आगे चलकर लखनऊ और दिल्ली के घेरे के समय भी होगा ही। किन्तु कानपुर की इस घेराबन्दी से तो प्रत्यक्ष युद्ध के स्थान पर तोपखाने पर ही अधिक विश्वास किया गया था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि क्रान्तिकारी सिपाही मृत्यु से भयभीत थे। १८ जून की चढ़ाई में इन क्रान्ति दूतों ने जो प्रबल पराक्रम प्रदर्शित किया था वह निश्चय ही इस क्रान्ति युद्ध का अविस्मरणीय पृष्ठ बना रहेगा। उस दिन शत्रु की तोपें प्रचण्ड अग्निवर्षा कर रही थीं, किन्तु मृत्यु को भी चुनौती देने वाले क्रान्तिकारी सिपाही शत्रु की हरावल में बाणों के समान तीव्रगति से प्रविष्ठ हो रहे थे। उन्होंने इतना ही नहीं किया अपितु वे शत्रु के तोपखाने पर भी जा चढ़े और तोपों के मुख दूसरी ओर घुमाकर उन्होंने अपने रणकौशल का नवीन कीर्तिमान स्थापित कर दिखाया। कुछ समय के लिए ऐसी आशा जागृत हो गई कि अब क्रान्ति का ध्वज कदापि न हटाया जा सकेगा। किन्तु इसी समय कतिपय देशद्रोहियों ने इन शूरवीरों को सहायता देने की अपेक्षा जान-बूझकर ही सेना के विभिन्न विभागों में गड़बड़ उत्पन्न करने की दुरभिसन्धि भी की थी। इसी का परिणाम यह हुआ था कि सारी सेना को पीछे हट आने के लिए बाध्य होना पड़ा था। अवध के शूरवीरों के समान ही कानपुर के इन उदात्त अन्तःकरणों, मस्तिष्कों और भुजाओं ने भी

दूसरे क्या कर रहे हैं, इसकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए अपने पावन दायित्व को प्राणों पर खेलकर भी निबाहा। एक बार चढ़ाई करने वाला सैन्य दल जब वापस लौट रहा था तो मार्ग में मृतक तुल्य एक सिपाही वहीं पड़ा रह गया। जब अपने शौर्य, पराक्रम और साहस पर प्रशंसा प्राप्त करने वाला कैप्टन जैकिन्स वहाँ से बड़ी ही निर्भीकता सहित गुजरा तो इस सिपाही ने तत्काल ही बाज़ के समान झपट्टा मार कर उसकी गर्दन से गोली पार कर उसका काम तमाम कर दिया और उसे यमलोक पठा दिया। एक क्षण में ही उसके प्राणपखेरू उड़ा दिए।

आज जून मास की २३वीं तिथि थी। एक सौ वर्ष पूर्व २३ जून को पलासी की रणभूमि में अंग्रेजों ने भारत में अपने राज्य की नींव डाली थी। २३ जून को ही भारत पर अंग्रेजों की तलवार का प्रथम प्रहार हुआ था। २३ जून को भारत-माता के मंगल-सूत्र फिरंगियों ने तोड़ा था, इस घटना को देशभक्त अपने हृदय से नहीं बिसार पाए थे। उस अपमान की कसक और दासता का शूल नितान्त ही गहराई तक हिन्दुस्थान के अन्तःस्थल को वेध रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि १०० वर्ष की अवधि व्यतीत हो जाने पर भी इस अभागे दिवस की स्मृति और उन अशुभ घटनाओं को भारतवासी अपने हृदय से नहीं निकाल पाए थे। वे घाव अभी भी उनके मन में हरे ही थे। पराधीनता के गम्भीर घावों को एक शताब्दी का यह सुदीर्घ काल खण्ड भी भर पाने में असफल सिद्ध हुआ था। ऐसा तो कोई मरहम अभी तक निर्माण ही नहीं हो सका था जो इन रिसते हुए व्रणों को भर पाता। शान्त के पुजारी और क्षमाशील भारत के हृदय में उस घटना को लेकर द्वेष की भावना अब भी प्रज्वलित हो रही थी। पलासी की पराजय का प्रतिशोध लेकर कलंक को धो डालने की महान भावना अब भी राष्ट्रभक्तों के हृदय में प्रज्वलित हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतमाता देह त्याग करने वाली प्रत्येक पीढ़ी से लेकर प्रतिशोध लेने का यह वीर भाव जन्म ग्रहण करने वाली नवीन पीढ़ी को निरन्तर प्रदान करती रहती थी। प्रत्येक नवजात शिशु 'पलासी का प्रतिशोध, पलासी का प्रतिशोध' का ओजमय स्वर उच्चारण करता हुआ ही जन्मता था। अब तो इस अखण्ड प्रक्रिया, अभंग अनुष्ठान को चलते हुए एक शताब्दी पूर्ण हो चुकी है। आज वह दिन आ ही गया था जिस दिन मातृभूमि की पराधीनता का पूर्ण प्रतिशोध लेने की घोषणा ज्योतिषी करते आ रहे थे। हे श्रीमन्त नानासाहब चलो, रणभूमि की ओर प्रयाण करो, परमात्मा तुम्हारी सहायता करें जिससे कि तुम्हारे द्वारा ही ज्योतिषियों की भविष्यवाणी साकार हो। अन्तिम साधना को दृष्टिगत रखकर ही आज तुम्हें अपना महान दायित्व पूर्ण करना होगा।

इस पावन कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए आज नानासाहब के शिविर में एक

प्रबल हलचल दृष्टिगोचर हो रही थी। आज उनके सभी सैनिक पथक ऐसा प्रचण्ड आक्रमण करने को तुले हुए प्रतीत हो रहे थे कि जैसा इससे पूर्व कभी भी नहीं किया गया था। तोपखाना हो या अश्वारोही अथवा पैदल सेना, आज तो सभी पलासी का प्रतिशोध लेने का संकल्प ग्रहण कर रणभूमि में कूद पड़े थे। रणशूर हिन्दुओं ने गंगाजल हाथ में लेकर शपथ ग्रहण की थी तो मुसलमानों ने कुरान को हाथ में लेकर कसमें खाई थीं। उन सबका एक ही सुसंकल्प था "शत्रुओं से स्वतन्त्रता का मणिमय मुकुट हस्तगत कर माता के मस्तक पर सुशोभित करेंगे अथवा उन्हें मारते-मारते स्वयं भी मातृभूमि की पावन रज में अपनी अस्थियों को मिला देंगे।" अंग्रेजी तोपों से होती हुई अग्निवर्षा की चिन्ता न करते हुए अश्वारोही गढ़ी के परकोटे तक जा पहुंचे। दूसरी ओर से पैदल सेना भी अपने आगे कपास से भरे हुए बोरों की ओट लेकर आगे बढ़ती आ रही थी। उन्होंने इन बोरों की ओट से ही गोलियों की बौछार जारी रखी। समीपस्थ ग्रामों के ग्रामीण भी अपने इन देशभक्त सैनिकों की सहायतार्थ एकत्रित हो गए। इधर अंग्रेज भी गोलियों की सतत वर्षा करने में संलग्न थे। किन्तु वे क्रान्तिकारियों की प्रबल अग्नि वर्षा को सहन करने में अपने आपको असफल पा रहे थे। किन्तु अभी भी उन्होंने क्रान्तिकारियों को अपनी गढ़ी में प्रविष्ट होने से रोका हुआ था। धीरे-धीरे रण का उत्साह मन्द पड़ता गया, किन्तु किसी न किसी अंश में पलासी का प्रतिशोध भी ले ही लिया गया।

किन्तु कानपुर की यह अन्तिम चढ़ाई पूर्णतः व्यर्थ तो नहीं हुई थी। उस दिन के प्रबल संग्राम ने अंग्रेजों के हृदय सहमा दिए थे। उनको अब अपनी विजय का विश्वास ही नहीं रह गया था। वे समझ गए थे कि नानासाहब की प्रचण्ड शक्ति का सामना करते हुए गढ़ी को बहुत समय तक बचाए रखना सम्भव नहीं हो सकेगा। २३ जून को जो न हो पाया था वह २५ जून को हो गया। क्रान्तिकारियों का स्वप्न पूर्ण हुआ और अंग्रेजों ने अपनी इस गढ़ी पर श्वेत पताका फहरा दी।[१] आत्मसमर्पण के इस संकेत चिह्न को फहराता हुआ देखकर नानासाहब ने भी युद्ध को रोक देने का आदेश दे दिया। उन्होंने एक महिला बन्दी के हाथ सर व्हीलर को देने के लिए एक पत्र प्रेषित किया। इस पत्र का आशय यह था कि "महारानी विक्टोरिया के वे प्रजाजन जिनका डलहौजी की रणनीति से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो शस्त्र समर्पित कर आत्मसमर्पण करने को तैयार हों, उन्हें सकुशल प्रयाग पहुंचा दिया जाएगा।" इस पत्र पर अजीमुल्ला खाँ के हस्ताक्षर थे और यह

---

१. श्री तात्या टोपे की जबानी इस घटना का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया था।

नानासाहब के आदेशानुसार लिखी गई थी।

यह पत्र ज्योंही जनरल व्हीलर को प्राप्त हुआ उसने इस पर विचार कर आचरण करने का अधिकार कैप्टन मूर तथा व्हाइटिंग को दे दिया। तदनुसार आत्मसमर्पण की प्रक्रिया का निश्चय किया गया। अगले दिन प्रातःकाल ही अंग्रेजों के प्रतिनिधि मूर, व्हाइटिंग तथा रोच की नानासाहब के प्रतिनिधियों श्री ज्वालाप्रसाद और अजीमुल्ला खाँ से गढ़ी के बाहर भेंट हुई। सन्धि की शर्तों का निर्धारण हुआ, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने अपनी तोपें, शस्त्रास्त्र, गोला बारूद और कोष नानासाहब को सौंप देने का वचन दिया। बदले में नानासाहब की ओर से उन्हें प्रयाग पहुंचा देने का आश्वासन प्रदान किया गया। ये शर्तें एक कागज पर लिखी गईं और अजीमुल्ला खाँ के साथ ये सब लोग इन पर नानासाहब से हस्ताक्षर कराने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुए। इसमें पहला भाषण अंग्रेजी में तथा अन्य सब भाषण हिन्दुस्तानी भाषा में हुए।[1] मध्याह्न में इस प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हो गया कि अंग्रेजों को इसी रात भेज दिया जाए अथवा अगले दिन प्रातःकाल रवाना किया जाए। बहुत देर के विचार-विनिमय के उपरान्त यह निर्णय हुआ कि गढ़ी पर रात्रि में ही नानासाहब का अधिकार हो जाए और प्रातःकाल ही भगवान अंशुमाली के उदित होने से पूर्व ही अंग्रेजों को भेज दिया जाए। सन्धि की यह शर्त भी स्वीकार हो गई और दोनों पक्षों के हस्ताक्षर वाली प्रति लेकर टाड नानासाहब के पास आया। (यही टाड पहले नानासाहब का अंग्रेजी वाचक रह चुका था) नानासाहब ने उसकी कुशलक्षेम पूछकर उसका आदर-सत्कार किया। उसी सायंकाल अंग्रेजी सेना ने अपने शस्त्र समर्पित कर तोपें आदि सभी कुछ नानासाहब को अर्पित कर दीं। तत्काल ही दो अन्य अधिकारियों सहित ब्रिगेडियर ज्वालाप्रसाद गढ़ी में जा पहुंचे और वहां की सम्पूर्ण व्यवस्था सम्भाल ली। उसी रात्रि में कानपुर के मजिस्ट्रेट हुलाससिंह तथा तात्या टोपे ने नाविकों को बुलाकर ४० नौकाएं तैयार करने का आदेश दे दिया। इन नौकाओं का प्रबन्ध देखने के लिए हाथियों पर आरूढ़ होकर जो अंग्रेज आए थे, उन्होंने इनमें कतिपय असुविधाओं की शिकायत की। उनकी इन असुविधाओं को तत्काल दूर किया गया और १०० श्रमिकों को लगाकर इन नौकाओं पर बांस की छतें तथा चन्दोवे इत्यादि लगा दिए गए और उनमें आवश्यक खाद्य सामग्री भी समुचित मात्रा में रखवा दी गई।

इधर अंग्रेजों के भेजने की पूर्ण व्यवस्था की जा रही थी किन्तु उधर कानपुर कौन-कौन आ रहे हैं? आने जाने वालों पर दृष्टि रखना नितान्त आवश्यक है,

---

१. 'रैड पैम्फलेट' प्रथम खण्ड

अन्यथा जो घटनाएं घटित होने वाली हैं, उनका रहस्य ही हमारी समझ में नहीं आ सकेगा। जैसे ही यह समाचार प्रसारित हुआ था कि नानासाहब ने कानपुर में स्वातन्त्र्य पताका फहरा दी है वैसे ही रणशूरों की टोलियां सभी दिशाओं से आकर कानपुर में एकत्रित होने लग गई थीं। इन आने वालों का क्रम अबाध गति से चल रहा था। प्रत्येक स्थान से तरुणों की टोलियां राष्ट्रधर्म की पावन भावनाओं में तरंगित होती हुई कानपुर की दिशा में बढ़ रही थीं। जिस ग्राम से कोई तरुण न आ सका उससे धन धान्य भेजा गया। किन्तु केवल सेवा भावना से प्रेरित स्वयंसेवक ही तो कानपुर नहीं आ रहे थे, ऐसे भी तो अनेकों व्यक्ति कानपुर आ पहुंचे थे, जो अंग्रेजों की पराधीनता से क्षुब्ध हो उठे थे। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास भी किए थे, किन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। इन असहाय व्यक्तियों के झुंड भी वहां एकत्रित होते जा रहे थे। विगत एक सप्ताह में ही काशी और प्रयाग के वे हजारों सिपाही भी वहां पहुंचे थे जिनके बालकों और महिलाओं पर जघन्य अत्याचार किए गए थे। वे भी अपने दुख-दर्द की कथा और व्यथा कानपुरवासियों को सुना रहे थे। ऐसे अनेक तरुण भी तो वहां आए थे जिनके पिता अंग्रेजों द्वारा रोमन भाषा के ८ और ९ के आकारों में परिणत करने के उपरान्त वधस्तम्भों पर लटकाए गए थे तो वे पति और पिता भी वहां पहुंचे थे जिनकी पत्नियों को नील की क्रोधाग्नि निगल गई थी और बालिकाओं को भी उसके अत्याचारों ने लील लिया था। उन बालिकाओं के माता पिता भी वहां आ पहुंचे थे जिनकी बालिकाओं के केशों और वस्त्रों में आग लगाकर उन्हें जीवित जलाते समय अंग्रेज सैनिकों ने तुमुल करतलध्वनि कर अपना हर्ष व्यक्त किया था, जिनकी संपत्ति जलाकर खाक कर दी थी जिनके धर्म को पददलित किया गया था। जिनके राष्ट्र को अंग्रेजों ने दासता की लौह शृंखलाओं में जकड़ा था वे सब भी कानपुर में क्रान्ति के ध्वज स्तम्भ के चतुर्दिक एकत्रित होकर प्रतिशोध, प्रतिशोध की घोषणाओं से दिगदिगन्त को गुंजा रहे थे। जब विजय का दिवस समीप आ गया, किन्तु नानासाहब द्वारा अंग्रेजों को सकुशल प्रयाग पहुंचा देना स्वीकार कर लिया गया तो क्रान्तिकारी सैनिकों द्वारा उनके अपमानों का प्रतिशोध ले लिया जाएगा, उनकी यह आशा धूल धूसरित हो गई। अतः उन्होंने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की। नौकाओं की व्यवस्था का निरीक्षण करने वाले अंग्रेजों के कानों में गंगा तट पर सिपाहियों में हो रही "कत्ल, कत्ल" की कानाफूसी भी पड़ ही गयी थी। यह भी बताया जाता है कि राज दरबार के एक पण्डित ने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा था कि—"अपने राष्ट्र के साथ विश्वासघात कर जिन्होंने उसे दासता की शृंखलाओं में जकड़ा है, उनके सिर

धड़ से पृथक कर देने में धर्म की दृष्टि से कोई भी पाप नहीं होता।"[१]

इतने भयानक वातावरण में २७ जून का सूर्योदय हुआ। सती चौरा घाट से, अंग्रेजों को भेजे जाने का कार्यक्रम निर्धारित किया था। अश्वारोही दल और पैदल सैनिकों ने सम्पूर्ण घाट की घेराबंदी कर ली। तोपखाने को भी पूर्णतः सिद्ध रखा गया था। कानपुर के सहस्रों नागरिक भी इस अवसर पर उस दृश्य को देखने के लिए घाट के समीप एकत्रित हुए जो उन्होंने अपनी कल्पना में बनाया हुआ था। अजीमुल्लाखाँ, बालासाहब एवं सेनापति तात्या टोपे इस सम्पूर्ण दृश्य को एक मन्दिर की छत पर से निहार रहे थे। इस मन्दिर का नाम भी तो इस अवसर के पूर्णतः अनुरूप ही था। उसमें भीतर श्री हर अर्थात् महादेव की प्रतिमा विद्यमान थी। मानो उस क्षण चतुर्दिक इसी हर, इसी रुद्र भैरव महादेव ने अपनी सत्ता स्थापित करली थी। अंग्रेजों को अच्छे श्रेष्ठ वाहनों में बैठाकर गंगा तट पर लाने की व्यवस्था भी नानासाहब ने ही की थी। सर व्हीलर के लिए एक सुन्दर गजराज सजाया गया था, जो नानासाहब के महावत-सहित गढ़ी के प्रवेश द्वार पर झूम रहा था। ऐसी अपमान की घड़ी में उसे गज पर आरूढ़ होकर चलने में लज्जा अनुभव हुई। अतः उसके लिए तत्कालीन एक पालकी की व्यवस्था करदी गई। अंग्रेज महिलाओं के लिए भी पालकियों की ही व्यवस्था कर दी गई थी। इस गढ़ी पर फहराता हुआ यूनियन जैक अब नीचे उतार लिया गया था और इस पर अब स्वातन्त्र्य एवम् स्वधर्म की पुनीत पताका गौरव सहित फहरा उठी थी। अंग्रेजों की प्रतिष्ठा धूल धूसरित होने से इन अंग्रेजों के दिल नहीं दहले थे अपितु वे "तो जान बची लाखों पाए" की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए ये बन्दी अपने सकुशल जाने में ही परमात्मा का आभार मान रहे थे। उन्हें ऐसा लग रहा था कि मानों उनका पुनर्जन्म हो गया है और इसी सन्तोष के साथ उन अंग्रेजों ने गढ़ी से प्रसन्न मना विदाई ली।

तथापि अब केवल इसी प्रश्न की चर्चा करते रहना उचित न होगा। गंगा का घाट तो अभी भी १।। मील की दूरी पर स्थित है। जब यह टोली १।। मील के इस अन्तर को पूर्ण करने के उपरान्त गंगाजी की पावन रेत में पहुंची तो वहां पहले से ही तैनात सैनिकों ने सुरक्षार्थ उन्हें अपने घेरे में ले लिया। आज अंग्रेजों को एक भी ऐसा भारतीय न मिल सका जो उन्हें हाथी अथवा पालकी से उतरने और नौका पर चढ़ने में सहयोग देता। एक दो महत्वपूर्ण स्थानों पर उन्हें सहायता अवश्य दी गई। किन्तु सहायतार्थ सैनिकों के हाथ नहीं अपितु तलवारें आगे बढ़ी थीं। कर्नल एवर्ट घायल था, अतः उसे एक डोली में डालकर लाया जा रहा था। उसकी

---

१. ट्रव्हेलियन कृत 'कानपुर'।

उस डोली को रोककर एक सिपाही ने उससे प्रश्न किया, "क्यों कर्नल साहब, यह पथ संचलन आपको रुचिकर लगा अथवा नहीं ? इस रेजीमेंट का गणवेश कैसा है ? यह कहकर उसने कर्नल को डोली से नीचे पटक दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसकी पत्नी भी वहीं थी। कुछ लोग बोल उठे "तू नारी है अतः जा ! तुझे प्राणदान दिए दे रहे हैं।" किन्तु उस समय एक तरुण भीड़ को चीरता हुआ आगे आया और गरज उठा "हटो जी स्त्री है, नारी जाति है, परन्तु है तो गोरी। अतः उसे तत्काल यमलोक पहुंचा दो।" अभी वह अपना वाक्य पूर्ण नहीं कर पाया कि उस महिला को ढेर कर दिया गया।

अंग्रेजों की समिति ने भी यह स्वीकार किया है कि जो नौकाएं गंगा तट पर सजी खड़ी थीं, उनमें अनाज आदि पर्याप्त खाद्य सामग्री भरी हुई थी। अंग्रेज तट के जल में चलकर नौकाओं तक पहुंच गए। चारों ओर सन्नाटा व्याप्त था। अनेक नौकाएं भर गयी थीं। नाविकों ने अपने डांडे संभाल लिए थे। तात्या टोपे ने हाथ हिलाकर नौकाओं को रवाना करने का निर्देश दे दिया था। उसी समय सहसा ही इस छोटे सन्नाटे को भंग करता हुआ एक विगुल बज उठा। ज्योंही वह ध्वनि सुनाई पड़ी तो साथ ही तोपों, बन्दूकों, तलवारों और संगीनों की खुखरियों से एक खन-खनाहट का स्वर समवेत रूप में ही सुनाई दिया। अचानक नाविक तट की ओर नौकाएं छोड़कर भाग पड़े तो सिपाही भी "मारो फिरंगी को" की घोषणा करते हुए "मारो फिरंगी को" जयघोष लगाते हुए जल ही में कूद पड़े।

कुछ ही क्षण बीते थे कि नौकाओं में अग्नि दहका दी गई, जिससे भयभीत महिलाएं और बालक तो तत्काल ही गंगा में कूद पड़े। इनमें से कुछ तैर गए तो अनेक डूब ही गए। कुछ ऐसे भी थे जो बाद में आई हुई बन्दूक की बाढ़ से ही पर-लोक गामी हुए। मांस पिण्ड, कटे शीश, छटे केश, हाथ-पैर और रक्तस्रोत से सम्पूर्ण गंगा रक्तवर्णी हो गई। सिर पानी के ऊपर निकलता और कहीं से गोली आकर उसमें टकरा जाती। यदि पानी में बहुत देर डुबकी लगाए रखने का कोई प्रयास करता तो फिर दम घुट जाने के कारण वह सदा के लिए ही डूब जाता। इस भांति शंकर प्रलयंकर (हर) का प्रकोप अभिव्यक्त हो रहा था। पलासी की स्मृति का यह शताब्दी समारोह तो पलासी से भी अधिक भयंकर सिद्ध हो रहा था।

प्रातःकाल १० बजे थे। इस दिन श्रीमंत नानासाहब अपने राजमहल के दीवानख़ाने में विचारमग्न किन्तु सर्वथा मौन धारण किए इधर-उधर टहल रहे थे, ऐसा बताया जाता है। इधर एक शताब्दी के कुकृत्यों का प्रतिशोध अंग्रेजों से लिया जा रहा था, उधर नानासाहब हृदय में बेचैनी सी अनुभव करते हुए विचारमग्न थे। प्रतिशोध भगवान प्रलयंकर की प्रेरणा पर प्राणों को मोल लेकर चुकाया जा रहा था। ऐसे प्रसंग इतिहास में अनेक बार आते हैं और इन्हींसे तो नवयुग के

आविर्भाव का संकेत मिलता है। वस्तुतः इन्हीं प्रसंगों से एक कालखण्ड की समाप्ति का सूचक अन्तिम आघात लगता है। यह तो प्रभु ही जान सकते हैं कि नानासाहब कौन सी चिन्ता में रत थे। किन्तु इतना सत्य है कि उन्हें अधिक समय तक विचार करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि तभी एक अश्वरोही दौड़ता हुआ आया और उसने नानासाहब को आकर सती चौरा घाट पर हुए अंग्रेजों के हत्याकांड की सूचना दी। नानासाहब ने नितान्त कड़ाई से आदेश दिया "महिलाओं और बालकों को कदापि न सताया जाए। अंग्रेज पुरुषों की बात अलग है। सिपाहियों को तत्काल मेरी इस आज्ञा से अवगत करा दो।"[1] नानासाहब का यह निर्देश, जिसमें उन्होंने महिलाओं और बालकों कदापि न सताए जाने का जो आदेश दिया था, वह नील द्वारा दी गई आज्ञा के प्रसंग से सर्वथा भिन्न है।

जब यह अश्वारोही नानासाहब का आदेश लेकर वापस सती चौरा पहुंचा उस समय सिपाही नरसंहार में सुध-बुध खोकर तल्लीन थे। कुछ गोरे उलट-पुलट होती हुई, जलती नौकाओं पर प्राण तोड़ रहे थे, तो कुछ तैरकर तट पर आ लगने के लिए हाथ-पैर मार रहे थे। इधर क्रोध से संतप्त सिपाही भी गरजते हुए शिकारी कुत्तों के समान उनका पीछा करने में संलग्न थे। दांतों में तलवारें और हाथों में रिवाल्वर संभालते हुए सिपाही जल में शिकार खेल रहे थे। जनरल व्हीलर तो प्रथम आघात में ही जीवन से हाथ धो बैठा था। हैण्डरसन का भी खेल खत्म हो गया था। अब तो मरने वालों की अपेक्षा जो जीवित बचे थे उनकी सूची तैयार करना ही सुगम हो गया था ! ज्योंही नानासाहब का आदेश मिला, हत्याकाण्ड एकदम बन्द कर दिया गया। १२५ महिलाओं और बालकों को गंगाजी के रक्तपूरित जल से निकालकर तट पर ले आया गया। उन्हें बन्दी बनाकर तत्काल सर्वदा कोठी में भेज दिया गया। जो अंग्रेज अब भी जीवित बच रहे थे उन्हें एक पंक्ति में खड़ा करके मृत्युदण्ड सुना दिया गया। उनमें से एक ने अनुमति मांगी कि हमें अपनी प्रार्थना पुस्तक का कुछ भाग पढ़कर सुनाने की अनुमति प्रदान की जाए। उसे यह अनुमति प्रदान कर दी गयी। ज्योंही प्रार्थना समाप्त हुई इन सब अंग्रेजों का शिरच्छेदन कर दिया गया। जो ४० नौकाएं अंग्रेजों को कानपुर से भेजने के लिए तैयार की गई थीं, उनमें से केवल एक नौका ही बच पाई थी, और वह भी एक जमींदार दुर्विजयसिंह की कृपा के परिणामस्वरूप। इस नौका में दो-चार अंग्रेज ही थी। उक्त जमींदार ने इन नग्न हो गए और

१. फोर्रेस्ट स्टेट पेपर्स तथा के एवम् मैलसन कृत 'म्युटिनी' के खण्ड २, पृष्ठ २५८ पर भी यह अंकित है कि लगभग सभी इतिहासकारों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि नानासाहब को समाचार प्राप्त होते ही उन्होंने यह आदेश दे दिया था।

मरणासन्न अंग्रेजों को अपने यहां शरण दी और एक मास तुक रखकर प्रयाग पहुंचा दिया।

सारांश यह है कि कानपुर में ७ जून को एक हजार अंग्रेज नर-नारी तथा वालक आदि थे। ३० जून तक उनमें से केवल ४०० पुरुप और १२५ महिलाएं तथा वालक ही जीवित रह पाए। वालक और महिलाएं तो नानासाहव के कारागार में थी और चार अर्धमृतवत अंग्रेज दुर्विजयसिंह के अतिथि थे। महिलाओं और वालकों को नानासाहव ने अपने बन्दीगृह में किस प्रकार रखा था इसका कुछ विवरण प्रस्तुत करना भी अभीष्ट है। यों तो हम इस विवरण के प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं मानते थे, किन्तु अंग्रेज लेखकों ने विश्वस्त सूत्रों से प्राप्त जानकारी के आधार पर पुस्तकों के अम्बार लगा दिए हैं, जिसमें ऐसे निर्लज्जतापूर्ण आरोप लगाए गए हैं कि "महिलाओं पर अत्याचार किए गए तथा सड़कों पर सरेआम महिलाओं का शील भंग किया गया और नानासाहव ने भी इन कुकृत्यों में भाग लिया।" इन घृणित, निर्लज्जतापूर्ण और सर्वथा मिथ्या आरोपों पर ब्रिटिश राष्ट्र भी अन्धा होकर विश्वास करता आया है। अतः हमें विवश होकर कुछ विवरण प्रस्तुत करना पड़ रहा है। इस काण्ड की जांच करने हेतु अंग्रेजों ने ही एक विशेष समिति का गठन किया था। और उसीने यह निर्णय भी दिया था कि ये सभी आरोप सर्वथा निराधार हैं।[1] तथापि इसी से तो यह हकीकत समाप्त नहीं हो जाती। नानासाहव ने इन महिलाओं का सम्मान कर नील, रेनाल्ड, हेवलोक इत्यादि सभी अंग्रेजों को लज्जित कर दिखाया था। इसके अतिरिक्त १८५७ के भीषण संग्राम में विश्वासघात को नीति मानने वाले जिन क्रूर शत्रुओं ने व्यक्ति, राष्ट्र और धर्म को भी पददलित कर दिया था उनकी तुलना में तो नानासाहव ने एक प्रतिशत उग्रता और क्रूरता भी प्रदर्शित नहीं की थी। अंग्रेजों द्वारा लिखित इतिहास से ही यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि इसी प्रकार की परिस्थितियों में और उत्तेजना के दिनों में स्वतः इंग्लैंड ने भारत, आस्ट्रिया ने इटली, स्पेन ने मूरिश लोगों और यूनान ने तुर्कों पर इससे भी सौगुनी क्रूरता का प्रदर्शन किया था।

कानपुर के इस हत्याकाण्ड की पहली गड़बड़ी में ही कुछ अश्वारोहियों ने चार अंग्रेज महिलाओं तथा कतिपय ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने वाली महिलाओं को बन्दी वना लिया था। किन्तु ज्योंही नानासाहव को यह सूचना मिली उन्होंने तुरन्त उन सिपाहियों को बन्दी वनवाकर बुलवा लिया। नानासाहव ने उनकी

---

१. म्योर का प्रतिवेदन तथा विलसन का प्रतिवेदन : के और मेलसन कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ २६७

कड़े शब्दों में भर्त्सना की और आदेश दिया कि जिन महिलाओं का अपहरण किया गया है, उन्हें तत्काल उपस्थित किया जाए।[१] बन्दियों को दिन में कई बार रोटियां और गोश्त भी दिया जाता था।[२] उन्हें किसी भी कार्य के लिए विवश न किया जाता और बालकों को दूध भी पीने के लिए समय पर मिलता था। एक बेगम उनकी निरीक्षिका थी। कारागार में हैजा और अतिसार का प्रकोप हो गया तो शुद्ध वायु सेवन के लिए उन्हें दिन में तीन बार घूमने की सुविधा भी प्रदान कर दी गयी।[३] इस स्थान पर एक अन्य घटना का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। उससे स्पष्ट हो जायगा कि अंग्रेजों के नाम मात्र का उच्चारण होने से लोग किस प्रकार भड़क उठते थे। एक दिन प्रातःकाल एक ब्राह्मण ने कारागार की दीवार में से झांककर देखा कि जो अंग्रेज महिलाएं बिना पालकी के पग न धरती थीं वे स्वयं कपड़े धोने में संलग्न हैं। ब्राह्मण ने कुछ द्रवित होकर अपने एक साथी से कहा "इनके कपड़े धोने के लिए एक धोबी की व्यवस्था क्यों नही कर दी जाती ? मानवता के इस असामयिक प्रदर्शन पर क्रुद्ध होकर उस साथी ने ब्राह्मण के मुख पर तत्काल ही एक तमांचा धर दिया। कतिपय महिलाएं कारागार में चक्की पीसती थीं और उन्हें एक रोटी का आटा मुफ्त दिया जाता था। हां, इस प्रकार उन्हें यह तो पता चल रहा था कि जीवन जीने के लिए मानव को क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस कारागार की समाप्ति, कब किस प्रकार और किन कारणों से हुई इसका विवरण भी उपयुक्त अवसर पर प्रस्तुत किया जायगा। आओ अब हम इन महिलाओं और बालकों को इस कारागार में ही छोड़ते हुए कतिपय अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर दृष्टिपात करें।

दिनांक १० जून तक कानपुर से अंग्रेजों की दासता के सभी प्रतीकों को पूर्णतः निर्मूल कर दिया गया था। सायंकाल ५ बजे नानासाहब ने अपना राजदरबार आयोजित किया। इस राजदरबार के अवसर पर ही कानपुर स्थित सैनिकों के एक स्नेह सम्मेलन का भी आयोजन किया था। इस समारोह में छः रेजीमैन्ट, अश्वारोहियों की दो रेजीमेंट और इस स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लेने वाले विभिन्न स्थानों के क्रान्तिकारी के दल अपसी-अपनी पताकाएं लिए इसमें शामिल हुए। जिस तोपखाने के बल पर कानपुर में विजयपताका फहराई गई

---

१. ट्रेव्हेलियन कृत 'कानपुर', पृष्ठ २९९
२. नेरेटिव्ह, पृष्ठ ११३
३. नील ने स्वयं अपने प्रतिवेदन में लिखा है—"प्रारम्भ में बन्दियों को ठीक भोजन नहीं मिलता था, किन्तु बाद में उन्हें अच्छा भोजन दिया गया और उनकी सेवा के लिए नौकर भी नियुक्त कर दिए गए।"

थी उसे भी उसके सम्मान योग्य स्थान प्रदान किया गया था। बालासाहब सेना में पहले से ही अत्यन्त लोकप्रिय थे। अतः ज्योंही उनका आगमन हुआ तुमुल ध्वनि में उपस्थित जनसमुदाय से उनकी जय-जयकार किया। कार्यवाही प्रारम्भ होने से पूर्व दिल्ली के सम्राट् के नाम पर १०१ तोपों की मानवन्दना दी गई। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अब हिन्दू ओर मुसलमान पूर्णरूपेण एक हो गए थे। जब श्रीमंत नानासाहब सैनिक शिविर में पधारे तब सैनिकों ने उनके जय-जयकार से दिग् दिग्न्त गुंजा दिये। उनके सम्मान में २१ तोपें दागी गईं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि २१ दिन के घेरे की स्मृति में ही इन तोपों के दागने की संख्या निर्धारित की गई थी। तदुपरान्त नानासाहब के भाई बालासाहब तथा उनके भतीजे रावसाहब की मानवन्दना की गई। इसके सम्मान में भी १७ तोपें दागी गईं। इस अवसर पर नानासाहब ने अपने सम्मान के उत्तर में कहा कि इस विजय में सभी का योगदान है। प्रत्येक द्वारा अर्जित यश का समागम ही इस विजय के रूप में उपलब्ध हुआ है।[1] जब सेनापति तात्या टोपे इस राजदरबार में पधारे तो उनके सम्मान में भी ११ तोपों की सलामी दी गई। इस प्रकार कानपुर में तोपों की गर्जना ओर स्वतन्त्रता के ओजपूर्ण गीत गूंज उठे और यह दृश्य देखकर दिशा-दिशा निहाल हो उठी। नानासाहब के प्रचण्ड वैभव के सूर्य को तमतमाते देखकर भगवान भुवन भास्कर ने अस्ताचल में गमन कर दिया और सैनिक भी अपनी छावनी को वापस लौट गए।

सेना का राजकीय पथ संचलन होने के उपरान्त श्रीमान नानासाहब श्री बालासाहब के साथ ब्रह्मावर्त के सुप्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र की ओर चले गए। १ जुलाई को राज्याभिषेक की तिथि निर्धारित हुई। उस दिन तो राजमहल की शोभा ही अवर्णनीय थी। पेशवा का प्राचीन ऐतिहासिक सिंहासन समारम्भ सहित सभा-भवन में स्थापित किया गया। नानासाहब के मस्तक पर मंगल राज तिलक लगाया गया। तोपों की प्रचण्ड गर्जना और सहस्रों प्रजाजनों द्वारा एक साथ की गई जय-जयकारों के मध्य श्रीमंत नानासाहब पेशवा अपने कष्टों से प्राप्त किए गए इस राज सिंहासन पर आसीन हुए। उस दिन कानपुर के सहस्रों लोगों ने उन्हें उपहार भी भेंट किए।[2] हिन्दू जनता के मुख से यही वाक्य उच्चारित हो रहा था कि आज राजा रामचन्द्र की विजय होने के उपरान्त पुनः रामराज्य की स्थापना हो गई है।[3] सुदीर्घ कालखण्ड के उपरान्त पुनः स्वधर्म व स्वराज्य

---

१. ट्रेव्हेलियन कृत 'कानपुर', पृष्ठ २९३

२. वही, पृष्ठ २९४

३. सर कॉलिन द्वारा लिखित 'नेरेटिव्ह'

की मंगल सुगन्ध चतुर्दिक व्याप्त हो गई है। मराठों का जो राज्य सिंहासन रायगढ़ से उठा दिया गया था वह अब अंग्रेजों के रक्त से भूमि सिंचन करने के उपरान्त ब्रह्मावर्त में पुनः स्थापित किया गया है।

आज तो क्रान्ति का बीज एक विशाल वृक्ष के रूप में फल-फूल चुका था और उसमें स्वाधीनता के सुफल भी लग गए थे। भला इस समय नानासाहब के मन में कौन-से विचारों की तरंगे प्रवाहित हो रही होंगी ?

परन्तु नानासाहब की बालसखी छबीली अब क्या कर रही थी ? नानासाहब से अश्वरोहण और गजरोहण में प्रतिस्पर्धा करने वाली वह झांसी की रानी अभी तक मौन क्यों थी ? जब कानपुर में नानासाहब स्वातन्त्र्य तिलकांकित राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हो गए थे तो लक्ष्मीबाई भी अपनी प्यारी झांसी को कब तक विस्मृत किए बैठी रह सकती थी। उसके लिए भी तो अब सिंहासन पर आरूढ़ होना ही अभीष्ट था। जिस दिन कानपुर में छबीली के भाई नानासाहब ने युद्ध की चौपड़ पर स्वाधीनता का पासा फेंक दिया था तो झांसी में छबीली ने भी उन्ही का अनुकरण किया था। इधर ४ जून को तोपों की गर्जना के मध्य कानपुर की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई थी तो उधर झांसी की रानी भी विद्युत के समान कौंधकर समरांगण में कूद पड़ने को संकल्पबद्ध हो गई थी।

झांसी में सत्तावन के मई मास में स्वदेशी पलटन की १२वीं रेजीमेण्ट, १४वीं अश्वारोही पलटन और एक एक तोपखाना था और इस सेना का प्रमुख सेनापति था कर्नल डनलप। इस सेना में कतिपय गुप्त गतिविधियां जारी हैं, यह सूचना भी अंग्रेज अधिकारियों के कानों में मई मास से ही पहुंचनी आरम्भ हो गई थी। उन दिनों झांसी का मुख्य कमिश्नर था स्कीन तथा डिप्टी कमिश्नर था गार्डन। इनके हाथों में कतिपय पत्र आ गए थे, जिनसे इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि रानी के सेवकों में से कोई लक्ष्मण राव नामक ब्राह्मण यहां क्रान्तिकारी गतिविधियों को संचालित कर रहा है। वह अभी १२वीं पलटन में सक्रिय है और उसका प्रयत्न यह है कि क्रान्तियुद्ध की भूमिका स्वरूप कतिपय अधिकारियों की पहले हत्या कर दी जाए।[1] यह ब्राह्मण ही स्वतन्त्र झांसी का दीवान बनने वाला लक्ष्मणराव पाण्डे था। झांसी में कतिपय धनवान ठाकुर भी अंग्रेजी राज्य को उलट देने के लिए प्रयत्नशील थे, किन्तु यह बात इसलिए बहुत महत्व की नहीं है, क्योंकि क्या इन्होंने कभी भी सरकार के प्रति राजनिष्ठा प्रदर्शित की थी ?

किन्तु झांसी की सेना राजभक्त है, अंग्रेज अधिकारियों को अभी भी यही विश्वास था। इसीलिए ३१ मई को अंग्रेज अधिकारियों ने अपने वरिष्ठ अधिका-

---

१. चार्ल्स बाल, खंड १, पृष्ठ २७१

रियों को यही सूचित किया गया था कि झांसी अभी भी विद्रोह के तूफान से पूर्णतः निर्भय है।

दिनांक १ जून को झांसी में कतिपय अंग्रेज अधिकारियों के बंगलों को आग लगा दी गई। जिस दिन कानपुर में क्रान्ति की रणगर्जना हुई थी उसी दिन अर्थात् ४ जून को ही झांसी भी धधक उठी। सिपाहियों की एक टोली ने अपने हवलदार के इंगित पर अकस्मात आक्रमण करके स्टार फोर्ट एवं उसके शस्त्रागार आदि पर भी अधिकार कर लिया। कैप्टन डनलप ने अश्वारोही पलटन व तोपखाने को पथ संचलन के लिए एकत्रित कर सभी भारतीय सिपाहियों को राजभक्ति का उपदेश दिया। सभी सिपाहियों ने भी कम्पनी का जय-जयकार किया और घोषणा की कि हम कम्पनी के लिए प्राण भी दे देंगे। इधर यह राजनिष्ठा प्रदर्शित की जा रही थी तो उधर अंग्रेज झांसी के दुर्ग में अपनी महिलाओं व बालकों को एकत्रित कर वहाँ से युद्ध की तैयारी करने में संलग्न थे। उन्होंने सहायता के लिए नागाव की अंग्रेजी छावनी तथा अन्य प्रदेशों को भी पत्र लिखे थे। जिस समय डनलप साहब इन पत्रों को डालने के लिए डाकघर की ओर जा रहे थे तभी परेड के मैदान के पास उन्हें १२वीं पैदल पलटन के एक सिपाही की गोली ने ठण्डा कर दिया। एन्साइन टेलर भी यमलोक पहुंचा दिया गया। यह समाचार मिलते ही सभी अंग्रेज भयभीत होकर किले में जा घुसे। इस दुर्ग पर अंग्रेजों ने तोपें व गोला-बारूद की पर्याप्त व्यवस्था की हुई थी। उनका ऐसा अनुमान था कि बाहर से सहायता प्राप्त होने तक वे एक सप्ताह तक इस दुर्ग में ही संघर्ष कर सकेंगे। इधर सिपाही छावनी में जो गोरे मिले उन्हें ठिकाने लगाकर दुर्ग की ओर बढ़ चले थे। अंग्रेजों ने रानी से सहायता की याचना करने के लिए भी तीन दूत भेजे थे। उन्हें भी क्रान्तिकारियों ने मार्ग में ही ठिकाने लगा दिया। ७ जून को विद्रोहियों ने रिसालदार काले खाँ और तहसीलदार मुहम्मद हुसैन के नेतृत्व में दुर्ग पर चढ़ाई कर वहां भी स्वतन्त्रता की पताका फहरा दी। दुर्ग के इस युद्ध में अनेक अंग्रेज अधिकारी मारे गए। कमिश्नर गार्डन भी इस दुर्ग के युद्ध में ढेर हो गया। गार्डन के मरते ही किले में स्थित अंग्रेज अपना धैर्य खो बैठे और उन्होंने श्वेत पताका फहराकर शरणागति की प्रार्थना की। झांसी के लब्ध प्रतिष्ठित नागरिक साले मुहम्मद ने उन्हें यह आश्वासन प्रदान किया कि यदि अंग्रेज बिना शर्त शरण देने की याचना करेंगे तो उन्हें प्राणदान दे दिया जाएगा। अंग्रेजों ने शस्त्र समर्पित कर दिए। दुर्ग के द्वार भी खोल दिए गए। किन्तु ज्योंही अंग्रेजों को दुर्ग से बाहर आते हुए देखा त्योंही सिपाही गरज उठे। "मारो फिरंगी को" यह कहते हुए वे उन पर टूट पड़े! ८ जून को अंग्रेज बन्दियों की मुश्कें बांधकर इन सिपाहियों ने गोरों का जलूस सम्पूर्ण नगर में घुमाया। इस जलूस में झांसी का मुख्य कमिश्नर स्कीन

भी मुख लटकाए हुए चल रहा था। जोगन बाग पहुंचने पर सिपाहियों ने अपने सरदार से प्रश्न किया "रिसालदार साहब, अब आपका क्या आदेश है ?" रिसालदार साहब ने आदेश दिया कि "जिन अंग्रेजों ने रानी को पदच्युत करने का राजद्रोह कर हमारे देश पर अधिकार जमाने का प्रयास किया है, उन्हें कदापि क्षमा न किया जाए। अतः पुरुषों, महिलाओं और बालकों को पृथक-पृथक तीन पंक्तियों में खड़ा कर दिया जाए और जेल का दारोगा कमिश्नर का सिर काट दे और तदुपरान्त सभी को तलवारों के घाट उतार दिया जाए। कुछ ही क्षण बीते कि रक्त की सरिता प्रवाहित हो उठी। आज गोरे रंगवालों को अपना अपमान करने के बदले में कालों की तलवारें चाट रही थीं। इस भांति झांसी के अपमान का प्रतिशोध रक्त से चुकाया जा रहा था।

झांसी के क्षुब्ध जबड़ों ने ७५ पुरुष, १२ महिलाएं, और २३ बालक सदा के लिए विद्रोहियों की तलवारों के माध्यम से निगल लिए थे। इस भांति झांसी में ४ जून को जिस क्रान्ति का विस्फोट हुआ ८ जून तक उसने झांसी से अंग्रेजी राज्य-सत्ता की अन्त्येष्टि कर दी। अंग्रेजों के उत्तराधिकार का दावा जताने वाली औरस अथवा दत्तक सन्तान भी वहां न रहने से क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों से झांसी का राज्य वापस ले लिया और राजकुमार दामोदर का पालन करने वाली महाराणी लक्ष्मीबाई को स्वातन्त्र्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। चतुर्दिक महान पराक्रमी राणी लक्ष्मीबाई का पावन नाम गूंज उठा और घोषणा कर दी गई "खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, और अमल रानी लक्ष्मीबाई का।"[१] ○○○

---

१. मराठी में श्री पारसनीस ने झांसी की रणलक्ष्मी रानी के चरित्र से सम्बद्ध एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने अनेकों उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि झांसी में अंग्रेजों का जो हत्याकाण्ड हुआ था उसके लिए महारानी लक्ष्मीबाई ने संकेतमात्र भी नहीं दिया था। श्री पारसनीस का यह ग्रन्थ मराठी पाठकों में तो सुपरिचित है और भारत की अन्य अनेक भाषाओं में इसका रूपान्तर किया गया है। मैंने इस ग्रन्थ के प्रस्तुत विषयक भाग का उल्लेख केवल पुनरुक्ति दोष से बचनें के लिए नहीं किया है।

: ६ :

अयोध्या (अवध) प्रदेश में युद्ध

जब से अयोध्या (अवध) के राज्य को डलहौजी ने अपनी कूटनीति से समाप्त कर दिया था, तभी से उस प्रान्त की जनता की दिन-प्रति-दिन दुर्दशा होती जा रही थी। अवध की स्वतन्त्र सत्ता की समाप्ति कर दिए जाने के पश्चात् से ही नवाब के राज्य में जो आय, सम्मान और अधिकार के पद थे उन सभी पर अंग्रेजों को नियुक्त कर दिया गया था। इस प्रकार अनेकों भारतीय बेकार बना दिए गए थे। नवाब की सेना को भी अंग्रेजों ने भंग कर दिया था। नवाब के मन्त्री तथा वरिष्ठ अधिकारियों को कुलियों-कबाड़ियों की श्रेणी में खड़ा कर दिया गया था तो उसके अन्य सरदार आदि भी रंकमात्र बना दिए गए थे। अतः जिस पराधीनता की ज्वाला में उनका सर्वस्व स्वाहा हो गया था और स्वदेश वीरान बन गया था, परकीयों की उस दासता के प्रति इन लोगों के हृदयों में प्रचण्ड द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। उनका रोम-रोम इस विभीषिका से निवृत्ति पाने के विचारों से आप्लावित हो उठा था। पराधीनता का यह प्रहार केवल राजमहल और राजधानी तथा उसके कर्मचारियों मात्र पर ही नहीं हुआ था। परम्परागत रूप से प्राप्त होने वाली राजाओं और जमींदारों की गद्दियां भी अंग्रेज निगल गए थे। अब इन राजाओं और जमींदारों को भी इस सत्य का साक्षात्कार हो गया था कि सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ दासता की अपेक्षा अपना अव्यवस्थित स्वराज्य भी कहीं अधिक श्रेष्ठ और सम्मानपूर्ण तथा सुखदायक होता है। अंग्रेज अधिकारियों द्वारा भूराजस्व (लगान) में की गई वृद्धि के कारण कृषकों में भी असन्तोष दहक उठा था। अंग्रेजों की सेना में भी अवध प्रदेश के अनेक सैनिक थे। वे भी अपनी मातृभूमि की पराधीनता और दुरवस्था को देखकर अंग्रेजों से क्षुब्ध हो उठे थे। जिन अंग्रेजों ने नवाब वाजिदअलीशाह को अपनी दुष्टता और विश्वासघात तथा निम्न स्तर की ठगी से मिटा डाला था, उनका स्मरण करते ही प्रत्येक व्यक्ति क्रोध से तमतमाकर दांत पीसने लगता था और उसका हाथ बरबस

तलवार की मूठ पर पहुंच जाता था। अयोध्या के इन राजपूत जमींदारों को अपने वंश का अभिमान, शौर्य और उदारता तथा कृतज्ञता आदि महान गुण तो धरोहर स्वरूप ही प्राप्त हुए थे। ज्योंही उन्हें इस सत्य का आभास हुआ कि उनके राजा का अपमान अंग्रेजों द्वारा किया गया है, उनका क्षत्रिय रक्त खौल उठा। अवध पर अधिकार कर लेने के उपरान्त जब अंग्रेजों ने उन्हें अपनी सेवा में कार्य करने के लिए निमन्त्रित किया था तो उनमें से सैकड़ों वीर पुरुषों ने इन अंग्रेजों को नितान्त ही रोषपूर्ण मुद्रा और ओजपूर्ण शब्दों में उत्तर दिया था, "हमने स्वराज्य का अन्न खाया है, अतः हम परकीयों का अन्न निगलने को कदापि तैयार नहीं हो सकते।"

अयोध्या के राज्य को समाप्त करने के उपरान्त उस प्रान्त का मुख्य प्रशासक सर हेनरी लारेन्स को नियुक्त किया गया था। जिस जान लारेन्स की कूटनीति और सावधानी ने पंजाब प्रान्त में क्रान्ति की दहकती हुई ज्वालाओं पर पानी डाल दिया था उसीका यह बड़ा भाई था। जिस प्रकार पंजाब की रक्षा इसके छोटे भाई ने की थी उसी प्रकार यह भी अवध का चीफ कमिश्नर बनकर यहाँ अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा हेतु सचेष्ट था। उसने भी इस दृष्टि से प्रयास आरम्भ कर दिया था। यह असन्दिग्ध तथ्य है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता को गहन नींव पर खड़ा करने में लारेन्स परिवार का सर्वाधिक योगदान रहा है। अवध में पग धरते ही सर हेनरी लारेन्स ने वहाँ की स्थिति का सूक्ष्म अन्वेषण तथा अध्ययन किया। उसने अन्य किसी भी अंग्रेज अधिकारी की अपेक्षा सर्वप्रथम क्रान्ति के चिन्हों की अनुभूति की। अतः उसने अवध की राजधानी लखनऊ को ही अपना केन्द्र बनाया। प्रारम्भ में उसने जमींदारों को अपने मृदुल वचनों से वश में करने के लिए अपने वशीकरण मन्त्र का पूर्व-प्रयोग किया। लखनऊ में एक दरबार का आयोजन किया गया। इस दरबार में मान सम्मान और उपाधियों को वितरित कर लोगों को फुसलाने और उनके हृदयों से स्वतन्त्रता की पावन स्मृति को दूर भगाने का प्रयास किया गया। किन्तु अशान्ति को दबाने के लिए उसने कोरे शान्तिपूर्ण उपायों का ही अवलम्बन नहीं किया, अपितु उन योजनाओं को बनाने का क्रम भी अबाध गति से जारी रखा, जिनसे विद्रोह की ज्वाला धधक उठने की संकटापन्न स्थिति का सामना किया जा सके। वस्तुस्थिति यह है कि सर हेनरी लारेन्स अपने से पूर्व के अधिकारियों से कुछ भला भले प्रतीत होता हो, किन्तु अवध के प्रजाजन अब अंग्रेजों के शासन से ही ऊब गए थे, फिर चाहे वह अच्छा हो अथवा बुरा। अब तो उन्हें शान्ति का आभास और सन्तोष की श्वांस तभी मिल सकती थी जब कि वे वाजिदअलीशाह को पुनः अवध के राज्य सिंहासन पर आरूढ़ देखें। उनके हृदयों में तो पराधीनता का पाश तोड़कर स्वाधीनता की प्राप्ति की ही

एकमात्र लालसा और तड़प जागृत हो चुकी थी। अबतक तो उनका धर्म ही राज्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित था; क्योंकि राजा और राज्य का वही धर्म था। अब तो धर्म की भी जो अप्रतिष्ठा हो रही थी, उसके कारण असन्तोष भड़क रहा था। इसका उपाय अंग्रेजों के सुशासन की स्थापना नहीं, अपितु स्वराज्य को पुन प्रतिष्ठित करना ही था। महापराक्रमी मानसिंह से हिन्दू राजा तथा मौलवी अहमदशाह सरीखे प्रभावी मुस्लिम नेता ने हिन्दू और मुसलमानों के धर्म की रक्षार्थ, स्वातन्त्र्य संग्राम का आह्वान् कर इस धर्मयुद्ध में अपना सर्वस्व समर्पित कर देने का सुसंकल्प ग्रहण कर लिया था। प्रकट अथवा गुप्त, जिस रूप में सम्भव हो पाता था, सहस्रों पण्डित और मौलवी घूम-घूमकर स्वराज्य का मंत्र दान कर रहे थे। धर्मयुद्ध का प्रचार शक्तिशाली रूप ग्रहण कर रहा था। सैनिक संकल्प ले रहे थे तो सिपाही भी कसमें खा रहें थे और जमींदार भी प्रतिज्ञाएं ग्रहण कर उठ रहे थे। तात्पर्य यह है कि जनता जनार्दन ने ही अंग्रेजों के विरुद्ध रण छेड़ देने का संकल्प ग्रहण कर लिया था। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक असन्तोष की ज्वाला धधक उठी थी। मौलवी अहमदशाह बन्दी बना लिए गए और उन्हें प्राण-दण्ड सुना दिया गया था। उनपर राजद्रोह और जनता को भड़काने का आरोप लगाया गया था। प्राणदण्ड सुना तो दिया गया, किन्तु उसे क्रियान्वित करना एक कठिन कार्य हो गया था। अतः उन्हें कारागार में डाल दिया गया था। ७वीं पलटन को निरस्त्र कर दिया गया था। सर हेनरी लारेन्स ने एक विशाल दरबार का आयोजन कर सैनिकों को १२ मई को राजभक्ति का उपदेश देने का भी उपक्रम किया था। उस दरबार में जनभाषा में ही वह घण्टों भाषण करता रहा, जिसमें उसने राजभक्ति के शास्त्र के एक-एक पृष्ठ का वाचन कर दिया। उसने अपने भाषण में यह भी बताया कि रणजीतसिंह ने मुसलमानों के तथा औरंगजेब ने हिन्दुओं के धर्म का किस भांति अपमान किया था और फिर अंग्रेजी राज्य में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही की किस प्रकार इन अत्याचारों से रक्षा की गई है। उसने अपनी मधुर वाणी में इन प्रसंगों की चर्चा की थी और साथ ही जो सैनिक राज-निष्ठ थे उन्हें तलवार, शाल और पगड़ियों के उपहार भी दिए गएं थे। यह सत्य है कि उसने ७वीं पलटन को निरस्त्र कर उसे भंग ही कर दिया था, किन्तु भाग्य देवता ने तो भविष्य के लिए कुछ और ही घटनाओं का ताना-बाना पूर दिया था। जिन्हें कुछ ही दिनों पूर्व राजभक्ति के वदले में पारितोषिक दिए गए थे उन्हें ही तो अब क्रान्तिकारियों के साथ मिलकर षड़यन्त्र करने के आरोपों में वधस्तम्भ पर लटकाया जाना था।

राजनिष्ठा का यह दरबार १२ मई को आयोजित हुआ और १३ मई को यह समाचार प्राप्त हो गया कि मेरठ में क्रान्ति देवता उठ बैठा है। और १४ मई

को दिल्ली पर क्रान्तिकारियों का अधिकार का भी समाचार प्राप्त हो गया। उस दिन लोगों ने भारत की राजधानी के बन्धनमुक्त होने की महान वार्ता भी सुन ली।

इधर ये समाचार प्राप्त हो रहे थे, उधर सर हेनरी लारेन्स ने लखनऊ-स्थित अंग्रेजों की सुरक्षा की दृष्टि से मच्छी भवन और रेजीडेन्सी रोड इन दो स्थानों का चयन कर लिया था। वहां पर किलाबन्दी का कार्य प्रारम्भ करा दिया गया था। अंग्रेज महिलाओं और बालकों को वहाँ पहुंचाया गया तो अंग्रेज पुरुषों को, फिर चाहे वे क्लर्क थे अथवा अधिकारी या व्यापारी, सैनिक अनुशासन, सामूहिक संचलन और शस्त्रास्त्र संचालन की दृष्टि से प्रशिक्षित किया गया। मेरठ के क्रान्ति-विस्फोट के उपरान्त सभी असैनिक अंग्रेज अधिकारियों को भी सैनिक शिक्षा देकर रणभूमि में टिकने योग्य बना दिया गया। लगभग १० दिन की अवधि में ही युद्ध की पूर्ण सिद्धता कर ली गयी थी। सर हेनरी लारेन्स इस सम्पूर्ण प्रेरणा का प्रधान सेनापति बन गया था। अवध से नेपाल समीप ही था, अतः लारेन्स ने वहां भी सहायता की याचना कर एक दूत को भेजा था। आग्रह किया गया था कि नेपाल की सेना को जंगबहादुर अवध भेज दें। इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद एक दिन भी ऐसा नहीं व्यतीत हो पाता था, जबकि सर हेनरी लारेन्स को यह "विश्वस्त सूचना" प्राप्त न हो जाती हो कि आज विद्रोह अवश्य ही होगा। वह भी यथाशक्ति इस प्रामाणिक समाचार को सुनकर सिद्धता करता, दिवाकर अस्त हो जाते, किन्तु क्रान्ति के विस्फोट की कोई चिंगारी भी दृष्टिगोचर न हो पाती। उसे अनेक बार इसी प्रकार धोखा उठाना पड़ा। ३० मई को भी एक अधिकारी ने लारेन्स को यह समाचार आकर सुना दिया कि "आज रात्रि के ९ बजे अवश्य ही उपद्रव होने वाला है।"

दिनांक ३० मई को भी सूर्यास्त हुआ। हेनरी लारेन्स अपने अन्य अधिकारियों सहित भोजन कर ही रहा था कि रात्रि को ९ बजे की तोप दग उठी। तब जिसने उसे संदेश दिया था और जो इससे पूर्व भी एक बार झूठा सिद्ध हो चुका था, उसे सम्बोधित करते हुए लारेन्स ने व्यंग किया, "आपके मित्र समय के पक्के प्रतीत नहीं होते है।"

वह अभी अपना यह वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि 'समय के पक्के प्रतीत नहीं होते' सहसा ही ७१ वीं पलटन द्वारा दागी कई बन्दूकों से निकली गोलियों की धड़ाधड़ उसके कानों से आकर टकराई। पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार रात्रि में ९ बजे की तोप के दगते ही इस सेना के कुछ सैनिक अंग्रेजों के बंगलों पर चढ़ दौड़े थे। ७१वीं पलटन के भोजनालय में भी आग दहक उठी और वहां के कतिपय अंग्रेज अधिकारियों पर भी गोलियां दाग दी गयीं। भगोड़ा

लेफ्टिनेन्ट ग्रन्ट किसी व्यक्ति की सहायता से एक गद्दी में जाकर छुप गया। किन्तु एक व्यक्ति के बताने पर उसे वहां खोज निकाला गया और उसे खींचकर बाहर लाया गया तथा क्रान्तिकारियों ने उसे तलवार के घाट उतार दिया। लेफ्टिनेन्ट हार्डिंग अपने गोरे अश्वारोहियों को साथ लिये हुए मार्ग में गश्त कर रहा था। उसे भी एक तलवार की धार का प्रहार लगा। छावनियों में अग्नि-शिखाएं दहक उठीं। ब्रिगेडियर हर्डस्कोम भी परमधाम पठा दिया गया। अंग्रेजी पताका के प्रति निष्ठावान गोरे सैनिक कतिपय अन्य सिपाही रात्रि-भर इस विद्रोह पर नियन्त्रण प्राप्त करने की यथाशक्ति चेष्टा करने में संलग्न रहे। ३१ मई को सर लारेन्स कतिपय गोरे सैनिकों तथा राजभक्त भारतीय सिपाहियों को साथ लेकर क्रान्तिकारियों पर आक्रमण करने के लिए चल पड़े। किन्तु अभी वे कुछ दूरी पर पहुंचे होंगे कि सातवीं अश्वरोही सेना ने विद्रोह कर दिया। इस अश्वरोही टुकड़ी को क्रान्तिकारियों से मिलने देने का अवसर देते हुए लारेन्स लौट पड़ा। अब लखनऊ में गोरों के साथ ३२वीं पलटन और तोपखाना ही था। किन्तु ३१ मई को ७वें अश्वारोही दल एवं अन्य अस्थायी सैनिक टुकड़ियों ने भी स्वतन्त्रता की पुनीत पताका फहरा दी।

लखनऊ से ४१ मील की दूरी पर स्थित है सीतापुर, जो अवध का एक प्रमुख नगर है। इस नगर में १८५७ में ४१वीं पैदल, ९वीं तथा १०वीं अनियमित पैदल टुकड़ियां थीं। इसी नगर में इसके कमिश्नर तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी भी विद्यमान थे। यहां २७ मई को ही कुछ अंग्रेजों के घरों का अग्नि-समर्पण-संस्कार कर दिया गया था। किन्तु वहां के अंग्रेज अधिकारियों को इस बात की अनुभूति नहीं हो पाई थी कि ये अग्निकाण्ड भविष्य में उठने वाले प्रचण्ड अन्धड़ के संकेत चिह्न है। अतः उन्होंने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। यहां तक कि सैनिकों ने भी इस आग को बुझाने का अनथक प्रयास किया। इस अग्निकाण्ड से दो हेतु सिद्ध हो गए। एक तो यह कि क्रान्तिकारियों को यह संकेत मिल गया कि अब समय समीप आ पहुंचा है। साथ ही, अंग्रजों की अनभिज्ञता की भी उन्हें जानकारी प्राप्त हो गई। २ जून को सीतापुर में ही एक असाधारण घटना घटित हुई। सिपाहियों ने यह शिकायत की कि उन्हें जो आटा दिया जाता है, उन थैलियों में हड्डियों का चूर्ण मिला हुआ है। अतः उन्होंने वह आटा लेना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने यह भी हठ की कि ये सभी आटे की बोरियां नदी में प्रवाहित कर दी जाएं। अंग्रेजों ने भी उनकी हठ के सामने झुककर वह आटा फिंकवा दिया। उसी दिन दोपहर में सिपाही सहसा ही अंग्रेज़ों के उद्यानों में घुस गए और उन्होंने वहां आकर फल तोड़ने आरम्भ कर दिए। गोरों ने उन्हें रोका और डाटा भी किन्तु सैनिकों पर इसका किंचित मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ। वे आनन्द सहित

फलाहार करते रहे। जब ये मधु फलों का मन भरकर रसास्वादन कर चुके तो उन्होंने विचित्र प्रकार का उपद्रव आरम्भ कर दिया। ३ जून को सैनिकों के एक दल ने कोष पर जाकर अधिकार कर लिया और अन्य सिपाहियों ने चीफ कमिश्नर के बंगले पर धावा दिया। उन्होंने मार्ग में ही कर्नल वर्च और लेफ्टिनेन्ट ग्रोव्हस को यमधाम भेज दिया। ९वें अस्थायी सैनिक दल ने भी अपने अधिकारियों को ठिकाने लगा दिया था। अब तो सैनिकों को जो भी अंग्रेज़ मिलता था वे उसी पर टूट पड़ते थे और "फिरंगी को समाप्त करो" का जयघोष गुंजाते थे। कमिश्नर, उसकी पत्नी और पुत्र तो नदी को पार करने का प्रयास करते हुए समाप्त हो गए। थार्नहिल भी अपनी पत्नी सहित क्रान्तिकारियों की गोली का निशाना बना दिया गया। सैनिकों ने प्रतिशोध की अग्नि को दहकाते हुए लगभग २४ अंग्रेज़ों को अनन्त निद्रा में सुला दिया। कुछ गोरे भागकर मितावली और रामकोट के गोरों की शरण में चले गए। वहां आठ-आठ, दस-दस मास तक अभ्यागत रहकर वे वहां से लखनऊ जा पहुंचे। सीतापुर से सभी सैनिकों ने फर्रुखाबाद की ओर प्रस्थान कर दिया। वहां के दुर्ग में भी भागे हुए अंग्रेज़ रह रहे थे। घमासान युद्ध के उपरान्त क्रान्तिकारियों ने इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया और गोरों की हत्या कर दी। नवाव तफ़ुज्जर हुसैन, जिसे अंग्रेजों ने सिंहासनच्युत कर दिया था, पुनः सिंहासनारूढ़ कर दिया गया। उसने भी अपने संस्थान की सीमा में मिले प्रत्येक अंग्रेज़ को चुन-चुनकर समाप्त करा दिया। इस प्रकार १ जुलाई तक फर्रुखाबाद क्षेत्र में अंग्रेजों का नाम लेवा पानी देवा भी कोई नहीं रह गया था। सीतापुर के उत्तर में ४४ मील की दूरी पर स्थित मलान गांव में सैनिकों तथा जनता द्वारा कोई षड्यन्त्र किए जाने का समाचार अंग्रेजों को प्राप्त हुआ। सीतापुर के विद्रोह का समाचार मिलते ही मलान ग्राम के अंग्रेज़ों द्वारा भी घोड़ों पर सवार होकर पलायन कर दिया गया था। इस प्रकार यह पूर्ण जिला रक्त की एक बूंद बहाए बिना ही स्वतन्त्र हो गया था। तीसरा जिला था महमदी। वहां के अंग्रेजों ने अपने बालकों आदि को पिथौली के राजा के पास भेज दिया था। राजा ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि "तुम यदि स्वच्छन्द रूप से रहना चाहते हो तो जंगलों में जाकर डेरे डाल लो।" क्योंकि अवध का तो प्रत्येक सैनिक ही शपथ ग्रहण कर चुका था। अतः अंग्रेज़ महिलाओं को राजासाहब के पास भेजकर महमदी के अंग्रेज अधिकारियों ने दुर्ग का आश्रय ले लिया। उसी दिन रुहेलखण्ड के शाहजहांपुर नगर से भागकर कुछ गोरे महमदी पहुंचे थे। महमदी में भी प्रति क्षण उनके प्राणों पर संकट था। अतः सीतापुर के अधिकारियों से इन गोरों की प्राण-रक्षा की व्यवस्था करने का निवेदन किया गया था। क्योंकि अभी तक सीतापुर में शान्ति थी, अतः महमदी के निराश्रित गोरों को वहां से लाने के लिए कुछ

गाड़ियां लेकर सीतापुर से सिपाहियों के एक दल ने प्रस्थान किया। किन्तु उनमें भी तो क्रान्ति के कीटाणु समा चुके थे। उन्होंने सभी गोरों को गाड़ियों में बैठाकर सीतापुर के लिए प्रस्थान तो कर दिया किन्तु जब वे आधे रास्ते में जा पहुंचे तो उन्होंने उन सभी को गाड़ियों से नीचे उतारकर उनकी हत्या कर दी। आठ महिलाएं, चार बालक, आठ लेफ्टिनेन्ट, चार कैप्टन और कतिपय अन्य गोरे यम-लोक भेज दिए गए। इस घटना का समाचार प्राप्त होते ही महमदी-स्थित अंग्रेज अधिकारी भी नौ दो ग्यारह हो गए। इस प्रकार ४ जून तक ही इस सम्पूर्ण तहसील से पराधीनता की पताका हटा दी गई।

अवध प्रान्त में सीतापुर से ही मिला हुआ दूसरा भाग है बहराइच। यहां का कमिश्नर था विंगफील्ड। इस भाग में मुख्यतः चार नगर थे सिकोटा, मेलापुर, गोण्डा तथा बहराइच। सिकोटा में दूसरी पैदल पलटन और तोपखाने का भी एक पथक था। यहां भी जब क्रान्ति का भय प्रकट हुआ तो अंग्रेज अधिकारियों ने अपने परिवारों को लखनऊ भेज दिया। ९ जून को अनेक अंग्रेज अधिकारी बलरामपुर के नरेश की शरण में उपस्थित हुए और उनसे शरण मांगी। केवल बोनहम नामक तोपखाने का प्रमुख अधिकारी ही एकमात्र व्यक्ति था जिसे भारतीय सैनिकों पर अडिग विश्वास था और उसने वहां से जाना अस्वीकार कर दिया था। किन्तु सायंकाल ही सैनिकों ने उससे स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि एक व्यक्ति के रूप में तो हम आपको किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं देंगे, किन्तु हम आपको यह भी बता देना चाहते हैं कि हम अपने देश-बान्धवों से संघर्ष कदापि नहीं करेंगे। उनकी इस प्रचण्ड एकता को देखकर बोनहम को भी वहाँ से विदा लेनी पड़ी। सैनिकों ने उसे सकुशल लखनऊ पहुंचा दिया। सिकोटा के स्वतन्त्र हो जाने का समाचार ज्योंही गोण्डा पहुंचा वहाँ भी स्वतन्त्रता के मंगलवाद्य बज उठे। कमिश्नर विंग-फील्ड उन दिनों अन्य अंग्रेज अधिकारियों सहित बलरामपुर में था। वहां के राजा ने २५ गोरों को आश्रय दिया था, जिन्हें उसने अवसर पाकर अंग्रेजों की छावनी में भेज दिया।

सिकोटा और गोण्डा के स्वतन्त्र होने का समाचार बहराइच भी जा पहुंचा। वहां के अंग्रेजों ने विद्रोह होने की घड़ी आने से पूर्व ही नगर से भाग जाना उचित समझा। वे १० जून को लखनऊ भाग गए। सम्पूर्ण अवध में ही तो क्रान्तिकारियों का जाल फैला हुआ था। पग-पग पर खतरा था। अतः अंग्रेजों ने भारतीयों का वेश धारण कर घाघरा नदी पार करने का यत्न किया। पहले तो किसीका ध्यान आकर्षित न हो पाया; किन्तु ज्योंही नौकाएं मझधार में पहुंची कि फिरंगी-फिरंगी की आवाजें गूंज उठीं और नाविकों ने गोरों के रक्त को सरिता में प्रवाहित कर प्रतिशोध का एक चरण पूण कर दिया। इस प्रकार बहराइच से भी अंग्रेजी शासन

की इतिश्री हो गई।

यद्यपि मेलापुर में कोई सैनिक अड्डा न था, किन्तु वहां जो थोड़े-से अंग्रेज अधिकारी थे, उन्हें भी वहां की जनता ने ही भगा दिया। वहां के जमींदार ने भी उनकी सहायता की। इन गोरों में से कुछकी तो क्रान्तिकारियों ने बलि चढ़ा दी और कुछ अन्य वन में भटक-भटककर दम तोड़ गए।

अवध प्रान्त का पूर्वी प्रदेश है फैजाबाद। इस नगर का कमिश्नर गोल्डने नामक एक अंग्रेज था। फैजाबाद तहसील के तीन प्रमुख केन्द्र थे सुलतानपुर, सलोनी और फैजावाद। फैजाबाद में २२वीं पलटन, ६वीं अस्थायी पैदल पल्टन अश्वारोही पथक तथा तोपखाने के कुछ दस्ते थे। इन सबका प्रधान-सेनानायक था कर्नल लेनाक्स। फैजाबाद में अंग्रेजों ने पाशविक अत्याचार किए थे। सर हेनरी लारेन्स ने स्वयं लिखा था कि "मैं स्वीकार करता हूं कि तालुकेदारों के साथ बड़ी ही कठोरता बरती गई थी। मैं यह भी समझता हूं कि उनमें से कुछ के आधे से अधिक ग्राम छीन लिए गए थे तो कुछ तो पूर्णतः बरबाद ही हो गए थे।" मेरठ की क्रान्ति के उपरान्त अंग्रेज अधिकारी भयभीत हो गए थे कि कहीं ये तालुकेदार भी प्रतिशोध न लें। भयभीत होकर वे अपनी सुरक्षा का मार्ग खोज रहे थे। क्रान्तिकारियों ने सभी मार्ग रोके हुए थे, अतः उनके लिए अपने परिवारों को लखनऊ भेज पाना भी असम्भव हो गया था। इसके साथ ही फैजाबाद में सम्पूर्ण सेनाएं ही भारतीय थीं। अतः वहां वे प्रतिकार की भी कोई योजना बनाने की स्थिति में नहीं थे। इस असमंजस में पड़े फैजाबाद के ये अंग्रेज अधिकारी अन्ततः राजा मानसिंह की शरण में उपस्थित हुए। राजा मानसिंह अवध के हिन्दुओं के सम्माननीय नेता थे। नवाब के कार्यकाल में उनकी तलवार ने हिन्दुओं के लिए सदैव ही म्यान से बाहर रहना सीखा था। १८५७ के मई मास में ही मालगुजारी के किसी विवाद को लेकर मानी मानसिंह को अंग्रेजों ने बन्दी भी बनाया था। किन्तु मेरठ की क्रान्ति के उपरान्त अंग्रेजी राज्य का प्रभाव कुछ मन्द हुआ था। अतः उन्हें प्रसन्न करने की दृष्टि से मुक्त कर दिया गया था। उन्होंने नितान्त ही संकोच सहित अंग्रेज महिलाओं और बालकों को अपने दुर्ग में स्थान देने की इन गोरों की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतने पर भी उन्हें यह आशंका अवश्य ही थी कि लोग इतना भी पसन्द नहीं करेंगे। वे इस बात को आधार बनाकर दुर्ग पर भी आक्रमण कर देंगे। फिर भी १ जून को महाराज मानसिंह ने अंग्रेजों के परिवारों को आश्रय दान कर शाहगंज के दुर्ग में भेज दिया।

इधर अंग्रेज अपनी सुरक्षा व्यवस्थाएं करने में संलग्न थे तो उधर फैजाबाद में क्रान्ति की ज्वालाएं तीव्रतम होती जा रही थीं। भारतीय इतिहास के अमर पुरुष मौलवी अहमदशाह भी उन तालुकेदारों में से ही एक थे जिनका सर्वस्व

अंग्रेजों ने छीन लिया था। हिन्दुस्थान के देशभक्तों में उनका नाम सदैव ही अग्रिम पंक्ति में रहेगा। उन्होंने अपनी तालुकेदारी की वापसी की नहीं अपितु भारत माता को स्वतन्त्रता प्रदान कराने की सौगन्ध ग्रहण की थी। उन्होंने स्वदेश के राजद्वार पर अनेक कष्टपूर्ण दिन बिताए थे तो अनेक रातें आंखों में ही काट दी थीं। वे एक सजग प्रहरी के समान रात-दिन जागृत रहे थे और घर में घुस आए परकीयों को निकालने के लिए शस्त्र भी ग्रहण किए थे। जब से अंग्रेजों ने अवध का राज्य हड़पा था तभी से वे देश और धर्म की सेवा में अपना सब कुछ वार बैठे थे। वे मौलवी बनकर सम्पूर्ण भारत में घूम-घूमकर क्रान्तिधर्म का प्रचार कर रहे थे। जहां-जहां भी यह राष्ट्रीय सन्त पहुंचा वहीं जनता में प्रबल जन-जागृति का संचार हो गया था। क्रान्तिकारी दल के नेताओं से भी उन्होंने भेंट की थी। उनका वचन अवध के राजघराने में परमात्मा की आज्ञा के समान ही माननीय था। आगरा में भी उनके प्रयास से क्रान्तिकारी दल का एक केन्द्र खुला था तो उन्होंने लखनऊ में भी अंग्रेजी राज्य सिंहासन का तख्त उलट देने का खुला प्रचार हुआ था। वे अपना तन, मन, धन, बुद्धि और वाणी सभी को एक ही आदर्श की प्राप्ति में लगाकर रात-दिन क्रान्ति का जाल बुनने में ही लिप्त रहते थे। आगे चलकर वे एक क्रान्तिकारी लेखक बने और उन्होंने उग्र क्रान्तिपत्रों को भी लिखा, जो सम्पूर्ण अवध प्रदेश में वितरित किए गए। उनके एक हाथ में तलवार थी तो दूसरे में लेखनी। उनके असाधारण व्यक्तित्व की दीप्ति से स्वतन्त्रता की ज्योति और भी तेज़ी से प्रदीप्त होने लगी। जब अंग्रेजों ने इस महान क्रान्तिकारी के क्रियाकलापों को भांप लिया तो उन्होंने इस नरपुंगव को बन्दी बना लेने का आदेश दे दिया। किन्तु इस लोकप्रिय नेता पर हाथ रखने का भी साहस अवध की पुलिस न कर पाई। तब एक विशेष सैनिक टुकड़ी को इस नरकेसरी को बन्दी बनाने का कार्य सौंपा गया। यह महान पुरुष बन्दी बना लिया गया और इसे प्राण-दण्ड सुना दिया गया, किन्तु इन्हें कुछ समय तक फैजाबाद के कारागार में रखा गया।

किन्तु अब तो ऐसा दृश्य उपस्थित हो गया था कि अंग्रेजों और मौलवी में ही इस बात को लेकर प्रतिस्पर्धा चल पड़ी थी कि कौन किसको फांसी पर लटकाता है। इधर मौलवी द्वारा अंग्रेजी राज्य को समूल उखाड़ देने का प्रयास चल रहा था तो दूसरी ओर ब्रिटिश सत्ता मौलवी को फांसी देने के लिए वधस्तम्भ का निर्माण करने में संलग्न थी। इस शीघ्रता में मौलवी तो फैजाबाद के कारागार में ही बन्द था, किन्तु अंग्रेजों ने तो अपने लिए ही वधस्तम्भ बनाकर खड़ा कर दिया था, क्योंकि मौलवी साहब के बन्दी बना लिए जाते ही क्रान्ति की रखी हुई बारूद में अग्नि लग गई और एक भयानक विस्फोट से चतुर्दिक धड़ाका हो

गया। क्या सैनिक और क्या नागरिक सभी 'हर-हर बम-बम' का उच्चार कर उठे। जब सिपाहियों को साधने हेतु अंग्रेज अधिकारी संचलन प्रांगण में एकत्रित हुए तो सिपाहियों ने उन्हें अपने ओजस्वी स्वर में बता दिया "अब हम भारतीय अधिकारियों के निर्देशों का ही पालन करेंगे और हमारे नेता हैं सूबेदार दलीपसिंह।" अब दलीपसिंह के आदेश पर अंग्रेज अधिकारी बन्दी बना लिए गए। इधर उस जनप्रिय राष्ट्र सन्त की चरण रज से पावन बन गए कारागार की ओर सैनिक और नागरिक बढ़ चले और जनता के प्रेमपूर्ण उद्‌गारों और जय-जयकारों से धरा-गगन गूंज रहे थे और उधर कारागार का द्वार चरमराकर टूट रहा था। मौलवी अहमदशाह की हथकड़ियां और बेड़ियां तोड़ दी गई थीं और वे कारागार के समक्ष एकत्रित प्रचण्ड जन सागर के मध्य आ गए थे। एक प्रकार से तो यह मौलवी साहब का पुनर्जन्म ही था। जिस अंग्रेज सत्ता ने मौलवी साहब को वध-स्तम्भ पर लटकाने का प्रयास किया था आज तो उसीकी गर्दन उनके हाथ में आ गई थी। मौलवी साहब मुक्त होते ही अवध के क्रान्तिकारी दल के नेता बना दिए गए। उन्होंने सर्वप्रथम कर्नल लेनाक्स के पास ही धन्यवाद का सन्देश भेजा जो अब बन्दी था और जिसने उन्हें कारागार में हुक्का रखने की अनुमति प्रदान कर दी थी। यह तो वस्तुतः देहान्त के दण्ड का प्रतिरोध मात्र ही था।[१] 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तरणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।"

जिन्होंने उन्हें फांसी की सजा देकर भी हुक्का रखने की अनुमति दे दी थी, उनका आभार मानने के उपरान्त मौलवी साहब ने अंग्रेज अधिकारियों को फैजाबाद छोड़ देने का आदेश दे दिया। अन्य स्थानों के समान फैजाबाद में लूट-मार न होने पाए, इसलिए पहले ही सिपाहियों के रक्षक दल भेज दिए गए थे। मैगजीन तथा इमारतों पर भी पहरा बैठा दिया गया था। १५वीं सेना के सैनिकों ने एक युद्धसमिति का गठन किया था। और उसने अंग्रेज अधिकारियों की हत्या करने का कार्यक्रम निर्धारित किया था। किन्तु अब इस निश्चय का पालन करना उपयुक्त नहीं है, ऐसा उनके मुख्य अधिकारी ने निश्चय किया था। उसने तो अंग्रेज अधिकारियों को जीवित चले जाने की छूट दे दी थी। किन्तु उन्हें यह आदेश भी दे दिया गया था कि "वे अपनी निजी संपत्ति और माल आदि ले जा सकते हैं, किन्तु अवध के स्वामित्व अर्थात् जनता के उपयोग की कोई वस्तु वे न ले जा सकेंगे, क्योंकि उसपर अवध के राजा वाजिदअलीशाह का स्वामित्व है।"[२]

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड १, पृष्ठ ३९४

२. **"Might take with them all private property, but no public property, as that all belongs to the King of Oudh"—Charles Ball. vol. II, P. 394.**

तदुपरान्त क्रान्तिकारियों ने स्वयं अंग्रेजों के लिए नौकाएं तैयार कीं और उन्हें कुछ रुपए भी दिए। अंग्रेजों ने सिपाहियों से विदाई ली और घाघरा नदी के पार चले गए। ६ जून को प्रातःकाल एक घोषणापत्र प्रकाशित किया गया, जिसमें घोषणा की गई थी कि फैजावाद से कम्पनी की राज्य सत्ता समाप्त हो गई है और अब स्वतन्त्र फैजाबाद में वाजिदअलीशाह का शासन स्थापित हो गया है।

इधर अंग्रेज चार नौकाओं में सवार होकर जा रहे थे और उधर उनपर १७वीं पलटन के सैनिकों की दृष्टि पड़ गयी। उन्हें फैजावाद से इस आशय का एक पत्र मिला था कि "इस मार्ग से आने वाले फिरंगियों का वध कर दो।" इसी पत्र के निर्देशानुसार इन सैनिकों ने नौकाओं पर आक्रमण कर दिया। चीफ कमिश्नर गोल्डने, लेफ्टिनेन्ट थामस, रिची, मिल, एडवर्ड, करी आदि गोरे मृत्यु के घाट उतार दिए गए। जो भागकर मोहोवा ग्राम में पहुंच गए थे, उन्हें वहाँ पुलिसवालों ने ही ठिकाने लगा दिया। केवल एक नौका में सवार अंग्रेज ही नाविकों की सहायता से किसी प्रकार बचकर अंग्रेजों की छावनी तक पहुँच पाने में सफल हो पाए। इधर राजा मानसिंह के परिवार के लोग भी अपनी शरण में रहने वाले गोरों को सुरक्षित रखने में विवशता का अनुभव कर रहे थे। मानसिंह उन दिनों अवध में ही थे। उन्होंने अपने परिवार वालों को एक पत्र भेजकर सूचित कर दिया कि—"किसी स्थिति में भी अंग्रेज पुरुषों को आश्रय मत देना। उनके परिवार वालों को रख सकते हो, किन्तु वह भी अपनी शर्तों को स्वीकार कराकर। यदि वे उन शर्तों का पालन करने में थोड़ी सी भी आनाकानी करें तो उनकी तलाशी अवश्य ले लेना।" यह पत्र राजा मानसिंह ने क्रान्तिकारी दल से हुए अपने इकरार के अनुसार ही लिखा था। अतः अब तक उनके दुर्ग में जो अंग्रेज पुरुष रह रहे थे वे भी घाघरा पार जाने के लिए दुर्ग से बाहर निकले। मार्ग में उन्हें भी अनेक कष्टों और बाधाओं को सहन करना पड़ा। उनमें से कई ने दम तोड़ दिया और बचे हुए गोपालपुरा पहुँच गए। वहाँ के राजा ने २९ दिन तक इन अंग्रेजों का भली भांति सत्कार किया और तदुपरान्त उन्हें अंग्रेजी थाने पर सकुशल पहुंचा दिया। १८५७ के इस विप्लव के बाद भी जो अंग्रेज बच रहे थे, उन्होंने उस समय के अपने अनुभव लिपिबद्ध किए हैं और क्रमानुसार सविस्तर उन्हें लिखा है। इनको पढ़कर भी हमें बहुत कुछ वस्तुस्थिति की जानकारी मिल सकती है। ये भारतीय जनता की उदात्त मनोभावनाओं के परिचायक हैं और उनके सजीव स्मारक भी हैं। अवध में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचण्ड जनरोष का सागर उमड़ रहा था। इतने पर भी जो अंग्रेज क्रान्तिकारियों को सहायता देने वाले राजा-महाराजाओं की शरण में पहुँच जाते थे उनका भलीभांति अतिथि-सत्कार किया जाता था। ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है। वुशर ने लिखा है—"अन्त में,

मैं अकेला ही बचा रह गया था। भागते-भागते मुझे मार्ग में एक ग्राम दृष्टिगोचर हुआ। मेरी जिस पहले व्यक्ति से भेंट हुई वह एक ब्राह्मण था; मैंने उससे पीने के लिए जल मांगा। मेरी दुर्दशा देखकर उसकी कृपा उमड़ पड़ी। उसने मुझे बताया कि इस ग्राम में अधिकांशतः ब्राह्मण ही हैं। अतः तुम्हारी हत्या कोई नहीं करेगा…। बुलीसिंह यहाँ भी मेरा पीछा करता-करता आ पहुँचा। उसके साथ उसके कतिपय अन्य साथी भी थे। वे प्रत्येक स्थान पर तलवारें घोंप-घोंपकर मेरी खोज करने लग गए। उन्होंने मुझे शीघ्र ही खोज निकाला और केशों से पकड़कर खींचते हुए बाहर ले आए। तभी ग्रामवासी भी एकत्रित हो गए और फिरंगियों को जी भरकर गालियां देने लगे। फिर देहातियों के इस कोलाहल के मध्य ही मुझे बुलीसिंह दूसरी ओर ले गया। मेरी मृत्यु की तिथि प्रतिदिन आगे बढ़ाती जाती। मैं उनके चरण पकड़कर प्राणदान देने की प्रार्थना करता। अन्ततः बुलीसिंह मुझे अपने घर ले आया, और एक दिन मुझे हमारी छावनी में पहुँचा दिया गया।"

कर्नल लेनाक्स ने लिखा है—"हम भाग रहे थे, तब नजीम हुसैनखाँ के कुछ व्यक्तियों के घेरे में आ गए। उनमें से एक रिवालवर तानकर बोला फिरंगी को गोली मार देने के लिए मेरे तो हाथ अकुला रहे हैं। वह दांत किटकिटा रहा था। उसने ऐसा कहा अवश्य किन्तु ऐसा कोई कार्य किया नहीं। फिर हमें नजीम के समक्ष उपस्थित किया गया। वह अपने दरबार में एक मसनद से पीठ लगाए हुए बैठा था। उसनें हमें शर्बत पिलाया और कहा कि तुम लोग निर्भय रहो। अभी इस बात पर विचार ही किया जा रहा था कि हमारे ठहरने की व्यवस्था कहां की जाए तभी क्रोध से भरे एक नौकर ने अस्तबल की ओर इशारा किया। उसके इस कार्य के लिए नवाब ने उसे बहुत अधिक बुरा-भला कहा। किन्तु तभी दूसरा आगे आया और बोला इसमें इतना सोचते रहने की क्या बात है? इन सारे फिरंगी कुत्तों को मैं अभी ठिकाने लगाए देता हूँ। पुनः नजीम ने हम सबको प्राणरक्षा का आश्वासन दिया और उन्हें डांटा। क्रान्तिकारियों के भय से हम जनानखाने के समीप छिप गए थे। हमें भोजन, वस्त्र सभी कुछ वहाँ ठीक प्रकार से मिल रहा था।" इसके बाद एक दिन नजीम ने ही इन अंग्रेजों को भारतीय वेशभूषा धारण कराकर अंग्रेजों की छावनी में सकुशल भेज दिया।

ज्योंही फैजाबाद से अंग्रेज अधिकारी के पलायन कर जाने का समाचार फैला त्योंही अन्य तहसीलों में भी अंग्रेज भाग खड़े हुए और वहां की जनता ने भी स्वतन्त्रता की पुनीत पताका फहरा दी। उसी दिन अर्थात् ९ जून को ही सुलतानपुर में विद्रोह हुआ तो दूसरे दिन सलोनी में स्वातन्त्र्यगीत गूंज उठे। वहां के अधिकारी भी प्राणों की कुशल मांगते-मांगते यत्र-तत्र भाग खड़े हुए। इनमें से कुछ सरदार रुस्तमशाह की शरण में पहुंचे तो कुछ को राजा हनुमन्तसिंह के राजदरबार

में शरण मिली। अवध के इन वीर नरेशों ने अपनी शरण में आने वाले इन गोरों की प्राणरक्षा मात्र ही नहीं की अपितु इनकी भली-भांति आवभगत भी की। वस्तुतः सभी जमींदार अंग्रेजों के हाथों अपमानित और बरबाद हो चुके थे। हां, उन्होंने इस सत्य को कदापि विस्मृत नहीं किया कि उनका धर्म पददलित हुआ था और उनके स्वराज्य को धूल-धूसरित किया जा रहा था। अपने सिपाहियों सहित वे स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान दे रहे थे। इनमें से अनेक तो यह संकल्प ही ग्रहण कर चुके थे कि हम अंग्रेजों को अपनी पावन मातृभूमि से निष्कासित कर देने के उपरान्त ही विश्राम करेंगे। किन्तु इस महान राष्ट्रभक्ति के साथ ही साथ अपने हृदय की विशालता और उदारता का भी तो उन्होंने परित्याग नहीं किया था। जब बहुसंख्यक जनता द्वारा प्रतिशोध की अग्नि में अंग्रेजों को जलाया जा रहा था, लोग उन्हें गाजर-मूली के समान काट रहे थे तब इन्होंने अंग्रेज अधिकारियों और उनके परिवारों की न केवल हत्या ही नहीं की अपितु उनका अतिथि सत्कार भी किया और उन्हें संरक्षण भी दिया। जिन अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें कष्ट देने में कोई कमी नहीं की थी उन्हें भी इन्होंने अवसर पड़ने पर प्राणदान देने में तनिक-सा भी संकोच प्रदर्शित नहीं किया। जनता ने इनसे बार-बार आग्रह किया था कि "इन्हें प्राणदान न दो, क्योंकि समय आने पर ये हमसे पुनः संघर्ष करने के लिए सिद्ध हो जाएंगे।" १८५७ के उत्तरार्ध में जनता की यह आशंका सत्य भी सिद्ध हुई। किन्तु इन भूमिपातियों ने, इन नरेशों ने, इन राजाओं और नवावों ने इनसे उदारता ही बरती। जनता के क्रुद्ध होने पर इतनी उदारता का पालन और वह भी उस समय जबकि क्रांति-ज्वालाएं चतुर्दिक धधकी हुई हों, हिन्दुस्तान को छोड़कर विश्व का कौन-सा महान् देश प्रदर्शित कर सकेगा ?

किन्तु अवध प्रदेश की जनता ने उस समय जो उदारता प्रदर्शित की थी, उसका कारण कोई दुर्बलता नहीं थी। ३१ मई से जून मास के प्रथम सप्ताह की समाप्ति तक ही सम्पूर्ण अवध प्रदेश एक यंत्र के तुल्य सहसा ही जागृत हो उठा। इस प्रदेश के सभी जमींदार और राजा, अंग्रेजों की नौकरी करने वाली पैदल सेना, अश्वारोही तथा तोपखानों के सहस्रों शूर सिपाही, नागरिक विभागों के सभी कर्मचारी, कृषक और व्यापारी व छात्र हिन्दू तथा मुसलमान इस देश को स्वतन्त्र कराने के लिए एक तन एक मन, और एक प्राण होकर क्रांति यज्ञमें समिधा समर्पण हेतु सन्नद्ध हुए। उन्होंने अपने व्यक्तिगत वैर-विरोध, वर्ण और जाति तथा धर्म के भेद-विभेदों को देश-प्रेम की पावन मन्दाकिनी में प्रवाहित कर दिया। प्रत्येक के हृदय में यही महान आस्था और विश्वास उत्पन्न हो गया था कि मैं देश, जाति और धर्म के लिए, न्याय और सत्यता के लिए धर्मयुद्ध में अवतरित हो रहा हूं। केवल १० दिन की अवधि में ही जनता ने वाजिदअलीशाह

को पुनः उसके सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया था। जनता ने डलहौजी के इस ताने का कितना मार्मिक उत्तर दिया था कि "हमने प्रजा के कल्याण की भावना से ही वाजिदअली को सिंहासनाच्युत किया है।" जुलाई के प्रथम सप्ताह की समाप्ति तक ही अवध प्रदेश में एक भी तो ऐसा ग्राम नहीं रह गया था जहां यूनियन जैक को टुकड़े-टुकड़े करके पददलित न किया गया हो, जहां डलहौजी को उसके ढकोसले का मुंहतोड़ उत्तर दिया जा रहा था। इस सम्पूर्ण स्थिति का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने के उपरान्त प्रसिद्ध इतिहास-संशोधक फारेस्ट ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—"इस प्रकार केवल दस दिन में ही अवध का अंग्रेजी शासन अतीत के किसी स्वप्न के समान तिरोहित होकर एक स्मृतिमात्र बनकर रह गया। सेना विद्रोही बनी, प्रजा ने राजभक्ति को ठोकर मार दी, किन्तु न ही उनमें प्रतिशोध की भावना थी और न ही क्रूरता। वीर तथा उत्तेजित जनता ने शासक वर्ग के निराश्रित शरणार्थियों को शरण दी, उन्हें प्रायः सभी स्थानों पर दयाभावना सहित रखा गया। जिन शासकों ने अपनी चलती में, अब तक परोपकार के नाम पर जनता को अवर्णनीय कष्ट दिए थे, अत्याचार ढाए थे, उन पराजित शासक अंग्रेजों से अवध की जनता ने जिस उदारता और शिष्टता का व्यवहार किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। यदि सुयोग्य तथा अनुभवी अंग्रेजों को अवध के इन वीरों ने अपनी उदारतावश जीवनदान न दे दिया होता तो नौसिखए अंग्रेजों के लिए अवध पर पुनः विजय प्राप्त करना कदापि संभव न हो पाता।

१० जून तक सम्पूर्ण अवध प्रान्त स्वतन्त्र हो गया और वहां से सिपाही तथा स्वयंसेवक सभी ने लखनऊ को प्रस्थान कर दिया। जहां प्रभावशाली अंग्रेज अधिकारी हैनरी लारेन्स मरणोन्मुख ब्रिटिश राज्यसत्ता को चैतन्य प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील था। यद्यपि सम्पूर्ण प्रान्त से ब्रिटिश राज्यसत्ता समाप्त हो गई थी, किन्तु उसने राजधानी पर अभी भी अपना नियन्त्रण ढीला नहीं होने दिया था। क्रान्ति का ज्वार कभी न कभी यहां आ सकता है, इस कल्पना से उसने पहले से ही मच्छी और रेजीडेन्सी में अंग्रेजों के लिए संरक्षण-स्थल का निर्माण कर रखा था। इन दोनों स्थानों पर उसने सुदृढ़ किलाबन्दी कर ली थी। लखनऊ की भारतीय सेनाएं ३१ मई को विद्रोह करने के उपरान्त जब चली गईं तो सर हेनरी ने सिखों की एक उत्तम रेजीमेन्ट तैयार की। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना का जो भाग अभी भी राजभक्त था उसको लेकर भी एक सेना का गठन किया था। जो क्रान्तिकारी सिपाही अभी भी रह गए थे वे भी १२ जून को विद्रोह करने के उपरान्त चले गए थे। सर हेनरी को इनके विद्रोह पर भी प्रसन्नता ही हुई थी, क्योंकि उस समय भी उसके पास चुने हुए गोरे सैनिकों की एक रेजीमेंट थी, तोप-

खाना था और साथ ही कठिन घड़ियों में जिसकी 'राजभक्ति' न डगमगा पाई थी ऐसे सिखों तथा अन्य भारतीयों की दो रेजीमेन्ट थीं। अतः वह तो युद्ध के लिए पूर्णतः सिद्धता ही किए बैठा था।

लखनऊ के चारों ओर वे विद्रोही सैनिक एकत्रित होते जा रहे थे, जिन्होंने विद्रोह किया था। इनके अतिरिक्त लड़ाकू स्वयंसेवकों का भी जमाव होता जा रहा था। दोनों ही परस्पर घात लगाए हुए थे। उधर कानपुर के घेरे का युद्ध भी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। ऐसी स्थिति में क्रान्तिकारी और अंग्रेज दोनों ही पक्ष कानपुर से कोई सूचना मिलने के पूर्व चढ़ाई करने को तैयार नहीं थे। २३ जून को सर हेनरी लारेन्स ने लार्ड केनिंग को लिखा था कि "यदि कानपुर टिका रहा तो फिर लखनऊ पर घेरा ही शायद पड़ेगा।" २८ जून को लखनऊ में सूचना प्राप्त हुई कि कानपुर में एक भी अंग्रेज जीवित नहीं बच सका है। इस समाचार से उत्साह ग्रहण कर क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों पर चढ़ाई करने के लिए चिनहट की ओर प्रस्थान कर दिया।

अंग्रेजों को कानपुर में जो भयंकर पराजय मिली थी, उस पराजय से अंग्रेजी सत्ता यत्र-तत्र सर्वत्र ही डगमगा उठी थी। सर हेनरी लारेन्स ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि क्रान्तिकारियों को इससे भी दुगनी करारी हार दी जाए अन्यथा लखनऊ की रेजीडेन्सी तो क्या बचेगी, कलकत्ते को फोर्ट विलियम्स भी सुरक्षित न रह पाएगा। उसने कानपुर के अपमान को क्रान्तिकारियों के रक्त से धो डालने का निश्चय कर लिया था। २९ जून को प्रातःकाल अंग्रेजी सेना लोहा पुल के समीप एकत्रित हो गई। लगभग चार सौ अंग्रेज सिपाही, चार सौ ही राजभक्त भारतीय सिपाही व १० तोपों के साथ सर हेनरी लारेन्स ने लखनऊ से प्रस्थान कर दिया। जब उसे शत्रु की गतिविधियों का कहीं दूर तक भी संकेत नहीं मिला तो वह ससैन्य आगे बढ़ता चला गया। अन्ततः वह क्रान्तिकारियों के हरावल तक ही जा पहुंचा। सर हेनरी लारेन्स ने अपने सिपाहियों को दाएं हाथ की ओर स्थित एक ग्राम पर अधिकार कर लेने का आदेश दे दिया। तदनुसार उस ग्राम पर अधिकार कर लिया गया। इधर गोरे सैनिकों ने अपने बाईं ओर स्थित इस्माइल गंज पर भी अपना कब्जा जमा लिया। तोपखाने के भारतीय और अंग्रेज तोपचियों ने क्रान्तिकारियों पर इतनी प्रचण्ड अग्निवर्षा की कि उनका तोपखाना ही बंद हो गया। उस दिन चिनहट में तो गोरों का पलड़ा लगभग भारी ही था, किन्तु सहसा ही बाईं ओर स्थित एक ग्राम पर क्रान्तिकारियों के गुप्त आक्रमण का समाचार प्राप्त हुआ। अंग्रेजों पर सहसा ही आक्रमण किया गया, जिसके फलस्वरूप वे पलायन कर गए। क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजी सेना के पार्श्व तथा बीच के विभाग पर एक साथ आक्रमण कर दिया। ज्योंही गोरे पीछे हटने लगे त्योंही

क्रान्तिकारी सेना ने अपना दबाव बढ़ा दिया। अंग्रेजी सेना में हलचल मच गई। सर हेनरी लारेन्स ने यह समझ लिया कि अब लड़ने का एक ही अर्थ होगा सर्वनाश। अतः उसने अपनी सेना को पीछे हट जाने का आदेश दे दिया। पीछे हटने में भी गोरी सेना को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी, क्योंकि क्रान्तिकारी केवल चिनहट में अंग्रेजों को पराजित करके ही नहीं रुक गए थे, अंग्रेजों पर धावा बोलना जारी रखा। इसके फलस्वरूप गोरी सेना का अनुशासन भंग हो गया और वे तितर-बितर होकर अपने प्राण बचाते हुए भाग निकले। पराजित गोरी सेना लखनऊ की ओर पलायन कर रही थी। ४०० गोरों में से १५० तो चिनहट की रणभूमि ही चाट गई थी। कितने भारतीय राजभक्त मारे गए उनकी गणना से लाभ ही क्या है? अंग्रेज दो बड़ी तोपों तथा एक हैविटजर को भी रणभूमि में ही छोड़कर भाग निकले थे। साथ ही कानपुर का प्रतिशोध लेने की कल्पना भी इसी रणक्षेत्र में दबी रह गई थी। सर हेनरी लारेन्स इस भयंकर आघात के लगने पर रेजीडेन्सी में लौट आया था, किन्तु क्रान्तिकारी अभी भी उसका पीछा कर ही रहे थे। चिनहट का युद्ध उसी समय समाप्त हुआ जब बचे-खुचे, अंग्रेज और राजभक्त सिपाही रेजीडेन्सी की तोपों की छाया में ही दम लेने पर विवश हो गए। किन्तु अभी इस युद्ध का प्रभाव तो समाप्त नहीं हो पाया था। क्रान्तिकारियों ने तो अब मच्छी भवन तथा रेजीडेन्सी दोनों ही स्थानों को घेर लिया। अब सर हेनरी ने निश्चय किया कि एक ही स्थान पर प्रतिरोध किया जाए। अतः उसने मच्छी भवन भी खाली कर दिया। वहां के अपरिचित गोला-बारूद में आग लगाकर, उसके भण्डार में अग्नि दहकाकर गोरे रेजीडेन्सी में आ डटे। इस स्थान में पहले से ही पर्याप्त मात्रा में शस्त्रास्त्र गोला-बारूद तथा अन्न-सामग्री आदि एकत्रित थी, जो आवश्यकता से भी अधिक थी। इस समय रेजीडेन्सी में लगभग एक हजार गोरे तथा ८०० भारतीय सिपाही थे। बाहर क्रान्तिकारियों की विशाल सेना सिद्ध खड़ी थी। इनसे भिड़ने की अंग्रेजों ने सिद्धता की। चिनहट के युद्ध के उपरान्त भी रेजीडेन्सी में लोहा लेने का अंग्रेज़ सेनापति का दृढ़ संकल्प देखकर क्रान्तिकारी भी स्तम्भित रह गए। किन्तु विदेशी सत्ता और पराधीनता का सदा के लिए अन्त कर देने की प्रबल लगन से उनके हृदय भी दग्ध हो उठे।

इस प्रकार अवध प्रान्त में अंग्रेजी राज्यसत्ता सिकुड़ते-सिकुड़ते अन्ततः लखनऊ की छोटी से रेजीडेन्सी में ही बन्दी बनकर रह गई।[1] नगर में अवध के नवाब

---

१. रैड पैम्फलेट के सुप्रसिद्ध लेखक ने लिखा है—"सम्पूर्ण अवध प्रान्त हमारे विरुद्ध हथियार लेकर खड़ा हो गया था। स्थायी सेना के सैनिक मात्र ही नहीं, भूतपूर्व शासक के ६० हजार सिपाही, जमींदार तथा उनके सिपाही

वाजिदअलीशाह के नाम पर उनकी बेगम ने राज्य सूत्र अपने हाथों में सम्भाल लिया। लखनऊ के घेरे में अंग्रेजों से भिड़कर दो-दो हाथ करने के लिए अनेक रणशूर नेता अपने अनुयायियों सहित वहां आने लग गए। जिन्होंने अंग्रेजों को शणागत होने पर अनाथ स्थिति में प्राणदान दिया था, वे सब जमींदार, जागीरदार और राजा भी अब अपनी उदारता को तिलांजलि देकर स्वदेश की मुक्ति हेतु लखनऊ की ओर बढ़ चले। राजा मानसिंह, अन्य नेता एवं मौलवी अहमदशाह जैसे मुस्लिम नेता हाथों में हाथ डालकर अब अंग्रेजों की राष्ट्रपताका को टुकड़े-टुकड़े करने में लग गए। राजा हनुमन्तसिंह, जिन्होंने अपनी शरण में आए हुए अंग्रेजों की विद्रोहियों से रक्षा की थी और जिस तत्परता का प्रदर्शन किया था, उसी तत्परता का प्रदर्शन करते हुए अब विद्रोहियों के साथ सम्मिलित होकर अंग्रेजों से मोर्चा लेने के लिए भी मचल पड़े थे। ● ● ●

और २५० दुर्ग, जिनमें से अनेक बड़ी-बड़ी तोपों से सुरक्षित थे, हमारे विरुद्ध हो गए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्य की तुलना जनसाधारण ने अपने पुराने शासकों के शासन के साथ की और लगभग सर्वसम्मति से ही उन्होंने अपने पुराने शासकों के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया। जिन लोगों को सेना से पेंशन प्रदान कर दी गई थी, ऐसे सेवा-निवृत्त सैनिक प्रकट रूप से ही हमारी भर्त्सना करते हुए विद्रोह में सम्मिलित हो गए हैं।"

: १० :

संकलन

दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली इत्यादि के मृतप्राय राजसिंहासनों में पुनः स्वातन्त्र्य का पवन संचरण करनेवाले जिस अद्भुत क्रान्ति के विस्फोट ने उन्हें जीवनदान दे दिया उसीसे किसी-न-किसी मात्रा में जीवन ग्रहण करनेवाले अन्य संस्थानों पर इसका कितना क्या परिणाम हुआ है ?

सन् सत्तावन में जनसाधारण के मन में यह विश्वास दृढ़ता सहित जम गया था कि जब तक विदेशियों की दासता में हम आबद्ध हैं, तब तक ये सभी संस्थान, जो आज मृतवत् हैं, चेतनाहीन कलेवरों के तुल्य ही बने रहेंगे। हिन्दुस्थान जिस पावनतम एवं महानतम ध्येय से उद्दीप्त हुआ था, इस मानवीय जलनिधि में जो प्रबल ज्वार उमड़ा था, वह किसी राजा-महाराजा अथवा उसके उत्तराधिकारी के लिए तो नहीं उमड़ा था। इसकी पृष्ठभूमि में तो एक ही भावना थी राजा अथवा रंक प्रत्येक ही तो एक दिन इस संसार से विदा ले लेगा, किन्तु राष्ट्र को कभी नहीं मरने देना चाहिए। व्यक्तियों को अपना जीवनदान देकर भी राष्ट्र को अमरत्व प्रदान करना चाहिए। पराधीनता की अपावन शृंखलाओं को तोड़कर स्वदेश को स्वतन्त्र कराना ही इसका एकमात्र ध्येय था। इसलिए इस महान् साधना का मार्ग राजप्रासादों तथा झोंपड़ियों सभी को श्मशान बनाते हुए आगे बढ़ने की होने पर भी उस जनयुद्ध का शंखनाद किया गया था। राजा वही है जो देश की स्वतन्त्रता के लिए संग्राम करे जो देश को स्वतन्त्रता प्रदान करे। अन्य सभी राजा तो मृतक के तुल्य ही हैं।

एतदर्थ ग्वालियर, इन्दौर, राजस्थान, भरतपुर आदि राज्यों की जनता भी इस स्वातन्त्र्य समर की लहरों पर तरंगित होकर उन्हीं के समक्ष प्रक्षुब्ध हो चुकी थी, जिन्हें अंग्रेजों ने अपनी दासता के बन्धनों में आबद्ध कर रखा था। "अपना राज्य तो सुरक्षित, फिर हम व्यर्थ में ही इस संघर्ष में दूसरों के लिए क्यों जूझ पड़ें" इस क्षुद्र भावना ने उनमें से किसी का भी हृदय प्रभावित नहीं किया था।

इसी भांति "हमारा संस्थान भले ही वह एक बालिश्त भर ही क्यों न हो, वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र है, अथवा ब्रिटिश प्रदेशों की जनता से हमें क्या लेना देना है, हम तो स्वशासित अवशिष्ट देश से पूर्णतः स्वतन्त्र हैं", ऐसी क्षुद्र विचार सरणी उनमें से किसी के भी हृदय को प्रभावित नहीं करती थी। एक ही मातृभूमि की सन्तान! फिर भी एक-दूसरे से परायों के समान ही सर्वथा दूर! ऐसी कल्पना को भी धिक्कार। अब तो सन् सत्तावन आ गया! अब तो सम्पूर्ण भारत माता एक प्राण, अखण्ड और एक ही भावना से ओतप्रोत समान भविष्य की ग्रन्थि से आबद्ध है।

अतः हे ग्वालियर के शिन्दे! हमें अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम करने का आदेश दो! हां, तुम हमें केवल लड़ने मात्र की ही स्वतन्त्रता न दो, अपितु हमारा नेतृत्व ग्रहण कर हमारे पथप्रदर्शक बनो! स्वधर्म और स्वदेश का पावन मन्त्र जपते हुए महादजी के अधूरे स्वप्न को पूर्ण करने के लिए अपनी सेना-सहित रणांगण के लिए प्रस्थान कर दो। आज तो सम्पूर्ण देश ही श्री जयाजी शिन्दे की ओर आशाभरी दृष्टि से निहार रहा है। करो, अब तुम रणगर्जना करो। तुम गरजे तो आगरा तत्काल शरण मांगता दृष्टिगोचर होगा, दिल्ली स्वतन्त्र हो जाएगी, दक्षिण गरज उठेगा। विदेशियों को स्वदेश की पावन वसुन्धरा से निष्कासित कर दिया जाएगा। स्वदेश को पराधीनता के महापाप से मुक्तिलाभ होगा और आप? आप इस देश को स्वतन्त्रता का पावन वरदान देनेवाले नरपुंगव कहे जाकर प्रतिष्ठित होंगे। अब तो बीस करोड़ लोगों का आयुष्य एक व्यक्ति के मुख से होनेवाले 'हां' अथवा 'नहीं' के उच्चारणमात्र पर ही अवलम्बित है। ऐसा क्षण तो विश्व के इतिहास में इससे पूर्व कभी भी उपस्थित नहीं हुआ था।

किन्तु हा हन्त! शिन्दे की जीभ इस एक शब्द को बोलने के लिए न हिली। और हिली तब उसने 'युद्ध' के स्थान पर 'मित्रता' का गुणगान आरम्भ कर दिया। और शिन्दे ने मित्रता के निर्वाह का भी वचन दिया तो हिन्दुस्थान को नहीं अपितु अंग्रेजों को। यह विदित होते ही जनता क्रोध से भभक उठी। गर्जना हुई शिन्दे युद्ध से दूर रहना चाहता है तो हम युद्ध करेंगे। मातृभूमि को तुम मुक्त नहीं कराना चाहते तो तुम्हारे बिना ही, और यदि समय आ जाए तो तुम्हारे विरोध को सहन करके भी हम अपने इस पावन दायित्व का निर्वाह करेंगे। आज तक हम शिन्दे के हमसे आकर मिल जाने की प्रतीक्षा करते रहे हैं। हम आज सूर्यास्त तक और भी प्रतीक्षा कर लेंगे, और फिर सूर्य अस्ताचल में छिप जाएगा। गर्जना होगी "हर हर महादेव।" वह उधर गाड़ी में कौन सवार है, कूपलैण्ड और उसकी पत्नी! और वह उसके स्वागतार्थ कौन आगे बढ़ता आ रहा है? १४ जून, १८५७ के उपरान्त अंग्रेजों को नमस्कार! अरे, वह देखो उधर कोई ब्रिगेडियर आ रहा है। किन्तु आज न तो उसे वन्दना करने हेतु ही किसीका हाथ ऊंचा हुआ

और न ही किसीने नतमस्तक होकर उसका सम्मान किया। ठीक है कि वह ब्रिगेडियर साहब हैं ! किन्तु हमने उसे कब ब्रिगेडियर बनाया था ? उसे बनाया होगा तो फिरंगियों ने। क्या किसी प्रासाद पर चढ़कर बैठ जाने मात्र से ही कोई कौआ गरुड़ हो जाता है ? हां तो, अब ब्रिगेडियर के सामने से सगौरव चले जाना[१] और उसकी ओर ताकना तक भी नहीं। उसकी पूर्ण उपेक्षा कर देना ! ग्वालियर की सेना के सैनिक उस ब्रिगेडियर की तनिक भी चिन्ता न करते हुए सीधे आगे बढ़ गए। इतने पर भी सायंकाल तक सर्वत्र शान्ति थी, तभी सहसा एक बंगले में अग्निज्वालाएं दहक उठीं। हां, विद्रोह की वेला सन्निकट है, सम्भवतः। हे तोपखानेवालो उठो, हे पैदल पलटनवालो अब विलम्ब मत करो। एक हाथ में प्रज्वलित मशाल और दूसरे में तीक्षण तलवार लेकर दिगदिगन्त में यह पावन नाद गुंजा दो कि यह हमारा देश है। भारतीयों को कंठ से लगाओ और गोरों की ग्रीवाएं नोंच दो। मारो फिरंगी को। तुम घरों में छिप रहे हो ! अच्छा तो उस घर का ही अग्नि संस्कार कर दो। यह अग्नि-ज्वालाओं से बचने के लिए बंगले की ओर से कौन भाग रहा है ? कोई गोरा है, तो फिर मत बढ़ने दो इसे आगे। इसका सिर धड़ से पृथक कर दो। सावधान, ठहरो, मत मारो, रुक जाओ ! हम महिलाओं पर कदापि हथियार नहीं उठाते। यह पैशाचिक कृत्य रात्रि-भर इसी भांति जारी रहा। ग्वालियर नगर में ही क्यों, शिन्दे के राजमहल में भी कोई गोरा जीवित नहीं रहना चाहिए। शिन्दे के प्रदेश से सभी गोरे आगरा तक भगा दिए गए थे। गोरी महिलाओं को बन्दी बनाया गया था। यों तो परस्त्री से वार्तालाप करना ठीक नहीं। किन्तु वह देखो, एक अंग्रेज महिला, उधर धूप में झुलसी जा रही है ! उससे तो इतना पूछ लो मेम साहब यह तो बताइए कि यहां की धूप कैसी है ? नितान्त कड़ी है न ? यदि आप अपने ठण्डे देश में ही निवास करतीं तो आपको इस महान् विपत्ति में क्यों फंसना पड़ता। और इन दिनों तो यह धूप आपको और अधिक कड़ी प्रतीत हो रही होगी। इस परामर्श को सुनकर उस दूसरे व्यक्ति के मुख से क्या शब्द निकल रहे हैं ? अजी क्या आपको आगरा जाना है ? अच्छा, किन्तु तुम्हारे लोगों का तो कभी का सफाया हो चुका है। मैंने कहा, "स्मरण रखना कि अब तो आगरा दिल्ली के ही अधीन है। वहां भी तो दिल्ली सम्राट् की ही छत्रछाया है। किन्तु इतने पर भी आप वहीं जाना ही चाहती हैं ?" सहसा ही हास्य की एक लहर विस्फारित हो उठी। शिन्दे तो मूर्तिवत् स्थिर होकर रह गया था। सिपाहियों ने गोरे अधिकारियों को ठिकाने ही जो लगा दिया। अंग्रेज नर-नारी, ध्वज और सत्ता सभी को ग्वालियर की सीमा से निष्कासित कर ग्वालियर

---

१. श्रीमती कूपलैण्ड द्वारा लिखित "नेरेटिव्ह"

को पूर्णतः स्वतन्त्र घोषित कर दिया गया था। तदुपरान्त क्रान्तिकारियों ने शिन्दे से अपना नेतृत्व करने को कहा। यह भी कहा गया कि आगरा, कानपुर और दिल्ली के स्वातन्त्र्य संग्राम में योगदान देने के लिए शिन्दे अपनी सम्पूर्ण सेना सहित आ रहा है, क्योंकि शिन्दे वचन भी देता जा रहा था और उन्हें भंग भी करता जा रहा था। वह सैनिकों को भी रोकता गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जब-तक तात्या टोपे वहां नहीं पहुंचेंगे तब तक ग्वालियर की सेना हाथ पर हाथ धरे ही बैठी रहेगी।[1]

इसीलिए तो आगरा स्थित अंग्रेजों के मन में आशा का संचार हो गया था। वहाँ रहने वाला उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रांत का लेफ्टिनेन्ट गवर्नर कालेविन तो मृत्यु के भय से प्रत्येक क्षण काँपता रहता है। मेरठ के विद्रोह के समय विगड़े हुए सैनिकों के समक्ष इसी ने तो 'राजभक्ति' का गुणगान किया था। किन्तु इसके उपदेश के वावजूद क्षमायाचना के लिए एक भी सिपाही आगे तो नहीं बढ़ा, उनमें से किसी ने भी तो कायरता प्रदर्शित नहीं की, अपितु इसके सर्वथा विपरीत ५ जुलाई को तो सिपाही आगरा पर ही चढ़ दौड़े। नीमच तथा नसीरावाद के विद्रोही भी आगरा पर टूट पड़े। उस समय वितौली और भरतपुर के राजाओं की 'राजभक्त' सेना ही उनसे लोहा लेने के लिए भेजी गई। किन्तु इन सैनिकों ने भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि "हम अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का कदापि विचार नहीं करेंगे किन्तु हम अपने देश-वान्धओं के विरुद्ध हथियार उठाने को भी तैयार नहीं हैं।" अंग्रेजों के मुख पर यह कहकर उन्होंने एक करारी चपत ठोंक दी थी। वे अब निराश हो गये थे। भारतीय राजा अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान भले ही हों, किन्तु उनकी प्रजा और सेना ने तो अपने देशवान्धवों के विरुद्ध कदापि शस्त्र न उठाने का

---

१. उसके (शिन्दे) के लिए अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लेने का यही सुअवसर था। वह यदि विद्रोहियों का प्रस्ताव मान लेता तो अंग्रेजों से प्रतिकार ले सकता था। यदि वह विद्रोहियों का नेतृत्व स्वीकार कर अपने सिद्धहस्त सैनिकों के साथ चल पड़ता तो हमारे (अंग्रेजों) के लिए इसका परिणाम नितान्त ही भयावह होता। इसके कम-से-कम २० हजार सैनिक थे, जिनमें से आधे के लगभग ने अंग्रेजों से पूर्ण सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। वे हमारे (अंग्रेजों) के कच्चे मोर्चों पर टूट पड़ते। आगरा और लखनऊ से हम सर्वदा के लिए हाथ धो बैठते। प्रयाग के दुर्ग में ही हेवलाक बन्द हो जाता और या तो वह किला घेरा जाता अथवा उसें अलग छोड़ते हुए विद्रोही काशी होकर कलकत्ता पहुंच जाते।"

—रेड पैम्फलेट—पृष्ठ १४१

संकल्प ग्रहण किया हुआ था। अतः केवल गोरी सेना को साथ लेकर ही ब्रिगेडियर पॉलह्विल ने आगरा पर आक्रमण करने वाले विद्रोहियों का सामना करने का निश्चय किया। इन दोनों सेनाओं की सिसीआ में भयंकर मुठभेड़ हुई। सम्पूर्ण दिन घनघोर संग्राम होता रहा, किन्तु अंग्रेज क्रांतिकारियों से लोहा लेने में असफलता का अनुभव करते हुए वहाँ से हट गए। विजयानन्द में मदमस्त क्रांतिकारियों ने भेड़िये के समान अंग्रेजी सेनाओं का पीछा करना नहीं छोड़ा। जब अंग्रेज सेना आगरा पहुँची तो उसके पीछे-पीछे ही विजयगीत गाते क्रांतिकारी भी वहाँ पहुँच गए। आज जनता को वह स्वर्णिम अवसर उपलब्ध हो गया था, जिसकी ताक में वह पलक पांवड़े बिछाए बैठी थी। यह ६ जुलाई का दिवस था। पुलिस ने नेतृत्व किया और संपूर्ण आगरा नगर स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जय-जयकार करता हुआ उठ बैठा। पुलिस के इन अधिकारियों ने क्रांतिकारियों को भली भाँति प्रशिक्षित किया हुआ था। हिन्दू और मुसलमान धर्माचार्यों का एक भव्य जलूस निकाला गया। आगे-आगे कोतवाल तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी थे। स्वधर्म और स्वराज्य के जय-जयकार के नारे लगाये गए और साथ ही यह घोषणा भी कर दी गई कि अब अंग्रेजी राज्य समाप्त हो गया है और दिल्ली के सम्राट् का राज्य प्रशासन प्रारम्भ हो गया है।

इस प्रकारा आगरा स्वतन्त्र हो गया। आगरा के स्वतन्त्र हो जाने से पराजय के कारण उत्पन्न अपमान से क्षुब्ध और भविष्य के संबंध में चिंतित कोलह्विन ने दुर्ग का आश्रय लिया। वह इसी चिन्ता में निमग्न थी कि अब शिन्दे क्या करवट बदलता है? यदि केवल इतना समाचार ही कोलह्विन को मिल जाता कि शिन्दे क्रांतिकारियों से मिल गया है तो वह आत्मसमर्पण कर देता। किन्तु शिन्दे द्वारा अपनी वफादारी प्रदर्शित करने के सम्बन्ध में जो पत्र लिखे गए थे उनमें व्यक्त की गई वफादारी से यह स्पष्ट था कि शिन्दे अंग्रेजों के विरुद्ध खड़ा नहीं होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण से आगरा में अंग्रेजों का ध्वज नहीं उतरा था। किन्तु उसे वहाँ फहराए रखने की चिन्ता से ग्रस्त हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सत्ता को नितान्त ही भयावह स्थिति में छोड़कर ९ सितम्बर १८५७ को कोलह्विन दम तोड़ गया।

ग्वालियर की जनता और सैनिकों में जो क्रांतिकारी भावनाएँ उभर रही थीं उनके दर्शन इन्दौर में भी भयानक रूप में हो रहे थे। मऊ की अंग्रेजी छावनी के साथ होल्कर की सेना ने गुप्त रूप से सम्बन्ध स्थापित किया था। दोनों स्थानों की सेनाओं ने यह संकल्प कर लिया था कि एक साथ मिलकर ही विद्रोह की पताका फहरा दी जायगी। १ जुलाई को इन्दौर के राज-दरबार के एक प्रतिष्ठित अधिकारी सआदतखाँ ने रेजिडेन्सी स्थित गोरी सेना पर आक्रमण कर देने का आदेश दे दिया। उसने कहा कि मुझे महाराजा होल्कर से ही यह निर्देश प्राप्त हुआ है।

किन्तु भारतीय सेना को तो यह सब कुछ बताने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। उन्होंने तत्काल स्वतन्त्रता का पताका अपने हाथों में थामी और रेजीडेन्सी पर टूट पड़े। वहाँ के भारतीय सैनिकों ने भी अंग्रेजों के लिए अपने देशबान्धवों पर प्रहार करने से सर्वथा इन्कार कर दिया। अंग्रेजों का साहस भंग हो गया और वे इन्दौर की ओर भाग निकले। रेजीडेन्सी स्थित भारतीय सैनिकों ने गोरों को उनकी प्राणरक्षा का वचन दिया था और उन्होंने अपने इस वचन का पालन भी किया। अंग्रेज ग्रन्थकार इस सम्बन्ध में सदैव ही बड़ी गहन छानबीन करते रहे हैं कि महाराजा होल्कर का झुकाव अंग्रेजों की ओर था अथवा वे क्रांतिकारियों के सहायक थे? किन्तु १८५७ के इतिहास का सूक्षम अन्वेषण करने से एक तथ्य प्रकाश में आता है कि अनेक नरेशों ने उस समय ढिलमिल नीति का अनुगमन किया था। यह तो एक सत्यसिद्ध तथ्य है कि स्वतन्त्र होने की इच्छा मानवमात्र में ही विद्यमान है। क्रांति असफल न हो इस दृष्टि से तो उन्होंने अंग्रेजों को सहयोग न दिया, किन्तु इस भय से कि कहीं अंग्रेज क्रांति को कुचल देने में सफल हो गया तो फिर हमारी संपत्ति और राज्य तथा जागीरें भी वह जब्त न कर ले; इस भय से उन्होंने क्रांतिकारियों को भी कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं दी। अनेक राजा-महाराजा तो ऐसे थे कि वे देख रहे थे कि यदि क्रांति की सफलता की संभावना निश्चित हो जाए तो वे भी स्वतन्त्रता की पताका तत्काल ही फहरा दें।

इस भाँति उन्होंने एक प्रकार से अंग्रेजों की विजय के लिए ही पथ प्रशस्त कर दिया था। उनकी तो बुद्धि ही कुंठित हो गई थी। वे इतनी-सी बात भी नहीं समझ पाए कि यदि वे क्रांतिकारियों का सहयोग करते हैं तो अंग्रेजों के सफल होने की तो किंचितमात्र भी संभावना नहीं रह जाती। किन्तु यदि वे तटस्थ रहे तो क्रांति की सफलता की संभावना निश्चित रूप से ही धूमिल हो जाएगी। उस संक्रमण काल में अनेक भारतीय नरेशों की मानसिक स्थिति का यही सही विश्लेषण था। जनता और सैनिक यदि अंग्रेजों को रेजीडेन्सी से निकालकर बाहर कर दें तो, भले ही कर दें। इसका तात्पर्य केवल यही होगा कि संस्थान स्वतन्त्र है, फिर भी यदि कहीं अंग्रेजों की विजय हो जाए, तो जो कुछ अपने पास है उसपर आँच नहीं आनी चाहिए, इसलिए वे अंग्रेजों से भी मैत्री के राग अलापने में पीछे नहीं रहे। कच्छ, ग्वालियर, इन्दौर, बुन्देलखण्ड और राजस्थान के नरेशों ने इस प्रवृत्ति का परिचय दिया था।

वस्तुतः भारतीय राजाओं की इसी स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति ने क्रान्ति का गला घोंट दिया था। दो नौकाओं पर पग न धरते हुए यदि वे स्वाधीनता अथवा मृत्यु दोनों में से किसी भी एक का वरण करने का संकल्प लेकर कर्मक्षेत्र में अवतरित हो जाते तो स्वतन्त्रता की देवी अवश्य ही उन्हें वरदान प्रदान करती। किन्तु

उनकी स्वार्थान्धता ने दुविधाग्रस्त इन लोगों को "माया और राम" दोनों से ही वंचित कर दिया। उनके मन में भलाई की भावना कम और क्षुद्र स्वार्थ ही अधिक प्रबल था। अतः उन्होंने जो भलाई की वह भी निरर्थक रही। हां, उनकी ओछी मनोवृत्ति संसार के समक्ष उजागर अवश्य ही हो गयी। पटियाला तथा कतिपय अन्य राज्यों के समान उन्होंने देश से खुल्लमखुल्ला द्रोह तो नहीं किया था, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे भी विश्वासघाती ही सिद्ध हुए। स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं को मन में रमाकर भी उन्होंने स्वार्थ भावना को ही आगे रखा और इसी महान् पातक के कारण वे निंदा के पात्र बने। अब इस महान् पाप का प्रायश्चित भी वे कैसे करेंगे ? अपने ऊपर लगे इन काले धब्बों का वे किस भांति संचालन करेंगे।

जहां इन तुच्छ स्वार्थ भावनाओं ने भारतीय नरेशों को इस हीनता की स्थिति में ला पटका, वहां क्षुद्र स्वार्थ-भावनाएं उनकी प्रजा के मन पर क्षण भर को भी अधिकार जमा पाने में असफल रहीं। इसी जनता की महान् शक्ति, प्रबल आकांक्षा और ध्येयनिष्ठा का यह परिणाम था कि पेशावर से कलकत्ता-पर्यन्त सर्वत्र विप्लव की ज्वालाएं धधकीं, रक्त की सरिताएं प्रवाहित हो उठीं। जनता की ही पारस्परिक ऐक्य भावना और शक्ति के परिणामस्वरूप और निस्स्वार्थ युद्ध ने कुछ ही समय के लिए क्यों न हो अंग्रेजी शासन को एक बार उखाड़ फेंका और उसे धूल चटा दी। ज्वालामुखी की इस भयंकर घड़घड़ाहट में अंग्रेजी सत्ता का मन्दिर हिल उठा।[1]

इस प्रलयंकर भूकम्प का अनुमान कलकत्ता और इंग्लैंड दोनों ही भली-भांति लगा पाने में असफल रहे थे। वहां की सरकार का मत तो यह था कि मेरठ के

---

१. जहाँ भी भारतीय नरेशों ने क्रान्ति में योगदान देने में संकोच किया, उनकी प्रजा पर से उनका नियन्त्रण हट गया। प्रजा अपने राजा का जुआ भी उतारकर फेंक देने को संकल्पबद्ध हो गई। प्रजा की इस विचित्र मानसिक दशा को देखकर ही मैलसन ने कहा था—"ग्वालियर और इन्दौर के समान ही यहाँ भी यह परिलक्षित हुआ कि जब पूरब के लोगों की धर्मभावना पूर्णतः उभार दी जाती है तो उनका स्वामी उनका राजा भी, जिसे वे पिता तुल्य ही नहीं प्रभु का अंश भी मानते हैं, वह भी उन्हें उनकी श्रद्धा के विरुद्ध झुका पाने में सफल नहीं हो पाता। जयपुर तथा जोधपुर नरेश की सेनाओं ने अपने देश-बान्धवों के विरुद्ध संघर्ष करने से स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया था। वे अपने राजाओं के आदेश पर भी ऐसा करने को तैयार नहीं हुए।"

मैलसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ३, पृष्ठ १७२

क्रान्ति-विस्फोट के पूर्व देश में सर्वत्र ही शान्ति थी। मेरठ के उभार तथा दिल्ली से स्वतन्त्रता की सुस्पष्ट घोषणा हो जाने पर भी इस विस्फोट का अर्थ ही कलकत्ता स्थित अंग्रेजों की समझ में नहीं आ रहा था। १० मई से ३१ मई तक विद्रोह की छोटी-सी चिंगारी भी उभरते हुए न देखकर कलकत्ता का यह मत संपुष्ट ही हुआ था कि भारत में कहीं भी कोई विशेष अशान्ति नहीं है। २५ मई को तो गृहसचिव ने स्पष्टतः कहा भी था "कलकत्ता केन्द्र से ३०० मील के व्यासार्द्ध में पूर्णतः शान्ति स्थापित रही है। बीच-बीच में कहीं-कहीं खतरे के जो चिन्ह उभरे थे, वे भी अब दब गए हैं और अब तो संकट पूर्णरूपेण नष्ट हो गया है। हमें दृढ़ विश्वास है कि कुछ ही दिनों में सर्वत्र शान्ति और सुख का महासागर प्रवाहित होने लगेगा ?"

किन्तु अब तो वह थोड़ा समय कभी का लद चुका था। ३१ मई को भगवान अंशुमाली की प्रथम किरणों ने ज्योंही धरा का स्पर्श किया "शान्ति और सुख तथा सुरक्षा का साम्राज्य" चारों ओर स्थापित हो चुका था। लखनऊ के रेजीडेन्सी के चारों ओर, कानपुर के मैदानों और झांसी के खलिहानों में, प्रयाग के बाजारों में, काशी के घाटों में सभी स्थानों पर तो 'शान्ति और सुरक्षा' ही व्याप्त थी। हां, तार टूटे हुए थे, पुल उड़ गए थे, रक्त की सरिताओं में गोरों के शव प्रवाहित हो रहे थे, फिर भी शान्ति और सुरक्षा का राज्य तो चतुर्दिक व्याप्त था ही।

हां, तो इसके उपरान्त ही कहीं कलकत्तावालों की आंखें खुल पाईं। १२ जून को अंग्रेजों द्वारा स्वयंसेवक दलों का संगठन किया जाने लगा। गोरे व्यापारी और क्लर्क, लेखक और नागरिक अधिकारी, तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अंग्रेज ही नितान्त तत्परता सहित सेना में अपना नाम लिखाने लग गया। इन सभी को तुरन्त पथ-संचलन और राइफल चलाने का प्रशिक्षण दिया गया। यह कार्य इतनी तत्परता सहित किया गया कि तीन सप्ताह में ही इन नौसिखिए सैनिकों की एक पृथक् पलटन ही खड़ी हो गई। इसमें पैदल थे तो अश्वारोही और तोप चलाने वाले भी। कलकत्ता की रक्षा के लिए यह सेना पर्याप्त होगी, ऐसा विश्वास व्यक्त किया गया। तब इस सेना को ही यह दायित्व भी सौंपा गया। इसके बाद ही अभ्यस्त और अनुभवी सैनिकों को अंग्रेजों ने उन स्थानों पर भेजा जहां क्रान्ति का जोर बढ़ रहा था।

१३ जून को विधायक कौन्सिल की एक बैठक बुलाकर लार्ड कैनिंग ने समाचारपत्रों के विरुद्ध एक अधिनियम पारित करा लिया। क्योंकि ज्योंही क्रांति का श्रीगणेश हुआ त्योंही बंगाल के सभी भारतीय समाचारपत्रों ने क्रान्तिकारियों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले लेखों का प्रकाशन आरम्भ कर दिया था।

१४ जून को रविवार था। कलकत्ता में भी "शान्ति और सुरक्षा" का महान

महोत्सव हो रहा था। उस दिवस के सभी दृश्यों का विवरण हम यहां एक अंग्रेज लेखक की लेखनी द्वारा ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। उसने लिखा है "सर्वत्र होहल्ला, अशान्ति और हलचल व्याप्त थी। निरन्तर भयानक समाचार प्राप्त हो रहे थे।" बैरकपुर की सेना कलकत्ता पर चढ़कर आ रही है, उपनगरों की जनता तो विद्रोह कर भी चुकी है। अवध के नवाब ने अपनी सेनाओं द्वारा गार्डन टीच में लूट-मार आरम्भ करा दी है। ऐसी बातों पर प्रत्येक व्यक्ति विश्वास करने लग गया था। वरिष्ठ अधिकारियों ने ही जनता में संताप के वातावरण का सृजन आरम्भ कर रखा था। इन लोगों में कौन्सिल के सदस्यों के पास जाकर दौड़-धूप करने वाले और अपने पास भरी हुई पिस्तौलें रखनेवाले और सोफों पर शयन करनेवाले सरकारी सेक्रेट्री भी थे। तो इनमें घर बार का परित्याग कर अपने बालकों के साथ जलयानों पर ही आश्रय ग्रहण करनेवाले कौन्सिल के सदस्य भी थे। उनसे नीचे की श्रेणी के कर्मचारी भी अपने वरिष्ठ अधिकारियों की ये गति-विधियां देखकर उनसे आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर दुर्ग में तोपों की छाया में निर्भय समय व्यतीत करने की कल्पना अपने हृदय में लिए हुए दुर्ग की ओर प्रस्थान कर रहे थे। गोरे लोग घोड़े, गाड़ियों, पालकियां तथा अन्य वाहनों पर सवार होकर वहां से भागकर दूर जाने में ही लिप्त थे। उपनिवेशों में तो ईसाईयों की बस्ती का प्रायः प्रत्येक मकान ही रिक्त हो चुका था। ऐसी स्थिति थी कि यदि केवल ५-६ व्यक्ति ही अपने प्राण हथेली पर धर कर एक संकल्प के साथ वहां आ जाते तो यह सुनिश्चित था कि वे लगभग पौन घण्टे की अवधि में सम्पूर्ण नगर को राख की ढेरियों में परिणत कर सकते थे।

अंग्रेजों की राजधानी में अफवाहों का बाजार गर्म होते ही बस इतनी ही "शांति और सुरक्षा" स्थापित थी। अतः सरकार ने यह संकल्प कर लिया कि बैरकपुर में सैनिकों को जो हंगामे की जड़ हैं और अवध के नवाब को समाप्त कर दिया जाए। बैरकपुर के सिपाही १४ जून को विद्रोह करनेवाले हैं यह समाचार देनेवाला सिपाही भी गोरों को उन्हीं में से मिला था। अतः विद्रोहियों को तोपों का भय दिखाकर तथा घेरकर उनसे हथियार रखवा लिए गए थे और १५ जून को राज्य की सुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए नवाब और उसके मन्त्री को भी बन्दी बना लिया गया था। उनके रनिवास-सहित सम्पूर्ण निवासस्थान की तलाशी ली गई थी। तलाशी में आपत्तिजनक कहने योग्य एक भी वस्तु प्राप्त नहीं हो पाई। इतने पर भी नवाब और उनके मन्त्री को कलकत्ता दुर्ग में बन्दी बनाकर रखा गया। इस प्रकार विद्रोह की ज्वाला के विस्फोट के पूर्व ही कलकत्ता में रचा गया

---

१. रेड पैम्फलेट, पृष्ठ १०५

ज्वालापुंज शनैः शनैः रिक्त कर दिया गया।

कलकत्ता के एक उद्यान के सामान्य से बंगले में जीवन निर्वाह करनेवाले वजीर अली नकी खां ने अपने नवाब को पुनः अवध का राज्य सिंहासन प्रदान कराने की भावना को लेकर सम्पूर्ण बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियों और गुप्त संगठन को संगठित किया था। उनको किले में बन्दी बना लिए जाने के फलस्वरूप तो क्रांति की कपाल क्रिया सी ही हो गई। बन्दी होते हुए भी क्रान्तिकारियों को अपशब्द कहनेवालों को एक बार उन्होंने खरी खोटी सुनाई थी। उन्होंने कहा था कि आज सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में जो क्रान्ति की ज्वाला धधक रही है, मेरी दृष्टि में वह पूर्णतः न्यायसंगत है। अवध के हड़प लेने का यही उचित प्रतिशोध है। सत्य और न्याय के सही पथ का परित्याग कर तुम लोग जान-बूझकर ही असत्य की कंटकाकीर्ण पगडन्डी पर चल पड़े हो, अब जब इस मार्ग पर चलते हुए तुम्हारे अपने ही पैरों से रक्तस्राव होने लगा है तो इसमें आश्चर्य करने को स्थान ही कहां है ! जब तुमने प्रतिशोध के बीज बोए थे उस समय तुम मुस्कारा रहे थे और अब जब वही बीज फल देने लगे हैं तो उनके कड़ुए फलों को देखकर तुम दूसरों को कोसने क्यों लग गए हो ? तुम अपशब्दों की बौछार क्यों कर रहे हों ?[१]

१८५७ के इस क्रान्तियुद्ध में कलकत्ता में भी भ्रान्त कल्पनाएं ही फैल रही थीं। और जब कलकत्ता से प्राप्त होने वाली भ्रमोत्पादक सूचनाओं पर इंग्लैण्ड को निर्भर रहना पड़ रहा था तो इंग्लैण्ड प्रारम्भ से ही इस संबंध में कितने भ्रम और अज्ञान की निद्रा में लम्बी तानें पड़ा होगा और निद्रा भंग होने पर भी विक्षिप्त के समान उन्माद-सहित कार्य कर रहा होगा, इसकी कल्पना ही पाठक वृन्द आप भलीभांति कर सकते हैं। बैरकपुर, बहरामपुर, दमदम तथा अन्य स्थानों के समाचार जब इंगलैण्ड पहुंचे तो सभी सतर्क हो गए और उनकी दृष्टि भारत की ओर केन्द्रित हो गई। किन्तु कुछ ही दिनों में सर्वत्र शान्ति हो गई। ११ जून को हाउस आफ कामन्स में बोर्ड ऑफ ट्रेड (व्यापार मण्डल) के अध्यक्ष ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था "बंगाल में अब तक प्रकट हुई अशान्ति से इतना भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मेरे आदरणीय मित्र लार्ड केनिंग की स्थिर नीति, तत्काल पग उठाने की क्षमता, तथा उनकी सतर्कता ने सेना में दिखाई देनेवाले असन्तोष के बीज को पूर्णतः निर्मूल कर दिया है (have been completely put an end to), उसने संसद में ११ जून को यह दर्पपूर्ण घोषणा की थी। उसी ११ जून को भारत में अश्वारोहियों की रेजिमेंट, तोपखाने के ५ दल और पैदल सेना के वीर भी कम से कम ५० दल तथा सॅपर एवंमाइनर्स के

१. रेड पैम्फलेट।

लगभग सभी कर्मचारियों ने भी विद्रोह की पताका फहरा दी थी। संपूर्ण अवध प्रान्त पर ही क्रान्तिकारियों ने अपनी पताका फहरा दी थी। राजकोष से भी १ करोड़ रुपए से भी अधिक की राशि विद्रोहियों ने अपने अधिकार में ले ली थी। कानपुर और लखनऊ भी क्रान्तिकारियों ने घेर लिए थे और यह सब कार्य उस समय हुआ था जब ब्रिटेन की संसद में लार्ड केनिंग की तत्परता, सतर्कता और क्षमता के संबंध में दर्पपूर्ण घोषणाएं गूंज रही थीं। जब वहां यह दावा किया जा रहा था कि सेना से अशान्ति को समूल नष्ट कर दिया गया है। किन्तु क्रान्ति के बीज के असाधारण और आकस्मिक रूप से प्रस्फुटित हो जाने के समाचार ने पुनः इंग्लैण्ड की आंखों की नींद छीन ली। कानपुर के हत्याकाण्ड का समाचार भी इंग्लैण्ड पहुंचा। १४ अगस्त १८५७ को भयभीत, अधीर, सन्तप्त अंग्रेजों ने हाउस आफ लार्ड्स में यह प्रश्न पूछा कि "क्या कानपुर के हत्याकाण्ड के समाचार सही हैं? अर्ल ग्रेनव्हिल ने इस प्रश्न के उत्तर में बताया कि "मुझे जनरल पैट्रिक ग्रेट द्वारा लिखा गया एक व्यक्तिगत पत्र प्राप्त हुआ है। जिससे यह पता चलता हैं कि कानपुर का समाचार पूर्णतः निराधार और भ्रामक तथा असत्य है। यह अफवाह किसी सिपाही द्वारा फैलाई गई है। अंग्रेजों ने उसके इस नीचतापूर्ण कृत्य की ही पोल नहीं खोली है अपितु उसे फांसी पर लटका दिया गया है।[1] कानपुर के हत्याकाण्ड की चर्चा इधर हाउस आफ लार्ड्स में हो रही थी तब उसकी सत्यता को रक्त के अक्षरों से अंकित किए भी एक मास व्यतीत हो चुका था। अभी कानपुर के संबंध में तथाकथित 'गप' हांकनेवाले सिपाही को वध-स्तम्भ पर लटकाकर इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ विश्राम करने में संलग्न थे कि उसी समय मूर्तिमान सत्य इंग्लैण्ड के समक्ष उपस्थित हो गया। अंग्रेजों की प्रतिष्ठा पर जो प्रबल प्रहार हुआ था, उसके कारण क्रोध और आवेश से सम्पूर्ण ब्रिटेन मतिभ्रमित होकर रह गया। यही उन्माद का दौर आज भी चल रहा है। पागल कुत्तों के समान संपूर्ण इंगलैण्ड में कुहराम मच गया और आज तक अंग्रेज इतिहासकार यह लिखना नहीं भूल सके हैं कि कानपुर का हत्याकाण्ड असन्दिग्ध रूप से ही एक पैशाचिकता और क्रूरता की पराकाष्ठा था। वे यही कहते आ रहे हैं कि इससे तो मानवता के पावन नाम पर ही कलंक लग गया है।

अंग्रेजों के इसी चीत्कार और कोलाहल से सम्पूर्ण जगत के कान पक गए। १८५७ के स्मरणमात्र से ही प्रत्येक को रोमांच हो आता है और लज्जा से लोग माथा झुका लेते हैं। सत्तावन के क्रान्तिकारियों का उल्लेख भी, उनके शत्रुओं के ही नहीं, अपितु विश्व के अन्य लोगों और स्वतः उनके उन देशबान्धवों

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी', प्रथम खण्ड

के हृदय में भी घृणा और अनादर के भाव उत्पन्न करता है, जिनके लिए उन्होंने अपना रक्त प्रवाहित किया था, जिनके लिए वे शीश हथेलियों पर धर कर समरांगण में उतरे थे। इन महान वीरों के शत्रु तो इन्हें राक्षस, पिशाच, रक्त पिपासु और नराधम तथा नरकवीर कहकर सम्बोधित करते ही हैं। तटस्थ व्यक्ति भी उन्हें जंगली, क्रूर और असभ्य आदि कहकर सम्बोधित करते हैं। भारतीय तो उन्हें अपना कहने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं। यह स्थिति १८५७ में ही नहीं अपितु आज भी है, आज भी तो यही अपप्रचार सुनाई पड़ता है। इस प्रकार के अपप्रचार से संसार के कान फाड़े जाते रहे हैं, इसलिए सत्य के स्वर ही उनके कानों में नहीं पहुंचने दिए जाते। क्रान्तिकारी राक्षस हैं, बाल हत्यारे हैं, रक्तपिपासु हैं, नारकीय कीड़े हैं, अमानुषिक अत्याचार करनेवाले हैं यह भ्रम, हे संसार, न जाने कब तक तेरे मन पर छाया रहेगा। न जाने कब वह सुअवसर आयेगा जब तू इन महान राष्ट्रभक्तों के वास्तविक रूप को पहचान सकेगा।

इन क्रान्तिदूतों के लिए यह अपशब्द क्यों कहे जाते हैं? उन्हें इस प्रकार कोसे जाने का कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण है कि कतिपय क्रान्तिकारियों ने स्वधर्म और स्वदेश के लिए, अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए, अंग्रेजों के विरुद्ध उठकर प्रतिशोध का मंत्र जाप करते हुए उनमें से कुछ की हत्या कर दी थी। इसी-लिए आज तक उनके पावन नाम पर अपयश की कालिख पोतने का उपक्रम हो रहा है। असत्य और भ्रम के बादलों में सत्य के सूर्य को ढके रखने का प्रयास चल रहा है।

विवेकहीनता से की गयी हत्या निश्चित रूप से ही पाप है। जिस समय सम्पूर्ण मानव जाति श्रेष्ठतम न्याय तथा परमानन्द के पुनीत आदर्श को प्राप्त कर लेगी, जब ईश्वरीय विभूतियों, देवदूतों एवं धर्मगुरुओं द्वारा प्रस्तुत किए गए धर्मराज्य की कल्पना इस धराधाम पर साकार हो जाएगी, जब ईसा मसीह की देववाणी से निस्रत वह पावन उपदेश कि "जो कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत मारे उसके आगे दूसरा गाल भी कर दो" पर आचरण करने की भी इसलिए आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि कोई किसी के गाल पर चपत मारने का प्रयास ही नहीं करेगा। 'सत्य युग' की उस पावन स्थिति को जब यह संसार प्राप्त कर लेगा तो यदि कोई विद्रोह करने की कल्पना भी करेगा, रक्त की एक बिन्दु मात्र भी गिराएगा, इतना ही नहीं यदि उसके मुख से 'प्रतिशोध' यह शब्द भी उच्चारित होगा तो उस पापी को उसकी इस क्रूरता के लिए अनन्त अवधि के लिए रौरव नरक में फेंक देना ही उपयुक्त रहेगा।

किन्तु जब तक इस दैविक युग का आविर्भाव नहीं हो पाता है, परमानन्द का

वह पावन आदर्श साकार नहीं हो जाता उस शुभ घड़ी का उदय नहीं हो पाता, जब तक सन्तों, देवदूतों और प्रभु के प्रिय पुत्रों का भविष्य कथन साकार नहीं होता, जब तक वह न्यायपूर्ण अवस्था प्राप्त करने के लिए उसकी विरोधी अन्यायमूलक प्रवृत्ति का निर्मूलन करने के लिए मानवी मन प्रवृत्त नहीं हो जाता, तब तक विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध की गणना अधर्म तत्वों में ही करते रहना उचित नहीं है। जब तक 'राज्य' शब्द का उपयोग अन्यायमूलक और न्यायमूलक दोनों प्रकार के तत्त्वों के लिए किया जाता है, तब तक उसका प्रतियोगी शब्द विद्रोह भी न्याय और अन्याय दोनों अर्थों में ही उपयुक्त हो सकता है।

अतः विगत इतिहास अथवा क्रान्ति, रक्तपात और प्रतिशोध के कारण जिन व्यक्तियों ने एक विशिष्ट प्रकार का जीवनयापन किया उनके वर्ग के निर्माण के मूल में विद्यमान परिस्थिति का नितान्त ही सूक्ष्मतम तथा सर्वपक्षीय अध्ययन करना अनिवार्य है। अन्याय का समूल उन्मूलन कर सत्य धर्म की स्थापनार्थ क्रान्ति, रक्तपात और प्रतिशोध प्रकृति-प्रदत्त साधन ही हैं। जब न्याय का देवता भी अपने उद्धार हेतु इस प्रकार के भयानक साधनों को उपयोग में लाता हो तो इन सब बातों के लिए न्याय देवता को नहीं अपितु उन परिस्थितियों के मूल में निहित अन्याय पर ही होता है। अन्याय के फलस्वरूप होने वाला उत्पीड़न और उद्दण्डता ही तो इन साधनों के उपयोग के लिए नियन्त्रण देती है। न्याय के जिस सिंहासन द्वारा किसी अपराधी को मृत्युदण्ड दिया जाता है तब उसे तो कोई दोषी नहीं ठहराता। इसके विपरीत जिस अन्याय के कर्त्ता के रूप में किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, वह अन्याय ही उस पाप का दोषी समझा जाता है। इसीलिए ब्रूटस की तलवार पावन है तो शिवाजी का व्याघ्रनख परम वन्दनीय। इसीलिए इटली की महान क्रान्ति में बहाया गया रक्त परम मंगल का परिचायक माना जाता रहा है, इसीके लिए विलियम टेल का तीर दैवीय, सिद्ध हुआ तो चार्ल्स प्रथम की हत्या को एक न्यायपूर्ण कार्य कहा गया। संक्षेप में पैशाचिक क्रूरता के पाप का भार भी उन्हींके सिर पर आकर पड़ता है; जिन्होंने स्वतः अन्याय कर उस क्रूरता को छेड़ा है।

यह एक अकाट्य सत्य है कि यदि विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध का भय नहीं होता तो लूट, खसोट और अत्याचारोंके पाशविक धूम्र के नीचे वसुन्धरा पड़ी हुई कसमसाती ही रहती। यदि अत्याचारी और अन्यायियों को आज अथवा कल, शीघ्र अथवा विलम्ब से प्रकृति द्वारा प्रतिशोध ले लिए जाने का भय न होता तो इस भूमण्डल पर जार सरीखे तानाशाहों और खूनी दस्युओं का ही दौर दौरा ही रहता। किन्तु प्रत्येक हिरण्यकश्यपु को नरसिंह, प्रत्येक दुःशासन को भीम, अत्याचारी पर नियन्त्रण करने के लिए शासक, सेर को सवा सेर मिलता है। इसी

से तो विश्व में यह भावना विद्यमान रहती है कि अत्याचार और अनाचार सदैव जारी नहीं रह सकते। अतः प्रतिशोध का सीधा सा अर्थ है, अन्याय का नाश करने के लिए प्राकृतिक प्रतिक्रिया और उस समय प्रतिशोध की क्रूरता का महापाप अन्याय और अत्याचार करनेवाले दुराचारी के ही सिर पर ही पड़ता है।

प्रतिशोध की यह भयंकर ज्वाला १८५७ में हिन्दुस्थान के प्रत्येक सत्पुत्र के हृदय में धधक रही थी। उनके सिंहासन चूर्ण-चूर्णकर दिए गए थे, उनके राज-मुकुट टूक-टूक कर दिए गए थे, उनकी जागीरें राजहृत कर ली गयी थीं, उनकी सत्ता का मूल्य एक कौड़ी मात्र रह गया था, उन्हें जो वचन दिए गए थे वे भी केवल भंग करने के लिए ही दिए गए थे। अपमानों और प्रत्यक्ष रूपेण किए गए अत्याचारों ने ही उनमें तूफान खड़ा कर दिया था। लज्जा और अपमान के गृहगर्त में लोग आकंठ डूब गए थे। उनका जीवन पूर्णतः निरस होकर रह गया था जिस भाँति याचनाएं निरर्थक रही थीं, उसी भाँति आवेदनों, प्रार्थनापत्रों; शिकायतों और रोदन तथा आक्रोशों का रत्ती भर भी उपयोग नहीं हो पाया था। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक प्रतिशोध की अकुलाहट चतुर्दिक व्याप्त हो गई थी। अगणित पाशविकताओं और बलात् थोपे गए अन्यायों के मार से भारत इतना अधिक दबोच लिया गया था कि हिन्दुस्थान के लिए प्रत्येक अन्याय का प्रतिशोध लेना ही वास्तविक न्याय था। पूर्णतः न्यायसंगत था। यदि इस विभ्रान्त अवस्था में भी भारत में विद्रोह न होता तो फिर निश्चित रूप से यही कहना पड़ता कि हिन्दुस्थान मर चुका है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि जब सम्पूर्ण राष्ट्र ही क्रोध से दग्ध हो उठा था, उस समय भी विद्रोही की ये ज्वालाएं कतिपय स्थानों तक ही सीमित क्यों रहीं ? क्योंकि इन हत्याकाण्डों के लिए उत्तरदायी लोगों से तर्कशास्त्र सीधा ही यह प्रश्न किया था कि अन्यायपूर्ण दानवी शक्ति के लिए उग्र शक्ति का प्रदर्शन नहीं होगा तो क्या होगा ?" काली नदी के तट पर हुए युद्ध के समय जो सिपाही बन्दी बनाए गए थे उन्हें फाँसी पर लटकाए जाने के पूर्व जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि "बताओ अंग्रेज महिलाओं और बालकों की हत्याएं तुमने क्यों की है ? उन्होंनें सीधा यही उत्तर दिया था सर्प को मारने के उपरान्त सर्पोलियों को कौन बुद्धिमान, है जो जीवित छोड़ देगा ?" कानपुर के सिपाही तो खुले रूप में ही गर्जना करते थे कि अंगारों को बुझा देने के उपरान्त चिंगारियों को चमकने देना और सांपों को समाप्त कर देने के बाद संपोंलियों को जीवित छोड़ देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?"

काली नदी के तट पर बन्दी बनाए सिपाहियों के इस प्रश्न का उत्तर 'साहब' देता भी तो क्या ? यह मुंहतोड़ प्रश्न, जैसाकि अंग्रेज विशिष्टता का दर्प करते हुए कहते हैं, केवल भारत के प्रक्षुब्ध लोगों ने अथवा एशिया के लोगों ने ही किया

था, ऐसा तो नहीं है। जहाँ कहीं भी राष्ट्रव्यापी युद्ध की ज्वाला धधकती है, वहाँ शत्रु राष्ट्र के रक्त की सरिताएँ प्रवाहित करके ही राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लिया जाया करता है। जब स्पेन-निवासियों ने मूर लोगों से अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त किया तब उन्होंने मूरों की क्या दशा बनाकर रख दी थी ? स्पेन के लोग तो एशियावासी नहीं थे, भारतवासी नहीं थे। जो मूर पांच शताब्दी से अधिक तक स्पेन पर शासन करते रहे थे, उन पर वज्र प्रहार कर जब स्पेन वासियों ने उनकी नर-नारियों और बालकों की निर्दयतापूर्वक अमानुषिक हत्याएं केवल इसीलिए की थीं कि उनका वंश पृथक था ? १८२१ में २१ सहस्र नर-नारियों और बालकों की हत्या यूनान में क्यों की गई थी ? यूरोप में जिस गुप्त संगठन को पावन माना जाता था उस 'हिटोरिया' ने इस महान हत्याकाण्ड का समर्थन क्यों किया था ? उसके द्वारा यही तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि "यूनान में तुर्क अल्पसंख्या में थे, किन्तु उनको निकालकर बाहर करना संभव न समझकर ही उनकी हत्या करना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग समझा गया, क्योंकि नीति के अनुसार ऐसा करना ही आकश्यक था। और भारतीय जनता ने भी तो यह उत्तर दिया था कि "सांप को मार देने के उपरान्त संपौलियों को छोड़ ही देना है, तो फिर सांपों को मारने का लाभ ही क्या है ?" इसी विचार के मन में उत्पन्न होते ही तो यूनानियों की दया भावना दब गई थी। तात्पर्य यह है कि सर्प का दमन किए जाने का सम्पूर्ण दोष अन्ततोगत्वा सर्प के ही प्राणघातक विष पर तो पड़ता है।

और यह भी सत्य है कि अपने ऊपर होने वाले अन्यायों का प्रतिशोध लेने की प्राकृतिक प्रवृत्ति यदि मानव हृदय में सदैव जागृत न रहती तो सभी मानवीय व्यवहारों में मानव में प्रतिष्ठित 'पशु' ही महानता प्राप्त कर लेता। अपराधी को दंड देना क्या दण्ड विधान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है ?[१]

इतिहास की यह सीख है कि जब अत्याचार और अन्यायों के पराकाष्ठा पर पहुंच जाने के परिणामस्वरूप मानव मन प्रतिशोध की भावनाओं के प्रचण्ड आवेग से अनियन्त्रित होकर भड़क उठता है, उन स्थितियों में राष्ट्रजीवन के विकास में, अन्य प्रसंगों में अक्षम्य ठहराई जानेवाली आत्म-हत्याएं तथा अमानुसिक अत्याचार होना ही अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए १८५७ के भारतीय स्वातन्त्र्य समर में चार-पांच स्थानों में ही हुए हत्याकाण्डों की क्रूरता पर आश्चर्य व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं, अपितु आश्चर्य तो इस बात पर होना चाहिए कि क्रूरता और हत्याकाण्डों की ये घटनाएं इतनी कम क्यों हुईं ? इस भयंकर प्रतिशोध भावना की ज्वालाएं सम्पूर्ण देश में क्यों नहीं धधकी, उन्होंने सभी को भस्मसात

---

१. 'लन्दन टाइम्स' के सुप्रसिद्ध संवाददाता सर डब्लू रसेल की डायरी, पृष्ठ १६४।

करके अपना विस्तार क्यों नहीं कर लिया ? अंग्रेज बनियों ने तो अपने अत्याचारों के कोल्हू में सम्पूर्ण भारत को पेरकर उसके अस्थिपिंजर मात्र ही छोड़े थे। तात्पर्य यह है कि जब दमन, उत्पीड़न और अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुंच गए तो भारतीय जनशक्ति ने भी इस अत्याचार और अन्याय के मुख पर कसकर थप्पड़ मारा। इस प्रसंग में हिसाब चुकाने मात्र के लिए जो हत्याकाण्ड हुए थे, वे असीम तो नहीं थे, इसके विपरीत यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय अपराधों के लिए जो दण्ड उस राष्ट्र द्वारा उत्पीड़क राष्ट्र को दिया जाता है उसके अनुपात में तो ये हत्याकाण्ड न्यूनतम ही थे। क्रामवेल के कार्यकाल में आयर्लैण्ड में जो हत्याकाण्ड हुए थे, उन जघन्यतम क्रूरताओं का दोषारोपण सम्पूर्ण इंग्लैंड पर था। इतना प्रतिशोध, इतना अधिक रक्तपात और कठोर दण्ड, भारत ने अपने ऊपर किए गए अत्याचारों का प्रतिशोध लेते समय इंग्लैण्ड को नहीं दिया, इस सत्य को तो सभीको स्वीकार करना पड़ेगा। आयर्लैण्ड की जनता की प्रचण्ड और महान देशभक्ति ने क्रामवेल को कितना अधिक उद्विग्न कर दिया था, इसका परिचय तो उस अभागे देश में उसके द्वारा प्रवाहित की गई रक्त की सरिताओं, अपनी माताओं के आंचल में दुग्धपान करने वाले अबोध शिशुओं की निर्मम हत्याओं और निर्दोष महिलाओं के क्रूरता-सहित किए गए वध से लग सकता है। उसके द्वारा तो निर्दोष, निर्धन, निरीह नागरिकों का नरमेध किया गया था। क्या इतिहास में यह विवरण उपलब्ध नहीं है कि क्रामवेल ने अपने देश को जीतने का प्रचण्ड प्रतिशोध कितनी उग्रता सहित आइरिश जनता से लिया था ? उस समय कितना भयंकर रक्तपात हुआ था ? इसके सर्वथा विपरीत भारत में श्रीमंत नानासाहब, सम्राट् बहादुरशाह और महारानी लक्ष्मीबाई ने तो प्रचण्ड प्रतिशोध से दग्ध हो उठने पर भी अंग्रेज महिलाओं और उनके शिशुओं का निर्मम वध रोकने में कोई कसर न उठा रखी थी। किन्तु इन अंग्रेज महिलाओं ने कानपुर में इन्हें प्राणदान देनेवाले नानासाहब को क्या पारितोषिक दिया ? यही न कि उन्हींके साथ विश्वासघात कर गुप्तचरों जैसे कार्य किए ? और जिन अंग्रेज अधिकारियों की प्राणरक्षा भारतीयों ने की थी, उन्हीं अंग्रेज अधिकारियों ने अपने साथ उपकार करनेवालों को भी इस उपकार का कैसा बदला चुकाया, इसकी साक्षी इतिहास प्रमाणित करता है। इतिहास चीख-चीखकर कह रहा है कि इन अंग्रेज अधिकारियों ने ही गोरे सैनिकों के कान, मिथ्या और मनघड़न्त कहानियों से भर दिए, उनका नेतृत्व करते हुए क्रान्तिकारियों पर उन्होंने आक्रमण किए, विद्रोही सिपाहियों के युद्ध के दांव-पेचों से अंग्रेज सैनिकों को अवगत कराया और जिन भोले ग्रामीणों ने उनकी प्राणरक्षा की थी, उन्हींकी हत्याएं कराने में भी किंचितमात्र संकोच नहीं किया। इस

प्रकार उन्होंने उपकार के प्रतिदान में अपकार ही किए। यह तो आश्चर्य नहीं, अपितु आश्चर्यों की भी चरम सीमा ही है कि कृतघ्नता की पराकाष्ठा पर भी भारतीयों ने अपने हृदय की अभिजात उदारता में किंचितमात्र भी अन्तर नहीं आने दिया। ऐसे अनेक गोरों को ग्रामीणों ने अपनी झोंपड़ियों में आश्रय दिया जो क्रान्तिकारियों द्वारा पीछा किए जाने पर अपने सिर पर पैर रखकर प्राणी का मोह लिए भाग निकले थे। ग्रामों की अनेक महिलाओं ने फिरंगी महिलाओं और बालकों को काले रंगों में रंगकर तथा भारतीय परिधान धारण कराकर दया भावना से अपने घरों में आश्रय दिया था। रात-दिन प्राण रक्षार्थ भागने वाले मार्ग पर अधमरे-से पड़े अनेक अंग्रेज अधिकारियों तथा सैनिकों को ब्राह्मणों ने अपने यहाँ आश्रय प्रदान कर, दूध पिलाकर जीवनदान दिया था। श्री फारेस्ट द्वारा लिखित 'स्टेट पेपर्स' का अवलोकन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि जिस अवध के सीने में अंग्रेजों ने अपनी खूनी कटार बड़ी गहराई तक घोंप दी थी, उसी अवध के नागरिकों ने तितर-वितर होकर पलायन करनेवाले अंग्रेजों से नितान्त ही उदारता का व्यवहार किया था। यह भी तो एक तथ्य है कि क्रान्तिकारी नेताओं ने भी स्थान-स्थान पर पत्रक वितरित कर यह आदेश प्रसारित किया था कि "महिलाओं और बालकों की हत्याओं से हमारे पावन कार्य को अपकीर्ति मिलेगी और वास्तविक कार्य के मार्ग में बाधाएं उपस्थित होंगी।" नीमच और नसीराबाद में तो क्रान्तिकारियों ने सभी अंग्रेजों को जीवित चले जाने का अवसर प्रदान किया था। इस सम्बन्ध में एक प्रसंग यह भी उल्लेखनीय है कि एक दिन कतिपय गोरे अपने प्राणों के रक्षार्थ भागे जा रहे थे। उन्हें देखकर कतिपय ग्रामीण चिल्ला उठे "मारो फिरंगी को, मारो फिरंगी को।" किन्तु वहाँ ही उपस्थित एक परिवार ने यह कहकर उनके प्राण बचाए थे कि "निश्चय ही ये गोरे निर्दयी और नीच हैं, किन्तु अभी-अभी उन्होंने एक राजपूत का अन्न ग्रहण किया है, अतः अब उनकी हत्या नहीं की जा सकती।"[१]

जिस शांत हिन्दुस्थान के सामान्य ग्रामीणों के मन में उदात्त वीरता और उदारता की ऐसी भावनाएं विद्यमान थीं, उस हिन्दुस्थान ने यदि १८५७ के हत्याकांड में हाथ बटाया भी हो तो भी उसकी धवल कीर्ति पर तो तिल भर आंच नहीं आ पाती, अपितु जिस क्रूरता और अत्याचार के उन्मूलन का पावन संकल्प उन्होंने ग्रहण किया था, उसके बदले में तो उनके द्वारा की गई हत्याएं कुछ भी नहीं थीं। क्योंकि ऐसे प्रसंगों में तो मेकाले का यह वाक्य ही ठीक हो सकता है—"अत्याचार जितना भयंकर हो, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही भयंकर होनी सुनिश्चित है।"

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', प्रथम खण्ड

सत्य का यथार्थ स्वर एक स्थान पर सुनने की क्षमता जिनके कानों में नहीं थी, उन्होंने ही हिन्दुस्थान की क्रूरता की कहानियों से दशों दिशाओं को गुंजित किया था ? हिन्दुस्थान के न्यायप्रिय और उदारमना लोगों के सम्बन्ध में इस प्रकार का अपप्रचार करने का अधिकार तो स्वयं देवदूतों को भी नहीं प्राप्त हो सकता था। हां, तो विद्रोहियों के अत्याचारों के लिए उन्हें दोषी ठहराने का अधिकार इस विस्तीर्ण वसुन्धरा में अंग्रेजों को किंचित मात्र भी प्राप्त नहीं हो सकता। हिन्दुस्थान में सैकड़ों निरपराधों को मृत्यु के घाट उतार दिया गया, यह कहने वाला कौन है, इंग्लैंड ? नील को जन्म देने वाला और उसकी स्तुति करने वाला भी कौन है इंग्लैंड ? जिस अवध ने उन्हें प्राणदान दिया था, उसी अयोध्या के गांव के गांवों को, वहां रहने वाली महिलाओं और बालक-बालिकाओं सहित जीवित ही अग्नि में जलाकर क्षार-क्षार कर देने वाला भीं इंग्लैण्ड ही है न ? किसी भी बटोही को मार्ग में चलते हुए पकड़कर उसे विद्रोही बताकर फांसी पर लटका देने वाला भी इंग्लैण्ड है तो मंगल पांडे की वीर वृत्ति से प्रेरित नर वीरों को दिए गए फांसी के दण्ड को भी अपूर्ण समझकर सूली से बांधकर भी तो अंग्रेजों ने ही जीवित जलाया था। निरीह, निर्बल ग्रामीणों को पकड़-पकड़कर टिकटियों पर ही फांसी देकर, संगीनों से उनके शरीर को छलनी करने वाला, जिसके उच्चारण मात्र से ही अपनी जिह्वा को अपवित्र करने के स्थान पर हँसते-हँसते फांसी का फन्दा चूम लेना ग्रामीणों ने श्रेयस्कर माना, उसी गोमांस को संगीनों की नोक से इनके मुख में ठूंसने वाला भी कोई था तो वह था इंग्लैंड। फांसी के तख्ते पर चढ़ाने के पूर्व फर्रुखाबाद के नवाब के शरीर पर सुअर की चर्बी चुपड़ने की निर्लज्जतापूर्ण आज्ञा जिस इंग्लैंड ने दी थी, हत्या करने से पूर्व जिसने उस खुदा के बन्दे को सुअर की खाल में लपेटकर दम घोंटने का खेल खेला था, वह भी इंग्लैंड था। ऐसे अगणित, अक्षम्य अपराधों की सराहना करने की पाशविकता जिन्होंने प्रदर्शित की और इन घटनाओं को क्रांतिकारियों के लिए 'न्यायपूर्ण' प्रतिशोध का नाम देकर जिन्होंने सत्य के मुख पर तमाचा मारने का दुस्साहस किया था, वे अंग्रेज ही तो थे। किन्तु यथार्थ प्रतिशोध किसे लेना था ? एक सौ वर्ष तक अन्याय, शोषण, अत्याचार, अनाचार और दमन की चक्की में पिसने वाले अपने देश का सर्वनाश हो जाने से प्रक्षुब्ध बने सैनिकों को, अथवा जिनके कारण मानवता का इतिहास कलंकित हुआ था, उन अंग्रेजों को ? यथार्थ प्रतिशोध किसे लेना था ? अपनी पावन मातृभूमि को मिली इन अवर्णनीय यन्त्रणाओं से कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों अथवा किसी वर्ग विशेष के हृदय में ही तीव्र विषाद की अनुभूति नहीं हुई थी, अपितु जन-जन प्रक्षुब्ध हो उठा था। अब तो हिन्दू और मुसलमान अपने अज्ञानजन्य वैर को विस्मृत कर देश माता का स्तन पान कर एकरस हो गए थे। अब तो यत्र तत्र

सर्वत्र ही भारतीय मात्र में एकता की पावन मंदाकिनी प्रवाहित हो उठी थी, उसमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, सुखों और सुविधाओं की क्षुद्र भावनाओं को प्रवाहित कर दिया था। एक महान ध्येय की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में अभूतपूर्व एकता की पावन भावनाएं उत्पन्न हो गई थीं। अपनी प्रिय मातृभूमि की सेवा के लिए उन्होंने इस भयंकर स्थिति से उसके उद्धार का सुसंकल्प ग्रहण कर लिया था।

कितना भयंकर विस्फोट हुआ था ? और वह भी कितनी विद्युत् गति से ! एक क्षण में ही शांत प्रतीत होने वाले ज्वालामुखी में इतना भीषण विस्फोट हुआ था कि दिग्गजों के कानों से भी इस प्रचण्ड विस्फोट को सुनकर रक्तस्राव होने लगा था ? उनके कान फटे ही नहीं थे, अपितु उनके शत-शत खण्ड-विखण्ड हो गए थे। जहां शत्रु मिला वहीं उसे भस्म कर देने की प्रचण्ड प्रतिशोध ज्वालाएं लपलपा उठती थीं। एक अंग्रेज इतिहासकार ने उस समय की स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है—"सरकारी कर्मचारियों में हम यदि विद्रोहियों की सूची तैयार करने लग जाएं तो सम्भवतः विद्रोही प्रदेशों के सभी कर्मचारियों के नाम इसमें सम्मिलित करने पड़ेंगे। उनमें अपवाद रूप ही किसी का नाम इस सूची से पृथक् रह पाएगा।"[1] इस प्रकार क्रांतिज्वाला चतुर्दिक उभर उठी थी। पुलिस ने विद्रोह किया, सिपाही भी विद्रोही बने तो सामान्य ग्रामीणों ने भी विद्रोह की पावन पताकाएं अपने हाथों में संभाल ली थीं। उस समय यदि किसीको गाली देनी होती तो उसे 'राजभक्त' और 'राजनिष्ठ' कहा जाता था। जो अंग्रेजों की नौकरी करते थे उन्हें 'स्वदेशद्रोही' और 'स्वधर्मद्रोही' कहकर ताना दिया जाता था। जो सरकारी नौकरियों को इस प्रकार के सम्बोधनों को सुनते हुए भी नहीं त्यागते थे, उन्हें जातिबहिष्कृत कर दिया जाता था। उनसे 'रोटी-बेटी' का व्यवहार भी कोई न करता था। ब्राह्मण उनके घरों में पूजा-पाठ करने को तैयार न होते थे। तो उनके मरने पर उनका दाह-संस्कार करने को भी कोई तैयार नहीं होता था। विदेशियों और अंग्रेजों की सेवा करने को मातृहत्या से भी घोर पाप-कर्म माना जाता था। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों में क्रांति का अग्निपुंज दहक उठा था, सभी स्तरों पर स्वातन्त्र्य भावना ने अपना पावन प्रकाश फैला दिया था। अत्याचारों व अनाचारों की पराकाष्ठा ने ही यह तीव्र प्रतिशोध का यज्ञकुण्ड दहकाया था।

एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है "विद्रोह के फलस्वरूप प्रायः प्रत्येक व्यक्ति का ही व्यक्तिगत स्वार्थ और स्वामिभक्ति उसमें प्रवाहित हो गई थी। ऐसी स्थिति में कोई किसी का राजभक्त होना कैसे सहन कर सकता था ? सभी जानते थे कि

---

१. रैवरेण्ड कैनेडी की डायरी, पृष्ठ ४३।

हमारी नौकरियों में जो थोड़े-बहुत भारतीय सिपाही रह गए थे, उन्हें जाति-बहिष्कृत माना जाता था। उनके बन्धु-बान्धव ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जाति ही उनका बहिष्कार कर देती थी। वे स्पष्टतः कहते भी थे कि वे अपने घर जाने का भी साहस नहीं करते, क्योंकि वहाँ जाने से उनकी निन्दामात्र ही नहीं होगी, उनको भ्रातृत्व की दृष्टि से नहीं देखा ही जाएगा, अपितु उनके प्राण भी संकट में पड़ जाएंगे।"—रेवरेण्ड केनेडी

इस प्रकार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि ऊपर से शान्त प्रतीत होने वाला यह ज्वालामुखी भीतर-ही-भीतर खौल रहे लावे को लिए विस्फोट बिन्दु तक आ पहुंचा था। क्रान्ति का सन्देश देने वाली चपातियां, आकाश-मार्ग से संचरण करती हुई कुछ ही समय उपरान्त आरम्भ होने वाले महान क्रान्तियुद्ध में सक्रिय सहयोग प्रदान करने का निमन्त्रण प्रत्येक को देती हुई घूम रही थीं। इस आह्वान का सम्मान कर परम पवित्र साधना की सिद्धि हेतु दसों दिशाओं से युद्ध के प्रलयंकारी देवताओं का समूह नितान्त ही तीव्र गति से हिन्दुस्थान के भाग्य गगन पर छाता जा रहा था। इस महान समारोह के आरम्भ के प्रतीक मारू बाजे बजे और युद्ध गर्जनाएं हो उठी थीं तो वीर गर्जनाओं से भी धरा आकाश निनादित हो उठे थे। अब तो महान् समारोह की सिद्धता पूर्ण हो चुकी थी, मण्डप में भी सभी व्यवस्थाएं पूर्ण हो गई थीं। किन्तु ज्वालामुखी के ऊपर की धरा तो अभी भी शान्त ही थी। अतः उसपर अत्याचारों और अनाचारों का निर्भीकता सहित ताण्डव नृत्य चल ही रहा था। पर्वत की ऊपरी सतह पर भले ही हरीतिमा व्याप्त हो, वह मनोहारी और शान्त भले ही प्रतीत हो किन्तु सावधान! उसके उदर में भयंकर कोलाहल मच गया है, उथल-पुथल हो रही है। अब तो शुभ मुहूर्त आ पहुंचा है, क्षण-भर का ही तो विलम्ब है, फिर तो विद्युत कड़केगी और तप्त ज्वालाओं और उल्कापातों से संपूर्ण वायुमण्डल आच्छादित हो जाएगा। देखो तो सही? वह देखो! अग्निस्तम्भ अब उफनने लगा है। धरा पर अजस्र रक्त-धाराएं मूसलाधार वर्षा से गिर रही हैं। आर्तनाद और चीत्कारों में शस्त्रास्त्रों की झंकार ने मिलकर एक सर्वथा अभूतपूर्व समां बांध दिया है। भूत, प्रेत नग्न होकर नृत्य करने में तल्लीन हो गए हैं। वीर गर्जनाओं से धरा-आकाश गूंज रहे हैं। शीतल, सुगन्धित बयारों का जिस हरीतिमा से प्रवाह चल रहा था वहीं से तो ज्वालामुखी झर रहा है। अब चतुर्दिक विस्फोट होगा, प्रकाश का एक स्रोत अग्नि ज्वालमालाओं को विस्फारित करता हुआ उठ बैठा है। अरे यह क्या? अब तो एक नहीं सहस्रों मुखों से धरती आग उगल रही है। प्रलयकाल सन्निकट है।

काठियावाड़ के कतिपय स्थानों पर एक चमत्कारपूर्ण जलप्रवाह होता है। उसे वहां की लोक भाषा में 'विदारू' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस

स्रोत की सतह कठोर भूमि सरीखी प्रतीत होती है, जिसके कारण जिसे इस स्थान का ज्ञान नहीं होता वह व्यक्ति सहज में ही उधर पग बढ़ा देता है। किन्तु ज्योंही वह एक-दो पग आगे धरता है वह ऊपर से कठोर प्रतीत होने वाली भूमि कुछ हिलने-सी लगती है। इस भूमि पर चलनेवाला व्यक्ति अपना पग जमाकर धरने का प्रयास करता है। परन्तु जब वह ऐसा करता है तभी यह भूमि विलुप्त हो जाती है और बेचारा पथिक जलधारा में डूबने लग जाता है। क्रान्ति का स्रोत भी तो सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में 'विदारू' के समान ही फैल गया था। अत्याचार और अन्याय ऊपर के काले रंग को देखकर यही समझते थे कि किसी भी प्रकार का प्रतिरोध न करते हुए उन्हें सहन करनेवाला यह धरती का पृष्ठभाग पूर्णतः शान्त है। किन्तु ज्योंही अत्याचारी और अनाचारी पग अब आगे बढ़े तो यह भूमि का पृष्ठ भाग थर्रा उठा। किन्तु अत्याचारी और अनाचारी तो सत्ता में मदान्ध बनकर अपने पैरों को और भी अधिक जोर से जमाकर भूमि के इस पृष्ठ भाग पर जोरों से चलने का प्रयास करने लगे थे। किन्तु अब वह भूपृष्ठ विलुप्त हो गया और वहाँ से उफन उठा फेनिल, खौलता हुआ, लहरों के कम्पन को अपने में समेटे लहराता हुआ प्रचण्ड रक्त नद। अत्याचार और अन्याय उसमें डूबने लगा! अभागे अनाचार, अत्याचार, तू जहाँ चाहे पग धरे तुझे ऊपर से तो कठोर भूतल ही दृष्टिगोचर होगा। किन्तु तुझे यह तथ्य तो भली भांति समझ लेना चाहिए कि इस काली सतह के नीचे ही लाल रक्त का खौलता हुआ लावा प्रवाहित हो रहा है। और यदि तुझमें साहस है तो ले सुन! कान खोलकर सुन। ज्वालामुखी का प्रचण्ड विस्फोट, इसकी प्रकम्पित कर देने वाली कठोर आवाज सुन!

०००
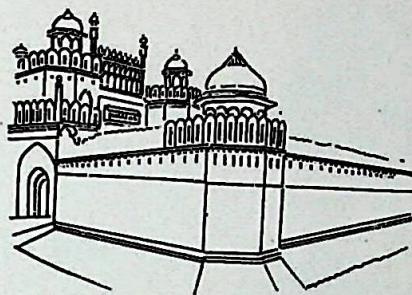
खण्ड तीसरा

अग्नि-प्रलय

१८५७ में वास्तव में, भारतमाता ने क्रोधाग्नि का साक्षात् रूप धारण कर लिया और समस्त संसार में कर्णभेदी भयानक धमाका हुआ। जिस प्रकार अग्नि-बाण का आकाश में जाकर विस्फोट होता है और उससे भयंकर चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार क्रान्ति केइस अग्निवाण का भयंकर विस्फोट हुआ। कितना विशाल था यह अग्निवाण ! मेरठ से बिन्ध्याचल तक तथा पेशावर से डमडम तक का विशाल रूप था। जब इस अग्निवाण को प्रज्वलित किया गया, तब इसकी भयावनी ज्वाला समस्त दिशाओं में फैल गई। हज़ारों वीर जूझ पड़े। इस अग्निबाण की ज्वाला में गिरते थे, मरते थे, शान्त हो जाते है। हर जगह एक ही दृश्य था और वह दृश्य था युद्ध का, भयंकर प्रलय का, सचमुच ज्वालामुखी का-सा प्रलयकारी दृश्य था वह।

बाबा गंगादास की झोपड़ी के पास धधकती झांसीवाली लक्ष्मी की वह चिता ! १८५७ के स्वातन्त्र्यसमर के ज्वालामुखी प्रलय की यह अन्तिम ज्वाला !

: १ :

दिल्ली का संग्राम

दिनांक ११ मई को दिल्ली ने स्वाधीन होने की घोषणा की और इस साहस-पूर्ण चाल से जो प्रचण्ड तूफान उठा, उसे संवारकर क्रान्ति का रूप देने में वह संलग्न रही। मुगलों के पुराने सिंहासन पर बादशाह को बिठाकर, जनता ने ऐसा बलशाली केन्द्र स्थापित किया जिसकी उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा के कारण ही स्वाधीनता का यह आन्दोलन तूल पकड़ सकता था। किन्तु बूढ़े बादशाह को सिंहासन पर बैठाने के रहस्य को नहीं भूलना चाहिए। बहादुरशाह को सम्राट बनाने का अर्थ यह कदापि न था कि मुगलों की पुरानी सत्ता, पुरानी प्रतिष्ठा, पुरानी परम्परा का उसे उत्तराधिकारी बनाया जाए।

नहीं, बहादुरशाह को सम्राट् बनाया गया था, मुगल सम्राट् नहीं! क्योंकि मुगल शासकों को जनता ने—भारतीय जनता ने—अपनी इच्छा से नहीं चुना था। मुगलों ने भारत पर बलपूर्वक राज्य स्थापित किया था, जिसे उन्होंने विजय की संज्ञा दी और विदेशी आगन्तुकों के बलवान बनने तथा भारत के स्वार्थी लोगों ने उसे बनाए रखा था।

जीनत महल

ऐसे सिंहासन पर बहादुरशाह को थोड़े ही बैठाया गया था। छिः! छिः! यह असम्भव था, क्योंकि ऐसे सिद्धान्त जीते जाते हैं, यों ही दान में नहीं मिलते। और फिर से मुगल साम्राज्य स्थापित करना तो आत्मघात से कम न होता, क्योंकि पिछली तीन-चार शताब्दियों में जिन सैकड़ों हिन्दू हुतात्माओं और वीरों

का रक्त बहा था, वह सब व्यर्थ सिद्ध हो जाता। इस्लाम की उदयोन्मुख शक्ति जब अरब के रेगिस्तान से बाहर थी, तब से ही उसका और कहीं प्रतिकार न हुआ पूर्व और पश्चिम में निर्विरोध रूप से वह एक के बाद एक देश जीतती चली गई। अनेक देशों और जनसंघों ने इस्लाम की आक्रमक शक्ति के पांव पकड़े और उससे शरण मांगी। किन्तु अब तक निर्विरोध रूप से बढ़ने वाली मुस्लिम शक्ति पर भारत में प्रतिबन्ध लगा जिसका उदाहरण किसी अन्य देश के इतिहास में मिलना असम्भव है। यह संघर्ष पांच शताब्दियों से भी अधिक चलता रहा। अपने जन्म-सिद्ध एवं प्राकृतिक अधिकारों पर हुए विदेशी आक्रमण का विरोध हिन्दू जाति ने पांच शताब्दी तक किया और अपनी सभ्यता एवं अपने सांस्कृतिक ध्वज को ऊपर रखा। पृथ्वीराज की मृत्यु से लेकर औरंगजेब की मौत तक यह संघर्ष अविरल गति से चलता रहा। इस प्रकार यह रक्तरंजित संघर्ष जारी रहा। इसी समय पश्चिमी पहाड़ों में संघर्ष कर रहे अगणित वीरों की साधना की पूर्ति के लिए हिन्दू जाति उठ खड़ी हुई। पूना से हिन्दू पेशवा श्री सदाशिवराव भाऊ विशाल सेना लेकर चल पड़े और उन्होंने मुगल तख्त की धज्जियां उठाकर भारतीय संस्कृति की महानता सिद्ध कर दी तथा पिछले सभी अन्यायों का प्रतिकार लिया। उन्हीं विजेताओं को फिर से जीतने के कारण ही हिन्दुस्थान को फिर से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तथा पराधीनता तथा पराभव के कलंक को धो देने के कारण हिन्दुस्थान हिन्दुओं का बन सका है।

इस प्रकार भारतीय सिंहासन पर बहादुरशाह को बिठाने में मुगल सत्ता की फिर से स्थापना कदापि न थी। हिन्दू मुसलमानों का वह पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो चुका था। अतः जनता की भावनाओं का विरोधी, अन्यायी, एवं दूषित राज्य समाप्त हो चुका था। अब जनता को पूर्ण अधिकार था कि वह अपना ऐच्छिक सम्राट् चुने। यही बहादुरशाह को राजा बनाने का था रहस्य, क्योंकि हिन्दू और मुसलमान सभी नागरिकों तथा सैनिकों ने—समस्त जनता ने—स्वेच्छापूर्वक बहादुरशाह को स्वातन्त्र्य समर का नेता तथा सम्राट् चुना था, अतः ११ मई को सिंहासन पर विराजमान आदरणीय वह बूढ़ा बहादुरशाह कोई अकबर या औरंगजेब के वंश-सिंहासन पर बैठा बूढ़ा मुगल न था, बल्कि वह तो विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध स्वाधीनता के लिए जूझनेवाली जनता का अपनी इच्छा से चुना सम्राट् था। इसलिए अनेक नागरिकों ने सेना के अनेक विभागों ने तथा अनेक राजा-महाराजाओं ने दिल्ली के सम्राट् का अभिनन्दन किया।

पंजाब, अवध, नीमच, रुहेलखंड तथा अन्य अनेक प्रान्तों के क्रान्तिकारी सैनिकों ने दिल्ली पहुँचकर बहादुरशाह की सेवा में अपनी सेवाएं अर्पित कीं। उनके सैनिक ध्वज तथा चिन्ह भिन्न-भिन्न थे। इन सभी सैनिकों ने दिल्ली की ओर आते समय

अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का लूटा हुआ एकत्रित समस्त धन ईमानदारी से दिल्ली के सम्राट् के चरणों में अर्पित किया। उसी समय यह घोषणा की गई कि देश फिरंगी की दासता से मुक्त हो गया है और अब वह स्वतन्त्र है। साथ ही यह भी चेतावनी दी गई कि इस क्रान्ति का असाधारण यश प्राप्त करनेवालों को चाहिए कि वे इस क्रान्ति का अन्त भी यशपूर्ण ढंग से करने के लिए कटिबद्ध रहें तथा वे मानवता के शत्रुओं को भस्मसात करने के लिए तत्पर रहें। इसके अतिरिक्त जनता को यह भी अनुभव कराया गया कि इस स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेना प्रत्येक नागरिक का पवित्रतम कर्त्तव्य है और जनता को चाहिए वह पूर्ण धर्मनिष्ठा तथा पूर्ण निश्चय के साथ इस संघर्ष में भाग ले। हम तो जनता से केवल इतना निवेदन कर सकते हैं और उसे एक ही चीज की सौगन्ध दे सकते हैं—वह सौगन्ध है धर्म की! परमात्मा ने जिस व्यक्ति को भी मनोबल तथा आकांक्षा की सम्पत्ति प्रदान की है, उसे चाहिए कि वह सम्पत्ति तथा जीवन का मोह छोड़कर इस स्वतन्त्रता-संग्राम रूपी यज्ञ में पूर्ण योगदान दे। जनता इस जनमंगल कार्य के लिए अपने सभी स्वार्थों का बलिदान करे, ताकि इस पवित्र धरती से अंग्रेजों को निकाल बाहर किया जाए। साथ ही ध्यान रहे कि जब तक मौत का समय नहीं आता तब तक कोई नहीं मरता, और जब वह समय सिर पर आ जाता है तो उससे कोई बच भी नहीं सकता है। सहस्रों, लाखों आदमी आखिर हर साल बीमारियों का शिकार बनकर मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं और फिर धर्मयुद्ध में मृत्यु होना तो अपूर्व सौभाग्य की बात है। हुतात्मा लोग ही इसे प्राप्त करते हैं। अतः इन फिरंगी अंग्रेजों को मार डालना या उन्हें देश से निकालना प्रत्येक भारतीय का पावन धर्म है। यह उद्धरण दिल्ली तथा अवध से समय-समय पर हुई घोषणाओं का एक उदाहरण है। इसी प्रकार का एक घोषणापत्र दिल्ली से निकाला गया जिसे समस्त भारतवर्ष में दूर-दूर तक पहुंचाया गया। सुदूर दक्षिण के बाजारों तथा सेना में इस घोषणापत्र की प्रतियां अनेक लोगों के पास देखी गईं। उस घोषणापत्र का विषय था—'समस्त हिन्दू-मुस्लिम बान्धवगण! केवल अपना धार्मिक कर्तव्य जानकर ही हम जनता के साथ हैं। इस समय जो व्यक्ति भी नपुंसकता-कायरता दिखाएगा और नीच अंग्रेजों के वचनों पर भोलेपन से विश्वास करेगा उसे तुरन्त कठोरतम दण्ड दिया जाएगा तथा अंग्रेजों पर विश्वास करने से लखनऊ के राजाओं की जो दशा हुई, वही उसकी भी होगी। एक अन्य बात का जनता को पूर्ण ध्यान रखना चाहिए जो कि अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। सब हिन्दू-मुसलमान मिलकर, किसी एक आदरणीय नेता की आज्ञाओं का पालन पूर्ण निष्ठा से करें और परस्पर ऐसा व्यवहार करें जिससे सब कार्य व्यवस्थापूर्वक चलें और गरीब प्रजा सुख प्राप्त कर सके और उन्नति कर सके। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस घोषणापत्र को अधिक-

से-अधिक प्रतियां बनवाकर, सतर्कता से उन्हें चौराहों पर चिपका दे और इनका प्रसार होने से पूर्व ही तलवार का प्रयोग करे।

अंग्रेजी शासन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा होते ही दिल्ली के क्रान्तिकारी आवश्यक शस्त्रास्त्र तथा गोला-बारूद बनाने के काम में लग गए। तोपों, बन्दूकों तथा अन्य छोटे-मोटे हथियार बनाने के लिए एक कारखाना खोला गया। उनके निरीक्षण के लिए कुछ फ्रांसीसियों को नियुक्त किया गया। गोला-बारूद के दो-तीन भंडार खोले गए। दिन-रात काम करनेवाले लोग एक दिन में कई मन गोला-बारूद बनाते थे। देश-भर में गोहत्या बन्द करने की घोषणा की गई। एक बार कुछ सिर फिरे मुसलनानों ने जिहाद का नारा लगाकर हिन्दुओं को अपमानित करने का प्रयत्न किया। उसी समय सब दरवारियों को साथ लेकर बादशाह हाथी पर सारे शहर में घूमे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लोगों को चेतावनी दी कि—'जिहाद केवल फिरंगियों के विरुद्ध है। जो व्यक्ति गोवध करते मिल जाए, उसे तोप के गोले से उड़ा दिया जाए या उसके हाथ-पांव काट दिए जाएं। उस समय कुछ यूरोपवाले भी अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारियों से मिलकर लड़ रहे थे।

बुन्देलखण्ड की लड़ाई के बाद, अंग्रेजों ने जिस क्षेत्र को चुनकर अपने पैर जमाये थे, वह क्षेत्र संग्राम की हलचल की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त स्थान था। दिल्ली के एक परकोटे के एक छोर के पास, यमुना नदी से चार मील की दूरी तक फैली पहाड़ी (अंग्रेज जिसे रिज कहते थे) प्राकृति ऊंचाई के कारण युद्ध के लिए बहुत उपयोगी थी। आसपास के क्षेत्र से यह पहाड़ी लगभग ५०-६० फुट ऊंची थी। यह स्थान तोपों से लगातार गोले बरसाने के लिए बहुत अच्छा था और इस पहाड़ी की दूसरी ओर यमुना की चौथी खाई थी। वर्षा के न होने पर भी जून मास में उसमें गहरा पानी था। पिछली तरफ़ होने के कारण उस ओर से शत्रु का भी भय न था। दिल्ली के क्रान्तिकारी जिस प्रकार आगे से लड़ रहे थे उनके साथ पंजाबवाले यदि पिछली ओर से हमला कर देते तो अंग्रेजों की नाक में दम आ जाता, किन्तु दुर्भाग्य कि पंजाब ने अंग्रेजों का साथ देने की घोषणा की। नाभा, जींद तथा पटियाला के नरेशों ने पंजाब की महत्त्वपूर्ण रक्षा का प्रबन्ध करके, पंजाब से अंग्रेजों को रसद और तथा कुमुक पहुंचाना सुगम कर दिया। भारत के दुर्भाग्य से यह संयोग अंग्रेजों के लिए लाभदायक रहा। छोटी पहाड़ों की शृंखला, पीछे से शत्रु की तोपों के आक्रमण के भय का अभाव, शिविर बनाने योग्य विशाल पठार, शत्रु के गुप्तचरों के उपद्रवों से दूर स्थान, पानी का बिलकुल पास होना, यह सब कुछ तो अंग्रेजों के अनुकूल था, साथ ही पंजाब के नरेशों ने अपने खर्च पर दिन-रात सामरिक दृष्टि से सभी मार्गों पर पहरा दिया। जिस स्थिति को अनुकूल देखकर ब्रिटिश सेनापति बर्नार्ड में आत्मविश्वास जागा और उसने अपने सहयोगियों से

कहा 'बस, अब दिल्ली क्या है, केवल एक दिन में उसे ले लेंगे।'

यह सच भी है कि जब दिल्ली को एक दिन में जीता जा सकता है तब उसे जीतने में दो दिन क्यों लगाए जाएं। तो इस नीच और राजद्रोही दिल्ली को नष्ट करने के लिए इसी क्षण ही इन अंग्रेज सैनिकों को साथ लेकर, हम आक्रमण क्यों न कर दें ? पंजाब हमारी रीढ़ की हड्डी है, वह भी अब दृढ़ है तब दीर्घकाल तक घेरा डालकर दिल्ली जीतने की दोहरी नीति का सहारा हम क्यों लें। इस पापी नगरी पर अचानक टूटकर, एक ही धड़ाके में उसे तहस-नहस कर डालना क्या अच्छा न होगा ? चलो, अपनी सेना के दो भाग कर लें ! एक हिस्से के सैनिक लाहौरी दरवाजे को तोड़ दें, दूसरा विभाग काबुली दरवाजा उड़ा देगा। फिर दोनों विभाग एक साथ नगर में घुस जाएं और एक-एक करके मोर्चे हथियाते हुए झट से सीधे किले पर टूट पड़ें। विलवरफोर्स, ग्रेट-हेड और हडसन जैसे वीर ऐसे साहसिक काम के लिए बहुत बेचैन हो उठे और इस युद्ध को सफल बनाने का भार भी उन्होंने अपने कन्धों पर उठाया। फिर देर काहे की थी ? और सचमुच ही, १२ जून को जनरल बर्नार्ड ने चढ़ाई की आज्ञा गुप्त रूप से दे दी। कौन कहां इकट्ठे हों, रात के के कौन-से रास्ते आगे बढ़ें, दाएं-बाएं पक्षों का नेतृत्व कौन करे आदि-आदि सब प्रबन्ध पूर्व-निश्चित थे। इस प्रकार पूरी सतर्कता के साथ रात को दो बजे निश्चित अंधेरे स्थान पर अर्थात् संचालन भूमि पर गोरी सेना आ खड़ी हुई। कल दिल्ली के राजमहलों में विश्राम करने का सबको पूर्ण विश्वास था, इसलिए आज की नींद के कुछ घंटे खराब हों तो उसकी शिकायत केवल मूर्ख ही करते। किन्तु हाय ! हाय ! इस समय भी अंग्रेजों का साथ दुर्भाग्य ने न छोड़ा, क्योंकि ठीक समय पर सेना का कुछ भाग गायब था। ब्रिगेडियर ग्रेव्हज को इस तरह दिल्ली पर आक्रमण करना उतावलापन प्रतीत हुआ और कुछ लोगों ने तो यह आशंका प्रकट की कि इस प्रकार की योजनाएं अवश्य ही अंग्रेजों को हानि पहुंचाएंगी। कहने का अर्थ यह है कि सीधी चढ़ाई की तुरन्त विजय पाने का अंग्रेज सैनिक जो स्वप्न देख रहे थे, वे स्वप्न दिल्ली के राजभवनों में सच निकलने के बदले, उस रात को शिविर पर छटपटाने तक ही सीमित रहे।

दूसरे दिन प्रातः ही बिलवरफोर्स और ग्रेट हड ने फिर से आक्रमण की योजना बनाई और सेनापति बर्नार्ड के आगे पेश की। बर्नार्ड क्रिमिया के युद्ध का एक कीर्तिलब्ध योद्धा था, फिर हमें सन्देह है कि वह ढुलमुल नीति तथा हिच-किचाहट का अभ्यस्त होगा। उसने १४ जून को मुख्य-मुख्य सैनिक अधिकारियों की युद्धसमिति की बैठक बुलाई और चढ़ाई की योजना प्रस्तुत की। ग्रेट हेड ने आवेशपूर्वक आक्रमण का समर्थन किया, किन्तु समिति के सदस्यों को सफलता की आशा न थी। बल्कि समिति ने यह विचार व्यक्त किया कि इस सफलता

का मिलना भी प्रत्यक्ष रूप से हमारी हार होगी और प्रतिष्ठा की भी हानि होगी। हां, अगर प्रत्यक्ष आक्रमण से दिल्ली पर अधिकार हो जाय, तो कहना ही क्या ? लेकिन प्रश्न यह था कि उसे अपने अधिकार में लिया कैसे जाए, क्योंकि प्रत्येक मार्ग पर तथा घर-घर में लगी क्रान्तिकारियों की भयावनी तोपों के सामने गोरे सैनिक कितनी देर तक टिक सकेंगे ? वर्नार्ड के पास इसका कोई भी युक्तिसंगत उत्तर न था। इस प्रकार १५ जून की रात की योजना 'सपनों' के समय विचार का केवल विषय रह समाप्त हो गई और दूसरे दिन १६ जून को एक बार फिर समिति की बैठक बुलाई गई तथा वह भी पुनः विचार भिन्नता तथा नपुंसकता प्रदर्शन कर समाप्त हो गई। इधर अंग्रेज प्रभावशाली आक्रमण करने का विचार कर रहे थे और दिल्ली में क्रान्तिकारियों ने बचाव की नीति को छोड़कर, नया सैन्यबल तैयार किया, लोगों में नया जोश भर विभिन्न दिशाओं से ब्रिटिश सेना पर सफल आक्रमण करने जारी रखे। भारत में विद्रोही बनी सैनिक टुकड़ियां अपने सब शस्त्रास्त्र, गोलाबारूद तथा खजाना लेकर लगातार एक के बाद एक आ रही थीं। अतः युद्धसामग्री तथा सैनिकों की चिन्ता करने की क्रान्तिकारियों को कोई आवश्यकता न थी। इस प्रकार क्रान्तिकारी सेना आक्रमण की नीति पर आचरण कर, अंग्रेज सेना को एक कदम भी आगे बढ़ने से रोक, उसे उसके स्थान पर ही बन्द कर सकती थी। कभी शक्तिशाली आक्रमण कर, कभी घमासान मुठभेड़ कर, कभी साधारण चढ़ाई कर, तथा किसी भी प्रकार की हानि करवाए बिना, क्रान्तिकारी सैनिक शहर में लौट आते थे। इस भयभीत और आतंकित करनेवाले युद्ध के ढंग से अंग्रेजों में भी इतना भय व्याप्त हो गया कि उनमें आक्रमण करने का साहस ही नहीं रह गया था। १२ जून को तो क्रान्तिकारी दिल्ली नगर से बाहर आए और झाड़ियों तथा ऊची-नीची भूमि के खड्डों आदि की ओट लेते हुए बढ़ते गए और अंग्रेजों के सैन्य शिविर से केवल ५० फुट की दूरी से फिरंगियों पर उनके सतर्क होने से पहले ही टूट पड़े। इस संघर्ष में अंग्रेजों के कई तोपची भी मृत्यु के मुख में पहुंचा दिए गए। मि० नाक्स को भी एक सैनिक की गोली का निशाना बनना पड़ा। इस समय क्रान्तिकारियों का एक अन्य दल अंग्रेजों की सेना के पीछे से आकर उस पर टूट पड़ा। वहां भी घमासान युद्ध होने लगा। अंग्रेजी सेना के दाएं भाग पर भी 'बाड़ा हिन्दूराव' कोठी के समीप प्रबल आक्रमण किया गया।

एक अंग्रेज लेखक ने उस समय का चित्रण करते हुए लिखा है कि "इस बार भारतीय सैनिकों की वह अस्थायी टुकड़ी, जिसकी निष्ठा पर हमें अदम्य विश्वास था, विद्रोहियों पर चढ़ दौड़ी। किन्तु उन मक्कारों का वास्तविक इरादा जब हमें विदित हुआ तब हमारी तोपों के मुख भी उनकी ओर घूम गए। यह देखकर वे बड़ी

ही शीघ्रतासहित वहाँ से हटे और इस प्रकार तोपों के प्रहारों से उन्होंने अपनी रक्षा की।"[1]

यहाँ के सेनापति मेजर रीड ने लिखा है "ये पैदल सैनिक इस प्रकार आगे बढ़े कि मानों भयंकरतम आक्रमण करनेवाले हैं। किन्तु मैं देखता क्या हूँ कि ये तो शत्रुओं के साथ योगदान देने जा रहे हैं, मेरा तो कलेजा ही मुँह को आ गया। परन्तु तत्काल ही मैंने उन पर तोपें दागने का आदेश प्रसारित कर दिया, किन्तु ये धूर्त तो कभी के दूर निकल चुके थे। उनमें से सम्भवतः ५ अथवा ६ ही तोपों के गोलों के शिकार बने होंगे।"

इस घटना के पश्चात तो क्रान्तिकारी सेना ने प्रतिदिन ही नगर से बाहर निकलकर अंग्रेजी सेना पर धावा बोलने का कार्यक्रम ही बना लिया। सेनाएं प्रतिदिन ही चढ़ाई करतीं और सायंकाल सकुशल वापस आ जातीं। दिल्ली में बाहर से जो क्रान्तिकारी दस्ते आते थे, वे दूसरे दिन आक्रमण के लिए भेजे जाते थे। १३ जून को पुनः 'बाड़ा हिन्दू राव' कोठी पर आक्रमण किया गया। इस चढ़ाई में १२ जून को क्रान्तिकारियों के साथ सम्मिलित हो जाने वाली ६०वीं पलटन के सैनिक दस्ते ही अग्रभाग में रहे। मेजर रीड ने लिखा है "उन सैनिकों ने सीधे ही ग्राण्ड-ट्रंक रोड से आकर धावा बोला। इस आक्रमण का नेतृत्व सरदार बहादुरसिंह ने किया। वह बाईं ओर घूमने का विचार कर रहा था और अपने सिपाहियों को दूर रहने का भी आदेश दे रहा था। इस युद्ध में उसने महान वीरता का प्रदर्शन किया। सरदार बहादुरसिंह को उसके अर्दली लालसिंह ने ही गोली मार दी। उसकी मृत्यु होते ही मैंने उसकी छाती पर लगे 'रिबेन्ड ऑफ इण्डिया' के पदक को उतार लिया। बाद में मैंने वह पदक अपनी पत्नी के पास पहुँचा दिया।"

१७ जून की क्रान्तिकारियों ने ईदगाह की कोठी के समक्ष भी तोपों के मोर्चे बनाए, जिससे कि 'रिज' पर तोपों का प्रचण्ड प्रहार किया जा सके। इस स्थिति को ज्योंही अंग्रेज सेनापतियों ने देखा अंग्रेज सैनिक मेजर रीड और हेनरी टाम्बस के नेतृत्व में क्रान्तिकारियों पर पूरी शक्ति सहित टूट पड़े। उन पर बहुत अधिक दबाव डाला गया। किन्तु उस कोठी में जो मुट्ठीभर क्रान्तिकारी थे वे तो पराजय को समीप भी नहीं आने दे रहे थे। जब वे गोलियां चला पाने में असफल हो गए तो उन्होंने अपनी बन्दूकें फेंककर तलवारें संभाल लीं। वे पूर्ण आवेश सहित अंग्रेजों पर क्रुद्ध सिंहों के समान टूट पड़े। उनमें से प्रत्येक ने ही जीवन की अन्तिम घड़ी तक अंग्रेजों से संघर्ष करते-करते मृत्यु का वरण कर लिया। किन्तु जब तक उनमें से एक भी जीवित रहा उसने शत्रु के अपावन पग ईदगाह में न पड़ने दिए।

---

१. के-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी', खण्ड २, पृष्ठ ४११

१८ जून को नसीराबाद के क्रान्तिकारी भी यहाँ आ पहुँचे। आते ही उन्होंने सम्पूर्ण कोष अपने नेताओं के चरणों में समर्पित कर दिया। स्वयं सम्राट् ने ही उनके प्रतिनिधियों को बुलाया और राजमहल में ही उनसे मिला। २० जून को इन सैनिकों ने दरबार में उपस्थित होकर अंग्रेजों पर आक्रमण करने का संकल्प ग्रहण किया। तदनुसार २० जून को प्रातःकाल ही क्रान्तिकारी सैनिक अंग्रेजों पर प्रहार करने के लिए दिल्ली से बाहर निकलते हुए दृष्टिगोचर होने लगे। अंग्रेजी सैन्य शिविर के पृष्ठभाग पर आक्रमण करने के विचार से ये सैनिक सब्जीमंडी से होते हुए लुकते-छुपते वहाँ पहुँच गए और अंग्रेजों को उनकी इस गतिविधि का संकेत भी प्राप्त नहीं हो सका। उन्होंने गोलियों की घोर वर्षा आरम्भ कर दी। स्काट, रुनी और टोम्बस आदि अंग्रेज सैन्य अधिकारियों ने अपनी तोपों से अग्नि-वर्षा कर क्रान्तिकारियों द्वारा की गई चढ़ाई को अवरुद्ध करने का प्रयास किया। किन्तु भारतीय सैनिक तो इतने प्रचण्ड उत्साह से आक्रमण कर रहे थे कि उन्हें रोक पाना सम्भव ही नहीं रह गया था। नसीराबाद का तोपखाना तो विनाश का ऐसा ताण्डव करता हुआ आगे बढ़ा कि वीर टोम्बस भी घबराकर चीत्कार कर उठा "डेली ! शीघ्रता करो अन्यथा मेरी तोप पर भी शत्रु द्वारा अधिकार हुआ ही समझो।" पंजाब की भारतीय सेना सहित डेली उसकी सहायतार्थ आगे बढ़ा किन्तु कुछ ही समय के उपरान्त एक क्रान्तिकारी सैनिक की गोली उसके कंधे में आकर प्रविष्ट हो गई और वह विवश होकर वापस लौट गया। सूर्यास्त हो रहा था और क्रान्तिकारी विजय गीत गा रहे थे। उन्होंने एक बार पुनः धावा बोला और अनेक ब्रिटिश तोपों पर प्रायः अधिकार कर लिया। ९वीं लान्सर पलटन और पंजाब की देशद्रोही सेना के दस्ते बार-बार क्रान्तिकारियों पर चढ़ाई करते थे, किन्तु उन्हें प्रत्येक बार ही पराजय का कलंक लगवाना पड़ रहा था। रात्रि का अन्धकार चारों ओर व्याप्त हो गया था, किन्तु संघर्ष अभी भी लगातार चल रहा था। अंग्रेज भी सिर धड़ की बाजी लगा रहे थे और बड़ी कठिनाई सहित वे अपनी तोपों की रक्षा करने में सफल हो सके। लार्ड रॉबर्ट्स ने स्वयं इस सत्य को स्वीकार किया है कि "विद्रोहियों ने हमारे पैर उखाड़ ही दिए थे।" होप ग्रन्ट की सवारी वाला घोड़ा दम तोड़ गया और वह घायल भी हो गया। उसे यदि समय पर ही एक मुसलमान अश्वारोही न उठा लेता तो वह स्वयं भी काल के कराल गाल में चला ही जाता। अर्ध रात्रि तक यह भयंकर युद्ध चल ही रहा था। क्रान्तिकारियों को रोक पाने में असफल रहने पर अंग्रेज रणभूमि से पीछे हटे।

उस रात्रि ब्रिटिश सेनापति की आंखों की नींद उड़ गई। वह सम्पूर्ण रात्रि एक क्षण के लिए भी आंख नहीं झपका सका। वह यह समझ रहा था कि यदि इतनी वीरता सहित विजय किए गए मोर्चे को कहीं क्रान्तिकारी अपने हाथों में

रखने में सफल हो गए तो पंजाब से यातायात का मार्ग ही पूर्णतः भंग हो जाएगा। इस महान संकट से छुटकारा प्राप्त करने के लिए अंग्रेज सैनिकों ने प्रातःकाल से अपने विजयी शत्रुओं से लोहा लेने का कार्यक्रम बना लिया था। किन्तु अब तक क्रान्तिकारियों के पास भी गोला-बारूद और सैनिकों की कमी आ गई थी, अतः क्रान्तिकारी दिल्ली वापस लौट गए, उनके द्वारा रिक्त किए गए क्षेत्र पर अंग्रेज सेनाओं ने अपना अधिकार जमा लिया। दिल्ली के नागरिक अपने पक्ष की विजय से उत्साहित थे। उन्होंने नगर के परकोटे पर एक विशाल तोप चढ़ाकर उससे अंग्रेजों पर गोली की वर्षा जारी रखी हुई थी। दिल्ली की क्रान्तिकारी सेनाओं द्वारा अंग्रेजों की छावनी पर इस प्रकार आक्रमण जारी रहने के कारण अंग्रेजों को किसी प्रकार की भी आक्रमक गतिविधि का अवसर उपलब्ध नहीं हो पाया। वे तो केवल आत्मरक्षा में ही संलग्न रहे। इस समय जिस भूमि पर उन्होंने अधिकार किया था, उसे ही अपने अधिकार में रखने के प्रयास में उन्हें नाकों चने चबाने पड़ रहे थे। जब तक पंजाब से अंग्रेजों को नई कुमुक न मिलती तब तक उनके लिए आक्रमण कर पाना ही असम्भव हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विपत्तियों की पूर्णता के लिए ही २३ जून, १८५७ का अरुणोदय हुआ था।

आज थी २३ जून, १८५७ ! यही तो पलासी के युद्ध की शताब्दी का दिन था। १०० वर्ष पूर्व इसी दिन तो पलासी की रणभूमि में भाग्य के देवता ने हिन्दुस्थान का साथ न देकर अंग्रेजों के मस्तक पर सफलता का टीका किया था। प्रथम अपमान की अपेक्षा प्रतिदिन एक नवीन अपमान का रंग चढ़ते-चढ़ते ही तो १०० वर्ष का सुदीर्घ कालखण्ड व्यतीत हुआ था। उस दिन तो दिल्ली के क्रांतिकारी धर्मवीरों के नेत्रों में यही चमक थी कि आज रक्त की सरिताएं प्रवाहित कर हम १०० वर्ष की पराधीनता के मातृ मस्तक पर लगे हुए कलंक को धो डालेंगे। इसी महान लालसा से उनके हृदय उल्लसित थे। ऐसा लगता था कि पवन का प्रत्येक झोंका, तलवार की प्रत्येक झंकार, सूर्य की प्रत्येक किरण और तोप की हर गड़गड़ाहट से पलासी के प्रतिशोध की पावन पुकार ही प्रतिध्वनित हो रही थी। ज्योंही पलासी के दुर्भाग्यपूर्ण रणस्थल की शताब्दी के आगमन की भगवान अंशुमाली ने अपनी किरणें बिखेरकर सूचना दी कि क्रांतिकारी सेना के पथक भी क्रमशः लाहौरी दरवाजे की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। अंग्रेज भी जानते थे कि आज घमासान युद्ध होगा, अतः वे भी अरुणोदय के पूर्व से ही व्यूह-रचना में संलग्न थे। इस आनेवाली विपत्ति का अनुमान लगाकर ही उन्होंने पंजाब से भी सेना भेजने का आग्रह किया था और उनके सौभाग्य से कुछ सेना उनकी सहायतार्थ पहुंच भी चुकी थी। पंजाब से सैनिकों के आने के फलस्वरूप अंग्रेजों के हृदय में आत्मविश्वास की किरण प्रस्फुटित हो गई थी। किन्तु शत्रु को कुमुक पहुंचने की सूचना

अथवा अंग्रेजी सैन्य शिविर के पिछले भाग में आनेवाले सभी पुलों के उड़ा दिये जाने के समाचार से भी क्रांतिकारी किंचित मात्र भी हतोत्साहित नहीं हुए थे। उन्होंने सब्जीमंडी की दिशा से आगे बढ़कर अंग्रेजी सेना पर गोलियों की बौछार करनी आरम्भ कर दी थी। ब्रिटिश पैदल सैनिक भी प्रत्येक बार आगे बढ़ते थे, किन्तु क्रांतिकारी उन्हें बार-बार पछाड़ रहे थे। परकोटे की तोपें भी अग्नि के अम्बार उगलने में एक दूसरी से होड़ लगा रही थीं। 'हिन्दूराव की कोठी' पर भी क्रांतिकारियों की दृष्टि गड़ी ही हुई थी। मध्याह्न १२ बजे घनघोर युद्ध हो रहा था। गोरखे और गोरे तथा पंजाबी सैनिकों पर क्रांतिकारी सैनिक आक्रमण पर आक्रमण करते जा रहे थे। मेजर रीड ने लिखा है कि "विद्रोहियों ने मध्याह्न में १२ बजे हमारे विस्तृत युद्ध क्षेत्र पर भयानक आक्रमण किया। मैं नहीं जानता कि उस दिन से अधिक वीरता कभी किसीने प्रदर्शित की होगी। उन्होंने मेरी राइफल टुकड़ी तथा निर्देशक दस्तों पर इतना प्रचण्ड प्रहार किया कि मुझे भी एक बार तो भय से भ्रमित ही होना पड़ा।"[1]

उस रणभूमि में स्वयं युद्ध करनेवाले एक कुशल अंग्रेज सैन्य अधिकारी के इस विवरण से ही विदित हो जाता है कि क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजी सेना पर कैसा करारा प्रहार किया था। युद्ध ने कितना वीभत्स रूप ग्रहण कर लिया था, यह इसीका तो प्रमाण है। किन्तु हा हन्त! इस विस्फारित अग्नि, इस विश्रृंखित जनशक्ति को संगठित करनेवाला कोई कुशल नेता क्रान्तिकारियों को प्राप्त नहीं हो सका। वे जिन दो बन्धनों से एकता के सूत्र में आवद्ध थे, वे थे स्वदेश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का प्रयास तथा पलासी की पराजय के कसमसाते शूल को निकाल कर बाहर कर देने की आकांक्षा। युद्ध ने इतना भयानक रूप ले लिया था कि अंग्रेजों को प्रति क्षण ही अपना तोपखाना छीन लिए जाने का भय सताने लगा था। कर्नल वेल्शमैन अपने सैनिकों को उत्साह दिलाता-दिलाता स्वयं गोली का शिकार बन गया। यों तो उस दिन अंग्रेजी सेना का प्रत्येक सैनिक बड़े ही उत्साह से युद्ध कर रहा था। किन्तु अब उनका वहां पग जमाए रखना असंभव प्रायः ही हो गया था। किन्तु आज प्रातःकाल ही पंजाब से पहुंची पलटन रणभूमि में अपना जौहर दिखाने को उतावली थी। अतः अंग्रेज सेनापति के लिए निराशा के लिए कोई स्थान नहीं था। उस सेना को आगे बढ़ने का आदेश दे दिया गया। यह सेना अभी आई थी कि क्रांतिकारी दिन-भर समरभूमि में युद्ध करने के कारण थक गए थे। अतः वे पंजाबी सेना द्वारा किए जा रहे प्रबल प्रहारों का समुचित प्रत्युत्तर न दे पाए। ऐसी स्थिति में भी वे रात-भर युद्धरत रहे।

---

१. मेजर रीड-कृत 'सीज आफ दिल्ली'

अन्त में दोनों ही सेनाएं अपनी-अपनी विजय की घोषणा करती हुई पीछे लौट पड़ीं। इस प्रकार पलासी की शताब्दी का दिन तो बीत गया; न ही कोई विजयी हुआ और न ही कोई पराजित। अपितु एक दूसरे की वीरता की प्रशंसा और सम्मान करते हुए सैनिक अपने शिविरों में पहुंच गए।

प्रतिदिन ही दोनों पक्षों में नवीन सैनिकों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी। पंजाब से पहुंच रही सतत कुमुक के फलस्वरूप अंग्रेजी सेना के सैनिकों की संख्या भी ७ हजार तक जा पहुंची थी। इधर क्रांतिकारी सेना में रुहेलखण्ड के देशभक्त सैनिक अपने नेता बख्तखां के नेतृत्व में क्रांतिकारियों के साथ आकर सम्मिलित हो गए थे। लार्ड रावर्ट्स ने लिखा है कि "रुहेलखण्ड की सेना नौकाओं के पुल को लांघकर कलकत्ता द्वार होते हुए राजधानी में प्रविष्ट हुई थी। हाथों में रंग-बिरंगी पताकाएं थामे, उनको फहराते हुए, रणगीतों को सस्वर गाते नितान्त ही अनुशासन सहित पथ-संचालन करते ये सहस्रों सैनिक दिल्ली में प्रविष्ट हो रहे थे तो हमें वह दृश्य 'रिज' से स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा था।" सिद्धांत के प्रति आस्था ही एकमात्र आकर्षण था जिसके कारण ये स्वातन्त्र्य सैनिक अपने-अपने पथकों में आकर भारत की राजधानी में एकत्रित हो रहे थे। इसके अभाव में तो इन विभिन्न वर्गों, जातियों और पंथों के मतावलम्बी सैनिकों में जो थोड़ा-बहुत संगठन हो पाया वह भी कदापि न हो पाता। यद्यपि सम्राट् और अन्य अधिकारियों ने राजधानी में लूटमार की रोकथाम के लिए प्रत्येक यत्न किया था, किन्तु इतने पर भी प्रतिदिन दो-चार चोरियों का समाचार मिल जाता था और इनमें सैनिकों का हाथ होने की शिकायतें भी। इस स्थिति में अनेक दृष्टियों से परस्पर विरोधी शक्तियों को संगठित करनेवाले एक महान नेता की आवश्यकता थी। क्रान्ति की इस वेला में कुछ लोगों में लूटमार और उच्छृंखलता आदि का उभर आना कोई असंभव बात भी तो नहीं थी। किन्तु इस स्थिति में भी अंग्रेजों पर निरंतर आक्रमण हो रहे थे; कम-से-कम उन्हें आतंकित करके उनकी प्रगति को अवरुद्ध कर देने में तो सफलता प्राप्त हो ही गई थी। इतना भी कैसे हो पाया? इसका एकमात्र कारण वास्तव में एक ही था कि सेना और जनता दोनों के हृदय ही विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की पावन-भावनाओं से आप्लावित थे। किन्तु अन्तिम सफलता तो तभी प्राप्त हो सकती थी जबकि इस अमूर्त सिद्धान्त के प्रति जन-जन में विद्यमान इस निष्ठा और प्रेम को किसी महान व्यक्ति में केन्द्रित होना भी तो आवश्यक था। इस स्थिति में रुहेलखण्ड के सैनिकों के नेता बख्तखां का शुभागमन क्रान्तिकारी सेनाओं के लिए एक दैवी वरदान ही सिद्ध हुआ। बख्तखां के राजधानी में आगमन के समय जनता की मानसिक अवस्था क्या थी इसका उत्तम वर्णन दिल्ली के एक नागरिक की दैनंदिनी से उपलब्ध होता है

उसने लिखा है "यमुना का पुल ठीक कर दिया गया था, क्योंकि रुहेलखण्ड से सैनिकों के आगमन की अपेक्षा थी। बहुत दूर होने पर भी सम्राट् उस सेना को अपने दूरीवेक्षण यंत्र से निहार रहा था। २ जुलाई को नवाब अहमदकुलीखां अन्य सदस्यों एवं नागरिकों को साथ लेकर रुहेलखण्ड से आनेवालों का स्वागत करने के लिए पहुंचा। रुहेलखण्ड के सैनिकों के वहां पहुंच जाने पर उनका सरदार बख्तखां सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने अपनी सेवाएं स्वीकार करने का आग्रह किया। सम्राट् की इस संबंध में इच्छा जानने की जब बख्तखां ने हठ की तो उन्होंने उत्तर दिया "मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि जन-जीवन तथा धन की रक्षा की समुचित सुरक्षा हो और वे पूर्णतः निर्भय हो जाएं एवम् फिरंगी शत्रुओं को हिन्दुस्थान से पूर्णरूपेण निष्कासित कर दिया जाए। इस सम्पूर्ण दृश्य को मैं अपनी आंखों से प्रत्यक्षतः देखने को उत्कंठित हूं।" तदुपरान्त बख्तखां ने सम्राट् से कहा कि यदि आप चाहें तो मैं सभी क्रान्तिकारी दलों का नेतृत्व करने को तैयार हूं। सम्राट् ने सेनापति से हाथ मिलाया। फिर विभिन्न सैनिक दलों के प्रमुखों को क्रमशः बुलाया गया और उनसे बख्तखां के नेतृत्व के संबंध में उनका मत जाना। उन्होंने तत्काल ही अपनी सहमति व्यक्त कर बख्तखां के सेनापतित्व में कार्य करने की सौगन्ध ग्रहण की। तदुपरान्त सम्राट् सेनापति से अकेले में मिले। डंके की चोट पर बख्तखां को क्रान्तिकारी सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त कर दिए जाने की घोषणा सम्पूर्ण नगर में कर दी गई। उसे थाल, तलवार भेंट की गई तथा जनरल की उपाधि से विभूषित किया गया। शाहजादा मिर्जा मुगल को एडजुटेंट जनरल नियुक्त कर दिया गया। बख्तखां ने घोषणा की कि "यदि राजवंश का कोई व्यक्ति भी नगर में उपद्रव अथवा लूटमार करेगा तो मैं उसके भी नाक-कान कटवा लेने में तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करूंगा।" बादशाह ने कहा "तुम्हें सर्वाधिकार सौंप दिए गए हैं, तुम जो भी उपयुक्त समझो कर सकते हो।" बख्तखां ने नगर के कोतवाल को भी सचेत कर दिया कि यदि उसकी ढिलाई के कारण नगर के किसी भाग में भी लूटमार इत्यादि की कोई घटना घटी तो उसे मृत्युदण्ड दे दिया जाएगा। बख्तखां ने इसी अवसर पर यह भी बताया कि मेरे साथ चार पैदल पलटनें, सात सौ अश्वारोही, छः घुड़चढ़ी तोपें और तीन बड़ी तोपें हैं। बख्तखां ने अपने सैनिकों को भी छः मास का अग्रिम वेतन चुकाया हुआ था। उस समय उसके पास चार लाख रोकड़े बचे थे। इसके कारण सम्राट् को भी सैनिकों का वेतन आदि चुकाने की दृष्टि से पूर्णतः निश्चिन्तता हो गई, क्योंकि उन्हें यह भी आश्वासन दे दिया गया था कि जो भी धन प्राप्त होगा वह भी उन्हींके चरणों में समर्पित कर दिया जायगा। सम्राट् की आज्ञानुसार चार सहस्र रुपए का मिष्ठान्न भी सेना में वितरित किया गया।

आगरा, नसीराबाद और जालन्धर के सभी सैनिक अब बख्तखां के ही नेतृत्व में थे। तभी यह आदेश भी दिया गया कि प्रत्येक नागरिक भी अपने पास शस्त्रास्त्र रखें। जिनके पास हथियार नहीं थे, उन्हें भी थाने से निःशुल्क हथियार देने की व्यवस्था की गई।

अब नगर में यदि कोई भी सिपाही लूट-खसोट करता हुआ दृष्टिगोचर हो जाता तो उसके हाथ-पैर तोड़ दिए जाया करते थे। बख्तखाँ ने शस्त्रागार के सभी हथियारों को भी पूर्णतः व्यवस्थित रूप से रखवाया। रात्रि को ८ बजे सेनापति ने राजमहल में प्रवेश किया। सम्राट् बहादुरशाह, बेगम ज़ीनत महल, हकीम हसनुल्लाखाँ और अहमद कुलीखाँ आदि ने मिलकर विद्यमान परिस्थिति पर विचार-विमर्श किया। ३ जुलाई को जब सामूहिक पथ-संचलन हुआ तो लगभग ३० सहस्र सैनिकों ने पूर्णतः शस्त्र सज्जित होकर उसमें भाग लिया।[१]

दिल्ली में बख्तखां के आगमन से क्रांतिकारियों में अनुशासन और संगठन की भावना निर्माण हुई तो अंग्रेजों का उत्साह भी पंजाब से सैनिकों के पहुंचने के कारण बढ़ गया। पंजाब से इन्हीं दिनों में आए हुए ब्रिग्रेडियर जनरल चेम्बरलेन जैसे उत्साही और कर्मठ अधिकारी अंग्रेजी सेना में भी थोड़े से ही थे। सुप्रसिद्ध सैनिकी स्थापत्य विशारद बेअर्ड स्मिथ भी पंजाब से आ पहुँचा था। सर जान लारेन्स ने सिख-युद्ध के समय शौर्य प्रदर्शन करनेवाले सभी अधिकारी अंग्रेजी सेना की सहायतार्थ दिल्ली के घेरे में सहायतार्थ भेजे थे। अब जनरल बर्नार्ड ने पुनः एक जोरदार आक्रमण की योजना तैयार की। इस प्रकार का प्रयोग वह दिल्ली पर चढ़ाई के रूप में कर चुका था। किन्तु उनमें तो उसे पराजय का ही मुख देखना पड़ा था। इसीलिए उसने इन्हें स्वतः ही बन्द कर दिया था। अभी तक जो अंग्रेजी सेना आक्रमण करने के लिए अधीर थी, वह ३जुलाई को आक्रमण करते हुए संन्नद्ध हो गई। किन्तु जिस समय वहाँ योजनाएं ही बनाई जा रही थीं, उसी समय किसी व्यक्ति ने आकर समाचार दिया कि उन्हें जनरल बख्तखां ने दिल्ली पर चढ़ाई करने की बाधा से मुक्त कर दिया है, क्योंकि वह स्वयं ही अपनी सेनाएं लेकर अंग्रेजों पर धावा बोल रहा है। ४ जून को क्रान्तिकारी सेनाएं अंग्रेजों पर टूट पड़ीं और उन्हें मारते-मारते अलीपुर तक भगा दिया। अंग्रेजों को दिल्ली पर अधिकार कर लेने का इतना उतावलापन था, इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने पहले से ही बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में यह समाचार प्रसारित किए थे। सदैव के समान ही जब इन अफवाहों के निराधार होने का विश्वास हो जाता तो सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में ही फिरंगी यह प्रश्न करते हुए सुने जाते थे कि "फिर वहां अंग्रेज सेना क्या पान

१. मेटकाफ-कृत 'नेटिव नेरेटिव्ह,' पृष्ठ ६०

चीरने के लिए बैठी हुई है ?" इस अपकीर्ति और विषाद ने बर्नार्ड की आंखों से उसकी नींद छीन ली थी। उधर क्रान्तिकारियों की लगातार चढ़ाइयों से उसे एक क्षण के लिए भी अवकाश नहीं मिल पाता था। अतः दिल्ली पर चढ़ाई करने की उसकी योजना भी अब दिन-प्रतिदिन ही धूमिल होती जा रही थी। अन्ततः निराश ब्रिटिश सेनापति बर्नार्ड को अत्यधिक निराशा और चिन्ताओं के साथ ही ५ जुलाई को हैजा हो गया। उसके निधन का समाचार प्राप्त करते ही अंग्रेजों के मुख पर विषाद की छाया फैल गई, क्योंकि दिल्ली में प्रवेश पाने के लिए लालायित अंग्रेजों का यह दूसरा महान सेनानी था, जो इसी आशा को हृदय में बसाए चिर विदा ले गया। अब जनरल रीड ने सेनापति का पद ग्रहण किया। वह अंग्रेजी सेना का तृतीय सेनापति नियुक्त किया गया।

अभी अंग्रेज सेनाधिकारी तो योजनाएं बनाने में ही लिप्त थे, इसके विपरीत दिल्ली के क्रान्तिकारी तो चढ़ाई करने के अपने उद्देश्य को क्रियान्वित कर देने में सफल हो गए थे। सभी आक्रमणों का विवरण दे पाना तो संभव नहीं होगा। किन्तु ९ जुलाई तथा १४ जुलाई को किए गए आक्रमणों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, क्योंकि अंग्रेजों तथा क्रान्तिकारी सैनिकों दोनों के ही प्रबल पराक्रम की पराकाष्ठा इन दो आक्रमणों के समय स्पष्ट हो गयी थी।

९ जुलाई के आक्रमण में तो अंग्रेजी रिसाला बिखरकर भाग जाने पर ही विवश हो गया था। इतना ही नहीं उनकी तोपों के भी मुखों ने आग उगलना बन्द कर दिया था। एक वीर सैनिक ने मिस्टर हिल को उसके अश्व-सहित धराशायी कर दिखाया था तो उसी समय हिल संभलकर उठा ही था कि उस पर तीन सिपाहियों ने एक बार ही आक्रमण कर दिया। हिल ने दो बार अपनी पिस्तौल से गोलियां दागने का असफल प्रयास किया। उसके निशाने तो चूक गए थे, किन्तु एक क्रान्तिकारी सिपाही ने उससे तलवार छीन लेने का पराक्रम प्रदर्शित कर ही दिखाया था। तदुपरान्त उस सैनिक और हिल में परस्पर मुठभेड़ भी हुई। वीर सिपाही ने हिल को चारों खाने चित्त ही नहीं गिराया, अपितु उसकी छाती पर भी घुटना देकर चढ़ बैठा। इस सिपाही ने अपनी तलवार निकाली ही थी कि उसपर लगभग ३० फुट के अन्तर पर खड़े मेजर टोम्बास् की दृष्टि पड़ी। टोम्बास् ने यह दृश्य देखते ही अपनी बन्दूक से गोली दाग दी। सिपाही को गोली लगी और स्वातन्त्र्य देवी के श्री चरणों में सदैव के लिए समर्पित हो गया। अभी टोम्बस् ने हिल को उठाया ही था और दोनों साथ ही साथ वहां से चले ही थे कि एक अन्य सैनिक ने हिल की वहां पड़ी हुई पिस्तौल को उठाकर उनके पीछे-पीछे चलना आरम्भ कर दिया। सिपाही पर कुछ अंग्रेज सैनिक टूट पड़े। किन्तु उसने अपनी तलवार से ही एक अंग्रेज को घायल कर दिया तो दूसरे को यमलोक पहुंचा दिया, पर

तीसरे अंग्रेज की तलवार के वार से वह वीर सैनिक भी चिर विदा ले गया। टोम्बस् और हिल को तो उनकी इस वीरता पर विक्टोरिया पदक दिया गया, किन्तु सर जॉन के ने लिखा है कि वह क्रान्तिकारी सैनिक निश्चित रूप से ही 'बहादुरशाह पदक' की प्राप्ति का वास्तविक अधिकारी था। वस्तुतः इस स्वातन्त्र्य संग्राम में अनुपम शौर्य और पराक्रम का प्रदर्शन ऐसे अनेक क्रान्तिकारियों ने किया था कि वस्तुतः वे सभी बहादुरशाह पदक प्राप्ति के अधिकारी थे। किन्तु यह भी एक महान सत्य है कि जो वीर पुरुष सत्य पर अडिग रहते हुए आत्मबलिदान के लिए सहर्ष प्रस्तुत रहते हैं, उन्हें कोई बहादुरशाह पदक दे अथवा न दे उससे भी महानतम सहादत तथा कर्त्तव्यनिष्ठा का पदक तो उन्हें मृत्यु ही समर्पित कर देती है।

उस दिन के युद्ध में अंग्रेजों पर करारी चोट पड़ी थी, प्रचण्ड आघात हुआ था। जब इसका प्रतिशोध लेने में अंग्रेजों ने अपने-आपको असमर्थ पाया तो इतने अधिक विक्षुब्ध हुए कि इन्होंने अपने शिविर में पहुंचकर निरपराध भारतीय भिश्तियों और कर्मचारियों की ही हत्याएं करके अपनी वीरता का प्रदर्शन किया।[1] ये ही तो वे सीधे-सादे भिश्ती तथा अन्य नौकर थे जिन्होंने ब्रिटेन के सैनिकों को युद्ध करने के योग्य स्थिति में रखा हुआ था।

१४ जुलाई के युद्ध में तो अंग्रेजों की दुर्दशा अपनी पराकाष्ठा पर ही पहुंच गयी थी, क्योंकि इसी दिन के युद्ध में सुप्रसिद्ध फ़िरंगी योद्धा चैम्बरलेन एक क्रान्तिकारी की गोली लगते ही काल के कराल गाल में समा गया था। अंग्रेज इतिहासकारों ने अपनी इस राष्ट्रीय क्षति का विवरण निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है कि "चैम्बरलैन हमारे पक्ष का एक अतिविख्यात् योद्धा था। वास्तव में वह सम्पूर्ण दिवस ही बड़ा अपशकुनी था, जिस दिन उस वीर को प्राणघातक चोट लगने के कारण छावनी तक उठा ले जाने पर विवश होना पड़ा।"

इसी भाँति १५ जुलाई भी बीत गई और दिल्ली के बुर्जों ने सूर्यदेव की किरणों में स्नान कर अपने ऊपर फहरा रही पावन पताकाओं को और भी अधिक ऊंचा फहराते हुए सम्पूर्ण विश्व में महान स्वर गुंजा दिया था कि "दिल्ली आज स्वातन्त्र्य

---

१. बताया जाता है कि सामने शत्रुओं के न होने पर कतिपय गोरे सिपाहियों ने उन निरीह, निरपराध कर्मचारियों और नौकरों तथा अन्य लोगों की ही हत्याएं कर डालीं, जो ईसाई श्मशान के समीप भयभीत होकर एकत्रित हो रहे थे। कितनी भी निष्ठा कोई प्रदर्शित करे, उसका जी भरकर ढिंढोरा पीटे, कष्ट उठाए, पूरब की मैली वर्दी पहने प्रत्येक व्यक्ति से गोरे जो द्वेष रखते हैं, वह तो कदापि कम नहीं होगा।—के और मेलसनकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ ४३८

लक्ष्मी का निवासस्थल है ।" अन्ततः मेजर रीड को त्यागपत्र दे देने में ही अपनी कुशलता प्रतीत हुई। दो सेनापति तो पहले ही युद्ध की इस ज्वाला में दग्ध हो चुके थे। तीसरा भी नौकरी से अलग होकर बचेगा तभी तो जी सकेगा। दिल्ली को पराजित करने का अंग्रेज़ों का स्वप्न धूल-धूसरित होता हुआ प्रतीत हो रहा था। दिल्ली पर विजय प्राप्त करना तो दूर, क्रान्तिकारियों के भीषण प्रहारों से ही अपनी रक्षा कर पाना अंग्रेजों को असम्भव प्रतीत होने लगा था। अब तो क्रान्तिकारियों की संख्या भी ३० सहस्र तक पहुंच चुकी थी। उनमें से चाहे कितने युद्ध के काम क्यों न आए हों,अंग्रेजों को तो कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था। किन्तु यदि अंग्रेजों के थोड़े भी सिपाही मारे जाते थे तो उनकी संख्या निश्चित रूप से ही प्रभावित होती थी। अतः अब अंग्रेजों ने केवल प्रतिरक्षा युद्ध की ही सिद्धता की। यदि एकाध आक्रमण में क्रान्तिकारी पराजित भी होते तब भी उन्हें तो कोई विशेष क्षति नहीं हो पाती। न ही इस पराजय से उनके आक्रमणों में ही कोई कमी आ पाती थी। इसके विपरीत वे तो और भी प्रचण्ड आत्मविश्वास के साथ घोषणा करते थे कि "देखो अंग्रेजों को यह विजय पराजय से भी अधिक महंगी पड़ती है अथवा नहीं।" भारत के अन्य विभागों में काम करनेवाले अंग्रेज भी अब समाचारपत्रों के माध्यम से यह चीख-पुकार मचाने लगे थे कि वस्तुतः "दिल्ली पर घेरा डालनेवाले ही घिरकर रह गए हैं।"

ऐसी विषम परिस्थिति में जब अंग्रेजों के तृतीय सेनापति ने भी अपने दायित्व से निवृत्ति प्राप्त कर ली तब ग्रेटहेड, चैम्बरलेन तथा रॉटन जैसे कुशल अंग्रेज सेनानायक भी पूर्णतः निराशा का ही अनुभव करने लगे। इतना ही नहीं, अंग्रेजों के सैनिक शिविर में ही अब घेरा उठा लेने की चर्चा और विचार-विमर्श होने लगा। इन परिस्थितियों में तृतीय सेनापति रीड ने अपने पद से त्याग-पत्र दिया और उनका स्थान जनरल विलसन ने ग्रहण किया।

●●●

: २ :

हेवलॉक

प्रयाग का दुर्ग जब सिख सिपाहियों ने अपने बन्धु क्रान्तिकारियों को विजय नहीं करने दिया तब वहीं अंग्रेजों ने अपना प्रमुख केन्द्र स्थापित किया, क्योंकि यह स्थान आसपास के सैनिक यातायात की दृष्टि से नितान्त ही सुविधाजनक एवं उपयुक्त था। अब तक कलकत्ता के समान सुदूर स्थित नगर से उत्तर भारत के राजनैतिक और राजव्यवहार-संबंधी कार्यों के संचालन के मार्ग में अंग्रेजों के समक्ष जो बाधाएं उपस्थित हो सकती थीं वे भी समाप्त हो गईं। लार्ड केनिंग ने यही विचार किया कि जब तक क्रान्ति का मूलोच्छेद नहीं कर दिया जाता तब तक के लिए राजधानी भी प्रयाग ही रखी जाए। तदनुसार उसने प्रयाग को ही अपना निवास-स्थान बना लिया। किन्तु कानपुर में अंग्रेजों के विरुद्ध जो प्रबल क्रान्ति और प्रतिशोध उभरा था, उसके कारण वहाँ अंग्रेज त्राहि-त्राहि कर उठा था और उसके चीत्कार की गूँज प्रयाग में भी सुनाई पड़ रही थी। उसी समय जनरल नील ने प्रयाग की रक्षा हेतु थोड़ी-सी सेना रखकर शेष सैनिकों को कानपुर का घेरा तोड़ने के लिए मेजर रेनाड के नेतृत्व में रवाना कर दिया था। इस सेना को मार्ग में जो भी ग्राम मिलता था यह उसी को आग लगाती हुई आगे बढ़ रही थी। उसी समय कानपुर की सेना का सेनापति नील के स्थान पर हेवलॉक को नियुक्त कर दिया गया था। जून मास के अन्त में वह प्रयाग आ गया था। हेवलॉक एक लब्ध-प्रतिष्ठित और अनुभवी अधिकारी था। भाग्य ने अंग्रेजों का साथ ही दिया कि इधर विप्लव की ज्वाला धधकी और उधर ईरान के साथ चलने वाला युद्ध समाप्त हो गया। जिससे इस

हेवलॉक

सक्रांतिकाल में ब्रिटिश सेनाओं को हेवलॉक जैसा अनुभवी और कुशल सेनापति प्राप्त हो गया। उसी के नेतृत्व में ईरान से भी ब्रिटिश सेनाएं भारत पहुँची

थीं। नील को जब यह विदित हुआ कि अब उसे हेवलॉक के अन्तर्गत कार्य करना पड़ेगा तो वह क्रोध से तमतमा उठा। किन्तु उसने अपने राष्ट्र-कार्य के समक्ष अपने व्यक्तिगत मान-अपमान को सर्वथा दृष्टि से ओझल कर दिया था। उसने सेना के संगठन में किसी प्रकार की भी कमी नहीं आने दी। इसके विपरीत उसने सैनिक संगठन के संबंध में और भी अधिक तत्परता प्रदर्शित की। ज्योंही हेवलॉक वहाँ पहुँचा उसने अपनी संपूर्ण संपदा भी उसको समर्पित कर दी। अब तो कानपुर के अंग्रेजों की सहायतार्थ यह सेना पूर्णतः सन्नद्ध हो गई थी और साथ ही सशस्त्र भी थी। हेवलॉक प्रस्थान ही करने वाला था कि उसी समय यह समाचार प्राप्त हुआ कि "सर ह्वीलर पराजित हो गया है और उसने शरण ली थी और उसके सहित सभी गोरों की गंगाघाट पर हत्या कर दी गयी है।"

अपने बन्धुओं की हत्याओं का प्रतिशोध लेने के लिए हेवलॉक ने तत्काल ही कानपुर प्रस्थान कर दिया। प्रतिशोध की भावना से उन्मत्त बने १ हजार चुने हुए फिरंगी सिपाही, १५० सिक्ख, एक सिद्धहस्त रिसाला पलटन और ६ तोपें भी उसके साथ थीं। इनके अतिरिक्त कतिपय असैनिक और सैनिक अधिकारी भी थे। ये वही थे जिन्हें क्रान्तिकारियों ने दया-भावना का प्रदर्शन करते हुए जीवनदान दे दिया था। किन्तु आज ये उसी उपकार प्रतिदान देने अर्थात् उन्हीं सिपाहियों से भयंकर प्रतिशोध लेने के लिए चल रहे थे। इन्होंने ही इस सेना को कानपुर के विभिन्न स्थलों से परिचित कराना था। जिन्हें सिपाही अपने एक इंगित मात्र से ही नरक धाम पहुँचा सकते थे और भारतीय क्रान्तिकारियों की उदारता के कारण ही जिनकी प्राणरक्षा संभव हो पाई थी वे ही आज अपने शौर्य (?) का प्रदर्शन करते हुए ग्रामों और नगरों को अंगारों में भस्मसात करते हुए आगे बढ़ रहे थे।

ज्योंही नानासाहब को यह समाचार प्राप्त हुआ कि मेजर रेनाड के नेतृत्व में फतहपुर पर एक दस्ते ने धावा बोला है, उन्होंने भी अपनी सेना को उस ओर प्रस्थान करने का आदेश दे दिया था। रेनाड की सेना को क्षण-भर में ही भूलुंठित करने और पराजित करने का प्रचण्ड उत्साह लिए ज्वालाप्रसाद और टीकासिंह के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सेना फतहपुर जा पहुँची। किन्तु उसी समय हेवलॉक की सेना भी आकर रेनाड की सेना से मिल गयी थीं। अब अंग्रेजों की इन दोनों सेनाओं ने संयुक्त रूप से क्रान्तिकारी सेना पर अपनी तोपों से गोलों की बौछार आरम्भ कर दी थी। क्रान्तिकारी सेना का एक पथक ज्योंही रेनाड की सेना पर टूटा त्यों-ही कुछ ही समय पश्चात् घमासान युद्ध से उन्हें इस सत्य की अनुभूति हो गई कि आज उनका पाला हेवलॉक के तोपखाने तथा उसकी सुसज्जित सेना से पड़ा है। १२ जुलाई को यह भयंकर युद्ध हुआ। क्रान्तिकारी पूरे जोर और उत्साह से लड़े

किन्तु उन्हें अपनी तोपें रण-स्थल में छोड़कर ही पीछे हटने पर विवश होना पड़ा। किन्तु इतना सत्य है कि उनके दुर्धर्ष संग्राम को देखकर अंग्रेज भी उनका पीछा करने का साहस नहीं कर पाए। उसी समय अंग्रेजी सेना फतेहपुर में प्रविष्ट हो गई। फतेहपुर की क्रान्तिकारी सेनाओं का नेतृत्व अंग्रेजों के शासन में डिप्टी मजिस्ट्रेट रहने वाले श्री टिकमतुल्ला कर रहे थे। फतेहपुर में कई अंग्रेज मारे गए थे, किन्तु आज अंग्रेजी सेना गिन-गिनकर प्रतिशोध ले रही थी। भूतपूर्व मजिस्ट्रेट शेररे, जो क्रान्तिकारियों की दया भावना के फलस्वरूप ही अपनी प्राणरक्षा कर पाया था फिर से अपना पद बनाए रखने को अंग्रेज सेना के साथ था। पहले तो उसने सम्पूर्ण नगर को लूट लेने का आदेश दिया। जब नगर में लूट-मार करने योग्य कुछ भी न बचा तो उसने सम्पूर्ण नगर में आग लगा देने का आदेश दे दिया। इस आदेश को क्रियान्वित करने का दायित्व सिख सैनिकों पर सौंपा गया था। अंग्रेजी सेना तो चली गयी थी, अब सिख सेना ने ही अपने दायित्व को पूर्ण कर सम्पूर्ण नगर को अग्नि-ज्वालाओं की भेंट चढ़ाकर प्रस्थान कर दिया।

इस प्रकार संपूर्ण फतेहपुर नगर में अनेकों जीवित व्यक्ति ही अंग्रेजों की क्रोधाग्नि में जल गए। यहाँ जो प्रचण्ड अग्नि-ज्वालाएं धधक रही थीं, उनकी लपटें कानपुर तक भी आ पहुंची। ज्योंही क्रांतिकारी सेना की पराजय और रेनाड द्वारा फतेहपुर ग्राम को जला दिए जाने का समाचार नानासाहब को प्राप्त हुआ सभी क्रांतिकारी नेता भी क्रोध से उबल पड़े। कानपुर पर आक्रमण करने के लिए आने वाली अंग्रेजी सेना से लोहा लेने का कार्य स्वयं पांडु नदी पर मोर्चा लगाकर नानासाहब ने अपने हाथों में लेने का निर्णय किया। इतने में ही यह समाचार प्राप्त हुआ कि अंग्रेजों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रचनेवाले कतिपय देशद्रोही बन्दी बनाए गए हैं।[1] तभी उनकी तलाशी लेने पर विदित हुआ कि बीबी की कोठी में जो महिलाएं बन्दी थीं उनमें से कुछ के पत्र इन गुप्तचरों ने ही प्रयाग स्थित अंग्रेजों तक पहुंचाये थे। जब नानासाहब को यह विदित हुआ कि उन्होंने जिन कतिपय

---

१. फतेहपुर में क्रांतिकारी सेना की पराजय के उपरांत कतिपय प्रसिद्ध गुप्तचरों को नानासाहब के समक्ष उपस्थित किया गया। बन्दीगृह में पड़ी कतिपय असहाय महिलाओं द्वारा सुदूर स्थानों को लिखे पत्रों के कतिपय इन गुप्तचरों के पास होने का आरोप लगाया था। उन पत्रों में कतिपय महाराजाओं तथा नगर के 'बाबू' लोगों का हाथ होने की आशंका व्यक्त की गई थी। तभी यह निश्चय किया गया कि उन गुप्तचरों तथा उन कतिपय अंग्रेज पुरुषों तथा महिलाओं का भी वध कर दिया जाए, जिन्हें प्राणदान दे दिया गया था।

'नेरेटिव्ह आफ दि रिवोल्ट', पृष्ठ ११६।

महिलाओं को प्राणदान दिया था, उन्होंने ही अंग्रेजों के साथ पुनः षड्यन्त्र करने का प्रयास किया है तो तत्काल यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अब इनके साथ क्या व्यवहार किया जाए। यही निश्चय हुआ कि जब अंग्रेजों ने फतेहपुर को अग्नि-ज्वालाओं की भेंट चढ़ा दिया है तो उ.. का प्रतिशोध बीवी की कोठी को अग्नि में भस्म कर लिया जाए।

यद्यपि यह बन्दीगृह 'बीवी गृह' कहलाता था, किन्तु नानासाहब के कहने पर कुछ पुरुषों को भी इसी बन्दीगृह में आश्रय प्रदान किया गया था। रात्रि को क्रांतिकारियों की बैठक ने सर्वसम्पत्ति से उन नीच विश्वासघाती गुप्तचरों सहित यमलोक पहुंचा देने का निर्णय लिया। दूसरे दिन उन गुप्तचरों तथा स्त्री-पुरुष बन्दियों को बाहर घसीट लिया गया और एक पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। सर्वप्रथम नानासाहब की उपस्थिति में ही देशद्रोही गुप्तचरों के सिर धड़ से पृथक् किए गए। तदुपरांत अंग्रेज पुरुषों को गोलियों से बेधकर यमलोक पहुंचाया गया। इसके पश्चात् नानासाहब बीवी की कोठी से बाहर आ गए। उसी समय बाहर उपस्थित जनता ने उन अंग्रेजों के शवों का यह कहते हुए उपहास किया कि "यह है मद्रास का गवर्नर, यह पड़ा है बंगाल का गवर्नर और यह लुढ़क रहा है बम्बई का प्रदेश अधिकारी।"

इधर जनता इन शवों से मनोरंजन कर रही थी और बीवीगढ़ के प्रहरी सैनिकों को यह आदेश दे दिया गया कि सभी बन्दियों का वध कर दिया जाए। वहां के बन्दीपाल को इस कार्य में कुछ संकोच का अनुभव हुआ। अतः एक उससे भी अधिक क्रूर व्यक्ति की खोज की गई। बीवीगढ़ की कोठी की प्रमुख बन्दी-पालिका बेगम साहिबा ने कहारों को भेजकर कानपुर से कुछ कसाई बुल-वाए। सायंकाल कुछ बधिक हाथों में नंगी तलवारें लिए हुए इस बन्दीगृह में प्रविष्ट हुए ! उनके मुखों पर क्रूरता के भाव स्पष्टतः परिलक्षित हो रहे थे। सायं-काल अंधियारे के आरम्भ होने के समय वे आए थे और पूर्ण अंधकार ने जब दशों दिशाओं को ढंक लिया तब वे वहां से बाहर निकले। इस अल्पावधि में ही लाल रक्त की सरिता ही प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर हुई। इन कसाइयों ने भीतर प्रवेश करते ही अपना कार्य आरम्भ कर दिया था और लगभग १५० महिलाओं तथा बालकों को मौत के घाट उतार दिया। संपूर्ण कमरा रक्त से तालाब सा दृष्टिगोचर हो रहा था, जिसमें मानव मांस-पिंड तैर रहे थे। आते समय ये बधिक धरती पर पग धरते हुए आए थे, किन्तु जब लौट रहे थे तो इन्हें रक्त की सरिता में पग धरकर चलना पड़ रहा था। अर्धमृतकों के आर्तनाद, मृत्यु के मुख में जाने वालों की भीषण चीत्कार और जो बालक अपने नन्हें आकार के कारण बधिकों के दुधारों की धार से बच गए थे उनके हाहाकार से संपूर्ण रात ही विलाप

सी करती हुई प्रतीत हो रही थी। प्रातःकाल इन सब अभागों के रुण्ड-मुण्ड एकत्रित किए गए और उन्हें समीप स्थित कूप में फेंक दिए गए। अभी भी शवों के ढेर के नीचे दबे हुए थे दो अबोध शिशु, ज्योंही ढेर हिला, रेंगते हुए बाहर आने लगे, किन्तु एक ही प्रहार में उन्हें पुनः विलप्त कर दिया गया। अब तक तो लोग इस कूप के जल से अपनी पिपासा शांत करते थे किन्तु अब वह कुआ मानव रक्त का पान कर अपनी प्यास मिटा रहा था। जिस भांति अंग्रेजों के द्वारा की गई निर्मम हत्याओं से फतेहपुर आर्तक्रन्दन कर उठा था, उसी प्रकार प्रतिशोध और क्रोध से जिनके हृदय दग्ध हो उठे थे उन 'पांडे' सैनिकों द्वारा गोरे बालकों के शव पाताल में ही गाड़े जा रहे थे। इस प्रकार दो वंशों में १०० वर्ष तक जो प्राप्ति करती थी, उसे पूर्णतः चुका दिया गया। अब तो रकम की पाई-पाई चुकाई जा रही थी।[1] शायद वह दिन कभी आ जाए जब बंगाल की खाड़ी भर जाए, किन्तु कानपुर का यह कुंआ इतना रक्तपान कर लेने पर भी विश्व की समाप्ति तक सूखा और प्यासा ही रहेगा।

उसी समय पाण्डु सरिता तट पर हुए संग्राम में नानासाहब की सेनाओं को पराजित करके हेवलॉक आगे बढ़ता जा रहा था। इस संघर्ष में नानासाहब के भाई सेनापति बालासाहब के कन्धे में गोली लगी थी, जिसके कारण उन्हें कानपुर लौट आने को विवश होना पड़ा। तत्काल युद्ध-समिति की आपात्कालीन बैठक हुई। नानासाहब ने भविष्य में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों का पूर्णतः विश्लेषण किया और इस संबंध में अन्य सदस्यों से विचार-विमर्श भी किया। इस बैठक में दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए। एक तो यह था कि कानपुर को खाली कर दिया जाए और दूसरा था अंग्रेजों के आक्रमण का तीव्र प्रतिकार। विचार विमर्श के उपरान्त द्वितीय प्रस्ताव ही स्वीकृत किया गया। १० जुलाई को अंग्रेज सैनिक कानपुर की सीमा से ही आ लगे। अभी तक उन्हें कानपुर के कुएं के हत्याकाण्ड

---

१. क्रूरता की पराकाष्ठा, अवर्णनीय लज्जा आदि विशेषणों से इस पाशविक हत्याकांड का वर्णन किया गया है, किन्तु ये सब तो विभ्रान्त कल्पना शक्ति की मनगढ़न्त बातें ही हैं, जिनपर बिना किसी प्रकार का ध्यान दिए ही विश्वास कर लिया गया। (परिणामों की तनिक भी चिन्ता न की गई) बिना विचारे ही उनका प्रसार और प्रचार किया गया। किसी का अंगच्छेद न हुआ, किसीका अपमान नहीं हुआ। यह साक्षी दी है, क्योंकि उन्होंने जून और जुलाई मास में हुई हत्याओं से संबद्ध प्रत्येक बात का खोजपूर्ण अवलोकन किया था।"

के तथा मेलसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ २८७।

का समाचार ही न मिल पाया था। ह्वीलर का दुर्ग तो हाथ से निकल ही गया था। अब उन्होंने बीवीगढ़ दुर्ग को मुक्त कराने का संकल्प कर लिया था। उन्होंने न तो कड़ी धूप की चिन्ता की और न ही कष्ट अथवा झंझट की ही किसी ने चिन्ता नहीं की। उन्होंने तनिक भी विश्राम नहीं किया। ज्योंही कानपुर के बुर्ज हेवलॉक को दृष्टिगोचर हुआ त्योंही उसका उत्साह द्विगुणित हो गया और वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति होने के संबंध में आश्वस्त हो गया था। उसने 'पाण्डे सेना' की गतिविधियों की जानकारी उपलब्ध करने के लिए गुप्तचर नियुक्त कर दिए क्रान्तिकारियों ने बड़ी चतुरता सहित अपना व्यूह गठित किया था। तब जिसका संपूर्ण जीवन ही रणभूमि में व्यतीत हुआ था उस हेवलॉक को भी यह विदित हो गया कि क्रान्तिकारियों में भी अनेक युद्ध-शास्त्र और कला में पारंगत व्यक्ति विद्यमान हैं। उसने तभी अपने सभी सहायकों को एकत्रित किया और अपनी व्यूह-रचना तलवार की नोक से भूमि पर अंकित कर उन्हें समझायी। इधर वह अपने सहयोगियों को यह समझा ही रहा था कि क्रान्तिकारियों पर पीछे से आक्रमण करने की अपेक्षा सामने से ही वार करना ही श्रेष्ठ है, उसी समय अपने श्वेत अश्व पर आरूढ़ श्रीमन्त नानासाहव अपने द्वारा की गयी व्यूह-रचना के अनुसार खड़े हुए सैनिकों की पंक्तियों में प्रविष्ट हो रहे थे। नानासाहव अपने अश्व पर आरूढ़ होकर सैनिकों को प्रोत्साहन देते हुए घूम रहे थे। मध्यांन्ह में नानासाहव की सेना की बाईं ओर अंग्रेजी सेना अपने निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चढ़ दौड़ी। इस सहसा ही हुए आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए क्रान्तिकारी सेना ने अग्नि वर्षण आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी तोपों को क्रियाशील होने में कुछ विलम्ब हो रहा था, किन्तु इसी बीच नानासाहव के तोपखाने ने चारों ओर धूम मचा दी थी। किन्तु क्रान्तिकारियों की इस विजय से क्रुद्ध होकर हेवलॉक आगे बढ़ा, और उसके हाइलैण्डर सैनिक भी अपने प्राणों का मोह त्यागकर सीधे तोपों पर ही चढ़ दौड़े। उन्होंने किंचित मात्र भी पीछे हटने का विचार भी अपने मन में नहीं आने दिया। विजय अथवा मृत्यु का घोष करते हुए अंग्रेज सैनिक विक्षुब्ध वन्य शूकर के समान आगे बढ़ते गए। उनके इस प्रचण्ड आक्रमण और सुसंगठित और सुनियोजित प्रहार के आगे क्रान्तिकारी हतप्रभ होकर रह गए। अपनी तोपों को मैदान में छोड़कर ही वे पीछे हटने पर विवश हो गए थे। क्रान्तिकारी सेनाओं का वायां मोर्चा तोड़ देने में अंग्रेज सफल हो गए थे, अतः अव उन्होंने दाएं मोर्चे पर भी दवाव वढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उधर भी गोलों की वौछार आरम्भ हो गई थी। जव अंग्रेजी सेना विजयी होकर आगे वढ़ने लगी तो क्रान्तिकारी सेनाओं ने पीछे हटना आरम्भ कर दिया। किन्तु क्रान्तिकारियों में व्याप्त निराशा को दूर करते हुए नानासाहव ने पुनः सभी सैनिकों को एकत्रित किया और वची-खुची तोपों से ही

रणस्थल में आकर डट गए। यद्यपि इस बार सिपाहियों को उत्साह बंधाने और उन्हें युद्ध के लिए सन्नद्ध बनाने में नानासाहब को अपार कष्टों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार कानपुर में यह घोर संघर्ष हुआ। क्रान्तिकारियों ने अपने अनुपम शौर्य का प्रदर्शन किया। तलवारों से तलवारें टकराईं, किन्तु उनमें से एक ने भी पीठ न दिखाई। वे दृढ़ता सहित अपनी तोपों की रक्षा ही नहीं करते रहे अपितु अचूक निशाने भी दागते रहे। अंग्रेजों ने पुनः एक बार भयंकर आक्रमण किया, किन्तु क्रान्तिकारी सैनिक भी सिर हथेली पर रखकर जूझ पड़े। किन्तु उन्हें पीछे हटना पड़ा और वे ब्रह्मावर्त की ओर चल दिए।[१]

१० जुलाई को हेवलॉक की विजयी वाहिनी कानपुर में प्रवेश पा लेने में सफल हो गई। जिस हेवलॉक ने अपनी इस महान सेना के बल पर विजय की प्रथम लहर कानपुर तक पहुंचा दी थी, अंग्रेजों की डूबती हुई प्रतिष्ठा को अपने प्रचण्ड रण-कौशल और बुद्धि कौशल से उबार लिया था उसका तथा उसकी सेनाओं का हिन्दुस्थान और इंग्लैण्ड सभी जगह अंग्रेजों ने आभार माना। इंग्लैण्ड में प्रत्येक दीवार, प्रत्येक चौराहे और दुकानों की पट्टिकाओं से लेकर सार्वजनिक भवनों तक एक ही शब्द अंकित हो गया था और वह था "हेवलॉक।"

कानपुर को लूट लेने की आज्ञा प्राप्त होते ही सैकड़ों अंग्रेज अधिकारी और सैनिक तथा गोरे सिपाही कानपुर पर गिद्ध के समान झपटे। बीवीगढ़ में धरती पर खून की परतें जमी थीं। कानपुर के अनेक ब्राह्मणों को अंग्रेज अधिकारियों ने बन्दी बनवाकर वहां उपस्थित किया। उन्हें क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध रखने के आरोप में वधस्तम्भों पर लटकाकर उनके प्राण लिए गए, किन्तु यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि वधस्तम्भ पर चढ़ाए जाने के पूर्व उन्हें रक्त की वे परतें चाटने पर विवश किया जाता था। तदुपरान्त रक्त के धब्बों को झाड़ू से धोकर साफ करने का काम भी उन्हींसे कराया जाता। इस प्रकार इन ब्राह्मणों को यह विचित्र दण्ड दिया गया था। एक अंग्रेज अधिकारी से जब इस दण्ड के सम्बन्ध में पूछताछ की गई तो उसने बताया था "मुझे यह विदित है कि फिरंगी के रक्त का स्पर्श करने अथवा उसके दागों को झाड़ू से धोने पर सवर्ण हिन्दू धार्मिक दृष्टि से पतित हो जाते हैं। किन्तु हमने केवल इसीलिए ऐसा नहीं किया, अपितु हम तो वधस्तम्भ पर लटकाने से पूर्व उनकी सभी धार्मिक भावनाओं को पददलित करने के लिए ऐसा कर रहे हैं, जिससे कि उनको मरने के पूर्व यह सन्तोष भी न मिल सके कि हम हिन्दू रहते हुए ही प्राण दे रहे हैं। जब तक दम तोड़ते हुए हम इनकी छटपटाहट न देख सकें हमारा यह समाधान नहीं हो सकता कि हमने पूर्णरूपेण प्रतिशोध लिया है।"

---

४. 'रेड प्रेम्फलेट'

इसके विपरीत क्रान्तिकारियों ने जिन अंग्रेजों की हत्याएं की थीं, उनको मानसिक क्लेश पहुंचाना तो बहुत दूर की बात है, उल्टे उन्हें उनकी इच्छा होने पर मृत्यु से पूर्व बाइबिल का पाठ करने का भी अवसर प्रदान किया गया था। किन्तु दिल्ली और कानपुर में जिन क्रान्तिकारियों के अंग्रेजों ने प्राण लिए उन्हें धार्मिक दृष्टि से भी सन्तोष के साथ प्राण विसर्जित नहीं करने दिया गया। किन्तु इस पर भी अनेकों शूरवीरों ने अपने धर्म और महान सिद्धान्तों के लिए इन सम्पूर्ण क्रूरताओं को सहन करते हुए भी सहर्ष मृत्यु का वरण किया और वधस्तम्भ भी इन धर्मवीरों को अपने पर झूलता देखकर पावन बन गए। चार्ल्स बॉल का कथन है कि जनरल हेवलॉक ने सर व्हीलर की मृत्यु का भयंकर प्रतिशोध लेने का संकल्प ग्रहण किया था। अतः भारतीयों के समूह-के-समूह साथ-साथ वधस्तम्भों पर लटकाए जाते थे, उनके प्राण लिए जाते थे। उनमें से अनेकों क्रान्तिकारियों ने मृत्यु का वरण करते हुए भी बड़े ही महान् धैर्य और शान्ति का परिचय दिया था। निःसन्देह ही वे सिद्धान्तों पर बलि हो जानेवाले शहीदों के तुल्य ही सराहनीय हैं। उन्हीं में से एक नानासाहब के प्रशासन द्वारा नियुक्त किया गया मजिस्ट्रेट भी था। उसे भी बन्दी बनाकर उस पर अभियोग चलाया गया था, किन्तु उसने न्यायालय की कार्रवाई में कोई भाग ही नहीं लिया। उसने उसके प्रति ऐसी निर्लिप्तता प्रदर्शित की कि मानों उसको इस सम्पूर्ण कार्रवाई से कोई सरोकार ही नहीं। उसे मृत्युदण्ड सुना दिया गया, वह उठा और न्यायाधीश की ओर कोई ध्यान न देते हुए, उसने बड़े धैर्य से प्रस्थान किया तथा वधस्तम्भ पर जाकर खड़ा हो गया। जिस समय वधिक (जल्लाद) उसे फांसी देने की अन्तिम क्रिया में संलग्न थे, वह ऐसी शान्त दृष्टि से निहार रहा था कि मानो कोई विशेष बात नहीं हो रही है। जिस भांति योगी समाधि में प्रवेश करता है, उतनी ही शान्ति सहित उसने भी गर्दन अपने हाथों से ही फांसी के फन्दे में फंसा ली। उसके लिए इतनी निर्भीकता सहित मृत्यु का आलिंगन करना तो हिन्दू धर्मद्वेष्टा अंग्रेजों के अपावन सम्पर्क से मुक्त होकर स्वर्ग के नन्दनवन में प्रस्थान करने की पावन वेला ही प्रतीत हो रहा था।[1]

इधर गोरी सेना द्वारा प्रतिशोध के नाम पर अत्याचारों की झड़ी लग रही थी और हेवलॉक द्वारा नितान्त ही दृढ़ निश्चय और सहयोग के साथ रण करनेवाले अंग्रेज और सिख सैनिकों की प्रशंसा की जा रही थी। कुछ ही दिनों के उपरान्त प्रयाग में भी सम्पूर्ण व्यवस्थाएं करने के उपरान्त नील भी कानपुर आ पहुंचा। दोनों ही समान श्रेणी के अफसर थे। अतः दोनों से ही सेना का नेतृत्व और आधिपत्य ग्रहण करने की इच्छा रखना स्वाभाविक ही था। किन्तु इस प्रति-

---

१. चार्ल्स बॉल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड १, पृष्ठ ३८८

स्पर्धा के कारण अंग्रेजी सेना में गड़बड़ उत्पन्न हो जानी स्वाभाविक ही होती। अतः जनरल नील के पहुंचते ही हेवलॉक ने उससे स्पष्ट शब्दों में कहा "जनरल नील, हम एक दूसरे को भलीभांति समझ लें। जब तक मैं यहाँ हूं तब तक अन्तिम सत्ता मेरे ही हाथों में रहेगी और आप मेरी सेना को कोई आदेश नहीं देंगे।"

दो अधिकारियों की पारस्परिक डाह के कारण अंग्रेजों के कार्य में कोई बाधा न खड़ी हो, इसे दृष्टिगत रखते हुए नील कानपुर की रक्षा के लिए नगर में ही रहा और जनरल हेवलॉक ने लखनऊ की रक्षा हेतु जानेवाली सेना का नेतृत्व ग्रहण कर अवध की ओर प्रस्थान कर दिया। नील ने कानपुर की सुरक्षा के लिए एक योजना तैयार की। उसने अछूतों की सेना का गठन कर कानपुर की रक्षा का दायित्व उस सेना को सौंप दिया। उसका अछूतों को सवर्णों के विरुद्ध उभार देने का यह दांव सफल ही रहा। हिन्दू मुसलमान अपनी धार्मिक वैर भावना को तिलांजलि दे चुके थे तो चतुर फिरंगी ने छूत-अछूत का नया विवाद खड़ा कर दिया था।

कानपुर की पराजय के उपरान्त श्रीमंत नानासाहब पेशवा ने ब्रह्मावर्त छोड़कर अपने सम्पूर्ण कोष, शस्त्रास्त्र और सेनाओं सहित गंगा को पार कर लिया। १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में ये क्रांतिवीर केवल स्वधर्म और स्वराज्य के लिए किस भांति लड़े थे, यह सिद्ध करने के लिए उस प्रदेश में हुए युद्ध का एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा किया गया वर्णन प्रस्तुत करना उपयुक्त है। उन दिनों इस अंचल में प्रवास करनेवाले श्री विष्णु भट्ट गोडसे द्वारा प्रस्तुत इस विवरण को 'मेरा प्रवास अथवा सन् १८५७ के वर्ष के विद्रोह की वास्तविकता' शीर्षक से श्री चिं० वि० वैद्य ने प्रकाशित किया है। इस पुस्तक में कानपुर छोड़कर जाने का समय नितान्त ही हृदयग्राही भाषा में पस्तुत किया है। "अंधकार हो जाने पर नौकाओं को सजाकर और उसमें पर्याप्त उल्लेखनीय सामान भरकर बालासाहब इत्यादि को विदाई देने के लिए जो सहस्रों नागरिक गंगाजी के तट पर एकत्रित हुए थे उन सबको नौका के प्रस्थान करने के पहिले नम्रता सहित नमस्कार करके कुछ निश्चिन्त होते ही श्रीमंत बालासाहब ने कहा था 'कानपुर में हमारी पराजय हुई है। इस समय तात्या टोपे, रामभाऊ और लालपुरी बाबा गोसाईं इत्यादि हमारे सरदार कहा हैं, इसका भी हमें पता नहीं। किन्तु वे सभी शूरवीर हैं, उनके संबंध में हमारे मन में तनिक भी चिन्ता नहीं। तुम्हें छोड़कर जाते हुए मुझे मानसिक क्लेश हो रहा है, किन्तु इसका कोई उपचार भी तो नहीं। हिन्दू धर्म और हिन्दू राज्य की स्थापनार्थ पुनः एक बार प्रयास हुआ है। इसके करने में ईश्वर ने हमारे हाथों जो संकट आप लोगों को उठाने पड़े हैं उनके लिए कृपा करके आप मुझे क्षमा करना।"[१]

१. **'मेरा प्रवास,' लेखक विष्णु भट्ट गोडसे, पृष्ठ ३७**

इधर नानासाहब ने कानपुर से प्रस्थान कर पहला पड़ाव फतेहगढ़ में डाला और उधर ब्रह्मावर्त के राजवाड़े को धूल-धूसरित कर अंग्रेज सेना ने अवध की ओर प्रस्थान कर दिया। जून के अन्त तक तो सम्पूर्ण अवध प्रदेश ही क्रान्तिकारियों का छत्ता-सा ही बन गया था। नानासाहब की गतिविधियों का पता लगाने के लिए हेवलॉक ने लखनऊ की ओर प्रस्थान कर दिया। इस दशा में हेनरी लारेन्स को सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से लखनऊ का घेरा उठाना भी नितान्त ही कठिन कार्य था। इतने पर भी विजयोन्माद में मस्त हेवलॉक को लखनऊ को मुक्त कराना एक बड़ा ही सरल कार्य प्रतीत हो रहा था। इसी भांति पंजाब की सेना भी यह समझती थी कि दिल्ली को तो अब जीता, अब वहां हमारी विजयपताका फहराई। हेवलॉक की सेना भी इसी मस्ती में झूम रही थी कि "गंगा पार करते ही हम लखनऊ पर विजयपताका फहरा देंगे, कानपुर से लखनऊ दूर ही कितना है।" जिस तत्परता सहित प्रयाग से कानपुर पर चढ़ाई करते समय हेवलॉक ने अपना रणकौशल प्रदर्शित किया था उसके कारण उसमें इतना विश्वास जागृत होना और उसका प्रेरित होना अस्वाभाविक भी नहीं था। किन्तु अवध के तो चप्पे-चप्पे में ही राष्ट्रीय भावनाओं की ज्वालाएं दहक रही थीं। भारत में सर्वप्रथम क्रान्ति की मशाल को हाथों में थामकर अंग्रेजी राज्यसत्ता को महाकाल बनकर चुनौती देनेवाले पुरबियों का तो अवध पालना ही था। जिन कुटियों, गृहों और झोंपड़ियों में उन क्रान्तिदूतों के माता-पिता निवास करते थे उन सभी में तो क्रान्ति की लपटें स्वाभाविक रूप से ही धधक रही थीं। किन्तु फिर भी विजय के उन्माद में मत्त हुए इस अंग्रेज सेनापति ने इस परिस्थिति को भलीभांति समझा ही नहीं था। इसके विपरीत उसका उत्साह इतना अधिक बढ़ गया था कि मैं पहुंचते ही लखनऊ पर विजयपताका गाड़ दूंगा और वहाँ से दिल्ली की दिशा में प्रस्थान करूंगा तो दिल्ली भी नतमस्तक होकर मेरी अगवानी करेगी और वहाँ से पहुंचकर आगरा पर भी अपना विजयध्वज लहरा दूंगा। इस प्रकार का साहस अपने हृदय में लिए हेवलॉक ने २००० गोरे सैनिकों एवम् दस तोपों को साथ लेकर २५ जुलाई को गंगा को पार किया। अब कानपुर में जनरल नील ही रह गया और हेवलॉक लखनऊ चला गया। जुलाई मास के अन्त में अंग्रेजी सेना की स्थिति इस प्रकार की थी।

● ● ●

: ३ :

बिहार

स्वतन्त्रता की जिस प्रचण्ड लहर ने उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त, प्रयाग, आगरा के अंचलों को आत्मसात कर लिया था उसकी लहरों में तरंगित होने से बिहार प्रदेश और उसकी राजधानी पटना किस प्रकार बच सकती थी। बिहार प्रदेश में अनेकों जिलों के साथ ही गया, आरा, छपरा, मोतिहारी एवम् मोतीहारी आदि प्रमुख नगर थे। इस प्रदेश की व्यवस्था के लिए पटना के समीप ही दानापुर नगर में एक छावनी बसाई गई थी। यहां सातवीं और आठवीं भारतीय पलटनें रहती थीं तो उनपर नियन्त्रण बनाए रखने की दृष्टि से एक गोरी सेना तथा एक तोपखाना भी मेजर जनरल लाइड के नेतृत्व में रखे गये थे। इसके अतिरिक्त अश्वारोही सेना की १२वीं रेजीमेन्ट भी समीप में ही मेजर होम्स के नेतृत्व में तैनात थी।

पटना नगर मुसलमानों की बहावी नामक कट्टर जाति का इतिहासप्रसिद्ध और प्रधान केन्द्र है, अतः यह नगर १८५७ की इस क्रान्ति में योगदान दिए बिना नहीं रहेगा, इस तथ्य को यहां का अंग्रेज कमिश्नर टेलर भली भांति समझता था। अतः उसने बहावी जाति के प्रमुख नेताओं पर विशेषरूप से दृष्टि रखी हुई थी। अंग्रेजों की दासता के प्रति घोर घृणा रखनेवाले पटना नगर में अंग्रेजी राज्य को उलटने की सिद्धता हेतु एक गुप्त क्रान्तिकारी मंडल का गठन हो चुका था। इस गुप्त क्रान्तिकारी संगठन में अनेक धनवान व्यापारी, साहूकार, भूमिपति इत्यादि योगदान देते थे। अतः इसके पास धन का भी आभाव नहीं था। अनेक सुविख्यात मौलवी इस क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व कर रहे थे, अतः उनके राज्यक्रान्ति संबंधी उपदेशों से धार्मिक ओज, पवित्रता और गम्भीरता भी इस संगठन के सदस्यों को प्राप्त हो रही थी। अतः इस दल के प्रभाव से लोगों में अंग्रेजों के प्रति घृणा इतनी प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी कि वे फिरंगी का नाम सुनते ही हलाहल विष के समान दग्ध हो उठते थे। प्रमुख धनी व्यापारियों, जमींदारों और भूमिधरों के

क्रान्तिकारी संगठन में खुलकर योगदान देने के कारण क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए धन का अभाव कभी न हो पाता था। इतना ही नहीं सुदूर स्थिति सीमान्त प्रदेश में भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए यहां से धनराशि भेजी जाती थी, इनके पास इतनी प्रचुर मात्रा में धन का संग्रह होता था।[1] इस क्रान्तिकारी दल की बैठकों में क्रान्तिकारियों से संबंध रखनेवाले अनेक पुलिस कर्मचारी भी भाग लेते थे। रात्रि में इनकी गुप्त बैठकें उनके सहयोग से निर्विघ्न संपन्न होती थीं। अंग्रेजों के विरुद्ध उचित समय आने पर विद्रोह करने के लिए सिद्ध रखने हेतु क्रान्तिकारी दल के सदस्यों ने विभिन्न नामों से अपने यहां नौकर भी रखे थे। इस गुप्त सेना का वेतन क्रान्तिमंडल द्वारा ही चुकाया जाता था। पुलिस से लेकर पुस्तक विक्रेताओं तक में व्याप्त इस गुप्त संगठन ने पटना नगर में तो अंग्रेजों के प्रति विद्वेष और स्वराज्य की चेतना उत्पन्न की ही थी, साथ ही क्रान्ति के इस दहकते हुए यज्ञकुण्ड की लपटों से संपूर्ण प्रान्त ही उष्णता ग्रहण कर रहा था। प्रमुख जमीदारों तथा प्रत्येक जिले के प्रमुख नगरों से पटना के क्रान्तिकारी मंडल का संपर्क भी स्थापित था और उन स्थानों पर सुरक्षा की दृष्ठि से तैनात की गई भारतीय सेनाओं की छावनियों को भी इस क्रान्तिकारी संगठन ने अपने पूर्ण प्रभाव में ले लिया था। दानापुर में सिपाहियों की छावनी में भी रात्रि में गुप्त सभाएं आयोजित की जाती थीं। यदि वे यह देख लेते थे कि गश्त करने वाले किसी अंग्रेज ने उन्हें किसी वृक्ष आदि के नीचे बैठक लेते हुए देख लिया है तो वे उसे अकेले में ठिकाने भी लगा देते थे। इस प्रकार पटना नगर की सम्पूर्ण जनता जब क्रान्ति के लिए सन्नद्ध हो गई तो फिर क्रान्तिकारियों ने लखनऊ, दिल्ली आदि अन्य नगरों के क्रान्तिमंडलों से भी गुप्त रूप से संपर्क स्थापित करने का प्रयास करना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार जब पटना नगरी अपने उदर में राज्य-क्रान्ति, आंग्ल-द्रोह तथा असन्तोष की भयंकर ज्वालाओं को संचित कर चुकी थी और क्रान्ति के विस्फोट की अन्तिम योजनाएं बनाई ही जा रही थीं, उन्हीं दिन पटना के अंग्रेज कमिश्नर

---

१. सर विलियम हन्टर ने यह सिद्ध किया है कि १८५७ की क्रान्ति से भी ५ वर्ष पूर्व ही पटना में एक महान विध्वंसक संगठन विद्यमान था, जो सीमा प्रान्त के कट्टर शिविर को धन ओर जन दोनों की ही उपलब्धि करा रहा था। यह संगठन वहाबियों का था। इस संगठन के एक प्रमुख वहाबी नेता को देकर टेलर ने बन्दी भी बनाया था। तदुपरान्त इस पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया था और इसे राजद्रोह के अपराध में आजन्म कारावास का दण्ड देकर कालापानी भेज दिया गया था।

टेलर को मेरठ की क्रान्ति का समाचार भी प्राप्त हो गया। इसके साथ ही उसे ऐसी सूचनाएं भी मिलीं कि दानापुर के सिपाहियों में भी खलबली मची हुई है। यह कमिश्नर नितान्त ही धूर्त और चालाक था। यद्यपि सम्पूर्ण भारत ही राजद्रोह के लिए तैयार हो गया था, किन्तु सिख तो अभी भी पूर्णतः राजनिष्ठ बने हुए ही थे। अतः उसने पटना की रक्षा के लिए २०० सिख सैनिकों को रेट्रे के नेतृत्व में रवाना कर दिया। उसका आदेश प्राप्त होते ही उन्होंने पटना के लिए प्रस्थान कर दिया। किन्तु मार्ग में वे जहाँ कहीं भी गए वहीं उनका अपमानजनक शब्दों की बौछारों से स्वागत किया गया। लोग उन्हें कहते थे "तुम नमकहराम हो।" ग्रामवासी कटाक्ष करते हुए कहते थे "तुम असली सिख हो, अथवा धर्मभ्रष्ट फिरंगी हो ?" इतना ही नहीं गुप्त अथवा प्रकट रूप से भी यह बताया जाता था कि "तुम स्वदेश की ओर से संघर्ष करो।" इस प्रकार सम्पूर्ण प्रदेश का शाप अपने मस्तक पर लेते-लेते जब ये सैनिक पटना पहुंचे और नगर में प्रवेश करने लगे तो प्रत्येक मार्ग में क्रुद्ध नागरिक उनके प्रति अपनी घृणा का प्रदर्शन करने लगे। इतना ही नहीं अपितु इस नगर का प्रत्येक आत्मसम्मानी नागरिक तो इनकी छाया भी अपने पर पड़ने देना कलंक मानता था। इससे अधिक उनका अपमान क्या हो सकता था कि जब सिख सैनिकों ने पटनाके पावन गुरुद्वारे में पग धरना चाहा तो वहां के स्वातन्त्र्य प्रेमी सिख ग्रंथियों ने इन्हें वहाँ प्रविष्ट होने की अनुमति देना ही अस्वीकार कर दिया। क्योंकि उनका कथन था कि ये सिख सैनिक, जो परकीयों के चरणों का चुम्बन कर रहे हैं, गुरु गोविन्द सिंह के सच्चे सिख कदापि नहीं हो सकते। ऐसी ही भावना मुसलमान मौलवियों की थी तो हिन्दू पुरोहितों का भी तो यही मत था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वधर्म और स्वराज्य के प्रति सभी वर्गों में समान रूप से निष्ठा विद्यमान थी। और उनमें परस्पर कितनी एकता थी, इसका उत्कृष्ट उदाहरण पटना नगरी प्रस्तुत कर रही थी।[1]

सिख सैनिकों के पटना नगर में पहुंचते ही टेलर ने क्रान्तिकारी संगठन को समूल उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस ली थी। तिरहुत के एक पुलिस जमादार वारिसअली के आचरण पर उसके अधिकारियों को सन्देह हो गया। उन्होंने उसके घर पर छापा मारा तथा उसको बन्दी बना लिया। जिस समय उसको बन्दी बनाया गया उस समय वह गया के अली करीम नामक एक क्रान्तिकारी नेता को

---

१. "ज्योंही सिख सैनिकों ने गुरुद्वारा में पग धरा त्योंही एक पागल फकीर सड़क पर दौड़ता हुआ आया और मुट्ठियां बांधकर उन्हें देशद्रोही, विश्वासघाती आदि अपशब्दों से सम्बोधित करने लगा।"

—टेलर-कृत 'पटना क्राइसेस'

पत्र लिख रहा था। क्रान्तिकारियों से उसके पत्र-व्यवहार का प्रत्यक्ष प्रमाण ही अंग्रेज अधिकारियों को प्राप्त हो गया था। अतः उसे तुरन्त ही मृत्युदण्ड सुना दिया गया। जिस समय उसे वधस्तम्भ की ओर ले जाया जा रहा था, उसी समय उसने चीखते हुए कहा कि "यदि कोई यहां वास्तविक स्वराज्यभक्त उपस्थित हो तो मुझे इनसे मुक्त करा ले।" किन्तु उसकी इस गुहार के करुण स्वर किसी क्रान्तिकारी तक पहुंच पाने के पूर्व ही उसका निर्जीव शरीर वधस्तम्भ पर झूलता दृष्टिगोचर होने लगा।

इस वारिसअली द्वारा लिखे गए पत्र के आधार पर ही मुसलमान नेता अली करीम को बन्दी बनाएं जाने का आदेश भी तत्काल प्रसारित कर दिया गया था। इसको बन्दी बनाने के लिए यूरोपियनों की एक टोली रवाना कर दी गई। इस टोली का नायक मिस्टर लुइस था। इसके पहुंचते ही अली करीम अपने हाथी पर आरूढ़ होकर भाग निकला, उसे पकड़ने के लिए लुहस भी उसका पीछा कर रहा था, इस प्रकार दोनों में ही अच्छी होड़ लग गई थी। इस भाग-दौड़ को देखने के लिए अनेक दर्शक भी वहाँ एकत्रित हो गए थे, किन्तु इन प्रेक्षकों ने भी अपने प्रेक्षकत्व के अधिकार का उल्लंघन कर पक्षपात करना आरंभ कर दिया। आस-पास के ग्रामीणों ने जब अपने स्वदेश बन्धु का पीछा करते हुए इन फिरंगियों को देखा तो उन्होंने भी इन्हें त्रस्त करना आरम्भ कर दिया। यदि वे मार्ग भूल जाने के कारण ग्रामवासियों से मार्ग पूछते थे तो ग्रामवासी उन्हें उल्टा ही मार्ग बताते थे। इतना ही नहीं कोई अपना छोटा-सा टट्टू मार्ग में दौड़ाकर उनके मार्ग में अवरोध डाल देता था। इस परिश्रम और निराशा से खिन्न होकर इस अंग्रेज अधिकारी ने तीव्रता से भागनेवाले अली करीम का पीछा करने का दायित्व अपने भारतीय कर्मचारी को सौंप दिया और स्वयं वापस लौट गया। किन्तु जिस कर्मचारी को यह कार्य सौंपा गया था वह भी अंग्रेजों का कट्टरविरोधी ही था, अतः वह दूसरे दिन वापस लौट गया और उसने करीम अली को सकुशल छोड़ दिया तथा अपने गोरे अधिकारी के सामने मुख पर निराशा के भाव प्रदर्शित करता हुआ उपस्थित हो गया।

बिहार प्रदेश में इस प्रकार क्रान्तिकारियों की धरपकड़ जारी थी, उधर नगर के अनेक प्रमुख क्रान्तिकारी नेताओं के नाम भी टेलर ने पता लगा लिए थे। अतः उसने इन सभी नेताओं को एक साथ ही बन्दी बना लेने की योजना बनाई। क्रान्तिदल के इन प्रमुख नेताओं के निवास-स्थानों पर ही गुप्त बैठकें आयोजित हुआ करती थीं। यद्यपि टेलर को इस सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई थी कि इन बैठकों में क्या कार्य-क्रम बनता है तथा कौन-कौन इनमें सम्मिलित होते हैं, किन्तु उसे तीन मौलवियों के सम्बन्ध में निश्चित सूचनाएं प्राप्त हो चुकी थीं कि वे निश्चित रूप से ही इस क्रान्तिकारी संगठन के प्रमुख नेता है। अतः उसने

इन तीनों को वन्दी वना लेने का निश्चय कर लिया था। उसे यह भी आशंका थी कि यदि उनको प्रकट रूप से वन्दी बनाया गया तो वही असन्तोष उभर सकता है, इस भय से भयभीत उस अंग्रेज अधिकारी ने एक अन्य चाल चली। एक दिन कतिपय राज्य-व्यवस्था-सम्वन्धी प्रश्नों पर परामर्श करने के नाम पर टेलर ने नगर के कतिपय प्रमुख व्यक्तियों को नितान्त ही आदरसहित अपने घर पर आमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण के आधार पर ये सभी व्यक्ति उसके निवासस्थान पर पहुंच गए। उसने वहां सिख सैनिकों को भी तैयार खड़ा किया हुआ था। इस बैठक की समाप्ति पर जब सब निमन्त्रित व्यक्ति अपने-अपने घर वापस जाने लगे तो उसने उपरोक्त तीनों मौलवियों को हँसते हुए रोक लिया और कहा कि "ऐसी प्रक्षुब्ध स्थिति में आपको स्वतन्त्र रहने देना राज्य की दृष्टि से खतरनाक है, अतः आप लोगों को बन्दी बनाया जाता है।" इस ब्रिटिश कार्रवाई के सम्बन्ध में इतिहास-लेखक के ने लिखा है "परन्तु क्या किसी सत्यवादी मनुष्य ने इस बात पर विचार किया है कि ब्रिटिशों द्वारा किए गए इस कृत्य के समान ही कोई कृत्य किसी मुसलमान ने अंग्रेजों के विरुद्ध किया होता तो उस पर भांति-भांति के आरोप लगाए जाते। स्नेह के नाते गृहस्थ को बुलाना, ब्रिटिश सरकार के अतिथि के रूप में उसे निमन्त्रित करना और जब विश्वास करके वह अपने घर पर आ जाए तो उसे बन्दी बना लेना यह कृत्य अप्रत्यक्ष विश्वासघात नहीं अपितु खुला विश्वासघात है। उन मौलवियों में से यदि किसी ने थोड़ा-सा भी प्रतिकार करने का प्रयत्न किया होता तो उसके तत्काल ही प्राण ले लिए जाते।" तथापि इस कार्य को राज्य के लिए नितान्त ही हितकारक कहकर अंग्रेजों द्वारा टेलर के इस कार्य की सर्वत्र प्रशंसा की गई और उसे साधुवाद दिए गए।

इस प्रकार रक्त का एक बिन्दु भी बहाए बिना ही प्रमुख क्रान्तिकारियों को बन्दी बना लेने के पश्चात पटना में भी बन्दी बनाए जाने का क्रम जोर-शोर से आरम्भ किया गया। टेलर की यही योजना थी कि ये गिरफ्तारियां इस ढंग से की जाएं कि इस कार्यवाई से पटना के नागरिकों में कोई प्रतिक्रिया अथवा अशान्ति उत्पन्न होने के पूर्व ही सम्पूर्ण कार्य पूर्ण हो जाए। अपने इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस अंग्रेज अधिकारी ने दो आज्ञाएं प्रसारित कीं। प्रथम यह कि पटना के सभी नागरिकों से शस्त्रास्त्र छीन लिए जाएं और दूसरी यह थी कि रात्रि के ९ बजे के उपरान्त किसी भी व्यक्ति को अपने घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं है। उसके द्वितीय आदेश के परिणामस्वरूप क्रान्तिकारियों की गुप्त बैठकों के आयोजन में बाधा उपस्थित होने लगी। उनके लिए शस्त्रास्त्रों का संचय करना भी एक कठिन कार्य हो गया। अभी तक पटना नगर के क्रान्तिकारी क्रान्ति के विस्फोट के लिए दानापुर से निर्देश मिलने की प्रतीक्षा में थे। किन्तु जब उन्होंने

क्रान्ति के पौधे को अंग्रेजों द्वारा समूल उखाड़ फेंकने के इस प्रयास पर गम्भीरता सहित विचार किया तो वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस प्रकार दमनचक्र की चक्की में पिसते रहने की अपेक्षा तो सहसा ही विद्रोह कर देना अधिक श्रेयस्कर है। अतः ३ जुलाई को पीरअली नामक एक क्रान्तिकारी नेता के निवासस्थान पर क्रान्तिमण्डल की एक बैठक आयोजित की गई और इस बैठक में ही विद्रोह का सम्पूर्ण कार्यक्रम निर्धारित कर लिया गया। तदुपरान्त क्रान्ति की पावन पताकाएं अपने हाथों में लिए स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जय जय करते हुए ये क्रान्तिदूत सड़कों पर निकल पड़े। लगभग २०० क्रान्तिकारियों का एक दल नगर के अनेक मार्गों से गुजरता हुआ गिरजाघर पर पहुंचा और उस पर आक्रमण कर दिया। जब लायल नामक एक गोरा कुछ सैनिकों को साथ लिए उन्हें रोकने के लिए आगे आया तो पीरअली की एक ही गोली लगने से उसके प्राण पखेरू उड़ गए। पीर अली के अन्य साथियों ने तो उस गोरे के शव के भी टुकड़े-टुकड़े करके यत्र तत्र बिखरा दिए। उसी समय राजनिष्ठ सिख सैनिकों को साथ में लिए हुए रेट्रे वहां जा पहुंचा। उसने अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर क्रान्तिकारियों पर प्रबल आक्रमण कर दिया। जब इन सिख सैनिकों द्वारा अपनी ही मातृभूमि के उदर में अपनी तलवारें भोंकी गई हों, जब वे उसके रक्त में स्नान करके हर्षित हो रहे हों तो शस्त्रास्त्र संचालन और अनुशासन में भी श्रेष्ठ इस राजनिष्ठ सेना का सामना बेचारे मुट्ठी भर क्रान्तिकारी कितनी देर तक कर सकते थे? अंग्रेजों ने क्रमशः सभी क्रान्तिकारी नेताओं को बन्दी बना लिया। जो लोग बन्दी बनाए गए थे उनमें लायल को ठिकाने लगाने वाले पीरअली भी शामिल थे।

पीर अली का मूल निवासस्थान लखनऊ था, किन्तु वे अनेक वर्षों से पटना में ही पुस्तक विक्रय का व्यवसाय कर रहे थे। विक्रय के निमित्त लाई गई पुस्तकों का वे अध्ययन भी करते थे। अतः उनमें देश की स्वतन्त्रता के पावन विचार कूट-कूटकर भर गये थे। परावलम्बन और पराधीनता से उनका मन ऊब गया था। दिल्ली और लखनऊ के क्रान्तिकारियों से भी उनका पत्रव्यवहार द्वारा सम्पर्क था। वे अपने हृदय में प्रज्वलित हो रही देशभक्ति की पावन ज्योति से अनेकों हृदयों को आलोकित कर चुके थे। यद्यपि वे पुस्तकविक्रेता का ही धन्धा करते थे, किन्तु पटना के क्रान्तिकारी मंडल में उन्हें अत्यधिक सम्मान प्राप्त था। अपने गुप्त संगठन के सुसम्पन्न सदस्यों से धन संग्रह करके उन्होंने पर्याप्त संख्या में लोगों को सशस्त्र ही नहीं किया था, अपितु उन्हें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उचित समय पर क्रान्ति करने के लिए संकल्पबद्ध कर दिया था। जब पटना के कमिश्नर टेलर ने नगर में अत्याचारों और दमन का क्रम आरम्भ किया था, तभी से उनका रक्त खौल रहा था। इसी कारण अब उनके लिए शान्त रह पाना असम्भव हो गया था।

वे स्वभाव से कठोर, साहसी थे तो शूरवीर भी। उनसे अपने वन्धुओं की यन्त्रणाएं न देखी गई। जैसाकि उन्होंने स्वयं भी कहा था वे "समय से पहले ही उठ खड़े हुए" थे। पीर अली को प्राणदण्ड दिया गया। उनके हाथों और पैरों में हथकड़ियां-वेड़ियां डाल दी गई थीं। उनके पैरों में पड़ी बेड़ियों को इतने जोरों से दबाया जाता था कि वे उनके मांस में प्रविष्ट हो जाती थीं और उनकी कलाइयों से रक्त प्रवाहित हो उठता था। इतने पर भी जब उन्हें प्राणदण्ड देने के लिए वधस्तम्भ पर पहुंचाया गया तो भी उनके मुखमण्डल पर वीरोचित हास्य ही विस्फारित हो रहा था। किन्तु जब उन्होंने अपने प्रिय पुत्र का नाम लिया तो उनका कंठ अवश्य ही रुंध गया। भावावेग के इस अवसर को उपयुक्त समझकर एक अंग्रेज अधिकारी ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा "पीरअली, अभी भी समय है, तुम अपने साथियों के नाम बता दो और अपने प्राण बचा लो।" तभी निर्भीक पीर अली ने धीरोदात्त स्वर में उस गोरे को उत्तर दिया "मानव जीवन में कतिपय ऐसे प्रसंग आते हैं, जब प्राण बचाना आवश्यक होता है, किन्तु अनेक ऐसे प्रसंग भी आते हैं जब आत्मरक्षा की अपेक्षा आत्मबलिदान ही महत्वपूर्ण होता है। अब तो दूसरे प्रकार का ही प्रसंग उपस्थित है। इस समय तो मृत्यु का आलिंगन करना ही मेरे लिए अमरत्व की प्राप्ति का मार्ग सिद्ध होगा।"

तदुपरान्त अंग्रेज अत्याचारों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हुए इस नर केसरी ने कहा—

"तुम मेरी हत्या कर सकते हो, मेरे जैसे अन्य अनेक लोग भी तुम्हारे द्वारा वधस्तम्भों पर लटका दिए जाएंगे, किन्तु इसप्र कार तुम हमारी साधना को समाप्त कदापि न कर पाओगे। मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरे रक्त के प्रत्येक बिन्दु से सहस्रों वीर उठकर खड़े होंगे और तुम्हारे राज्य को धूल में मिलाकर ही शान्ति प्राप्त करेंगे।"[१]

इस प्रकार की भविष्यवाणी करते हुए इस देशभक्त ने मातृभूमि की पावन प्रतिष्ठा पर तनिक-सा भी धब्बा न पड़ने देते हुए अपनी मृत्यु का आलिंगन कर

---

१. कमिश्नर टेलर ने स्वयं कहा है कि "पीरअली स्वयं एक साहसी और दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था। यद्यपि उसका रूप बेढंगा था और उसके चेहरे से ही क्रूरता और कठोरता झलकती थी, किन्तु इस पर भी वह शान्त और संयमी था। उसकी बोलचाल और व्यवहार में शालीनता थी। इस प्रकार के लोग अपनी अजेय निष्ठा के कारण खतरनाक शत्रु सिद्ध होते हैं। किन्तु अपनी कठोर आन के कारण वे किसी सीमा तक प्रशंसा के भी पात्र होते हैं।"

लिया। और यह महान देशभक्त भी मृत्यु के द्वार से होता हुआ प्रातः स्मरणीय महान देशभक्तों के तेजस्वी मण्डल में सम्मिलित हो गया।

"मेरे रक्त के प्रत्येक बिन्दु से सहस्रों वीर उठ कर खड़े होंगे", उस हुतात्मा की यह भविष्यवाणी तो मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकती थी। न ही यह गलत सिद्ध हुई। उस वीर को प्राणदण्ड दिए जाने का समाचार दानापुर की छावनी में जा पहुंचा और वहां के अत्यन्त ही राजनिष्ठ सैनिकों ने भी २५ जुलाई को क्रान्ति का घोष गुंजा दिया। अंग्रेजों के तोपखाने की भी चिन्ता न करते हुए तीन भारतीय पलटनों ने वहां से प्रस्थान कर दिया और कम्पनी द्वारा दिया गया गणवेश भी फाड़कर नदी में बहा दिया तथा उसे पार करके प्रस्थान कर दिया। मुख्य अधिकारी मेजर जनरल लाइड कोउ सकी वृद्धावस्था ने उनका पीछा करने से रोक दिया तो उसकी देशी सैनिकों की सेना भी उनका पीछा न कर सकी, क्योंकि उनके मन में भय व्याप्त था। उधर क्रान्तिकारी सैनिकों ने उस जगदीशपुर के राजमहल की ओर प्रस्थान कर दिया जिसके सत्ताधीश की भुजाओं में व तलवारों में आज भी तरुणों सरीखा तेज विद्यमान था। जो इस वृद्धावस्था में भी अपनी मूछों पर ताव देता हुआ युवकों को अपने तेज और ओज से मात दे रहा था। उसी वीरवर की पताका के नीचे ये सभी क्रांतिकारी सैनिक संगठित हो रहे थे।

अंग्रेजों के राज्य को उखाड़ फेंकने में स्वातन्त्र्य आन्दोलन के पुरोधा इन सिपाहियों को अपने सभी प्रयत्नों की असफलता का एक ही कारण समझ में आया था और वह था योग्य नेता का अभाव। किन्तु शाहाबाद जिले में स्थित जगदीशपुर के राजमहल ने तो इस कमी को पूर्ण कर दिया था। अतः ये सिपाही सोन नदी को पार जगदीशपुर के हिन्दू राज्य की पताका के नीचे एकत्रित होने के लिए वहाँ जा पहुंचे थे, क्योंकि वहाँ पहुंचने पर ही तो उन्हें स्वतन्त्रता के आन्दोलन का योग्य सूत्रधार एक नेता प्राप्त होना था। वीरता से ओतप्रोत, कर्मठ तथा सुप्रसिद्ध प्राचीन राजपूत वंश का अवतंश एवं कुशल स्वराज्य नेता कुंवरसिंह अपने कार्य से अपने वंश की कीर्ति-कथा को और भी अधिक प्रभावी बनाने में संलग्न था। शाहाबाद तालुके के विस्तृत भू-प्रदेश पर उनके वंश का प्रभुत्व सुदीर्घकालखण्ड से स्थापित था। इस राजवंश की उदारता के कारण इसके प्रति क्षेत्र की जनता के हृदय में स्वाभाविक रूप से ही स्नेह भावना विद्यमान थी। भारत में साम्राज्यवाद के अनेक बवण्डर उठे और शान्त हो गए, किन्तु इन सभी परिवर्तनों में भी यह राजवंश सगौरव इस प्रदेश पर स्वतन्त्रता और स्वराज्य की पताका को दृढ़ता से थामे शासन चलाता रहा। प्रजा ने इस वंश के उदार, दानी और सुहृदय शासकों की छत्रछाया में शान्ति सहित जीवन यापन किया। कुंवरसिंह के राजवंश का वटवृक्ष अनेकों अराजकताओं की धूप, पवन और शीत के प्रबल प्रहारों

को भी अपनी चोटी पर ही सहन करता रहा, किन्तु उसने अपने पत्तों और शाखाओं में नीड़ बनाकर निवास करनेवाली पक्षी तुल्य अपनी प्रजा की सदैव रक्षा की और उनका पालन पोषण किया और अडिग तथा अटल रहा। इस राजवंश ने अपनी प्रजा को पुत्रवत मृदुल प्रेम का प्रतिदान दिया था, बदले में इस राज्य की प्रजा ने भी अपने शासकों को प्रभु के समान महान मानकर उन्हें अपने हृदयासन पर स्थान दिया था। किन्तु विदेशी राज्यसत्ता की दृष्टि में इस राज्य की जनता और शासकों का यह पावन संबंध आंख की किरकिरी-सा करक रहा था। अतः विदेशी सत्ता ने इस राजवंश को नष्ट-भ्रष्ट करने की घृणित योजना बना ली थी। सहसा ही स्वराज्य पर वज्रपात हुआ और यह सम्पूर्ण प्रदेश असहाय अवस्था में पड़ गया। यहाँ के पक्षी सरीखे प्रजावृन्द इस वटवृक्ष पर हुए उल्कापात के कारण आश्रयविहीन यत्र तत्र विचरने लगे। अपने राजवंश तथा हिन्दुस्थान के साथ किए गए इस अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए वृद्धयुवा कुंवरसिंह अपनी मूंछों पर ताव देता हुआ जगदीशपुर के राजमहल में विचार मग्न खड़ा था।

वृद्ध युवक ! हाँ वस्तुतः वह वृद्ध युवक ही था, क्योंकि वृद्धावस्था में उसके मुखमण्डल से युवकों के तुल्य तेज द्युतिमान हो रहा था। उसके सिर से ८० ग्रीष्मकाल अपना रौद्र रूप प्रदर्शित करते हुए गुजर चुके थे, किन्तु उसके हृदय में प्रज्वलित हो रही शौर्य की अग्नि भी उतनी ही अधिक बलवती हुई थी। उसके भुजदण्डों के स्नायुओं में तो अभी भी नरमुण्डों की माला गूंथ देने की सामर्थ्य विद्यमान थी। हाँ तो ऐसा था यह ८० वर्ष का कुंवर और वह भी सिंह, कुंवरसिंह। अंग्रेजों द्वारा उसकी मातृभूमि को लूटा जाए और वह शान्त बैठा रहें ? यह सर्वथा असम्भव था। डलहौजी द्वारा अवध का राज्य हड़प लिए जाने के उपरान्त स्थान-स्थान पर खड़ी स्वराज्य की शैलमालाओं को तोड़-तोड़कर उन्हें समतल बनाने में अंग्रेज तल्लीन थे। इस दमनचक्र में तो कुंवरसिंह का राज्य भी दला गया था। कुंवरसिंह ने तो अब उस तलवार के ही खण्ड-खण्डकर देने का महान संकल्प ग्रहण कर लिया था, जिसकी शक्ति के भरोसे पर अंग्रेजों ने निर्दयता और अक्षम्य निर्लज्जता का प्रदर्शन करते हुए सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में स्वराज्य को समाप्त किया था। कुंवरसिंह ने इस अन्याय का प्रतिशोध लेने का व्रत तो धारण किया ही, साथ ही वे नानासाहब के साथ सक्रिय सहयोग भी करने लगे।

सहसा ही भीषण रणवाद्य बज उठे। बहुत दिनों से कमिश्नर टेलर के कानों में ऐसी सूचनाएं पड़ रही थीं कि कुंवरसिंह क्रांति की योजनाएं बनाने में लगे हुए हैं, उन्होंने भारत की क्रांतिकारी संस्थाओं से संपर्क स्थापित कर लिया है तथा पटना के सैकड़ों सिपाहियों पर भी गुप्त रूप से उन्हींका नियंत्रण है। किन्तु उसे यह विश्वास ही नहीं हो पाता था कि ८० वर्ष का यह वृद्ध अपनी शैय्या पर शांति-

पूर्वक प्राण विसर्जित करने के स्थान पर समरांगण में अवतरित होकर दो-दो हाथ करेगा। इसका एक कारण यह भी था कि अब तक भी अंग्रेज अधिकारियों को कुंवरसिंह के वे पत्र प्राप्त हो रहे थे, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों के प्रति अपनी 'राजनिष्ठा' का प्रदर्शन किया था। अंग्रेजों की सदैव की उदारता से सर्वथा भिन्न मार्ग का अवलम्बन कर टेलर ने कुंवरसिंह को एक पत्र में लिखा—

"अब आप अत्यधिक वृद्ध हो चुके हैं। आपका स्वास्थ्य भी तो अब विशेष अच्छा नहीं रह गया है। आपके जीवन के अवशिष्टकाल में आपके समीप रहने की ही मेरी भी हार्दिक अभिलाषा है। अतः आप कृपा कर यहां पधारेंगे और मुझे अपनी सेवा करने का सुअवसर प्रदान करेंगे तो मैं आपका अत्यधिक उपकार मानूंगा। मेरे इस निमंत्रण को टालिएगा नहीं, इस आशा को लगाए हुए मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूं।"

भवदीय
टेलर

एक समय था जब अफजल खां ने भी इसी प्रकार का एक निमंत्रण-पत्र छत्रपति शिवाजी की सेवा में प्रेषित किया था। जगदीशपुर के चतुर राजपूत ने भी इस प्रेमपूर्ण निमंत्रण की वास्तविकता को भली भांति परख लिया था। वे समझ चुके थे कि इसका एक ही उद्देश्य है मुझे बड़ी चतुरता सहित वन्दीगृह में डाल देना। अतः उन्होंने टेलर द्वारा लिखे गए पत्र का उत्तर देते हुए लिखा—"श्रीमान्, मैं आपके निमंत्रण का हृदय से आभारी हूं। आपने सत्य ही लिखा है कि मेरा स्वास्थ्य इन दिनों ठीक नहीं है। इसी कारणवश मैं संभवतः पटना में उपस्थित नहीं हो पाऊंगा। ज्योंही मेरे स्वास्थ्य में कुछ सुधार प्रतीत होगा मैं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।

भवदीय
कुंवरसिंह

वीर कुंवरसिंह सत्य ही तो है कि न तो तुम्हारी मन ही स्वथ्य है और न ही शरीर। हां! फिरंगी का कुछ रक्त प्रवाहित कर लेने के उपरान्त तुम्हारे स्वास्थ्य में निश्चित रूप से ही कुछ सुधार हो जाएगा और तदुपरांत तुम निश्चित रूप से ही पटना प्रस्थान करोगे, इसमें तो किंचित् मात्र भी झूठ नहीं। यह बात पृथक् है कि तुम किसकी सेवा में उपस्थित होगे।

उसी समय दानापुर के विद्रोही, वीरवर कुंवरसिंह के लिए औषधि लेकर उनकी सेवा में उपस्थित हो गए। उन्होंने निवेदन किया "कुंवरसिंहजी अब विलम्ब किसलिए कर रहे हैं? हम अपनी पावन मातृभूमि की सौगन्ध ले चुके हैं, हमने अपने महान् धर्म और आपकी शपथ उठाई है! अब आप म्यान को दूर फेंक

दीजिए और पकड़ लीजिए अपने हाथों में तीक्ष्ण तलवार। आप ही हमारे शासक हैं, सेनापति हैं और पथ-प्रदर्शक हैं। हे राजपूत कुलभूषण, अब क्षण-भर का विलंब न करो, रणभूमि आपको पुकार रही है।"

उन स्वतन्त्रता के मतवाले सैनिकों ने ऐसी वीर गर्जना की। कुंवरसिंह को उनके ब्राह्मण पुरोहित ने भी यही परामर्श दिया। इतना ही नहीं अपितु शत्रुओं का रक्त पीने को उतावली उनकी तलवार ने भी उनके कानों में यही स्वर गुंजा दिया।[1] अतः जिस कुंवरसिंह में हाथी पर आरूढ़ होकर भी पटना जाने की शक्ति नहीं थी, वही ८० वर्ष का वृद्ध युवा अपनी रुग्ण शैय्या से सहसा ही उठकर खड़ा हो गया और समरभूमि में जा खड़ा हुआ।

तदुपरांत विद्रोहियों ने भी जगदीशपुर से शाहाबाद जिले के प्रमुख नगर आरा की ओर प्रस्थान कर दिया। क्रांतिकारियों ने आरा का खजाना लूट लिया और अंग्रेजों के वन्दीगृह को भी नष्ट कर दिया और उनकी पताकाओं को भी चीर-फाड़-कर फेंक दिया। तदुपरांत इन सैनिकों ने एक छोटे-से दुर्ग की दिशा में प्रस्थान कर दिया। चतुर फिरंगी ने कठिन समय के लिए इसी दुर्ग को अपना आश्रय-स्थल बनाकर यहां पर्याप्त मात्रा में शस्त्रास्त्रों को संग्रहीत किया था। और प्रचुर मात्रा में खाद्यान्न इत्यादि भी एकत्रित कर रखे थे तथा गोला-बारूद का भी भंडार एकत्रित कर लिया था। यहां थोड़ी-सी संख्या में रहने वाले अंग्रेजों की सुरक्षा के लिए भी पटना से ५० राजभक्त सिख भेज दिए गए थे। ७५ व्यक्ति जिस कुघड़ी की चिंता में लगे हुए थे और अब वही अवसर उपस्थित हो गया था। क्योंकि क्रांतिकारियों ने संपूर्ण दुर्ग पर ही घेरा डाल लिया था।

भीतर इस गढ़ी में २५ अंग्रेज और ५० सिख सिपाही बड़ी ही तत्परता सहित प्रतिरोध कर रहे थे। उस समय इस गढ़ी के बाहर यद्यपि क्रान्तिकारी सैकड़ों की संख्या में उसे घेरे हुए खड़े थे, किन्तु उन्होंने कोई जोरदार आक्रमण नहीं किया। इसके विपरीत वे इधर-उधर से छुटपुट आक्रमण करने में ही व्यस्त रहे। सम्भवतः उनकी यह कल्पना रही होगी कि व्यर्थ में ही कोई बड़ा आक्रमण करके समय तथा मनुष्यों के गंवाने की आवश्यकता ही क्या है। यह गढ़ी तो बड़ी सरलता से ही अपने हाथ में आ जाएगी। उस समय उन्हें संभवतः समीपस्थ क्षेत्रों और अंग्रेजों की छावनियों पर दृष्टि रखना ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ होगा। इन कारणों तथा गढ़ी से क्रान्तिकारियों पर तोपों द्वारा की जा रही भयंकर

---

१. "ब्राह्मणों ने भी कुंवरसिंह को विप्लव और विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया।"

—"आफिशियल डिस्पैच"

गोलाबारी के कारण ही क्रान्तिकारियों ने भी गढ़ी पर आक्रमण न करते हुए तोपों से गोलाबारी आरम्भ कर दी ? एक-दो स्थानों पर सुरंगे भी उड़ा दी गईं। कुछ दिनों में ही गढ़ी का जलाशय भी सूख गया। उस समय गोरे सैनिकों में जो छटपटाहट और अकुलाहट व्याप्त हुई, उसे वीर सिख सैनिक मौन रहकर न देख पाए। राक्षसों के समान संघर्षरत रहते हुए भी इन सिखों ने २४ घण्टे में ही वहां एक कुंआ खोद डाला और पानी की व्यवस्था कर दी। इस गढ़ी में जो लोग संघर्ष कर रहे थे उनमें गोरे ही नहीं सिख सैनिक भी हैं, जब इस बात का पता विद्रोहियों की लगा तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। क्योंकि यह तो भारतीयों द्वारा फिरंगियों को घेरने की घटना नहीं, अपितु कुंवरसिंह के घेरे में गुरु गोविंदसिंह के सिखों के घिर जाने का मामला था। जो सिख अंग्रेजों की ओर से संघर्ष करते हुए इतने विलक्षण शौर्य का परिचय दे रहे हैं, किन्तु फिर भी नीचता और देशद्रोह में लिप्त हैं, उन सिखों को अपनी ओर मिलाने के लिए भी क्रान्तिकारियों ने पूर्ण प्रयास किए। प्रतिदिन सायंकाल होते ही विद्रोहियों की ओर से भेजा गया कोई-न-कोई दूत खम्भे की ओट में खड़ा होकर उन्हें जोर-जोर से चिल्लाकर सम्बोधित करता था कि "हे सिखों, तुम फिरंगियों की ओर से युद्ध करके नरक के अधिकारी क्यों बन रहे हो ? जिन्होंने स्वराज्य को समाप्त किया है, जिन्होंने हमारी मातृभूमि को पददलित किया है; जिन्होंने हमारे धर्म का विनाश किया है, तुम उनकी ओर से युद्ध करते हुए नरक में क्यों जाते हो ?" क्रान्तिकारी इन सिखों को स्वधर्म, स्वदेश और स्वराज्य तथा स्वाधीनता की शपथ देते, हृदय को द्रवित कर देने वाले शब्दों में अनुनय-विनय करते और फिरंगियों का साथ न देने की चेतावनियां देते थे। इतना ही नहीं उन्हें यह धमकी भी दी जाती थी कि यदि तुम लोगों ने अंग्रेजों का साथ देना जारी रखा और तुम देशद्रोह करने में ही लिप्त रहे तो तुम्हारी निर्ममता सहित हत्या भी कर दी जाएगी। किन्तु इन प्रार्थनाओं, चेतावनियों अथवा धमकियों किसी का भी इन सिखों पर कोई प्रभाव नहीं हो पाता था। इसके स्थान पर वे क्रान्तिकारियों पर गोलियों की बौछार करते थे और गोरे उन्हें शाबास-शाबास कहकर उत्साहित करते थे। इसी स्थिति में घेरा डाले हुए तीन दिन व्यतीत हो चुके थे। तीसरे दिन अर्थात् २९ जुलाई की रात्रि में जब दूर से अंग्रेजों की तोपों की गर्जना सहसा ही सुनाई पड़ी तो क्रान्तिकारी सैनिक चौंक उठे। इस गढ़ी में एकत्रित गोरों के हृदय इन गर्जनाओं को सुनकर आनन्दित हो उठे, क्योंकि क्रान्तिकारी सेना की घेरा बन्दी तोड़ने और उन्हें समाप्त करने के लिए ही तो यह अंग्रेजी सेना आ रही थी।

क्रान्तिकारी सैनिकों का घेरा तोड़ने के लिए आ रही यह ब्रिटिश सेना दानापुर की अंग्रेजी सेना के २०० गोरे सैनिकों पर आधारित थी, और इन्हीं के साथ

१०० क्रूर लड़ाके भारतीय भी केप्टन डनबार के नेतृत्व में आ रहे थे। घेरा तोड़ने के लिए यह सेना सोन सरिता के तट पर आ धमकी। अंग्रेजी सेना में जितना उत्साह और आनन्द आज परिलक्षित हो रहा था, उतना इससे पूर्व कभी दृष्टि-गोचर नहीं हुआ था। वे विजय की आशा से ओतप्रोत थे। सायंकाल तक यह सेना सोन सरिता को पार कर आरा की सीमा पर आ पहुंची। शुक्लपक्ष का चन्द्रमा भी उस दिन उन्हें विजय प्राप्त कराने में सहयोगी बना हुआ था। मानो वह कह रहा था कि 'हे डनवार तुम-इस शुभ्र चांदनी में ही अपनी सेना की उत्तम व्यूह-रचना कर लो। क्योंकि फिर चांदनी होगी अथवा अन्धकार इसके सम्बन्ध में तो निश्चय सहित कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस व्यूहरचना में भी सदैव के समान ही राजनिष्ठ सिखों को ही आगे रखो। सिख भी अपनी वीरता और शौर्य पर दम्भ करते हुए बड़ी प्रसन्नता सहितं आगे बढ़ते गए। इस सेना का आरा के इन घने वनों में पथ-प्रदर्शन करने के लिए काले व्यक्ति को ही आगे रखना। इसे ही आगे रहने दो ! हे वीरवर ! चांदनी में चमकती अपनी इन तीक्ष्ण तलवारों को लेकर आगे बढ़ो। अब तो वन्य प्रदेश पीछे छूट गया है, हाँ मीलों पीछे रह गया है ! लो आरा का पुल भी समीप आ गया। रास्ता भी तो यहां आकर समाप्त हो गया है। अरे, यह क्या ? यहाँ तक कोई विद्रोही दिखाई नहीं पड़ रहा। कहां चले गए हैं वे सब ? पलायन कर गए होंगे, कायर कहीं के। बस डनवार का नाम सुनते ही सिर पर पैर रखकर भाग निकले हैं। सिकन्दर को देखकर भी इतना भय तो उसके शत्रुओं के मन में उत्पन्न नहीं हुआ होगा।

हे चन्द्रमा, प्रचण्ड समर, घोर युद्ध की आशा लगाए तुम आकाश में समीर और शीत के प्रचण्ड झोकों को सहन करते हुए भी गगन में ठहरे रहे। किन्तु अभी तुमने क्रान्तिकारियों का चतुरतासहित पीछे हटनामात्र ही देखा है न। अच्छा अब तुम विदा लो ! निराशा के अधिक बढ़ने तक तुममें ठहरने का ढाढ़स भी कहां है ? जाओ तुम लुप्त हो जाओ। रात्रि की तममयी चादर इस वसुधा को उठाकर तुम भी अपने शयनागार में चले जाओ। और हाँ डनवार ! चन्द्रमा भले ही चले जाए तुम पीछे कदापि न हटना। चन्द्रमा को तो प्रारम्भ से ही लांछन लगता आया है। परन्तु तुम्हें तो यश सिंहासन पर आसीन होना है, तुम अपने ऊपर लांछन कदापि न लगने देना। तुम कदापि पीछे न लौटना। ग्न देखो यहाँ सघन अमरायी है, उन कायर विद्रोहियों के दिखाई भी देने की अब कोई आशा नहीं रह गई है। किन्तु अरे यह आवाज कैसी सुनाई पड़ रही है ? कहीं वायु के वेग के कारण आम्रकुंजों की लतिकाओं की तो यह सरसराहट नहीं सुनाई पड़ रही। सायं, सायं, सायं ! अरे बाप रे, सावधान अंग्रेज सैनिको सावधान ! दसों दिशाओं से सनसनाती हुई गोलियों की बौछार आरम्भ हो गई हैं। ऐसा दृश्य उप-

स्थित है कि मानो प्रत्येक आम्रवृक्ष की शाखा ही अपने हाथों में वन्दूकें लेकर अंग्रेजों पर टूट पड़ी हैं। हर शाखा, हर डाली से ही वन्दूकें निशाना साध रही हैं। कहीं कुंवरसिंह तो नहीं आ गए हैं ? तुम ८० वर्ष के वृद्ध हो अथवा तरुण योद्धा ! देखो अव कौन किसे पीछे हटाता है ! अंग्रेजी सेना लड़ने का संकल्प करके तो आई है, परन्तु लड़ें किसके साथ ? शत्रु पक्ष का तो एक भी व्यक्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। गगन में तारकगण और धरती पर वृक्षों के झुण्ड, इन्हें छोड़कर अन्य तो कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा। इन पर तो वन्दूकों से गोलियां दागने से विजय की कोई सम्भावना है नहीं। वायु देवता कुपित हो उठे, प्रचण्ड झंझावात-सा आ गया और बादलों से भी मानों गोलियों की ही बौछार आरम्भ हो गई थी। ऐसा लगा कि कोई अदेहधारी देवमण्डली ही अंग्रेजी पर टूट पड़ी है। सामने से गोलियां बरसीं तो पीछे से भी बौछार हुई। दायीं ओर से वार हुए तो वायीं ओर से भी धुआंधार हुई।

अंग्रेजी सेना का गणवेश श्वेत रंग का था, अतः वे अर्धरात्रि के इस अन्धकार में भलीभाँति दिखाई दे रहे थे। किन्तु कुंवरसिंह के सैनिकों का गणवेश काला था और तमोमय रात्रि का अन्धकार भी चतुर्दिक व्याप्त हो गया। इस प्रकार मानो गोरे अंग्रेजों से निपटने के लिए सभी काले एकत्रित होकर अंग्रेजों से प्रतिशोध लेने के लिए सन्नद्ध हो उठे थे। कालों के इस षड्यन्त्र के आगे गोरे वेचारे कब तक ठहर पाते। गोरे भाग खड़े हुए तो उनके राजनिष्ठ काले सिखों में भी पैर जमाए रखने का साहस कहाँ से आता ? वे भी भाग निकले। इनका कमाण्डर डनबार पहले हल्ले में ही ठार हो गया। प्राणों की रक्षा के लिए तीव्र गति से भागते हुए गोरे एक खाई के समीप जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने कुछ देर तक ठहरकर विश्राम करने की भी चेष्टा की। किन्तु अभी घोर काली रात्रि पूर्णतः समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि गोरे मृत को ही नहीं अपितु घायल बन्धु-बान्धवों को भी रण-भूमि में ही तड़प-तड़पकर प्राण विसर्जित करते हुए देखते-देखते भूख-प्यास से अकुलाते, शरीर पर लगे घावों से रक्त टपकाते लज्जा से अपने मुख छिपाते हुए जीवन की आशा छोड़कर सोन सरिता की ओर पलायन करते हुए दिखाई पड़े।

परन्तु कुंवरसिंह की चाल से वच निकलना कोई सुगम कार्य तो नहीं था। प्रत्येक पग पर ही तो रक्त के धब्बे पड़े थे। जिस प्रकार कोई जंगली सुअर किसी शिकारी के भाले से घायल हो जाने से जब लहूलुहान होकर भागता है तो उसके भागने के मार्ग पर भी रक्त के छींटे पड़ते ही जाते हैं, उसी प्रकार की दुर्दशा सोन सरिता के तट तक पहुँचते-पहुँचते अंग्रेज सैनिकों की हो गई थी। किन्तु जब वे सोन नदी के तट पर पहुँचे तो उनकी ऐसी दुर्दशा हुई कि जिसका वर्णन भी करना संभव नहीं। उन्होंने वहाँ पहुँचकर देखा कि जिन नौकाओं में उन्होंने सोन नदी को पार

किया था, उनमें से एक भी वहाँ नहीं थी। उन्होंने तलाश की तो विदित हुआ कि वे तो सभी बालू में फंसी हुई हैं और जो एक-दो खुली हुई थीं उसमें 'पण्डों' (विद्रोही सैनिकों) ने आग लगा दी थी। अन्ततः उन्हें केवल दो नौकाएं ही मिलीं। उधर सोन के दूसरे तट पर दानापुर के गोरे, महान विजय-प्राप्ति के उपरान्त आरा से मुक्त कराकर लाए जाने वाले गोरों को साथ लिए रण-गीत गाते और आनन्द मनाते हुए आनेवाले अंग्रेज सैनिकों की प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाए एकटक सरिता के दूसरे तट की ओर निहार रहे थे। उन्होंने आती हुई नौकाएं तो देखीं। किन्तु यह क्या, आनन्द और आह्लाद सूचक तो कोई भी घोष सुनाई नहीं दे रहा था। किसी प्रकार की न पताका थी, न ही किसी वाद्ययन्त्र की आवाज ही सुनाई पड़ रही थी। तट पर एकत्रित सब लोगों की छाती धड़कने लगी। उनकी बेचैनी भी बढ़ती गई। मेरा पुत्र, मेरा भाई, मेरा स्वामी, मेरा पिता, कहाँ है की करुण पुकारें गूँज उठीं। उन सब के मुख से आशंकापूर्ण शब्द निकलने लगे। प्रभु करे वे वापस लौट आएं। कल ही तो हमें विजय-प्राप्ति का विश्वास दिलाकर गए थे। 'हे प्रभु उन पर कृपा दृष्टि रखना' की करुण गुहारें वायुमण्डल में गूँज उठीं। किन्तु इनकी प्रर्थनाएं अभी इनके आसमानी बाप तक पहुँची भी नहीं थीं कि दानापुर के अभागे सैनिक सरिता के तट पर उन नौकाओं में से उतर पड़े। तत्काल ही विद्युत सन्देश के समान एक ही समाचार प्रसारित हुआ "४५० सैनिक गए थे, उनमें से केवल ५० ही कुंवरसिंह की चाल के जाल से निकलकर वापस लौट पाए हैं।"

एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है, "उस दिन अंग्रेज महिलाओं का दिल दहलानेवाला करुण विलाप जिस किसीने भी सुना है, वह उसे आजीवन स्मरण रखेगा, कदापि न भुला पाएगा। कतिपय महिलाएं दुःख से पागल बनीं अपनी छातियां पीट रहीं थीं तो कुछ दहाड़ें मारकर विलाप कर रही थीं। वे रोती-चीखतीं अपने केश नोच रही थीं। यदि इन अभागिनी महिलाओं के समक्ष उस समय कहीं इस महान विनाश के लिए उत्तरदायी कर्नल लाइड आ जाता तो यह निश्चित था कि वे उसकी हत्या कर देतीं।"

परन्तु इधर इन अंग्रेज महिलाओं के करुण विलाप से दानापुर के गगन-मण्डल तक में कुहराम मचा हुआ था तो दूसरी मेजर आयर, इस पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए आरा प्रस्थान कर रहा था। उसे अभी तक डनबार की पराजय का समाचार प्राप्त ही नहीं हो पाया था तथापि वह वहाँ घिरे हुए अंग्रेज सैनिकों को घेरे से निकालकर लाने के लिए तीव्र गति से अपनी सेना सहित बढ़ा जा रहा था। जब २९ और ३० जुलाई को डनबार को पराजित कर देने के उपरान्त कुंवरसिंह के सैनिक आरा वापस लौट रहे थे, उसी समय उन्हें आयर द्वारा चढ़ाई

कर देने की सूचना प्राप्त हो गई। एक क्षण का भी विलम्ब न करते हुए वृद्ध सेनापति कुंवरसिंह ने अपनी सेना की व्यूह रचना की। मार्ग में स्थित सभी नाकों पर मोर्चे बना देने के उपरान्त २ अगस्त को बीबीगंज ग्राम के समीप अन्तिम युद्ध हुआ। दोनों ही पक्षों के सैनिकों द्वारा समीप स्थित घनघोर वनों का आश्रय लेने का प्रयत्न किया जा रहा था। वृद्धावस्था और तरुणाई की इस मुठभेड़ में जग ने देखा कि बुढ़ापा जीता तो जवानी हार गई। आयर की तमन्नाओं पर ओस पड़ गई, उसके स्वप्न क्षार-क्षार हो गए। इसके बाद उसने तोपों से गोले दागने आरम्भ कर दिए। अपनी तीन बढ़िया तोपों के बल पर वह कुंवरसिंह की सेनाओं को थोड़ी सी दूर तक पीछे हटा देने में भी सफल हो गया। तदुपरान्त उसने आरा के दुर्ग की ओर प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर उसने घेरे में घिरे गोरों को मुक्त कराने में सफलता ही प्राप्त नहीं की, अपितु आरा पर पुनः अंग्रेजों की पताका फहराने लगी।

आरा नगर पर घेरा आठ दिन तक जारी रहा। इस आठ दिन की अवधि में इस घेरे की व्यवस्था करने के साथ ही जगदीशपुर के इस वीर राजपूत को दो भीषण युद्धों में शत्रु को अपनी तलवारों का पानी दिखाना पड़ा। इस वीर क्षत्रिय जैसी स्फूर्ति, शौर्य और पराक्रम उसके अनुयायियों में था नहीं। अतः आयर के हाथों पराजित हो जाने से कुंवरसिंह को जगदीशपुर की ओर प्रस्थान करना पड़ा। इधर अंग्रेजों को आरा में मुक्त हुई सेना के अतिरिक्त नवीन कुमुक भी प्राप्त हो गई थीं। अतः वीर कुंवरसिंह ने अंग्रेजों की शक्तिशाली वाहनी से टक्कर लेने के लिए जगदीशपुर में ऐसे सभी लोगों को अपनी सेना में भर्ती करने का कार्य आरम्भ कर दिया जो युद्धस्थल में शत्रु से लोहा लेने में सक्षम थे। गोरों को भी कुंवरसिंह की क्षमता और शौर्य का कोई कम परिचय तो नहीं मिला था। उन्हें यह भय था कि कुंवरसिंह आरा पर पुनः आक्रमण करेगा, इसलिए आयर ने ही जगदीशपुर पर धावा बोल दिया। आरा का घेरा टूट जाने से जिस सेना का उत्साह भंग हो गया था, उसके बल पर अंग्रेजों की अनुशासनबद्ध एवं विजय प्राप्ति के आनन्द से और भी अधिक उत्साहित सेना से संघर्ष करना कुंवरसिंह को असम्भव-सा ही प्रतीत हो रहा था। अतः उन्होंने छापामार युद्ध-कला का सहारा लिया और दो मुठभेड़ों के उपरान्त वे जगदीशपुर से भी चले गए और १४ अगस्त को आयर अंग्रेजी सेना सहित कुंवरसिंह के राजमहल में प्रविष्ट हो गया और वहां उसने अपने खेमे गाड़ दिए।

इस प्रकार जगदीशपुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। उन्होंने जगदीशपुर के राजमहल में घुसकर हिन्दू देवालयों और भवनों को तो नष्ट भले ही कर दिया, किन्तु उन भवनों का स्वामी योद्धा कुंवरसिंह इस युद्ध से पूर्व जितना अविजित रहा, उतना ही वह इस युद्ध के उपरान्त भी अविजित ही रहा। अपनी राजधानी की

दुर्दशा को देखकर कोई भी शासक निश्चित ही आत्मसमर्पण कर देता, किन्तु जगदीशपुर के राजघराने की तो यह परम्परा ही नहीं थी। वहां तो जहां राजा वहीं उसका जगदीशपुर की आन, वान और शान थी। जगदीशपुर नरेश के स्वतन्त्र रहते कोई इस नगरी के पाषाणों को अपने अधिकारों में लेकर भी करता तो क्या करता। यह तो एक व्यर्थ प्रयासमात्र ही सिद्ध हुआ। क्योंकि कुंवरसिंह ने अपना निवासस्थान भले ही गंवा दिया था, किन्तु अब तो रणांगण ही उनका राजमहल बन गया था।

● ● ●

: ४ :

दिल्ली की पराजय

जब अंग्रेजों के तृतीय सेनापति ने भी विजय प्राप्त करने में अपने-आपको असमर्थ समझकर त्यागपत्र दे दिया तो ब्रिगेडियर विल्सन ने प्रधान सेनापति के रूप में इस भार को ग्रहण किया। क्रान्तिकारियों के भीषण आक्रमणों से अंग्रेज इतने अधिक व्यग्र हो उठे थे कि गम्भीरता सहित इस विषय पर चर्चा करने लगे थे कि "अब दिल्ली के घेरे को किस प्रकार उठाया जाय ?" अंग्रेज अधिकारियों में इस विषय पर गहन मन्त्रणा चल रही थी। यदि कहीं उस समय अंग्रेज अधिकारियों द्वारा दिल्ली का घेरा उठा लेने का निर्णय कर लिया जाता तो यह कहना कठिन है कि सन् सत्तावन का इतिहास किस रूप में लिखा जाता। यह ही वह अवसर होता जब अंग्रेजों को इतनी अधिक क्षति वहन करनी पड़ती जितनी उन्हें आज तक मिली किसी भी पराजय में नहीं उठानी पड़ी थी। किन्तु क्रान्तिकारी सेना के एक ही स्थान पर अटके रहने से दिल्ली का घेरा डालने में अंग्रेजों को आक्रमण और बचाव करने की दृष्टि से अनायास ही सुविधा प्राप्त हो गई थी। यदि क्रान्तिकारी सेना एक.ही स्थान पर एकत्रित होने के स्थान पर विभिन्न आंचलों में फैल जाती और छापामार युद्धकला का अनुसरण करती तो यह निश्चित था कि अंग्रेजों की सेनाओं को कुछ ही दिनों के संघर्ष के उपरान्त विवश होकर आत्मसमर्पण करना ही पड़ता। परन्तु दिल्ली के इस घेरे ने तो रणक्षेत्र को भी सीमित कर दिया था। अंग्रेजों पर बाहर से कोई प्रभावी दवाव तो पड़ ही नहीं रहा था, इसके विपरीत क्रान्तिकारियों के एक ही स्थान पर घिरे रहने से अंग्रेजों को ही उन पर आक्रमण करना अधिक सुविधाजनक हो गया था। ऐसी स्थिति में घेरा उठा लेना तो एक प्रकार से क्रान्तिकारियों की बाढ़ को रोके रखनेवाले बांध को ही तोड़ देने के समान था। क्योंकि ऐसा होते ही उन्हें सारे प्रदेश में फैल जाने का स्वर्णावसर प्राप्त हो जाता। यदि दिल्ली पर अंग्रेजी सेना अधिकार कर लेती तब भी क्रान्तिकारी यत्र तत्र फैल जाते। किन्तु पराजित होकर, मरे हुए मन से

दिल्ली से बाहर निकलने और घेरा उठ जाने से विक्षुब्ध होकर अंग्रेजों पर धावा बोलने में तो महान अन्तर था। यद्यपि अंग्रेज सेनापति इस रहस्य से अपरिचित नहीं था, किन्तु निराशा, उत्साहहीनता और विद्रोहियों के भयंकर आक्रमणों से वह इतना अधिक भयभीत था कि घेरा उठा लेने के संबंध में ही गम्भीरता सहित विचार करने लगा था। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अंग्रेजों के सर्वनाश की घड़ी समीप ही आ पहुंची थी। परन्तु अंग्रेजों का यह सौभाग्य ही था कि उन्हीं दिनों धैर्य सहित संकटों से संघर्ष करनेवाला, महान साहसी एवम् प्राणों की बाजी लगाने में भी संकोच न करनेवाला, प्रचण्ड पराक्रमी ब्रिटिश अधिकारी बेअर्ड स्मिथ भी वहां था। उसने अन्य सभी अंग्रेज अधिकारियों को बताया कि "दिल्ली पर डाला गया घेरा तनिक-सा भी ढीला कर देना महान अनिष्टकारी सिद्ध होगा। दिल्ली के गले में निष्ठुरकाल के पाश के समान जो पाश आप लोगों ने डाला है उसको इसी प्रकार कसे रखना आवश्यक है। यदि आप लोगों ने यह घेरा उठा लिया तो पंजाब भी आपके हाथों से निकल जाएगा, हिन्दुस्थान से भी आपको हाथ धोना पड़ेगा और इतना ही नहीं अपितु साम्राज्य आपके हाथों से निकल जाएगा।"

बेअर्ड स्मिथ के इन ओजस्वी शब्दों से उत्साहित होकर ब्रिगेडियर विल्सन ने निश्चय कर लिया कि दिल्ली पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही घेरा उठाया जाएगा, इससे पहले नहीं। इधर क्रान्तिकारी भी मौन धारण करके नहीं बैठे हुए थे। उन्होंने भी अंग्रेजों पर वार करने के अपने कार्यक्रम में ढील नहीं आने दी। वे भी पूर्णतः प्राणप्रण से जुटे हुए थे। छोटी-छोटी टोलियों में क्रान्तिकारियों के दल कभी अंग्रेजी सेना पर दाईं ओर से धावा बोलते थे तो कभी बाईं ओर से टूट पड़ते थे। अंग्रेज सैनिक जितनी देर में सावधान हो पाते उतनी देर में ही क्रान्तिकारी सैनिक जितना वश चलता उतने गोरों को धराशायी कर वापस लौट जाते। इतना ही नहीं अपितु रणकौशल का प्रदर्शन करते हुए क्रान्तिकारी सैनिक अपनी चाल में फंसा लेते और वे उनका पीछा करने पर विवश हो जाते। क्रान्तिकारी उन्हें भुलावे में डालकर फंसा लेते और उन पर अपनी तोपों से प्रचण्ड अग्निवर्षा भी करने लग जाते। अपनी इसी चाल से क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजी सेना के ऐसे छक्के छुड़ाए, और इतने गोरे सैनिक यमलोक पठाए कि उनकी गणनामात्र करके ही अंग्रेज सेनापति को यह आदेश देने पर विवश होना पड़ा कि किसी भी स्थिति में क्रान्तिकारियों का पीछा न किया जाए। क्रान्तिकारी सेना का रणचातुर्य इस प्रकार अंग्रेजी सेना का संख्यावल घटाने में सफल हो रहा था। अब अंग्रेज सेना-पति चातक के समान पंजाब से आनेवाले घेरे की दिशा में हतप्रभ होकर निहारने लगा। उसे वहाँ से तोपखाने के आने की भी आशा लगी हुई थी। इधर उत्तर भारत के सभी तारघरों, रेलवे, डाक आदि के साधनों को नष्ट कर दिया गया था।

इस प्रकार क्रान्तिकारियों के समान ही अंग्रेजी सेना भी एक प्रकार से घेरे में ही थी, क्योंकि उन्हें यह पता ही नहीं लग पाता था कि दिल्ली के दक्षिण में क्या हो रहा है, कलकत्ता से चली अंग्रेजी सेना अभी कहाँ तक पहुंची है, लखनऊ, कानपुर अथवा काशी में क्या स्थिति है, इसके संबंध में उन्हें कोई भी समाचार नहीं प्राप्त हो पा रहा था। यद्यपि एक मास पूर्व ही कानपुर में सर ओ' ह्वीलर का सिर धड़ से पृथक किया चुका था, किन्तु दिल्ली-स्थित अंग्रेजी सेना को अभी यह समाचार ही प्राप्त हो पाया था कि सर ह्वीलर उनकी सहायता के लिए बड़ी तीव्रता से बढ़ता आ रहा है। अब अंग्रेजों को कलकत्ता की ओर से सेना के आने की कोई आशा नहीं रह गई थी, अतः उनकी दृष्टि केवल पंजाब पर ही टिकी हुई थी। किन्तु इस संकटापन्न अवस्था में भी अभी तक जान लारेन्स गोरे और काले सैनिकों की बारंबार कुमुक भेज रहा था और अपने दायित्व को यथाशक्ति निभा रहा था। इस पर भी घेरा डालने के लिए सक्षम सैनिक दस्तों और अन्य सैनिक पथकों को भेजने की उससे प्रार्थना की गई थी। उसने दिल्ली की अंग्रेजी सेना के इस आग्रह को भी नहीं टाला और लगभग २००० सैनिकों को उसने निकल्सन के नेतृत्व में भेज दिया। इस सेना के आगमन का समाचार ज्योंही अंग्रेजी सैन्य शिविर में पहुंचा चतुर्दिक आनन्द व्याप्त हो गया। सैनिकों के निराश चेहरों पर आशा की मन्द मुस्कान प्रतिबिम्बित होने लगी। सैनिकों की संख्या इनके लिए इतने महत्व की बात नहीं थी, जितने महत्व की बात थी निकल्सन सरीखे रणकुशल सेनापति की आगमनी। अंग्रेजी सेना के प्रत्येक सैनिक के मुख से यही वाक्य निकल रहा था "अब निकल्सन आ गया है, अतः हमारी निसन्देह विजय होगी।"

अंग्रेजी सेना में तो सुयोग्य सेनानी के मिलने से विजय का विश्वास बढ़ रहा था, किन्तु इसके सर्वथा विपरीत क्रान्तिकारी सेना को कोई सुयोग्य सेनापति ही उपलब्ध न हो पा रहा था। इसलिए उनमें शनैः शनैः निराशा ही बढ़ती जा रही थी। उन्होंने नूतनोद्धृत सिंहासन पर जिसको प्रस्थापित किया था वह बादशाह (बहादुरशाह) शान्तिकाल के लिए वरेण्य दया, क्षमा आदि स्तुत्य गुणों से विभूषित तो अवश्य था, किन्तु युद्धकाल के लिए नितान्त आवश्यक रणकौशल व नेतृत्व प्रदान करने के गुणों का उसमें सर्वथा अभाव ही था। दिल्ली में कोई रणशूर ही नहीं था, ऐसी बात कदापि नहीं थी, वहाँ तो ऐसे ५० हजार सैनिक एकत्रित थे जिन्होंने अंग्रेजों की नौकरी के दिनों में अपनी प्रचण्ड वीरता से अंग्रेजों को भी आश्चर्यचकित कर दिया था, जिनको अनुशासन और सैनिक शिक्षा भी अंग्रेज अधिकारियों की ही देखरेख में प्राप्त हुई थी। उन्हींकी वीरता और पराक्रम के बल पर अंग्रेजी साम्राज्य की सीमाएं अफगानिस्तान तक विस्तृत हुई थीं। किन्तु इन ५० हजार शूरवीरों को सुयोग्य नेतृत्व प्रदान करनेवाले एक महान सेनापति की

भी तो आवश्यकता थी, किन्तु दुर्भाग्य कि इन्हें एक भी कुशल पथ-प्रदर्शक न मिल पाया। युद्ध करते हुए प्राण देनेवाले अथवा पराजित होनेवाले इन ५० हजार शूर सैनिकों की वीरता की जितनी भी प्रशंसा की जाए कम ही होगी, क्योंकि किसी समर्थ नेता के अभाव में भी तो वे इतने दिनों तक संग्राम करते रहे, यह भी तो कम आश्चर्य की बात नहीं। जिस व्यक्ति को इन्होंने सम्राट् के रूप में सिंहासनासीन किया था उस बहादुरशाह को भी योग्य सेनापति के अभाव की चिन्ता व्यग्र बना रही थी। उसने पूर्ण प्रयास किया किन्तु वह असफल ही रहा। उसने सम्पूर्ण सत्ता बख़्तखाँ को सौंपकर सेना के सुप्रबन्ध की दृष्टि से अन्य तीन सेनापति भी नियुक्त कर दिए थे। इतना ही नहीं उसने दिल्ली के तीन नागरिकों और तीन सैनिकों को लेकर एक प्रबन्धक मण्डल का भी गठन कर सेना की सुख, सुविधा एवम् प्रशासन में सुव्यवस्था लाने का कार्यभार सौंप दिया था। किन्तु जब यह मण्डल भी अपना कार्यभार सुचारु रूप से चलाने में सफल न हो पाया तो इस नितान्त ही उदार एवं देशाभिमानी सम्राट् को यह सन्देह होने लगा कि कहीं मेरे ही कारण तो राज्यक्रान्ति का विनाश नहीं हो रहा है। वह विचारने लगा कि कहीं मेरे ही राज्य-सत्ता का प्रमुख होने के भय के कारण सुयोग्य व्यक्ति अंग्रेजों की शरण में तो नहीं जा रहे। अतः उसने अपनी सत्ता का परित्याग करने के लिए सिद्ध होकर यह प्रकट घोषणा भी कर दी कि मैं अपनी सत्ता का त्याग कर देने के लिए भी तत्पर हूँ। हिन्दुस्थान के पुनः अंग्रेजों की दासता के पाश में आबद्ध होने की अपेक्षा, हिन्दुस्थान में विदेशियों की निर्द्वन्द्व सत्ता कायम रहने और सदैव के लिए विदेशियों की गुलामी के बन्धन से भारतमाता के जकड़े रहने की अपेक्षा मेरा सिंहासन से हट जाना कहीं श्रेयस्कर होगा, इस भावना से प्रेरित होकर वृद्ध मुगल सम्राट् ने यह घोषणा कर दी—"मेरे शासन के स्थान पर जो भी व्यक्ति भारत को स्वराज्य और स्वाधीनता प्रदान कराने के लिए संकल्पबद्ध हो मैं उसको ही सम्राट् पद समर्पित कर देने के लिए सहर्ष सिद्ध हूँ।" इस वृद्ध देशाभिमानी ने अपने हाथों से ही जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और अलवर के राजाओं को पत्र भी लिखे। इन पत्रों में उसने लिखा था:—

"मेरी यह उत्कट अभिलाषा है कि अंग्रेजों की दासता की श्रृंखला टूक-टूक होते हुए देखूं। मैं चाहता हूं कि किसी भी उपाय का अवलम्बन करना पड़े, किन्तु समग्र हिन्दुस्थान को परकीयों की दासता से मुक्ति दिलाई जाए। किन्तु स्वतंत्रता के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लड़ा जानेवाला यह क्रांति-युद्ध उसी स्थिति में सफलता प्राप्त कर सकता है, जबकि कोई ऐसा व्यक्ति रणभूमि में उतरकर इस महान आंदोलन का नेतृत्व करे जो इस राष्ट्र की विभिन्न शक्तियों को एक सूत्र में आबद्ध कर दे तथा संपूर्ण अभियान के संचालन का दायित्व का भार उठाने के लिए

तैयार हो। अंग्रेजों को निष्कासित कर देने के उपरांत अपना अधिराज्य और सत्ता स्थापित करने की किंचित मात्र भी महत्वाकांक्षा मुझमें नहीं है। यदि आप सब शासनाधिपतिगण स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले इस युद्ध में अपनी तलवारें हाथों में संभालकर आगे आने को तैयार हों तो मैं स्वेच्छा और प्रसन्नता सहित अपने संपूर्ण अधिकार ऐसे किसी भी राज्यमंडल को समर्पित कर दूंगा और ऐसा करने में मुझे आनन्द भी प्राप्त होगा।"[१]

यह पत्र मुसलमान धर्म के पुरस्कर्ता, दिल्ली के बादशाह ने हिन्दुस्थान के हिन्दू धर्मावलम्बी राजाओं को लिखा है! १८५७ ई० में स्वातन्त्र्य, स्वराज्य एवं स्वदेश तथा स्वधर्म जैसे उदात्त शब्द हिन्दुस्थान की जनता में किस प्रकार-रम चुके थे, इसका परिचय भी इस पत्र से मिल जाता है। इस पत्र में स्पष्ट रूप से इस तथ्य की अभिव्यक्ति हो जाती है कि हिन्दू-मुसलमानों की पारस्पारिक धार्मिक भिन्नता राष्ट्रीय एकता में विलीन हो चुकी थी। इसको अनुभव करके ही चार्ल्स बाल ने लिखा है—"इतना अनपेक्षित, आश्चर्यजनक तथा विलक्षण परिवर्तन शायद ही विश्व के इतिहास में कहीं मिलेगा।"

परन्तु यह असाधारण परिवर्तन हिन्दुस्थान के विशाल भूखण्ड के एक सीमित क्षेत्र में ही हो पाया था, इसीलिए सम्राट् की उपरोक्त घोषणा अपेक्षित रूप में यशस्वी सिद्ध न हो सकी। दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों में स्वतन्त्रता और पराधीनता के मध्य जोरदार संघर्ष हो रहा था, यह बात जितनी सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि अन्य स्थानों पर यह संघर्ष इतना तीव्र रूप ग्रहण नहीं कर पाया था। "दिल्ली का घेरा" नामक ग्रन्थ के लेखक ने लिखा है—"तोपखाने में गोरों की अपेक्षा भारतीय सिपाहियों की संख्या चार गुनी अधिक थी। प्रत्येक अंग्रेज अश्वारोही के पीछे दो भारतीय अश्वारोही थे। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि भारतीय सैनिकों की सहायता के बिना तो अंग्रेज एक पग भी आगे नहीं धर सकते थे।" देश के एक भाग में जाग्रत हुई चेतना को अन्य अंचलों की प्रगाढ़ निद्रा ने बड़ी सरलता सहित समाप्त कर दिया। इस स्थिति में भी क्रांतिकारियों द्वारा अगस्त मास के अन्त तक अंग्रेजी सेनाओं पर आक्रमण किये जाते रहे। क्या किसी में यह साहस है कि वह इन क्रांतिकारियों की इस महान लगन की स्वराज्य के प्रति सामान्य सी निष्ठा कहकर उपेक्षा कर दे।

जहां क्रांतिकारियों की यह संपूर्ण निष्ठा, साहस और शौर्य सुयोग्य नेता के अभाव में निष्प्रभावी हो रहा था वहां अंग्रेजी सेना को निकल्सन सरीखे महान सेनापति का नेतृत्व प्राप्त हो गया था। उस दिन दिल्ली में प्रथम बार निराशा के घन

---

१. मेटकाफ-कृत 'टू नेटिव्ह नेरेटिव्हस', पृष्ठ २२६

घुमड़ उठे थे। नीमच और बरेली के क्रांतिकारी सैनिक इस स्थिति के लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराने पर तुले थे। अब क्रांतिकारी सिपाहियों में भी असंतोष उभरने लगा और वेतन प्राप्त कर लेने पर भी वे और अधिक वेतन दिए जाने की मांग करने लगे। इतना ही नहीं उन्होंने नगर के धनी और संपन्न लोगों को लूट लेने की धमकियां देनी आरम्भ कर दीं। ऐसी स्थिति में परेशान होकर सम्राट् बहादुरशाह ने बख्तखां को आदेश दिया कि सिपाहियों, उनके प्रमुखों तथा राजधानी के प्रमुख नागरिकों की एक संयुक्त परामर्श सभा आयोजित की जाए। सभा का आयोजन हुआ और इस सभा के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि अब दो ही मार्ग हैं "युद्ध जारी रखा जाए अथवा आत्मसमर्पण कर दिया जाए ।" किंतु इस सभा में समवेत स्वर से एक ही घोषणा हुई जो दशों दिशाएं गूंज उठी "समर्पण नहीं, रण; समर्पण नहीं, रण!" इस सभा में प्रकट हुए प्रचण्ड उत्साह ने एक बार पुनः क्रांतिकारियों में आशा का संचार कर दिया। क्रांतिकारी सेनाओं ने नीमच और बरेली के सैनिकों सहित नजफगढ़ पर आक्रमण कर अंग्रेजों के तोपखाने पर अधिकार करने का निश्चय किया। किन्तु वहां पहुंच जाने पर भी नीमच के सैनिकों ने बरेली के सैनिकों के पास डेरा लगाना अस्वीकार कर दिया। जब अंग्रेजों को क्रांतिकारियों के इस पारस्परिक मनमुटाव का समाचार मिला तो निकल्सन ने तुरन्त अपने चुने हुए सैनिकों को साथ लेकर नजफगढ़ पर धावा बोल दिया। वह बख्तखां की आज्ञा का उल्लंघन करके अलग डेरा डाल लेने वाली नीमच की सेना पर टूट पड़ा। विद्रोहियों पर अचानक छापा मारा गया था, वे पूर्णतः अव्यवस्थित और असावधान थे जबकि उनपर छापा मारनेवाले अंग्रेजी सेना के सैनिक पूर्णतः सिद्ध, अनुशासनबद्ध और एक सुयोग्य सेनापति के नेतृत्व में आक्रमण कर रहे थे। परिणाम इसके अतिरिक्त हो भी क्या सकता था कि नीमच की क्रांतिकारी सेना की दुर्दशा हो गई। उस सेना के सैनिकों ने इस युद्ध में असाधारण वीरता और शौर्य का परिचय दिया, यहां तक कि शत्रु भी उनकी वीरता की सराहना किए बिना न रह सके। किन्तु उनका यह महान शौर्य, साहस और पराक्रम सभी कुछ निरर्थक हो गया। उन्हें इतनी भयंकर पराजय का मुख देखना पड़ा कि बुन्देले की सराय के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर क्रांतिकारियों को ऐसी भयानक पराजय को सहन नहीं करना पड़ा था। उस दिन नीमच की सेना का एक-एक सैनिक रणभूमि में सदा के लिए सो गया। वस्तुतः अपने द्वारा ही निर्वाचित सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करने का यह दुखद परिणाम इस सेना के सामने आया था। यह तथ्य सुनिश्चित ही है कि अनुशासनहीन लोगों का शौर्य भी कायरता के तुल्य ही व्यर्थ होता है।

२५ अगस्त को अंग्रेजी सेना को मिली इस विजय के कारण उनके मन में अब

तक व्याप्त निराशा का अन्धकार लुप्त हो गया और अब उनके मन में आशा की किरण चमक उठी। जून मास से अब तक की अवधि की उन्हें यह प्रथम विजय प्राप्त हुई थी। अब उनमें से प्रत्येक दिल्ली पर धावा बोल देने के लिए आतुर हो उठा था। सेनापति विलसन ने दिल्ली पर निर्णायक आक्रमण करने की योजना बनाने का दायित्व वेअर्ड स्मिथ को सौंप दिया, जिसके आग्रह पर दिल्ली का घेरा न उठाने का निर्णय अंग्रेजी सेना ने किया था उसी वेअर्ड स्मिथ द्वारा सेनापति के निर्देशानुसार दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना बनाई गई। पंजाब से आने वाली सेना और तोपखाना भी सुरक्षित रूप में अंग्रेजी सेना के पड़ाव तक जा पहुंचे थे। उस समय अंग्रेज सेना के सेनापति ने नितान्त ही ओजपूर्ण स्वर से यह घोषणा की कि "आज तक तीन मास बीते, तीन सेनापतियों का सैनिक चातुर्य भी निरर्थक हो गया, क्योंकि दिल्ली अभी तक भी पूर्णतः स्वतन्त्र ही रही। किन्तु मुझे आज यह स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है कि अब आप लोग दिल्ली की ईंट से ईंट बजाकर अपने प्रयत्नों को सफलता का राजमुकुट पहनाने में निश्चित रूप से ही सफलता प्राप्त कर लेंगे।"

पंजाब से नवीन सैनिक कुमक पहुंचने के उपरांत अब अंग्रेजी सेना में ३५०० यूरोपियन, ५ हजार सिख पंजाबी आदि देशी सिपाही और २५०० कश्मीरी सैनिक हो गए थे। इन लगभग ११००० सैनिकों को दिल्ली पर विजय प्राप्त करने के कार्य में सहायता देने के लिए जींद नरेश भी अपने सैनिकों सहित वहां आ पहुंचा था। सितम्बर के पूर्वार्ध में अंग्रेज सेनापति ने आक्रमण की नीति का अनुगमन कर मोर्चे-बन्दी कर दी। इस सूचना के प्राप्त होने से दिल्ली के क्रांतिकारी सैनिक भयभीत होने लगे। जहां दिल्ली के बाहर अंग्रेज सैनिक एक व्यक्ति के समान अनुशासनबद्ध होकर मोर्चे बनाने में लगे हुए थे, वहां दूसरी ओर भारतीय क्रांतिकारी सैनिकों में अनुशासनहीनता, अव्यवस्था और अराजकता का दौर दौरा था, और वे आज्ञा का उल्लंघन करने के विनाशकारी पथ पर चल पड़े थे। इधर अंग्रेजी सेना में जो भारतीय थे वे बड़े उत्साह और जीवट का प्रदर्शन करते हुए मोर्चे निर्मित करने में संलग्न थे। उन्हें अब दिल्ली के तोपखाने की भी तनिक सी चिंता नहीं रह गई थी। उस समय की स्थिति का वर्णन फारेस्ट ने इन शब्दों में किया है "अंग्रेजी सेना के भारतीय सैनिकों ने अपने अतुल साहस और दृढ़ता में तो कमाल ही कर दिखाया था। एक के बाद एक शव छटपटाता, इतने पर भी वे काम बन्द न करते थे। अपने पक्ष के एकाध व्यक्ति के तोपों से चल रहे गोलों से मारे जाने पर वे कुछ क्षण भर के लिए काम स्थगित करते, उसके शोक में अपने नेत्रों से एक-दो अश्रुकण छलकाते और उसके शव को भी शवों के ढेर में रखकर उस भयंकर परिस्थिति में भी पुनः उसी स्थल पर अपने काम में जुट जाते थे।" कैसी विचित्र

स्थिति थी कि अंग्रेजों के नेतृत्व में रणस्थल में युद्ध करनेवाले भारतीय सैनिक इतने अनुशासनबद्ध होकर संग्रामरत थे तो दिल्ली के भारतीय सैनिकों में अनुशासनहीनता का बोलबाला था और वे अपने अधिकारियों की आज्ञा और निर्देशों का ही उल्लंघन करने लग गए थे।

दोनों श्रेणी के सैनिकों के व्यवहार के इस अन्तर से एक ही तथ्य स्पष्ट होता है कि अनुशासन का मूल सूत्र है अपने अधिकारियों के आदेश को योग्य सम्मान देना और उनकी प्रत्येक आज्ञा का पूर्णतः पालन करना। किन्तु क्रान्तिकारी सैनिक इसी सिद्धान्त को पैरों तले रौंद रहे थे। इस स्थिति का अधिकांश दोष जहाँ अयोग्य और क्षमताहीन अधिकारियों को दिया जा सकता है वहां किसी-न-किसी अंश में इसके लिए अनुशासनहीन सिपाही भी दोषी अवश्य ही हैं। इस कारण निराशा की भी पराकाष्ठा हो गई थी।

दिल्ली के बाहर उमड़ रहा था उत्साह और दिल्ली के भीतर खड़ी क्रान्तिकारी सेना में उत्साहहीनता की वृद्धि हो रही थी। अन्ततः १४ सितम्बर का सूर्योदय हुआ। अंग्रेजी सेना को चार भागों से विभाजित किया गया, जिसमें से तीन ने निकल्सन के नेतृत्व में बाईं ओर से बढ़कर कशमीरी दरवाजे तथा चौथे भाग ने मेजर रीड के नेतृत्व में दाईं ओर से आक्रमण करके काबुली द्वार को तोड़कर दिल्ली में प्रवेश करना है, ऐसी योजना बनाई गई। सूर्योदय होते ही रात-दिन गोले बरसाने वाला अंग्रेजी तोपखाना सहसा ही पूर्णतः शान्त हो गया। कुछ क्षणों के लिए तो अंग्रेजी सेना में भी सन्नाटा छा गया। किन्तु अभी कुछ ही क्षण हुए होंगे कि निकल्सन की सेना ने किले के परकोटे पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर बुर्ज में जहाँ दरारें पड़ी हुई थीं और कुछ भाग टूटा हुआ था, उसी से सेना के प्रथम दस्ते ने प्रवेश करने का निश्चय किया। इधर अंग्रेजी सेना के सैनिक आगे बढ़े तो दूसरी ओर से क्रान्तिकारियों की तोपों का गर्जन-तर्जन आरम्भ हो गया और उनसे अग्नि-वर्षा होने लगी। इस प्रचण्ड गोलाबारी से खाईयों में अंग्रेजी सेना के सैनिकों के शवों के ढेर लग गए। फिर भी कुछ सैनिक परकोटे तक पहुंच ही गए थे। उन्होंने सीढ़ियां लगाकर ऊपर चढ़ने का प्रयास किया। क्रान्तिकारी भी अपने प्राण हथेली पर धरकर जूझ रहे थे। यद्यपि अंग्रेजी सेना के अनेक सैनिक गोलियों से उड़ाए जा रहे थे, परन्तु इस प्रचण्ड नरसंहार की भी चिन्ता न करते हुए अंग्रेजी सेना आगे बढ़ती ही जा रही थी। अन्ततः उन्होंने कशमीरी बुर्ज में पड़ी दरार को और अधिक चौड़ा कर दिया और उससे मार्ग बनाकर अंग्रेजी सेना के बहुत-से सैनिक भीतर प्रविष्ट हो गए। इस प्रकार परकोटे के एक भाग को अंग्रेजों ने जीत लिया और अपनी विजय का रणसिंगा बजा दिया।

कशमीरी बुर्ज के समान ही वाटर बुर्ज में पड़ी दरार को चौड़ा करने में भी अंग्रेज सैनिक प्राणप्रण से जुटे हुए थे। अंग्रेजी सेना ने एक-एक चप्पा भूमि पर मरते-मारते हुए इस दरार को लांघ लिया और वह दिल्ली में प्रविष्ट हो गई।

इधर अंग्रेजी सेना का तीसरा विभाग भी कशमीरी गेट पर चढ़ आने में सफल हो गया था। अब लैफ्टिनेन्ट होम तथा सालकेल्ड इस चेष्टा में लगे हुए थे कि दरवाजे को सुरंग लगाकर उड़ा दिया जाए। किन्तु उस समय परकोटे से, खिड़कियों से और दीवार की ओर से गोलियों की बौछारें आरम्भ हो गईं। कशमीरी गेट के समीप जो लकड़ी का पुल बना हुआ था वह भी उड़ा दिया गया। अब वहां केवल एक तख्तमात्र ही दिखाई दे रहा है। किन्तु कोई चिन्ता नहीं आगे बढ़ते रहो। अरे ! यह सार्जेण्ट मारा गया, महादू भी मारा गया। चिन्ता नहीं, वह देखो होम आगे बढ़ रहा है। उसने बढ़कर द्वार के समीप डाइनामाइट रख दिया। उसके पीछे उसमें आग लगानेवाले लोग बढ़े आ रहे हैं। लैफ्टिनेन्ट सालकेल्ड को गोली लग गई है, हां वह गिर पड़ा है। गिरने दो, कोरपोरल तुम आगे बढ़ो ! तुम्हें भी गोली लग गई है ? परन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं। गिरते-गिरते भी तुमने सुरंग में आग तो लगा ही दी है न। आह, कितना भयंकर विस्फोट हुआ। धड़ाम, धड़ाम, धड़ाम। सम्पूर्ण कश्मीरी गेट ही उड़ गया है। किन्तु रण की घन गर्जना में अंग्रेज सेनापति को इस विस्फोट और धड़धड़ाहट की आवाज भी सुनाई नहीं दी। वह तो अभी भी कश्मीरी गेट के खुलने की ही प्रतीक्षा कर रहा था। अब क्या किया जाए, आगे बढ़ा जाए अथवा नहीं ? उसने विजय का बिगुल भले ही न सुना हो, किन्तु उसे आगे बढ़नेवाले अपने शूरवीर सैनिकों की विजय पर तो पूर्ण विश्वास था। इसी आत्मविश्वास के साथ उसने केम्पवेल को आक्रमण करने का आदेश दे दिया। अनेक सैनिक खाइयों में भी गिर पड़े, किन्तु मरणोन्मुख इन सैनिकों को नमन कर अंग्रेज सैनिक कशमीरी गेट के खण्डहरों को पार कर दिल्ली में घुस पड़े। वहाँ सेना के पहले दोनों पथक भी उनसे आ मिले। अब निकल्सन के नेतृत्व में रणभूमि में अवरित हुए तीनों सैनिक पथक तो दिल्ली में प्रविष्ट होने में सफल हो गए थे, किन्तु अभी भी सेना का चौथा विभाग कहां है वे आपस में इस सम्बन्ध पर विचार करने लगे।

इधर यह चौथा विभाग दाईं ओर से बढ़ता हुआ काबुली गेट पर चढ़ आया था। अंग्रेजी सेना के इस विभाग का नेतृत्व मेजर रीड कर रहा था। जब ये अंग्रेज सैनिक सब्जी मण्डी तक पहुंच गए तो दिल्ली से आगे बढ़नेवाले सैनिकों से इनकी मुठभेड़ हो गई। पहली मुठभेड़ में ही मेजर रीड धराशायी हो गया, जिससे आगे बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना में खलबली मच गई और वह रुक गई। इधर क्रान्तिकारी सैनिकों में नवीन स्फूर्ति जाग उठी। वे समझने लगे कि अंग्रेज सेना अब पलायन

करने ही वाली है। किन्तु तभी होम ग्रंट अपने अश्वारोहियों समेत दौड़ता हुआ वहां आ धमका। दोनों पक्षों में पुनः घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेजी तोपखाने की प्रचण्ड अग्निवर्षा ने इतना वीभत्स रूप धारण कर लिया था कि किशनगंज के प्रत्येक घर और उद्यान से ही आग के शोले उठने लगे थे। क्रान्तिकारी भी अपना रणकौशल दिखाने में पीछे न रहे, उन्होंने भी गोलियों की मूसलाधार वर्षा से रक्त के सरोवर भर दिए थे। इस प्रचण्ड गोली-वर्षा के परिणामस्वरूप अंग्रेजी सेना का आगे बढ़ना अवरुद्ध हो गया। किन्तु इस कारण वे पीछे भी न हट सके, क्योंकि उन्हें यह भय था कि यदि ऐसा किया गया तो क्रान्तिकारी उनके तोपखाने पर ही अधिकार जमा लेंगे। अतः अंग्रेजी सेना मृत्यु का सामना करने के लिए जुट गई। उनमें से तब तक एक भी जवान अपने स्थान से नहीं हटा जब तक मृत्यु ने ही उसे धरा-धाम से नहीं उठा लिया। अंग्रेजों के नेतृत्व में संग्राम करने वाली भारतीय सेना के इस प्रचण्ड रणकौशल का वर्णन सेनापति होम ग्रंट ने इन शब्दों में किया है "भारतीय अश्वारोही अपने-अपने स्थान पर अडिग रहे, उन्होंने वास्तव में ही अपने असाधारण कौशल का परिचय दिया था। जब मैं उन्हें उत्तेजित करने लगा तो वे बोले 'चिन्ता न कीजिए, जब तक आप चाहेंगे तब तक हम इसी स्थान पर डटे रहेंगे।'

किन्तु अंग्रेजों की ओर से युद्ध करने वाले भारतीय सैनिकों ने जिस प्रबल पराक्रम का प्रदर्शन किया था, क्रान्तिकारी सैनिक भी उसका तोड़ प्रस्तुत कर रहे थे। स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए युद्धरत इन सैनिकों ने भी अपने पराक्रम की पराकाष्ठा कर दी थी। इन स्फूर्ति के पुतलों ने भी ईदगढ़ के समीप घनघोर तुमुल संग्राम किया था। यद्यपि बार-बार आक्रमण हो रहे थे, किन्तु ईदगढ़ पर अधिकार करने में अंग्रेजी सेना को अभी भी संकोच हो रहा था। सहसा ही क्रान्तिकारी सैनिकों ने एक जोरदार आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों को वहां से पीछे हट जाने पर विवश होना पड़ा। क्रान्तिकारी आगे बढ़ रहे थे और अंग्रेजी सेना पीछे हट रही थी। स्वदेश भक्त सैनिकों ने तोपखाने और अश्वारोही पथक पर भी भीषण आक्रमण कर दिया। अंग्रेज सैनिक अब तक जिन मोर्चों को संभाले हुए थे, उन्हें छोड़कर भी मैदानों की ओर भाग निकले। धन्य-धन्य हे क्रान्तिकारियों! तुम्हारा आज का संग्राम भारतीय इतिहास का अविस्मरणीय प्रसंग रहेगा। यदि कहीं तुम्हारे समान ही सभी क्रान्तिकारियों ने वीरता और रण में जौहर दिखाए होते तो…।

इस प्रकार क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजी सेना के चौथे विभाग का मानभंग करने में सफलता प्राप्त कर ली। अंग्रेजी सेना के जो अन्य तीन विभाग दिल्ली में प्रविष्ट होने में सफल हो गए थे, उन्हें भी कुछ समय तक कशमीरी दरवाजे पर रुकना पड़ा, किन्तु वे तुरन्त ही दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए बढ़ चले। अंग्रेजी सेना के तीनों सेना-

पति केम्पवेल, जोन्स और योद्धा निकल्सन अपनी सेनाओं का आह्वान कर रहे थे, "चलो मर्दानों आगे बढ़ो।" वे काबुली दरवाजे की ओर बढ़ते जा रहे थे। उन्हें मार्ग में जो भी तोपें मिलीं, उनपर वे अधिकार जमाते चले गए। प्रत्येक स्तम्भ और ऊंचे स्थान पर पुनः ब्रिटिश ध्वज फहराने लगे। यह अंग्रेजी सेना लड़ती और बढ़ती हुई बर्न बुर्ज तक जा पहुंची। किन्तु यहाँ पहुंचते ही निर्जन टीलों, वीरान पड़े खेतों और असुरक्षित तोपों के स्थानों पर "मारो फिरंगी को" के जयघोषों से उनके कानों के पर्दे फटने लगे। क्रान्तिकारियों की गोलियों की बौछारें इन अंग्रेज सिपाहियों पर होनी आरम्भ हो गईं। अब तो पग-पग पर मृत्यु का ताण्डव नृत्य होने लगा। अभी तक विजय के उन्माद में मस्त जो अंग्रेज सिपाही द्रुतगति से आगे बढ़ते आ रहे थे, उन पर इतने प्रचण्ड प्रहार हुए कि उन्हें पीछे ही हटना पड़ा। अंग्रेजी सेना पर जोरदार आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए योद्धा निकल्सन आगे बढ़ा। वह तो एक ऐसा सेनापति था जिसका एक ही कथन था कि "शूरवीर के लिए संसार में कोई कार्य करना भी असम्भव नहीं है।" निकल्सन वॉटर वेस्टन में हुए अंग्रेजी सेना के अपमान पर क्षुब्ध हो उठा। जब वह इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए पुनः उस गली की ओर बढ़ा तो घोर संग्राम छिड़ गया। २०० गज लम्बी इस गली में तो आज पानीपत के महान संग्राम का संक्षिप्त रूप उभर उठा था। जैसे ही कोई गोरा दिखाई देता तड़ाक से सनसनाती हुई गोली आती और उसे वेधकर निकल जाती। इस गली का प्रत्येक छज्जा, खिड़की, बरामदा और प्रांगण ही मानों स्वातन्त्र्य-प्रेमी बनकर अंग्रेजी को अपनी कोपाग्नि में झुलसा रहा था। इस गली ने निकल्सन के भी पैर उखाड़ दिए। यह तो कठिन परीक्षा की घड़ी थी। निकल्सन इस गली पर टूट पड़ा था तो गली निकल्सन पर डटकर वार कर रही थी। अपूर्व युद्ध हो रहा था। निकल्सन आज तुम भी भली भांति देख लो कि आज तुम्हें छोड़कर इस गली ने तुम्हारे सभी अधिकारियों को निगल लिया है। हे वीरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति गली देख अब अब निकल्सन ही चढ़कर आया है न। तू भी इसे ठीक प्रकार पहचान गई है। अब होगा डटकर संग्राम। युद्ध और भी विकराल रूप धारण करता जा रहा था। प्राणों की बाजी ही लगी हुई थी। सहसा ही मानों आकाश से वज्रपात हुआ! अंग्रेजी सेना चीत्कार कर उठी "हाय निकल्सन, हाय निकल्सन तुम कहां हो ?" किसी क्रान्तिकारी शूरमा के अचूक निशाने ने निकल्सन पर वार किया और वह तड़फता हुआ छटपटाता दिखाई दे रहा था। अंग्रेजी सेना हाहाकार कर उठी और "हटो, हटो" चीखती हुई भागने लगी तो क्रान्तिकारी सैनिकों का "काटो, काटो" का स्वर गूंज उठा। सम्पूर्ण गली में कुहराम मच गया था। यही वह गली थी जो निकल्सन के रक्त से भर गयी थी। आज तो उसका कण-कण ही अंग्रेजों के शवों से पटा जा रहा था।

अभी क्रान्तिकारियों के विजय गान से निनादित इस गली से अंग्रेजी सेना का पराजित दस्ता कशमीरी दरवाजे तक ही पहुँच पाया था कि जामा मस्जिद की ओर गई हुई अंग्रेजी सेना ने भी पलायन कर दिया। जामा मस्जिद तक तो अंग्रेजी सेना बिना विशेष प्रतिरोध के ही आगे बढ़ गई थी, किन्तु वहाँ पहुँचते ही क्रान्ति के जयघोषों से दशों दिशाएं निनादित होती हुई सुनाई पड़ीं। वहाँ क्रान्तिकारियों के साथ हुए संघर्ष में अंग्रेज सेनापति केम्पवेल को भी घाव लगे और उसने भी बचकर निकल जाना ही श्रेयस्कर समझा।

अंग्रेजों द्वारा दिल्ली पर की गई चढ़ाई का यह प्रथम दिन ही था। किन्तु इतना भयंकर दिन देखने का दुर्भाग्य अंग्रेजी सेना को भारत में इससे पूर्व कभी उपस्थित नहीं हुआ था। अंग्रेजों की सेना के चार विभागों में से तीन के सेनापति घायल हुए थे तो उसके ६६ अधिकारी और ११०४ सैनिक भी क्रान्तिकारियों ने सदा के लिए रणभूमि में सुला दिए थे। इतनी अधिक हानि उठाने के बाद भी अंग्रेजों को क्या प्राप्त हुआ है जब इस संबंध में अंग्रेज सेनापति विलसन ने विचार किया तो उसे पता लगा कि अभी तो केवल दिल्ली के एक चतुर्थांश पर ही अंग्रेजी सेना अधिकार कर पाने में सफल हुई है। चिन्ता, भय और निराशा से विलसन का होश ही गुम हो गया था। अकेले वह ही नहीं अपितु प्रत्येक अंग्रेज अधिकारी ही यह कहने लग गया कि "अब तो लौट जाना ही उचित प्रतीत होता है।" विलसन का यह स्पष्ट विचार था कि "जब एक ही गली मेरे इतने वीर सैनिकों को निगल गई और दिल्ली पर अधिकार कर लेने की मेरी आकांक्षा भी अतृप्त ही है, साथ ही सहस्रों क्रान्तिकारी अभी भी युद्ध का आह्वान् कर रहे हैं तो अब अपने सभी सैनिकों को बलिदान का बकरा बनाकर चढ़ा देने की अपेक्षा तो पराजय और अपयश का कलंक लगवाकर लौट जाना ही अधिक उचित है।"

"पीछे हट जाना ही उचित है" का यह स्वर चिकित्सालय में घायल पड़े हुए वीर निकल्सन के कानों में भी गूंज उठा। वह महान सेनानायक इस वाक्य को सुनते ही गरज उठा "क्या कहा पीछे हट जाना ही उचित है? ऐसा कदापि नहीं होगा। अभी तो परमात्मा की कृपा से मुझमें इतनी शक्ति है कि मैं 'पीछे हटो' की घोषणा करनेवाले विलसन को ही अपनी गोली से भून दूंगा।" मृत्यु शय्या पर पड़े इस वीर पुरुष के ये उद्‌गार जब गोरों ने सुने तो उनमें लुप्त हुआ साहस पुनः उभर उठा और १४ सितम्बर को जितने प्रदेश पर उन्होंने विजय प्राप्त की थी उन्होंने उससे न हटने का संकल्प ग्रहण कर लिया।

जनरल विलसन के पीछे हट जाने संबंधी प्रस्ताव की अंग्रेज अधिकारियों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अंग्रेज योद्धाओं ने उसका यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। किन्तु इधर क्रान्तिकारी सेना में भारी हलचल व्याप्त थी। उनकी इस

हलचल से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि क्रान्तिकारियों का बल समाप्त ही हो चुका है। अब उनके एक दल ने स्पष्ट शब्दों में यह प्रस्ताव भी उपस्थित कर दिया कि दिल्ली से हटकर किसी अन्य स्थान पर मोर्चा लगाया जाए। किन्तु दूसरा इस प्रस्ताव का पूर्ण विरोधी था और उनका स्पष्ट कथन था कि "दिल्ली से हटने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होगा कि हममें से प्रत्येक संग्राम करते-करते ही रणभूमि में आत्माहुति चढ़ा दे।" अंग्रेजी सेना में भी मतभेद तो थे, किन्तु साथ ही उनमें यह अनुशासन भी था कि बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर वे पारस्परिक मतभेदों को सर्वथा भूलकर कर्तव्य पथ पर डट जाते थे। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत क्रान्तिकारी सैनिकों में इस महान गुण का अभाव था। वहाँ तो पारस्परिक सहमति से कोई योजना बनाने के स्थान पर दोनों विचारों के लोग अपनी हठ पर अड़ गए। परिणाम यह हुआ कि जहाँ कुछ क्रान्तिकारी सैनिक दिल्ली छोड़कर पलायन कर गए अन्य अपने शीश पर कफन बाँधकर एक इंच भी पीछे न हटने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर, समरांगण में आ डटे। इन सिपाहियों ने १५ से २४ सितम्बर तक रणभूमि में पूर्ण वीरता और शौर्य का प्रदर्शन करते हुए अंग्रेजी सेनाओं से डटकर लोहा लिया। जब भी अंग्रेजी सेना का कोई पथक मस्जिद अथवा राजमहल की ओर घुसने की चेष्टा करता था तो इन स्थानों पर तैनात क्रान्तिकारी प्रहरी अपनी बन्दूक के घोड़े पर हाथ रखकर, बन्दूकें ताने अपने महान देश की स्वतन्त्रता का उच्चार करते हुए गोली दाग देता और तदुपरान्त वह स्वयं भी मृत्यु का हँसते-हँसते आलिंगन कर लेता था। उस समय की स्थिति का वर्णन एक अंग्रेज इतिहासकार ने इन शब्दों में किया है कि "राजमहल में जिस समय अंग्रेजी सेना घुसने लगी तो उस समय वहाँ थोड़े-से ही क्रान्तिकारी सैनिक खड़े हुए थे। तो उन्होंने मोर्चा नहीं बांधा। इसका कारण यह था कि उनकी संख्या ही इतनी नहीं थी कि वे मोर्चा लगा पाते। तथापि जिन शत्रुओं से वे तीन मास से जूझ रहे थे उस फिरंगी से उनका वैर-भाव जीवनभर ही चलता रहेगा, इस सत्य को सिद्ध करने के लिए विजय पराजय की तनिक भी चिन्ता न करते हुए ये महान बलिदानी अपने स्थानों पर अडिग खड़े रहे और वार करते रहे।"

दिल्ली का तीन चतुर्थांश अंग्रेजों द्वारा अपने अधिकार में ले लिए जाने के उपरान्त क्रान्तिकारी सेना का प्रधान सेनापति बख्तखां सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने कहा "दिल्ली अब आपके हाथों से निकलती जा रही है। फिर भी मैं यह नहीं कहता कि अब हमें विजय की कोई आशा ही नहीं रह गई है। मैं यह समझता हूं कि अब एक ही स्थान पर एकत्रित होकर युद्ध करने के स्थान पर यदि हम बाहर निकलकर खुले प्रदेशों में शत्रु को थकाने में जुट जाएंगे तो अन्तिम विजय हमें ही प्राप्त होगी। जो वीर इस स्वाधीनता संग्राम में अन्त तक अपनी तलवारें संभाल-

कर युद्ध करने के लिए कृत संकल्प होंगे उन्हें अपने साथ लेकर मैं दिल्ली से बाहर निकलूंगा और शत्रुओं से लोहा लूंगा। शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण करने के स्थान पर उससे युद्ध करते हुए दिल्ली से निकलना मैं श्रेयस्कर समझता हूं। अतः जहांपनाह, आप भी हमारे साथ दिल्ली से बाहर निकल चलें, जिससे कि आपकी पताका के नीचे ही हम स्वराज्य की स्थापना का अपना यह पावन संघर्ष जीवन की अन्तिम घड़ी तक जारी रखें।" यदि इस वृद्ध मुगल सम्राट् में बाबर, हुमायूं अथवा अकबर की वीरता का शतांश भी होता तो वह शूरता के इस आमन्त्रण को निश्चित रूप से ही स्वीकार कर लेता। वह भी वीर बख्तखां के साथ दिल्ली से बाहर निकल पड़ता। किन्तु वार्धक्य से हताश, राजविलास से मतिमंद, और पराजय से भयभीत हुआ मुगल सम्राट् अन्त तक भी कोई निश्चय नहीं कर पाया। अन्तिम दिवस तो वह हुमायूं के मकबरे में ही जाकर छिप गया। उसने बख्तखां का निमंत्रण तो अस्विकार कर दिया, किन्तु मिर्जा इलाहीबख्श का परामर्श मानकर वह अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने के सम्बन्ध में ही विचार करने लगा। वस्तुतः यह इलाहीबख्श एक निकृष्टतम व्यक्ति था। इसीने क्रान्तिकारियों और राजमहल की प्रत्येक घटना से अंग्रेजों को सूचित किया था। उसके संकेत पर ही हडसन वहां आ खड़ा हुआ। प्राणरक्षा का आश्वासन प्राप्त कर बहादुरशाह ने अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने इस बूढ़े बादशाह को इसके महल में ही बन्दी बना दिया। उसी समय विश्वासघाती इलाहीबख्श और मुन्शी रजबअली ने अंग्रेज अधिकारियों के चरणों में उपस्थित होकर उन्हें यह सूचना दी कि "शाहजादे (राजपुत्र) तो अभी भी हुमायूं के मकबरे में छिपे बैठे हैं।" कैप्टन हडसन ने यह समाचार मिलते ही तत्काल प्रस्थान कर दिया। उसने शाहजादों को बन्दी बनाकर एक गाड़ी में बैठा दिया। जब इन शाहजादों को लेकर यह गाड़ी नगर में पहुंची तो हडसन ने गाड़ी के पास पहुंचकर चिल्लाना आरम्भ किया "अंग्रेज महिलाओं और बालकों का वध करनेवालों के प्राण लेना ही उचित है।" उसी समय इन शाहजादों के शरीर पर से सभी आभूषण अंग्रेजों ने उतार लिए और उन्हें गाड़ी से खींचकर भूमि पर पटक दिया गया। तत्काल ही हडसन ने इन तीनों शाहजादों पर अपनी बन्दूक से निशाने साधे, गोलियां दागी और उनके प्राणपखेरू उड़ गए। इस प्रकार तैमूर के वंश वृक्ष की अन्तिम लताएं भी हडसन की गोलियों ने नष्ट कर दीं। परन्तु मुगल राजवंश के इन अवतंशों को समाप्त कर ही अंग्रेजों के प्रतिशोध की अग्नि शान्त नहीं हो पाई। मृत्यु तक तो वैर वन्य जातियां भी मानती हैं। किन्तु यदि हडसन भी इतने पर ही शान्त हो जाता तो अंग्रेजों की निकृष्टतम अमानवीयता और पशुता का प्रदर्शन तो अधूरा ही रह जाता। अतः उसने इन शाहजादों के शव थाने के समक्ष फेंक देने का आदेश

दिया। कुछ समय तक तो चील और गिद्ध इन निर्जीव देहों से अपनी भूख बुझाते रहे और उसके उपरान्त ये क्षत-विक्षत घसीटकर यमुना के तट पर फेंक दिये गए। हे महाबली काल ! तुम्हारी लीला भी कितनी विचित्र है। आज सम्राट् अकबर के वंशजों का अन्तिम संस्कार करनेवाला भी तो कोई दिखाई नहीं दिया। इधर सिखों ने भी यह समझा कि उनके धर्मग्रंथों में की गई भविष्यवाणी पूर्ण हो गई है। परन्तु यह किस रूप में सत्य सिद्ध हुई ? इसका प्रकार क्या था ? इसका परिणाम क्या हुआ ?

तदनन्तर दिल्ली में भयंकर हत्याकाण्ड और लूटमार आरम्भ हो गई। इस हत्याकाण्ड का वर्णन करते हुए लार्ड एल्फिन्स्टन और जॉन लारेन्स ने लिखा है कि "दिल्ली का घेरा उठा लिए जाने के उपरान्त हमारी सेनाओं ने जो क्रूरता प्रदर्शित की और अत्याचार किए उनको देखकर तो वास्तव में दिल दहलने लगता है। शत्रु मित्र में कोई भेद न करते हुए प्रचण्ड प्रतिशोध की अग्नि दहका दी गई। लूटमार करने में तो हमारी सेनाओं ने नादिरशाह को भी पीछे छोड़ दिया।"[1] जनरल आउटरम तो सम्पूर्ण दिल्ली को ही जला देने के लिए कह रहा था।

दिल्ली के घेरे के लिए एकत्रित हुए यूरोपियन और अंग्रेजी सेना के भारतीय सिपाहियों की संख्या कुल मिलाकर १० हजार के लगभग हो गई थी। इनमें से चार हजार क्रान्तिकारियों के साथ हुए संग्राम में मारे गए थे अथवा घायल हो गए थे। क्रीमिया के भयानक युद्ध में भी इतनी विशाल संख्या में सैनिक हताहत नहीं हुए थे। क्रान्तिकारियों के कितने लोग इस संग्राम में बलिदान हुए थे, उनकी संख्या का वास्तविक अनुमान अंग्रेजों द्वारा लिखे गए विवरणों से लगाना तो कठिन ही है,[2] किन्तु अनुमानतः ५-६ हजार क्रान्तिकारी अवश्य ही मारे गए थे।[3]

इस प्रकार स्वदेश की स्वतन्त्रता और स्वधर्म की रक्षा के लिए इस इतिहास प्रसिद्ध नगरी ने अंग्रेजों के समान सबल रिपु से १३४ दिन तक अहर्निश अविराम युद्ध किया था। वस्तुतः इन उदात्त सिद्धान्तों के लिए इस नगरी ने अपनी प्रचण्ड तत्त्वनिष्ठा का परिचय प्रस्तुत किया। जिस दिन दिल्ली ने अपने दुर्ग पर से ब्रिटिश राज्य की पताका को फाड़कर फेंक दिया और स्वराज्य की घोषणा की, जिस दिन पराधीनता के मायाजाल को तोड़कर स्वराज्य की संस्थापना हुई, जिस दिन सर्वप्रथम दिल्ली ने राष्ट्रध्वज की छाया में खड़े होकर हिन्दुस्थान के विशाल भूखण्ड

---

१. 'लाइफ आफ लारेन्स', खण्ड दो, पृष्ठ २६२
२. लाइफ आफ लारेन्स के द्वितीय खण्ड की फारेस्ट द्वारा लिखित प्रस्तावना।
३. रॉटन ने लिखा है "विद्रोहियों के हताहतों की संख्या सदैव ही अगणित बताई जाती थी।" (पृष्ठ १९५)

की एकता का गीत निनादित किया, उस दिन से ठीक उस दिवस तक जिस दिन कि बहादुरशाह के राजमहल में अंग्रेजी तलवारों ने स्वदेशी रक्त का पान किया, इस नगरी ने पावन स्वाधीनता संग्राम को अलंकृत करनेवाले, निस्स्वार्थ और उदात्त वीर वृत्ति के परिचायक कम कार्य तो नहीं किए। क्रान्तिकारियों के पास न तो कोई सुयोग्य नेता ही था और न ही कोई संगठन। फिर उन्हें लोहा भी अंग्रेजों सरीखे सैनिक विद्या में पारंगत शत्रुओं से लेना पड़ा। इतना ही नहीं, उन्होंने तो फिरंगियों के समान ही नहीं अपितु उनको भी पानी मंगवा देनेवाली पराक्रमी किन्तु अपने ही स्वदेश-बान्धवों का रक्त प्रवाहित करनेवाली तलवारों के भी वार झेले। इस प्रकार सभी प्रकार से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी क्रान्तिकारी जूझते रहे। परन्तु समर्थ नेता के अभाव के कारण किसी भी सेना में स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न हो जानेवाली फूट और संगठन की कमी ने ही क्रान्तिकारी पक्ष में अत्यधिक अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी। इतने पर भी, इन असीम आपदाओं और विपदाओं में भी क्रान्तिकारी वस्तुतः राष्ट्रीय शहीदों और धार्मिक हुतात्माओं के तुल्य ही समरांगण में डटकर संघर्ष करते रहे। अतः इनका बलिदान इतिहास में दिल्ली के इस घेरे को अमर रखेगा। उनके हाथों हुए दोषों और उनके द्वारा किए गए सत्कृत्यों दोनों को ही भावी पीढ़ियों द्वारा अभिमान से देखना चाहिए और आदर प्रदान करना चाहिए। इसमें लज्जास्पद कोई बात भी नहीं है। उनके गुण और दोषों में भी एक अद्‌भुत तत्त्वनिष्ठा का तेज, स्वधर्माभिमान का तेज, स्वदेश-स्वातन्त्र्य का तेज तो निश्चित रूप से ही दमकता दृष्टिगोचर होता है। इसके कारण क्रान्तिकारियों के गुणावगुण भी नैतिकता और वीरता की सजीव गाथाएं ही बन गए हैं।

हे दिल्ली नगरी, तेरा पतन हुआ, किन्तु इसमें लज्जा की क्या बात है ? क्योंकि तूने तो स्वराज्य, स्वधर्म और स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया था। क्योंकि कहा भी गया है "दन्तच्छेदो हि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे।" अर्थात् पर्वतों को भी चूर्ण-चूर्ण कर देने का प्रयास करनेवाले दांत भले ही टूट जाएं, किन्तु ऐसा करनेवाला हाथी गजश्रेष्ठ की उपाधि से तो अवश्य ही विभूषित किया जाएगा।

• • •

: ५ :

लखनऊ

जिस ब्रिटिश सत्ता ने अव्यवस्थित राज्य पद्धति से जनता को मुक्ति दिलाने के नाम पर सम्पूर्ण अवध को अपनी पराधीनता के पाश में जकड़ लिया था, जून मास के मध्य में ही क्रान्तिकारियों के वज्र प्रहारों से इतनी क्षीण हो गई थी कि उसका कार्यक्षेत्र अब रेजीडेन्सी में ही सीमित होकर रह गया था। चिनहट के युद्ध में पराजित हो जाने के उपरान्त सर हेनरी वहीं बैठकर योजनाएं बनाने में तल्लीन था। उस समय रेजीडेन्सी में १००० यूरोपियन और ८०० भारतीय सैनिक थे और इनके अतिरिक्त इतने ही गोरे और काले ईसाई भी वहां आकर एकत्रित हो गए थे। इस प्रकार वहाँ केवल ३००० व्यक्ति ही थे। चिनहट की हार के उपरान्त यह सारी सेना पहले रेजीडेन्सी में ही आकर एकत्रित हुई। अकस्मात ही आई आपदा के फलस्वरूप रेजीडेन्सी का स्थान व दीवारें और परकोटा भी नितान्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। इस समय इन असहाय अंग्रेजों पर जोरदार आक्रमण कर देने की स्वर्ण सन्धि क्रान्तिकारियों को उपलब्ध हो गई थी। वे यदि आक्रमण कर देते तो रेजीडेन्सी पर भी उनकी विजय पताका निश्चित रूप से ही फहरा जाती। किन्तु इस सन्धि का लाभ उठाने के संबंध में क्रान्तिकारी सैनिक एकमत न हो पाए। इसी कारण अंग्रेजों को अपनी सेना को सुव्यवस्थित करने एवं प्रतिरक्षा सिद्धता को उत्तम रूप देने के लिए अंग्रेजों को दो सप्ताह का समय उपलब्ध हो गया और इसका उन्होंने सदुपयोग कर लिया।

जिस दिन चिनहट के युद्ध में क्रान्तिकारियों को विजय प्राप्त हुई उसी दिन वस्तुतः अवध से अंग्रेजी राज्यसत्ता का अन्त हो गया था। उसी दिन इस विद्रोह ने राज्यक्रान्ति का रूप ग्रहण कर लिया था। अतः सिपाहियों, नागरिकों तथा जागीरदारों ने लखनऊ के रिक्त पड़े हुए सिंहासन पर अपनी सहमति से एक राजा को सिंहासनारूढ़ कर शासन-व्यवस्था को व्यवस्थित रूप देना आरम्भ कर दिया। चिनहट की विजय के उपरान्त एक सप्ताह तो अन्धाधुन्धी और अराजकता का

ही बोलबाला रहा। भावी युद्ध की सिद्धता करने के पूर्व विद्रोहियों ने पहले इस अराजकता का दमन करने का ही निश्चय किया। यद्यपि इसी कारण अंग्रेजों को भावी युद्ध की सिद्धता करने का भी सुअवसर उपलब्ध हो गया। क्रान्तिकारियों ने पहले लखनऊ की प्रशासन-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने का ही प्रयास किया। उन दिनों लखनऊ के भूतपूर्व नवाब वाजिदअलीशाह कलकत्ता में अंग्रेजों के बन्दीगृह में पड़े हुए थे। अतः लोगों ने सर्वसम्मत निश्चय कर उनके पुत्र बर्जिस कादर को ही लखनऊ के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ कर दिया था। उसके अल्पवयस्क होने के कारण शासन का सम्पूर्ण कार्यभार उसकी माता हजरत महल को सौंप दिया गया था। जिस प्रकार बहादुरशाह की वृद्धावस्था के कारण दिल्ली के राजप्रसाद में शासन का संचालन बेगम जीनत महल के हाथों में था, उसी प्रकार अपने पुत्र के अल्पवयस्क होने के कारण लखनऊ का शासन-भार बेगम हजरतमहल को ही वहन करना पड़ा था। यद्यपि अवध की यह बेगम झांसी की महारानी के समान कार्यकुशल तो नहीं थी, किन्तु फिर भी उसमें स्वतन्त्रता के लिए एक तड़फ थी और साहस तथा संगठन-क्षमता भी उसमें थी। उसे अपने दरबार के एक सरदार महबूबखां पर पूर्ण विश्वास था। उसने शासनसत्ता को संभालते ही न्याय, भूराजस्व, पुलिस तथा सेना विभाग में पृथक-पृथक अधिकारियों की नियुक्तियां कर दीं। वह प्रतिदिन ही दरबार लगाती थी, जहां राजनैतिक प्रश्नों पर विचार विमर्श होता था। नवाब के स्थान पर बेगम द्वारा ही सम्पूर्ण निर्णयों पर राज्यसत्ता की ओर से मुहर लगाई जाती थी। सम्राट् को भी बेगम की राजमुद्रा से अंकित कर यह शुभ समाचार प्रेषित कर दिया गया था कि अब अवध भर में अंग्रेजी राजसत्ता समाप्त कर दी गई है और उसका चिह्नमात्र भी शेष नहीं रह गया है। इस समाचार के साथ ही बेगम ने कतिपय बहुमूल्य उपहार भी सम्राट् की सेवा में भेजे थे। नवीन नागरिक अधिकारियों की नियुक्तियां, प्रतिदिन लगनेवाले राजदरबार एवं अन्य व्यवस्थाओं से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि मानों राज्यक्रान्ति का कार्य समाप्त हो गया है और सुव्यवस्थित राज्यप्रशासन आरम्भ हो चुका है। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह थी कि जिन अधिकारियों की नियुक्तियों में क्रान्तिकारियों ने इतनी अधिक तत्परता प्रदर्शित की थी उन्हीं की आज्ञा का पालन करने और अनुशासनबद्ध रहने में वे तत्परता प्रदर्शित न कर सके। राज्यक्रान्ति में सामान्यतः यही दोष होता है और इसी कारण क्रान्ति के प्रारम्भ के साथ ही साथ ये दोष क्रान्ति में सर्वनाश का भी बीजारोपण कर देते हैं। जिसके राज्य को उलटा जाता है उसके द्वारा निर्मित नियमों और कानूनों को तोड़ना ही तो राज्यक्रान्ति के प्रारम्भ का परिचायक है। किन्तु यह भी सत्य है कि एक बार जब किसी अवैध राज्यसत्ता के वियमों और कानूनों को बलपूर्वक तोड़

देने का अभ्यास हो जाता है तो उस उपद्रव में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के कानूनों को ठुकराने की प्रवृत्ति ही उभर पड़ती है। क्रूर और अन्यायी शासकों द्वारा बनाए गए अन्यायपूर्ण नियमों और कानूनों को तलवार के बल पर भंग करने की यह प्रवृत्ति मनुष्य को प्रायः सभी नियमों, निर्बन्धों और कानूनों को भंग करने का ही अभ्यस्त बना देती है। जो वीर विदेशी राज्यसत्ता के जुए को उतार फेंकने में लिए रणभूमि में अवतरित होते हैं उनमें प्रत्येक प्रकार के ही शासन को समूल नष्ट कर देने की भावना भी उभर आती है। परकीयों की सत्ता द्वारा निर्मित की गई मर्यादाओं को तोड़ देने के उन्माद और आवेग में वे न्याय-पूर्ण, अनिवार्य, हितकारी शासन-व्यवस्था की मर्यादाओं का पालन करना भी आवश्यक नहीं समझते। इस प्रकार राज्यक्रान्ति को ही अराजकता का रूप ग्रहण करते हुए भी देखा जाता है।

ऐसी स्थिति में सद्गुण ही दुर्गुणों का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जो जन-साधारण के लिए मंगलकारी होने के स्थान पर विनाशक ही सिद्ध होते हैं। किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राज्य का जितना संहार विदेशी सत्ता द्वारा किया जाता है उससे कम संहार अराजकता भी नहीं करती। इसी भाँति जितना विनाश दुष्ट बुद्धि से परकीयों द्वारा लगाये प्रतिबन्ध करते हैं, उतना ही नाश किसी भी प्रकार के नियमों और कानूनों तथा मर्यादाओं के अभाव में भी होता है। इस सामाजिक सत्य का जिस क्रांति में भी विस्मरण हुआ है वही क्रांति स्वतः ही क्रांतितत्वों के लिए विनाशक भी सिद्ध हुई है। जिस प्रकार किसी रोग के निदान के लिए यदि कोई व्यक्ति मद्यपान करता है और उस रोग से मुक्तिलाभ के उपरान्त भी उसका परित्याग नहीं करता, उसी प्रकार दुष्ट राज्यसत्ता से मुक्ति प्राप्त करने के उपरांत भी क्रूर नियमों को भंग करने का स्वभाव बन जाने से, उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात भी यदि वही स्वभाव बना रहता है तो यह प्रवृत्ति लोगों को अकर्मण्य और शासनद्वेषी ही बनाती है। अन्यायों और अत्याचारों का उन्मूलन करनेवाली क्रांति तो वस्तुतः वरेण्य है, किन्तु यदि एक प्रकार के अन्याय और अत्याचार का उन्मूलन करने वाली क्रांति यदि उसी प्रकार के अत्याचारों और अन्यायों का वीज वो देती है तो वह क्रांति भी तत्काल ही पापमयी और अपावन बन जाती है। उसी पाप के गर्भ में पलनेवाले असंख्य विष बीजों से ऐसे पादप फूट पड़ते हैं कि वे ही उस क्रांति को निष्प्राण बना देते हैं।

एतदर्थ, परतन्त्रता के रोगी का परिहरण करने के निमित्त जो भी क्रांति की सुरा का पान करना चाहते हों तो उन्हें इस संवंध में सतर्क और सावधान रहना ही होगा कि वे इस सुरापान के व्यसन से अपने-आपको ग्रस्त न होने दें। उनमें इतनी क्षमता होनी नितान्त आवश्यक है। उन्हें यह सतर्कता बरतनी ही होगी कि

जहां वे परकीय सत्ता का उन्मूलन कर स्वकीय सत्ता को सम्मान देने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा ग्रहण करें वहां वे दुष्ट बन्धनों को तोड़ देने के साथ ही अराजकता के उन्माद से भी अपने-आपको ग्रस्त न होने दें। उन्हें विदेशी क्रूर सत्ता को निर्मूल करते समय, पारस्परिक विवादों को प्रत्येक प्रयास द्वारा सुलझा लेने की सिद्धता भी अपने-आप में निर्माण करनी चाहिए। उन्हें विदेशी राज्यसत्ता को समाप्त करते ही जनता द्वारा निर्वाचित की गई राज्यसत्ता और उसके द्वारा निर्मित शासन-पद्धति का उपयोग अराजकता से कारण उत्पन्न होनेवाली आपदाओं से स्वदेश की रक्षा करने की दृष्टि से भी तत्काल ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। जब एक बार वह सुचारू ढंग से कार्य करना आरम्भ कर दे तो फिर प्रत्येक व्यक्ति को ही सादर उस सत्ता का अभिवादन भी करना चाहिए। नवनियुक्त अधिकारियों को भी प्रत्येक शिरोधार्य करे तथा अनुशासन का भी पालन हो। उस समय जनसाधारण के हितों को प्रमुख रखते हुए अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और प्रवृत्तियों पर संयम रखना भी आवश्यक है ? यदि शासन-पद्धति में कोई सुधार भी करना अभीष्ट हो तो वह सुधार भी बहुमत के निर्णय के अनुसार ही किया जाना अपेक्षित है। संक्षेप में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि बाहर परकीयों से मुक्ति के लिए राज्य-क्रांति किन्तु भीतर पूर्णतः वैध राज्य पद्धति, बाहर तलवार किन्तु भीतर न्याय के नियम का अनुगमन ही क्रांति की सफलता की कुंजी है।

राज्यक्रांति की यश सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक राज्यपद्धति के लिए इन सिद्धांतों का सन् सत्तावन की इस महान क्रांति के पूर्वार्ध में तो बड़ी ही तत्परता सहित पालन किया गया था, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण क्रांति में बहुसंख्यक वर्ग तो सामान्य सैनिक ही थे। अतः विदेशी राज्यसत्ता के बन्धनों को काट देने के उपरान्त वे किसी प्रकार का भी बन्धन सहन करने के इच्छुक नहीं थे। इसी कारण इस संक्रमण काल में उनमें अनुशासनहीनता भी उभरने लगी। स्वराज्य के पावन ध्येय से प्रेरित होकर उन्होंने जिन्हें श्रेष्ठ और अधिकारपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित किया था, वे अब उन्हींकी आज्ञाओं का उल्लंघन भी करने लगे। उनका अपमान करने में भी नहीं चूके और ऐसी आशंकाएं भी उपस्थित होने लगीं कि कहीं इस क्रांति की परिणति अराजकता के रूप में ही न हो जाए। यदि इस अवसर पर स्व-राज्य के अमूर्त ध्येय से प्रेरित होकर संगठन सूत्र में आबद्ध होने की क्षमता न रखने वाले इन अनुयायियों को अपने महान पराक्रम, पौरुष और शौर्य से आकर्षित कर देने वाला कोई नरपुंगव, कोई महान पुरुष आगे आ जाता तो यह निश्चित था कि वीर पूजा के नाते ये सभी क्रांतिकारी सैनिक उसकी पावन पताका के नीचे संघबद्ध हो जाते और फिर क्रांति की असफलता का दुखद प्रसंग कदापि उपस्थित नहीं हो पाता। क्रांति निश्चित रूपेण विजयी होती। प्रथमतः ऐसा एक भी क्षमतावान

महापुरुष इन्हें नहीं मिल पाया, दूसरा कारण यह भी था कि अनियन्त्रित क्रांति की परिणति अराजकता में होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुरूप ही हुतात्मा नहीं अपितु पांचों सवारों में अपनी गणना करानेवालों की संख्या ही अवध के इन क्रांतिकारी सैनिकों में अधिक थी। अतः जो हुतात्मा बनने को आकुल थे, वे तो बड़ी निर्भयता सहित, अपराजित शौर्य और दृढ़ संकल्प को पूर्ण करते हुए तीन वर्ष तक यह संग्राम चलाते रहे।

लखनऊ की छावनी में तो इस दूसरे वर्ग की अपेक्षा पहले ही वर्ग के लोगों की संख्या अधिक थी। वहाँ तो हुतात्मा बनकर मातृभूमि के लिए प्राण देने की आकांक्षा रखनेवालों के स्थान पर सामान्य सिपाहियों का ही प्रचण्ड बहुमत था। अतः हजरत महल ने जिन अधिकारियों की नियुक्तियां की थीं, उनके आदेशों का पालन भी कोई-कोई ही करता था। इसका परिणाम यह हो रहा था कि सिपाही अनुशासनहीन, उच्छृंखल, अत्याचारी और स्वच्छन्द व्यवहार करनेवाले बनते जा रहे थे। किन्तु यह भी सत्य है कि लखनऊ में ही ऐसे भी कुछ सैनिक अवश्य थे, जिन्होंने वीरश्रेष्ठ पौरुष और पराक्रम, उदात्त भावनाओं ओर ध्येय के प्रति महान निष्ठा की उच्च प्रवृत्तियों को विकसित कर दिखाया था। इन वीर और पराक्रमी लोगों के आग्रह पर ही २८ जुलाई को रेजीडेन्सी में एकत्रित हुए अंग्रेजों पर संगठित होकर प्रचण्ड आक्रमण करने का निर्णय लिया गया था।

दिनांक २० जुलाई को प्रातःकाल ही अंग्रेजों पर अब तक निरन्तर गोलाबारी करनेवाला क्रान्तिकारियों का तोपखाना सहसा ही शान्त हो गया। प्रातःकाल ८ बजे विद्रोहियों द्वारा अंग्रेजी रेजीडेन्सी के समीप सुरंगें बिछा दीं। उन सुरंगों में विस्फोट होते ही रेजीडेन्सी की फसील का जो भाग भग्न हो गया था उसी से होकर क्रान्तिकारी सिपाही भीतर प्रविष्ट हो गए। इसके साथ-ही-साथ तोपखाने ने भी अंग्रेजों पर अग्नि-वर्षा आरम्भ कर दी। अंग्रेजों पर सब ओर से क्रान्तिकारी टूट पड़े थे। रेडनवर और इन्नेस के घर पर क्रान्तिकारियों ने धावा बोला तो अंग्रेजों की कानपुर बैटरी भी उनके प्रकोप से न बच सकी। कानपुर बैटरी पर आक्रमण करनेवाले क्रान्तिकारी सिपाही तो सीधे ही अंग्रेजों के तोपखाने पर टूट पड़े थे। वे बारंबार वार कर रहे थे। उनके वीर नेता ने तो स्वराज्य की पावन पताका फहराते हुए ही एक खाई में छलांग लगाई और जोरों से गरज उठा "चलो वीरो, आगे बढ़ो।" उसने खाई को भी पार कर लिया और अंग्रेजों की तोपों पर स्वातन्त्र्य ध्वजा फहराने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु सहसा ही एक सनसनाती हुई गोली आई और उस वीर पुरुष को लगी, वह गिर पड़ा। वस्तुतः यही उपयुक्त समय था जब क्रान्तिकारियों को सहस्रों की संख्या में उसके शव को पार करके उस हुतात्मा की हत्या का प्रतिशोध शत्रु के रक्त से लेना

चाहिए था। किन्तु आगे बढ़ने के स्थान पर ये सैनिक तो निराशा से अपने मुख लटकाए पीछे ही लौट पड़े। किन्तु हे सीढ़ीवालों तुम धन्य हो। इन पांचों सवारों में अपना नाम लिखानेवाले सैनिकों के समान तुमने पीछे पग न हटाया, अपितु तुम वीर पुरुषों के समान रक्त का फाग खेलते हुए आगे बढ़े। हां, तुम तनिक भी चिन्ता न करो, सीढ़ियाँ लगाओ और मृत्यु को भी चुनौती देते हुए अंग्रेजी सेना की तोपों के गोलों की चिन्ता न करते हुए ऊपर चढ़ते चलो। आगेवाली पंक्ति ने शहादत पा ली है, चिन्ता नहीं, अब दूसरी पंक्ति आगे बढ़े। किन्तु अब दूसरी पंक्ति है ही कहां, बस यही अन्तर तो है विद्रोहियों में और अंग्रेजों में। अंग्रेज अपने बन्धुओं का रक्त कदापि निरर्थक प्रवाहित नहीं होने देगा। एक यदि खेत रहा तो अनेक इसके पीछे रणक्षेत्र में आ डटेंगे। जो सिपाही मृत्यु से भयभीत होकर पलायन कर गए हैं, उनकी हम कदापि चिन्ता नहीं करेंगे। किन्तु हे नरवीरों, हे हुतात्माओं तुम तो निश्चित रूप से ही स्वर्ग में स्थान प्राप्त करोगे। तुम शहादत की सीढ़ियों पर चढ़कर स्वर्ग में अपना स्थान सुरक्षित करा गए हो। कायरो, जीवित लाशों के अपावन हाथों से स्वतन्त्रता की यह पुनीत पताका छू जाने से कहीं अपवित्र न हो जाए, इसलिए जिन्होंने उसका उत्तोलन किया है, शत्रु की अग्नि-वर्षा करती हुई तोपों पर उसे फहराने के हेतु जो आगे बढ़े हैं, उनके पावन रक्त से रंगी गयी स्वतन्त्रता की यह पुनीत पताका और भी अधिक पवित्र हो गई है। यह सदैव फहराती ही रहेगी, सदैव ही दैवीय आभा इसे उद्दीप्त करती रहेगी। इसी प्रकार के रक्त से सने हाथों में तो यह ध्वज सुशोभित होता है। स्वराज्य की यह पवित्र ध्वजा रणशूरों के ही हाथों में सुहाती है। जिनकी कलाइयां स्वतन्त्रता के पावन युद्ध में, क्रान्ति के महान कार्य में रक्त से नहीं सनी वे इस पावन स्वातन्त्र्य ध्वज को अपने कलंकित हाथों से छूने का दुस्साहस कदापि न करें।

प्रथम दिवस किए गए इस आक्रमण के उपरान्त तो प्रतिदिन ही क्रान्तिकारियों और अंग्रेजी सेनाओं में मुठभेड़ें होने लगीं। रेजीडेन्सी में स्थित मकानों में सुरंगे लगाकर उनका विध्वंस कर देने में तो विद्रोहियों ने चमत्कार ही कर दिखाया था। ऊपर से तोपों से प्रचण्ड आग बरसती थी तो नीचे से सहसा ही विस्फोट के साथ धरती फट पड़ती थी। सुरंगों में विस्फोट होते थे। किसी भी अंग्रेज को यह पता नहीं होता था कि कब नीचे बिछाई गयी सुरंग फट पड़ेगी और कहां से विस्फोट होगा। कब वह ज्वालामुखी के उदर में सदा के लिए समा जायगा। ब्रिगेडियर इन्नेस का अनुमान है कि लगभग ३७ बार सुरंगें फटी होंगी, साथ में क्रान्तिकारियों का तोपखाना भी निरन्तर गोलाबारी कर रहा था। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने के लिए गुप्तचर

भेजते थे और उनमें भयंकर मोर्चे जमते थे। अनेक बार तो मानो दुर्ग को ही कान लग जाते थे और दोनों पक्षों के लोग एक-दूसरे की काना-फूसी सुना करते थे, जिसके कारण उनके इरादों के स्वप्न-महल बनने के पहले ही धराशायी हो जाते। अनेकबार ऐसा भी होता कि क्रान्तिकारी निशाने साधकर अंग्रेजों की पताका पर गोली दागते और उन्हें उड़ा देते, किन्तु तत्काल ही अंग्रेज भी उसके स्थान पर दूसरी पताका फहरा देते थे। इस प्रकार लखनऊ की रणभूमि में अपना विकराल जबड़ा खोलकर अनेकों को निगलती हुई मृत्यु अट्टहास करने में लिप्त थी। हां, यह भी सत्य है कि अंग्रेजों को सहयोग देनेवाले भारतीय सैनिकों के देशद्रोहपूर्ण व्यवहार को देखकर तो समरांगण में नृत्य करनेवाले भूत-प्रेत भी निश्चित रूप से ही सिर धुनते थे। अंग्रेजों के दुर्ग में जिन स्थानों पर सिखों आदि भारतीय सैनिकों के शिविर थे वहां तो प्रत्येक रात्रि में ही क्रान्तिकारी दूतों का यह आह्वान् गूंजा करता था "तुम देश के साथ विश्वासघात क्यों कर रहे हो ? अंग्रेजों की तलवारों को तुम अपने स्वदेश-बान्धवों की गर्दनों पर क्यों चलाते हो ?" किसी-किसी रात्रि में तो सिख सैनिक यह कहकर इन क्रान्तिदूतों को अपने समीप भी आने के लिए कहते थे कि तुम्हारी आवाज हमें स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आ रही है। जब वे इनके समीप आने लगते तो ये सिख सैनिक आस-पास ही छिपे हुए गोरों को इशारा करते और आगे बुला लेते। उनके इस कुकृत्य पर लानतें भेजते हुए विद्रोही सैनिक भी वहां से हट जाते थे। लखनऊ के इन क्रान्तिकारियों में एक हब्शी हिजड़ा भी था, जिसका निशाना अचूक था। वह पहले नवाब की सेवा में भी नियुक्त रह चुका था। अंग्रेजों की सेना पर उसका इतना आतंक जम गया था कि वे उसका "आथेल्लो" के नाम से ही उल्लेख करने लग गए थे। इसके संबंध में चार्ल्स बाल लिखता है कि "इस अफ्रीकी हिजड़े ने तो अंग्रेजों पर अहर्निश गोली-वर्षा जारी रखी हुई थी। उसके अचूक निशाने और प्राणघातक गोलियों ने यूरोपियन लोगों को एक के बाद एक मारते जाने का क्रम ही जारी किया हुआ था। विद्रोहियों में किसी भी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा इस हिजड़े ने सर्वाधिक संख्या में यूरोपियनों के प्राण लिए थे।"

सर हेनरी लारेन्स के मारे जाने के उपरान्त अवध का चीफ कमिश्नर मेजर बक्स नियुक्त हुआ था। उसे भी एक क्रान्तिकारी की गोली ने यमलोक पठा दिया था। लखनऊ के युद्ध में मारा जाने वाला वह अवध का द्वितीय चीफ कमिश्नर था। परन्तु अंग्रेजी सेना इतनी अधिक सुव्यवस्थित और अनुशासित थी कि घेरे की इस अनिश्चित स्थिति और प्रचण्ड रणताण्डव में किसी चीफ कमिश्नर के मारे जाने पर भी उसकी क्षमता और सिद्धता में कोई अन्तर नहीं आ पाता था। जैसे कोई सामान्य सैनिक मारा जाता हो वैसे ही अधिकारी की मृत्यु का भी उनपर

कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। अवध के दूसरे चीफ कमिश्नर के मार दिए जाने पर उसका स्थान ब्रिगेडियर इंग्लिस ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया और प्रतिरक्षा कार्य पूर्ववत ही सुचारु रूप से चलता रहा। किन्तु यह भी सही है कि इस समय तक अनेक प्रकार की क्षति, सैनिकों की मृत्यु-संख्या, खाद्यान्न की कमी, अधिकारियों के स्थानान्तरणों और क्रान्तिकारियों की गतिविधियों से अंग्रेज निराश और हताश तो भले ही न हो पाए हों आश्चर्यचकित तो अवश्य ही हो गए थे।

इन्हीं दिनों कानपुर से अंगद भी वापस आ गया था। यह अंगद भारतीय था और पहले अंग्रेजी सेना में ही नौकरी करता था और अब सेवा-निवृत्त होकर पैंशन प्राप्त कर रहा था। लखनऊ के घेरे के बाद से तो किसी भी गोरे दूत का बाहर जाकर जीवित लौट सकना असम्भव-सा ही हो गया था। उनकी गोरी चमड़ी, उनके भूरे केश अथवा कंजी आंखें क्रान्तिकारियों की पैनी तलवारों को कदापि धोखा नहीं दे पाती थीं। इसलिए अंग्रेजों को दूत के रूप में किसी न किसी काले व्यक्ति को ही खोजना पड़ता था। ऐसे अनेक "राजनिष्ठ" दूत अंग्रेजों ने लखनऊ से अन्य प्रदेशों में भेजे थे। किन्तु इनमें से अकेला अंगद ही वापस लौट आने में सफल सिद्ध हुआ था। विद्रोहियों के भय के कारण वह अपने साथ कोई पत्र आदि भी नहीं लाया था। किंन्तु उसने इंग्लिस को प्रत्यक्ष रूप से देखकर आने के उपरान्त एक प्रत्यक्षदर्शी के रूप में सेनापति इंग्लिस को यह सूचना पहुंचा दी थी कि कानपुर से अंग्रेजी सेना ने लखनऊ की सहायता के लिए प्रस्थान कर दिया है। उसके द्वारा दी गई इस सूचना से प्रोत्साहित होकर उसे लिखित प्रत्युत्तर लेकर आने के लिए पुनः कानपुर भेजा गया। अंगद ने २२ जुलाई को लखनऊ से प्रस्थान किया और २५ जुलाई को रात्रि में ११ बजे वापस आ गया। अपने साथ ही वह एक पत्र भी लाया था, जिसमें लिखा था—"प्रत्येक विपत्ति का सामना करने में सक्षम सेना लेकर हैवलॉक पहुंच रहा है। अब लखनऊ का छुटकारा होने में केवल ५-६ दिन ही लगेंगे।" लखनऊ के अंग्रेज सेनापति ने अपनेको मुक्ति दिलाने के लिए आनेवाले हैवलॉक को संपूर्ण जानकारी देने हेतु अंगद को पुनः भेजा और साथ ही सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कतिपय मानचित्र भी उसे दे दिए। वह विचित्र दूत पुनः कानपुर जा पंहुचा और साथ ही वह जो सामग्री लेकर गया था वह भी उसने सकुशल पहुंचा दी। अब लखनऊ के अंग्रेजों की दृष्टि उस ओर ही केन्द्रित हो गई थी, जिस ओर से उन्हें अपनी विजय पताका फहराते हुए तथा विद्रोहियों के शवों को अपने पैरों से कुचलते हुए हैवलॉक के आने की आशा थी। उन्होंने सुना कि कुछ दूरी से तोपों की गड़गड़ाहट और गूंज रही है। हाँ, तो वह हैवलॉक ही आ रहा होगा।

इसी आशा और उत्कंठा सहित इन तोपों की गर्जना सुनने वाले इन अंग्रेजों को विदित हुआ कि ये तोपें हैवलॉक के आगमन की सूचक नहीं है, अपितु क्रान्तिकारियों ने पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिया है। क्रान्तिकारी सैनिकों ने सर्वप्रथम कानपुर वेटरी, जोहान के बंगले, वेगम कोठी पर तोपों से गोलाबारी आरम्भ कर दी थी। उस दिन तो क्रान्तिकारियों द्वारा बिछाई गई सुरंगें भी मानों चमत्कार ही दिखा रही थीं। उन्होंने अंग्रेजों की मोर्चाबन्दी में एक ऐसा छिद्र निर्माण कर दिया कि जिसमें से सेना का एक दस्ता बड़ी ही सुगमता सहित पथ-संचलन करते हुए मोर्चाबन्दी को पार कर भीतर प्रविष्ट हो सकता था। परन्तु भीतर प्रवेश करनेवाला दस्ता भी तो वहाँ कहीं हो? यदि कहीं क्रान्तिकारियों की मोर्चाबन्दी में अंग्रेजों को इतनी बड़ी दरार डाल देने का अवसर मिल जाता तो उन्होंने उस स्थान पर अधिकार करने में आधा घण्टा भी न लगाया होता। क्रान्तिकारियों में से कुछ वीर तो दो बजे मध्यान्ह तक भी शत्रुओं से जूझते रहे। किन्तु अंग्रेजों के अधीनस्थ भारतीय सैनिकों ने अपनी निर्भयता, अनुशासनवद्धता तथा शौर्य का नवीन कीर्तिमान स्थापित कर दिया। कितना बड़ा दुर्भाग्य है। देशद्रोही वीरता दिखा रहे हैं औरदेशभक्त ही कायरता। कैसा विरोधाभास है! उठो जवानो, आगे बढ़ो और कलंक का यह धब्बा अपने पावन रक्त से धोकर साफ कर दो। अब पांच बज गए हैं, आक्रमण का क्रम लगभग समाप्त ही हो गया है, फिर भी कोई तो आगे बढ़ो। तत्काल विजयश्री का वरण करने के लिए न सही, कम-से-कम अपनी कीर्ति को अमरता प्रदान करने के लिए तो आगे आओ। हाँ, तो कैप्टन सांडर्स लो अब सावधान! आन पर प्राण देनेवाले नरवीरों का हमला हो ही रहा है, क्रोध से तप्त अंगारे बरसना ही चाहते हैं। देखो, आंखें खोलकर देखो, वे रणशूर क्रोधाग्नि से दग्ध हुए मातृभक्त चढ़े आ रहे हैं। उनके मार्ग में अंग्रेजों का परकोटा बाधक बन रहा है, फिर भी वे पूर्ण उत्साह और दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील हैं। अब कठिन घड़ी उपस्थित है, अंग्रेजों ने भी तोपों से अग्नि वर्षा बन्द कर हाथों में संगीनें संभाल ली हैं। क्रान्ति अमर रहे, स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की जय, धन्य नर वीर तूने खाली हाथों ही झपटकर शत्रुओं के हाथों में से संगीनें छीन ली हैं। किन्तु अरे यह क्या गोरे के गोलों से तुम धराशायी हो गए नरपुंगव। कोई चिन्ता नहीं, तुमने मृत्यु का वरण किया, परन्तु समर भूमि में अपने राष्ट्र को अपमानित होने से तो बचा लिया है। तुम्हारी वीरता का शत्रु भी मुक्त कंठ से गुणगान कर रहे हैं। हे अमर हुतात्मा, तुम अपने पावन रक्त से क्रान्तिदूतों के मुख पर लगा कायरता का कलंक धो डालने में सफल हो गए हो। हां तो एक गिरा, दूसरा आगे आ गया, वह भी खेत रहा, तीसरे ने पग बढ़ा दिया। धन्य, धन्य तुम वीरतासहित संग्राम कर रहे हो। इस युद्ध का यही मुंहतोड़ उत्तर हो सकता था।

मोर्चाबन्दी करनेवाले अंग्रेजों की संगीनों को छीनने के लिए, सिंह सदृश झपट्टे मारकर जीवन की अन्तिम घड़ी तक जूझनेवाले इन महावीरों के छायाचित्र (फोटो) लेने के लोभ का अंग्रेज भी संवरण न कर सके।[१]

१८ अगस्त को क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों पर पुनः एक धावा बोल दिया। इस दिन भी पूर्ववत प्रथमतः सुरंगों के द्वारा किले में एक बड़ी दरार डालकर विस्फोट के साथ-ही-साथ क्रान्तिकारी अंग्रेजों पर टूट पड़े। मलेसन ने लिखा है, "उनमें से एक बड़ा ही शौर्यवान अधिकारी सहसा ही दरार पड़े हुए स्थान पर पहुंच गया। उसने अपनी तलवार के इंगित से अपने अनुगामियों को बुलाने का प्रयास किया। किन्तु कोई आता इससे पहले ही उसे गोली लगी और वह धराशायी हो गया। तत्काल ही उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति आ डटा, किन्तु वह भी गोली लगने से मारा गया। जब इस टुकड़ी के सैनिकों ने देखा कि हमारे नेता ही मारे गए हैं तो यह देखकर अन्य सिपाही भाग निकले।" उपरोक्त तीन वीरों की वीरता की सराहना परकीयों ने भी की है। इनके इस शौर्य की समानता निकल्सन द्वारा दिल्ली में प्रदर्शित किए गए धैर्य से ही की जा सकती है। परन्तु अनुयायियों की कायरता ने इन तीनों का शौर्य भी निष्फल बना दिया। तीन वीरों के आत्माहुति देते ही आगे बढ़ने के स्थान पर सहस्रों व्यक्ति पीछे की ओर ही भाग पड़े। इस लज्जास्पद घटना से भला क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है?

प्रतिदिन होनेवाली इन मुठभेड़ों पर ही तो बात समाप्त नहीं हो गयी थी। क्योंकि राजनिष्ठ (देशद्रोही) भारतीय द्वारा पूर्ण सहायता दिए जाने पर भी क्रान्तिकारियों की तोपों द्वारा अहर्निश की जा रही गोलाबारी और बन्दूकों से होती हुई गोलीवर्षा के आगे हम बहुत समय तक नहीं टिक पाएंगे। अंग्रेजों को भी ऐसा प्रतीत होने लग गया था। किन्तु उसी समय अंगद पुनः लखनऊ लौट आया। अंग्रेज सेनापति तो उससे यह जानकारी उपलब्ध करने को इच्छुक था ही कि अपने वचन को पूर्ण करने हेतु हेवलॉक कहां तक आ पाया है। तत्काल ही अंगद ने सेनापति के हाथों में हेवलॉक का पत्र दे दिया। उसने लिखा था कि "अभी कम-से-कम २५ दिन तो मैं लखनऊ नहीं पहुंच पाऊंगा।" बस पत्र में यही एक पंक्ति थी। जब कोई व्यक्ति अपलक किसी की बाट जोह रहा हो और उसे सहसा ही निराशा मिले तो विचारिए कि उसे कितनी अधिक मानसिक यन्त्रणा प्राप्त होगी। मृत्यु का पथ निहारती हुई घायल अंग्रेज महिलाएं ही निराश नहीं हुई, अपितु अंग्रेजों के तोपची भी और अफसर भी घबरा उठे। वे सभी हताश थे और दुखी भी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो संपूर्ण अंग्रेजी सेना को लीलने के लिए काल अपना

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २।

कराल गाल फैलाता जा रहा है। खाद्यान्न की प्रचण्ड मंहगाई थी, सभी सैनिकों को आधे पेट रहने का आदेश दे दिया गया। अब सभी यह सोचने लग गए थे कि लखनऊ की मुक्ति सरीखे महत्वपूर्ण कार्य की सिद्धि में हेवलॉक जैसा महान योद्धा इतना विलम्ब क्यों कर रहा है।

कारण यह है कि लखनऊ में घिरे अपने बन्धुओं को बन्धनमुक्त करने के लिए यद्यपि हेवलॉक ने २९ जुलाई को ही कानपुर से प्रस्थान कर दिया था। उसने उसी दिन गंगा को भी पार कर लिया था। उसके साथ १५०० सैनिक और १३ तोपें भी थीं। उसने लखनऊ स्थित अंग्रेजों को एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उसने उन्हें आश्वासन प्रदान किया था कि मैं ५-६ दिन में ही लखनऊ पहुंच जाऊंगा। किन्तु उसने ज्योंही गंगाजी को पार कर अवध की भूमि में पग धरा तो ऐसा दृश्य उपस्थित हो गया कि मानो अवध का कण-कण ही विद्रोही बनकर खड़ा हो गया है। अवध प्रदेश में पग धरते ही उसपर अधिकार जमा लेने का उसका दिवा स्वप्न भंग हो गया था। उसके मदुल स्वप्न मेघों के समान वस्तुस्थित वायु के प्रचण्ड झोकों से टक्कर खाकर काई से फट गए थे। अवध का प्रत्येक जमींदार ही ५००-५०० क्रान्तिकारियों के दस्तों का गठन कर स्वातन्त्र्य संग्राम में उतर पड़ा था। प्रत्येक ग्राम में ही स्वतन्त्रता की पुनीत पताका फहरा उठी थी। यह दृश्य देखकर हेवलॉक भी संकोच में पड़ गया, किन्तु वह निराश नहीं हुआ। इस प्रतिशोध में भी वह आगे बढ़ता रहा। उन्नाव में भी क्रान्तिकारियों ने एक हल्का-सा आक्रमण किया था, तदुपरान्त पीछे हट गए। इस घटना के उपरान्त हेवलॉक ने अपने सैनिकों को भोजन करने मात्र का ही अवकाश देकर पुनः आगे बढ़ने का आदेश दे दिया। पुनः बशिरतगंज में भी एक मुठभेड़ हुई, यहां क्रान्तिकारियों ने दूसरा आक्रमण किया था। २९ जुलाई से अब तक हेवलॉक को दो आक्रमणों का सामना करना पड़ा और दोनों में ही उसने विजय भी प्राप्त की।

किन्तु क्या यह वास्तव में विजय थी ? एक दिन की मुठभेड़ में ही उसकी छोटी सी सेना का छटा भाग रणभूमि में सदा के लिए सो गया था। इसके विपरीत क्रान्तिकारियों को कोई हानि नहीं उठानी पड़ी। वस्तुतः वे पराजित हुए थे अथवा छापामार युद्ध करते हुए स्वतः पीछे हटे थे, यह भी स्पष्ट नहीं हो पाया था। उसी समय उन्हें दानापुर से आनेवाली विद्रोही सेना के आगमन का भी समाचार प्राप्त हुआ। इस प्रकार चारों ओर चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण हेवलॉक को चढ़ाई स्थगित रखने पर विवश होना पड़ा था। उसे दिनांक ३० को तो पीछे हट जाने के लिए ही विवश होना पड़ा।

ज्योंही नानासाहब को यह समाचार मिला कि कानपुर से हेवलॉक ने सेना सहित प्रस्थान कर दिया है, उन्होंने कानपुर के समीपस्थ प्रदेशों में अपनी गति-

विधियां आरम्भ कर दी थीं। इधर कानपुर को छोड़कर हेवलॉक गंगा को पारकर अवध की भूमि में पग रख रहा था तो उधर नानासाहव अवध को छोड़ गंगा को पारकर कानपुर में प्रविष्ट हो रहे थे। कहीं नानासाहव की इस सैनिक चाल में वह फंस ही न जाए, इसी आशंका से हेवलॉक को ४ अगस्त तक मंगलवाड़े में ही डेरा डालकर रहने पर मजबूर होना पड़ा। हेवलॉक एक सप्ताह में क्रान्तिकारियों को गोमती तक तो क्या हटा पाता वह तो स्वयं ही गंगा-तट पर स्थानबद्ध-सा होकर रह गया था। क्रान्तिकारी सेना से वशीरतगंज में पुनः उसका संग्राम छिड़ा। जव हेवलॉक इन सतत् आक्रमणों से परेशान हो गया तो उसने लखनऊ की ओर जाना ही श्रेयस्कर समझा। यद्यपि उसने वशीरतगंज में एक वार क्रान्तिकारियों को भगा दिया था, किन्तु अभी भी तो यही प्रश्नचिन्ह उपस्थित था कि क्या यह वास्तविक विजय थी ? इस एक मुठभेड़ में ही हेवलॉक की सेना के ३०० सैनिक मारे गए थे और अवशिष्ट थकान से इतने अधिक चूर हो गए थे कि लखनऊ की दिशा में पग वढ़ाना तो दूर अव तो उन्हें पुनः गंगा-तट की ओर हटना पड़ गया था। उस दिन हेवलॉक की सेना की जब गिनती हुई तो उसे विदित हुआ कि १५०० के स्थान पर अव उसके केवल ८५० के लगभग सैनिक ही रह गए हैं।

५ अगस्त को हेवलॉक ज्योंही मंगलवाड़े की ओर हटा त्योंही क्रान्तिकारियों ने वशीरतगंज पर पुनः अपनी पताका फहरा दी। अव उन्होंने वहां पर अपना पड़ाव डाल दिया था। क्रांतिकारी सेना के इस शिविर के डेरे में अधिकांश जमींदार ही थे।[1] इन जमींदारों ने अपनी देश की स्वतन्त्रता के लिए, स्वराज्य की स्थापना के लिए, मखमली शैय्याओं का परित्याग कर कंटकाकीर्ण पथ का अवलम्वन किया था। वे सभी प्रकार की आपदाओं और बाधाओं से जूझने का व्रत ग्रहण करके ही स्वातन्त्र्य समर में उतरे थे। उनकी इस वीरता, उत्साह और शौर्य का वर्णन करते हुए इतिहासकार अन्नेस ने लिखा है, "कम से कम हमें अवध प्रांत के लोगों द्वारा किए गए संघर्ष को तो स्वातन्त्र्य संग्राम के रूप में ही मान्यता देनी पड़ेगी।" हेवलॉक की सेना के चारों ओर क्रांतिकारी यमदूतों के समान मंडरा रहे थे। ११ अगस्त को हेवलॉक ने वशीरतगंज पर तीसरी बार आक्रमण किया और थोड़ी सी देर तक मोर्चा लेने के उपरान्त क्रान्तिकारी पुनः मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए। अव तीसरी बार हेवलॉक ने पुनः अपने मन में यही विचार किया कियह विजय है अथवा पराजय ?

तो फिर यह न तो केवल विजय थी और न हो पराजय थी। अपितु यह तो विजय में ही पराजय और पराजय में ही विजय की स्थिति थी। हेवलॉक-आगे

---

१. के तथा मलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ३, पृष्ठ ३४०।

बढ़ने के स्थान पर पुनः मंगलवा की ओर हट गया। इसी अवधि में नाना साहब ने भी अपनी योजनाओं को सुदृढ़ रूप दे दिया था। सागर और ग्वालियर के विद्रोही सैनिकों के अतिरिक्त अन्य स्वयंसेवक भी आकर उनके साथ मिल चुके थे। इन सबको साथ लेकर नानासाहब ने बिठूर की ओर प्रस्थान कर दिया था। इससे कानपुर के लिए संकट खड़ा हो गया। जनरल नील के पास इतनी सेना नहीं थी कि वह नानासाहब पर आक्रमण करता। अतः उसने सारी स्थिति से हेवलॉक को सूचित कर दिया। अब तो लखनऊ जाकर वहां घिरे हुए अंग्रेजों को मुक्त कराना शत-प्रतिशत ही असम्भव हो गया था। अतः १२ अगस्त को हेवलॉक के लिए पुनः गंगा पार कर कानपुर प्रस्थान करना अनिवार्य हो गया। अंग्रेजों के रण वाद्यों पर अब पीछे हटने का गीत गूंज उठा। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो चतुर्दिक स्वतन्त्रता का ही पावन नाद हो रहा है। इस स्थिति से क्रान्तिकारियों में भी अपार आनन्द और उत्साह की लहर दौड़ गई। धन्य हे, अपने प्रण पर अडिग रहनेवाले जमींदारो, तुमने अपना रक्त प्रवाहित कर अवध से परकीय सत्ता की दासता को गहरे गर्त में गाड़कर राष्ट्र की उत्तमोत्तम सेवा की है। इतिहासकार इन्नेस ने लिखा है, "अवध से अंग्रेजों के इस प्रकार पीछे हटने का निश्चित रूप से ही एक विचित्र परिणाम सामने आया। इस पलायन का अर्थ, अवध के सभी ताल्लुकेदारों ने यही लगाया कि अब अवध से अंग्रेजी राज्यसत्ता समाप्त हो गई है और लखनऊ के दरबार में प्रस्थापित राज्य सत्ता कों ही उन्होंने अपनी अधिकृत केन्द्रीय के रूप सत्ता में मान्यता दे दी थी। अब तक जो लोग राज्य सत्ता के बल की वृद्धि को स्वीकार नहीं करते थे, वे ही जमींदार अब लखनऊ की राज्यसत्ता के पृष्ठ-पोषक बनकर उसकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने सैनिकों को तत्काल समरभूमि में भेजने लग गए थे।[1]

परन्तु विद्रोहियों को प्राप्त हुई यह विजय प्रत्यक्ष तो नहीं थी, किन्तु अप्रत्यक्ष विजय अवश्य ही थी। हेवलॉक की सेना पर किए गए इन चार-पांच आक्रमण कर उसे पीछे हटाने की अपेक्षा यदि प्रत्यक्ष विजय प्राप्त कर उसे कानपुर की ओर धकेल दिया जाता तो क्रान्तिकारियों में प्रचण्ड आत्मविश्वास का सृजन किया जा सकता था। और इसी अनुपात में अंग्रेजों का भी हतोत्साहित होना अनिवार्य था। अंग्रेजों ने अपने पीछे हटने के लिए शौर्य की कमी नहीं अपितु अपने संख्या बल की न्यूनता को उत्तरदायी माना था। अतः इस अप्रत्यक्ष रूप से मिली पराजय से भी उनके प्रचण्ड आत्मविश्वास, उत्साह और घमण्ड में तनिक-सा भी अन्तर नहीं आ पाया। इसके विपरीत अपने सैनिक बल को पूर्णतः संगठित कर लखनऊ पर चढ़ाई

---

१. इन्नेस-कृत 'सिपाहीज रिव्होल्ट', पृष्ठ १७४

करने के अविचल संकल्प के साथ कानपुर में डटा रहा। कुछ दिनों से पारस्परिक विद्वेष के कारण हेवलॉक और नील में भी जोरों की ठनी हुई थी इसका प्रमाण हेवलॉक द्वारा नील को लिखे गए एक पत्र से प्राप्त होता है। हेवलॉक ने उसे लिखा था : "सामान्यतः मैंने तुम्हें अपनी सम्पूर्ण योजना समझा दी थी। किन्तु तुमने उत्तर में मेरी योजना के लिए मुझे फटकारा है और भविष्य के लिए उपदेश भी दिया है। तुम्हारा यह उपदेश चाहे कितना ही अनुभव पर आधारित क्यों न हो, मैं तुम्हारी कोई बात भी सुनने को तैयार नहीं हूं। भविष्य में मुझे कोई उपदेश कदापि न देना। तुम्हें इस बात को भलीभांति स्मरण रखना चाहिए। इस गम्भीर समय में यदि मैं तुम्हें इससे कड़ा दण्ड दूं अर्थात् वन्दी बना लं तो सार्वजनिक हित के कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाएगी। अतः इस समय तुम्हें इतनी ही गम्भीर चेतावनी दी जाती है कि तुम भविष्य में कभी भी ऐसा उपदेश देने का प्रयास कदापि न करना।"[१] इस पत्र का एक वाक्य नितान्त ही महत्त्वपूर्ण है और वह है "सार्वजनिक कार्य में बाधा उत्पन्न हो जाएगी।" इस एक वाक्य से ही अंग्रेजों की नस-नस में व्याप्त अपने राष्ट्र के हित को प्रमुखता देने का महान गुण स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए तो हेवलॉक अपने व्यक्तिगत अपमान का प्रतिशोध लेने से भी रुक गया था। इस संक्रमण काल में दोनों सेनापतियों के पारस्परिक वैर का शत्रु पक्ष को लाभ न मिल जाए, इसीलिए वे दोनों केवल मौन ही नहीं रहे, अपितु उन्होंने तो अन्तिम लक्ष्य को समक्ष रखते हुए एक-दूसरे को पूरा-पूरा सहयोग भी दिया। जिस समाज में व्यक्तित्व के उन्मत्त गज के गंडस्थल पर सामाजिक मंगल की लगन का अंकुश सदैव लगा रहता हो, वस्तुतः वही समाज लक्ष्मी और सरस्वती तथा अपनी कीर्ति और स्वतन्त्रता का सदैव अक्षुण्ण रखने में सफल सिद्ध होता है।

जब हेवलॉक कानपुर पहुंचा तो उसे पहली बार यह विदित हुआ कि नानासाहव ने ब्रह्मावर्त पर पुनः अधिकार कर लिया है। क्रान्तिकारी सेना और नानासाहव के कानपुर की सीमा पर ही मिल जाने पर हेवलॉक ने तत्काल उनपर आक्रमण कर दिया। उस दिन बिठूर के युद्ध में अंग्रेजी सेना क्रान्तिकारियों की अग्रिम पंक्ति से केवल २० गज की दूरी पर ही रह गयी थी। उसी समय ४२वीं विद्रोही सेना ने संगीनों से आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। अंग्रेज अभी तक यही समझते थे कि अन्य सभी उपायों के अवलम्बन के उपरान्त भी जब क्रान्तिकारियों को भयभीत न किया जा सके तो संगीनों के आक्रमण से उन्हें आतंकित किया जा सकता है। किन्तु आज तो स्वातन्त्र्य पुजारियों ने अंग्रेजों पर ही संगीनों से धावा बोल दिया था। साथ ही साथ क्रान्तिकारियों के अश्वारोही पथक ने पीछे

१. मलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी' खण्ड तृतीय, पृष्ठ ३३७

से आकर अंग्रेजों की रसद को भी अपने अधिकार में ले लिया था। इस प्रकार अंग्रेजों पर दोहरी मार पड़ी थी। किन्तु उनका यह रणकौशल और वीरता इसलिए असफल हो गई, क्योंकि वे अंग्रेजों के समान अनुशासन में आबद्ध नहीं थे। इसीलिए उन्हें पराजित होकर पीछे हटना पड़ा। क्रान्तिकारियों को पराजित कर १७ अगस्त को जब हेवलॉक कानपुर वापस लौटा तो उसे समाचार मिला कि नानासाहब की सेना केवल ब्रह्मावर्त में ही एकत्रित नहीं हुई है, अपितु यमुना तट पर स्थित कालपी में भी बहुत बड़ी संख्या में जमा है। कालपी, ब्रह्मावर्त, अवध और गंगा के दोनों तटों की ओर से ही हेवलॉक के लिए परेशानियां उत्पन्न हो रही थीं। अतः विजयी हेवलॉक ने कलकत्ता को लिखा कि "इस समय भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है। नयी कुमुक यदि शीघ्रातिशीघ्र नहीं पहुंची तो कानपुर को छोड़कर इलाहाबाद हट जाने के अतिरिक्त अंग्रेजी सेना की रक्षा का कोई उपाय हमारे पास नहीं रह जाएगा।"

अभी हेवलॉक कलकत्ता से उत्तर प्राप्त होने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसे प्रचण्ड विश्वास था कि उसकी प्रार्थना पर कलकत्ता से कुमुक अवश्य ही पहुंच जाएगी और वह लखनऊ को मुक्त कराकर अपनी सभी जय और पराजयों को मुकुट पहना देगा। किन्तु उसी समय उसे यह आदेश प्राप्त हुआ कि लखनऊ पर आक्रमण करनेवाली सेना का नेतृत्व उससे छीनकर आउट्रम को दे दिया गया है। अंग्रेजों के दण्ड की कठोरता देखिए। विजयी होने पर भी नील को कानपुर पहुंचने में विलम्ब हो गया था, अतः उसके स्थान पर सेनापति का पद हेवलॉक को दे दिया गया था। और अब अभी तक विजयी होने पर हेवलॉक को लखनऊ पहुंचने में अनिवार्य कारणों से विलम्ब हुआ तो उसके सरीखे वीर और चतुर सेनापति को भी पदच्युत कर उसके स्थान पर आउट्रम की उस पद पर नियुक्ति कर दी गई। इस समाचार से हेवलॉक को आघात लगना तो स्वाभाविक ही था। जिस विजय की कामना को लेकर वह अहर्निश प्रयत्नशील था और प्राण-प्रण सहित जुटा हुआ था, उसी लखनऊ की विजय का समय जब समीप आया तो वह सौभाग्य उसी अवसर पर किसी अन्य व्यक्ति को प्राप्त हो रहा था। इस अपमान से उसके हृदय पर गम्भीर आघात लगा था। किन्तु मलेसन ने लिखा है "हमारे देशवासी अंग्रेजों में यही नितान्त ही श्रेष्ठ गुण है कि चाहे जितनी तीव्र निराशा अथवा अपमान सहन करना पड़े, किन्तु वे सार्वजनिक हित की रक्षा के कार्य में एक क्षण के लिए भी बाधा नहीं उपस्थित होने देते। कर्त्तव्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अंग्रेजों के चरित्र की विशेषता है। उस पर वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं की बलि चढ़ाता रहता है। उसके अपमान का शूल उसे चाहे कितनी भी तीव्रता सहित वेधता रहे, किन्तु स्वदेश हित को सदैव प्रमुखता देता है। स्वदेश की सेवा के सम्बन्ध

में उसके अपने विचार भले ही कुछ भी क्यों न हों, किन्तु यदि राष्ट्र के शासन-सूत्र को चलानेवाली सत्ता के विचार उसके विचारों से भिन्न हों तब भी वह उसकी आज्ञा का हृदय से पालन कर अपने राष्ट्र को गौरव प्रदान करने के महान कार्य में पूर्ण शक्ति और निष्ठा सहित जुट जाता है। नील ने जैसा किया था, वैसा ही आज हेवलॉक कर रहा था। अपने पदच्युत किए जाने का खेद होते हुए भी, इससे पूर्व एक सेनापति के रूप में वह जिस साहस, स्फूर्ति और सत्यता से कार्य में प्रवृत्त रहता था वह इस स्थिति में भी उसी प्रकार अहर्निश दत्तचित्त था।"[1]

जिस यश की प्राप्ति अन्य किसी व्यक्ति को होनेवाली थी, उसी यश की सिद्धि हेतु जब हेवलॉक रात-दिन एक कर रहा था, तभी १५ सितम्बर को सर आउट्रम कानपुर आ पहुंचा। हेवलॉक द्वारा सम्पूर्ण अधिकार समर्पित कर दिए जाने के उपरान्त उसने सर्वप्रथम आदेश यह प्रसारित किया कि "लखनऊ का घेरा तोड़ने हेतु आज तक जिस व्यक्ति ने महान शौर्य तथा धैर्य का प्रदर्शन किया है और कष्ट सहन किए हैं, मुख्य सेनापति होते हुए भी मैं वीर हेवलॉक को ही अपने पद का अधिकार समर्पित करता हूं और मैं स्वयम् एक स्वयंसेवक के नाते उनके अधीन कार्य करूंगा। अपने नवीन सेनापति की इस उदारता से अंग्रेजी सेना पर क्या प्रभाव पड़ा होगा! क्या उसके प्रत्येक सैनिक में इसी भावना का उद्‌भव नहीं हुआ होगा कि राष्ट्रहित के समक्ष व्यक्ति नगण्य है और व्यक्ति को अपने-आपको राष्ट्र के साथ एक रूप कर देना चाहिए। अपने प्रथम आदेश द्वारा ही आउट्रम ने अपने प्रधान सेनापति के अधिकारों को वीर हेवलॉक को सौंपकर जो महान और अद्वितीय उदारता प्रदर्शित की थी, स्वार्थ पराङ्‌मुखता और राष्ट्रहित के प्रति तत्परता दिखाई थी, उसके बदले में सब ओर से एक ही शब्द गूंज उठा होगा "धन्य, धन्य हे वीरवर तुम धन्य हो।"

इस वीर पुरुष द्वारा प्रस्तुत किए गए महान उदाहरण से अंग्रेजी सेना को एक महान नैतिक शिक्षा मिली। आउट्रम की त्यागभावना से प्रेरित तथा आउट्रम के समान ही आयर और कूपर सरीखे वीरों के कलकत्ता से कानपुर पहुंच जाने से भी उसके उत्साह में वृद्धि हो गयी थी। अब कानपुर की सेना ने लखनऊ में घिरे हुए अपने देश-बान्धवों को मुक्त कराने के लिए प्रस्थान कर दिया। २० सितम्बर को इस सेना ने गंगा पार कर ली। आज वही हेवलॉक पुनः गंगा पार कर रहा था जिसने २५ जुलाई को इसी गंगा को पार कर यह घोषणा की थी कि "लखनऊ पर तो ५-६ दिन में ही अधिकार कर लूंगा।" परन्तु वह पांच दिन में लखनऊ तो क्या पहुंचता उसे तो अवध में पग धरना ही नाकों चने चबाने के समान हो गया

---

१. मलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड तृतीय, पृष्ठ ३४६

था और उसे विवश होकर कानपुर लौट आने का दुर्दिन देखना पड़ा था। १२ अगस्त को यह दुर्दिन देखनेवाला हेवलॉक पुनः प्रचण्ड आशा सहित २० सितम्बर को लखनऊ विजय के लिए प्रस्थान कर रहा था। हेवलॉक के इन तीन चित्रों में कितना महान अन्तर था। अब उसके पास २५०० गोरे सैनिक थे और सिखों आदि को मिलाकर उसकी सेना की संख्या ३२५० थी। चुने हुए अश्वारोही, उत्तम तोपखाना, नील और आउट्रम तथा आयर जैसे अधिकारी भी उसके साथ थे। अतः अब वह अवध के क्रान्तिकारियों की क्यों चिन्ता करता? अब फिरंगियों की दासता के अपावन पाश को काटने का प्रयास करनेवाले जमींदार काटे जाने लगे। मातृभूमि पर फिरंगियों के अश्वों को दौड़ते देखकर दग्ध हो जानेवाले स्वाभिमानी ग्रामीणों के ग्राम धू-धूकर अग्नि की ज्वालाओं से भभक उठे। उन्हें भस्म कर दिया गया। अंग्रेजी सेना के मार्ग में जो भी नदी आई वही रक्त से परिपूरित हो गई, प्रत्येक खेत में भारतीय रक्त का सिंचन हो गया। इस प्रकार क्रूरता और अत्याचार करती हुई यह अंग्रेजी सेना अवध में प्रवेश कर रही थी। क्रान्तिकारियों से मोर्चे लेता और उन्हें पीछे धकेलता हुआ हेवलॉक २३ सितम्बर को ही आलमबाग तक जा पहुंचा। यहाँ दिनभर क्रान्तिकारियों ने उससे जमकर लोहा लिया। घमासान युद्ध आरम्भ हो गया था। एक बार क्रान्तिकारियों की पांच तोपों पर अंग्रेजी सेना का अधिकार हो गया तो कुछ ही समय पश्चात् उनमें से एक पर पुनः क्रान्तिकारियों ने अधिकार जमा लिया। दिन लड़ते-लड़ते बीत गया और रात आ गई किन्तु दोनों सेनाएं एक दूसरे के समक्ष डटी रहीं। जब क्रान्तिकारियों ने यह देखा कि शत्रु वर्षा के कारण कीचड़ से भरी धरती पर ही रात्रि को विश्राम करने का विचार कर रहा है तो उन्होंने विश्राम और आराम को तिलांजलि देकर रात्रि में ही धावा बोल दिया। घनघोर वर्षा हो रही थी, चारों ओर अन्धकार व्याप्त था, किन्तु उस रात्रि दिल्ली के पतन का समाचार अंग्रेजी सेना को प्राप्त हुआ था, अतः उसके उत्साह का भी पारावार नहीं था। अन्ततः २५ सितम्बर का प्रातःकाल हुआ। आज बड़ा ही निर्णायक अवसर उपस्थित था। जब क्रान्तिकारी सेना ने देखा कि हेवलॉक की सेना लखनऊ जानेवाले सीधे मार्ग को छोड़कर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से लखनऊ की ओर बढ़ रही है तो उनकी तोपों ने पुनः गोलाबारी आरम्भ कर दी। परन्तु इस प्रचण्ड अग्निवर्षा को भी धैर्यसहित सहन करती हुई अंग्रेजी सेना रेजीडेन्सी की दिशा में आगे बढ़ती हुई आलमबाग से चारबाग तक जा पहुंची। अब उसे पुल पार करके लखनऊ नगर में पग धरना था। इस मोर्चे पर तो घमासान युद्ध छिड़ गया। कैप्टन मोड गोलियां बरसाने में चमत्कार दिखा रहा था। परन्तु उसका शौर्य भी निरर्थक हो रहा था। न तो क्रान्तिकारियों की तोपों के मुख बन्द हुए और न ही मार्ग प्रशस्त हो पाया।

पीली कोठी के समीप भी ११ गोरे सैनिक खेत रहे थे। यहां कुछ अन्य भी प्राणों से हाथ धो बैठे इस पुल के कारण सारी अंग्रेज सेना अटक गयी थी। अब कैप्टन मोड ने हेवलॉक के युवक पुत्र से कहा "भाई, अब तुम्हीं कोई उपाय बताओ।" उस युवक ने नील के पास पहुंचकर कहा कि तोपों की मार से तो ये विद्रोही पुल से हटेंगे नहीं, इन पर सीधा आक्रमण करने की अनुमति दी जाए। किन्तु हेवलॉक की अनुमति लिए बिना नील ने कुछ भी करना अस्वीकार कर दिया। अब प्रश्न था कि क्या किया जाए ? इस युवक को एक उपाय समझ में आया। वह सहसा ही अपने अश्व पर आरूढ़ हुआ और उसने उस ओर प्रस्थान कर दिया जहां हेव-लॉक खड़ा था। इस प्रकार सेनापति से मिलकर आने का बहाना कर वह युवक फिर नील के पास वापस लौट आया और बोला "हेवलॉक का आदेश है कि पुल पर धावा बोल दो।" इतना सुनते ही जनरल नील ने सेना को चढ़ाई कर देने का आदेश दे दिया। २५ सैनिकों के प्रथम दस्ते का नेतृत्व युवक हेवलॉक ने किया। तोपों द्वारा गोलाबारी जारी थी। एक दो मिनट में ही इनमें से अनेक ढेर हो गए। परन्तु वह देखो युवक हेवलॉक पुल पर कूद पड़ा है। किन्तु वह क्रान्तिकारी भी धन्य है, जो पुलपर डटकर लोहा ले रहा था। उसने अपनी बन्दूक को संभाला और निशाना साधकर गोली दाग दी। निशाना थोड़ा-सा चूक गया था, अतः गोली हेवलॉक के पुत्र के माथे में न लगकर उसके टोप से जा टकराई। वह धैर्य सहित दूसरी गोली दागने ही वाला था कि हेवलॉक की गोली ने उसे धराशायी कर दिया। वह स्वाधीनता की वेदी पर बलि चढ़ा गया। अब सम्पूर्ण गोरी सेना पुल पर चढ़ दौड़ी और पुल डोल उठा। लखनऊ के एक मार्ग पर अंग्रेज बढ़ चले थे, दूसरा मार्ग भी उन्होंने जीत लिया था। तीसरे पर भी उन्होंने अधिकार कर लिया। अंग्रेजी सेना विजयोन्माद में आगे बढ़ती जा रही थी। दिन-भर घनघोर संग्राम हुआ, खून की वर्षा हो रही थी और रक्त की सरिताएं बह निकलीं। अब आउट्रम ने दुर्ग के बाहर रात्रि बिताने का निश्चय किया। किन्तु नहीं, वीर हेव-लॉक तो आराम का नाम भी लेने को तैयार नहीं था। रेजीडेन्सी में उसके देश-बान्धव मृत्यु के कराल गाल में फंसे थे, पता नहीं कब मृत्यु का देवता अपना जबड़ा बन्द करले और उन्हें निगल जाए। एक रात्रि ही एक युग के समान व्यतीत होगी। अतः उसने सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया, परन्तु उत्साह के उन्माद में सेना दुर्ग का मार्ग भूल गयी और सीधी क्रांतिकारियों की रेंज में जा पहुंची। इस पर भी नील आगे ही बढ़ता जा रहा था। जब वह बाजार की युद्ध कमान के नीचे ही जा पहुंचा तो वह ठहरा, उसे ध्यान आया कि अंग्रेजी तोपखाना तो बहुत पीछे छूट गया है। उसने पीछे मुड़कर देखा। अतः उसने अपने घोड़े को पीछे मोड़ दिया, परन्तु तोरण पर चढ़े एक वीर क्रान्तिकारी की दृष्टि उस पर पड़ गयी। कितनी

स्वर्ण सन्धि मिली है तुझे हे वीर ! तुम भी मारे जाओगे, किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं, तुम भारत के राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध तो ले ही लोगे। अतः अब चिन्ता न करो इस अवसर को हाथ से मत जाने दो। सैनिक वीर ने सिद्धता कर ली और साधकर गोली दाग दी। गोली नील की गर्दन को चीरकर निकल गई और नील अपने अश्व की पीठ से गिरकर भूमि पर लुढ़कता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। मानवजाति का सौभाग्य कहो अथवा दुर्भाग्य सम्पूर्ण गोरी सेना में इतना शूर और इतना क्रूर, इतना हठी और धैर्यवान, इतना निर्भय किन्तु साथ ही निर्दय व्यक्ति दूसरा नहीं मिल पाता था।

किन्तु अंग्रेजी सेना की यही तो विशेपता है कि उसका प्रयत्न अबाध गति से चलता है, वह किसी व्यक्ति विशेष के आधार पर नहीं चलाया जाता। अतः वह व्यक्ति नील जैसा असाधारण व्यक्ति हो तब भी उसके कार्य में व्यवधान उपस्थित नहीं होता। नील मारा गया, किन्तु अंग्रेजी सेना में किंचितमात्र भी अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकी। आदेशानुसार अंग्रेजी सेना का रेजीडेन्सी की दिशा में आगे बढ़ना जारी रहा। इस बाजार में तो अकेले नील का ही रक्त बहा था, यदि यहां अंग्रेजों के रक्त की सरिता भी प्रवाहित हो उठती तब भी दृढ़-निश्चयसहित आदेश का पालन करनेवाली अंग्रेजी सेना आगे ही बढ़ती जाती। जब यह सेना बाजार से गुजर रही थीं तो अभिनन्दन और हर्ष की ध्वनियाँ भी रेजीडेन्सी से निकलती हुई सुनाई पड़ रही थी। सैनिक अंग्रेज भी उस स्वर में अपना स्वर मिला रहे थे। वास्तव में ही हेवलॉक ने अपने देशबान्धवों को मृत्यु के मुख से बाहर खींच लेने में सफलता प्राप्त करली थी। उस समय का विवरण प्रत्यक्षदर्शी कैप्टन विल्सन ने इन शब्दों में किया है :—

"पग-पग पर अंग्रेज सैनिक गिरते जा रहे थे, उनकी संख्या घटती जाती थी, इसपर भी अंग्रेजी सेना रेजीडेन्सी पर जा ही पहुंची। उसे देखते ही घेरे में घिरे अंग्रेज पुलकित हो उठे। उन्होंने अपने छुटकारे के लिए आए हुए इन लोगों का हर्ष ध्वनियों सहित अभिनन्दन करने में एक-दूसरे से होड़ ही लगा दी। रुग्ण व्यक्ति भी रेंगते-रेंगते चिकित्सालय से बाहर आ गए थे और जयघोषों से संपूर्ण वायुमण्डल गूज उठा था। पहले जिन्हें अपने पतियों के निधन का समाचार सुनकर दुख हुआ था वे ही नारियां अब अपने पतियों को जीवित पाकर उनकी बाहों उन्हें अपने भुजपाश में सिमट गयी थीं। जो अपने प्रियजनों से मिलने से चार मास से वंचित थीं वे में आवद्ध करने का सुअवसर प्राप्त करने का स्वप्न लेने लगी थीं उनमें से अनेक को पहली और अन्तिम बार यह पता लगा कि अब उनकी आशा का अन्तिम धागा भी टूट गया है।"

लखनऊ की रेजीडेन्सी पर ८७ दिन तक अहर्निश संग्राम चला। इस अविराम

युद्ध में २५ सितम्बर तक लगभग ७०० व्यक्ति काल के ग्रास बने। इन लोगों को मुक्ति दिलाने के लिए हेवलॉक आया था, किन्तु उसकी सेना को रेजीडेन्सी तक पहुंचने से पहले ही अपने ७२२ सैनिकों को गंवाना पड़ा था। इतने शूरवीरों को रक्त बहाए जाने के उपरान्त ही लखनऊ पर अंग्रेजों की विजय का स्वप्न पूर्ण हो सका।

परन्तु हे दुष्ट निराशा तुम तो सदा ही अजेय हो! क्योंकि यह सत्य है कि हेवलॉक ने क्रान्तिकारियों के छक्के छुड़ा दिए थे, किन्तु तुमने तो उसका भी पिण्ड नहीं छोड़ा था। रेजीड़ेन्सी में प्रवेश कर लेने पर तो उसने सोचा था कि अनेक मुठभेड़ों के पश्चात भयंकर रक्तपात कर मैंने विद्रोहियों के चंगुल से अंग्रेजी राज्यसत्ता को मुक्ति दिला दी है, किन्तु अब जब सम्पूर्ण परिस्थिति उसके समक्ष खुली हुई पुस्तक के समान विद्यमान थी तो उसके मन में पुनः वही प्रश्न उभर आया था जो उसने एक दिन गंगा के तट पर खड़े होकर अपने मन से ही पूछा था। वह प्रश्न था कि क्या वास्तव में ही मैंने लखनऊ की कोई सहायता की है? हेवलॉक अपनी सेना सहित रेजीडेन्सी में तो प्रविष्ट हो गया था, किन्तु उसी समय क्रान्तिकारियों ने पुनः रेजीडेन्सी को आकर घेर लिया था। इस प्रकार नई और पुरानी दोनों अंग्रेजी सेना ही क्रान्तिकारियों के घेरे में आ फंसी थीं और अब प्रत्येक अंग्रेज के मुख पर एक ही वाक्य गूंज उठा था "हेवलॉक हमारे लिए क्या लेकर आया है मुक्ति अथवा सहायता।"[1]

हां, तो यह मुक्ति नहीं केवल सहायता थी। विद्रोही सैनिकों से लखनऊ के गोरों की रक्षा करने लिए हेवलॉक और आउट्रम जैसे सेनापतियों के नेतृत्व में अनेक युद्ध करने के बाद यहां तक पहुंचनेवाली यह अंग्रेजी सेना भी लखनऊ को क्रान्तिकारियों के घेरे से बचाने में असफल रही। इतना ही नहीं, वह तो स्वयं भी उनके घेरे में फंस गयी। अंग्रेजों को विश्वास था कि ज्योंही हेवलॉक लखनऊ

---

१. इस अध्याय की समाप्ति से पहले, घेरे के परिणामों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाना सामान्यतः अपेक्षित है। सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान दिया जाना अभीष्ट है कि हमारी कमजोर और अपूर्ण प्रतिरक्षा व्यवस्थाओं के कारण साहसी शत्रुओं द्वारा चारों ओर से घेर लिए जाने से हमारे लिए अपनी रक्षा कर पाना पूर्णतः असंभव था, जब उन्होंने आक्रमण किया तो उनमें उस साहस का अभाव था, जिसके बल पर कोई संकल्पबद्ध होकर खतरों का सामना करता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उनमें वीर और साहसी व्यक्ति भी भी थे, किन्तु ऐसे वीर अधिक नहीं थे। अधिकांशतः 'कायर-जन' ही थे। गब्बिन कृत 'म्युटिनियर्स इन अवध', पृष्ठ ३४८

पहुंचेगा विद्रोहियों की सेना पलायन कर जाएगी। किन्तु समग्र हिन्दुस्थान ने इस महान सत्य को प्रत्यक्ष देखा कि गोरों का दिवा स्वप्न भंग हो गया। विद्रोहियों की सेना ने न तो लखनऊ को छोड़ा है और न ही अंग्रेजों से सन्धिवार्ता करने का ही प्रयास किया। अपितु क्रान्तियुद्ध की प्रचण्ड ज्वालाओं के धधकने से वे और भी अधिक उत्तेजित हो गए। उन्होंने हेवलॉक के लखनऊ में प्रविष्ट होते ही सभी मोर्चों पर अधिकार कर अपनी घेराबन्दी को सुदृढ़ कर लिया। इतना ही नहीं, रेजीडेन्सी में प्रविष्ट होने की जल्दबाजी के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था में अंग्रेजों का सैनिक दस्ता आलमबाग के पास ही पीछे छूट गया। इस प्रकार उस दिन के घमासान युद्ध में प्रत्येक मार्ग में बने रक्त सरोवरों के सूखने के पूर्व ही क्रान्तिकारी अंग्रेजों की जीत और अपनी हार से तनिक से भी निराश और हतोत्साह नहीं हुए अपितु स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पुजारी लखनऊ ने तो मानो अवध की अंग्रेजी सेना के 'देव' को एक बोतल में ही बन्द करके रख दिया।

स्वाधीनता के इस महान संग्राम में क्रान्तिकारियों द्वारा केवल लखनऊ में ही अंग्रेजी सेना को अपनी सुनिर्धारित नीति और दृढ़ता से संकट में नहीं फंसाया गया था। यद्यपि दिल्ली का पतन हो चुका था, किन्तु इस पर भी लखनऊ के घेरे में घिरी हेवलॉक की सेना के कारण लखनऊ की अंग्रेजी राज्यसत्ता निष्प्राण होकर रह गई थी। उसे सहायता देना दिल्ली की अंग्रेज़ सेना के लिए भी संभव नहीं था। क्योंकि अभी तो उसे दिल्ली प्रदेश में उभरते हुए विद्रोह को ही शान्त करने के लिए पग-पग पर जूझना पड़ रहा था।

१३ अगस्त को अंग्रेजों का नया सेनापति सर कॉलिन केम्पबेल कलकत्ता पहुंचा था। उसी दिन उसने २७ अक्तूबर तक सम्पूर्ण भारत को क्रान्तिकारियों से मुक्त कराने का संकल्प ग्रहण कर एक नितान्त गहन और सुविचारित योजना बनाई। वह अपनी योजना को सफल बनाने हेतु प्राण-प्रण जुट से पड़ा। उसने मद्रास, श्रीलंका एवम् चीन से आई हुई सेना का ठीक मात्रा में विभाजन कर दिया। कासिम बाजार के शस्त्रागार में नवीनतम तोपें ही ढलवाई गईं। शस्त्रास्त्रों, खाद्यसामग्री, वस्त्र आदि की भी समुचित व्यवस्था की गई। इस विशाल सिद्धता में ही उसे दो मास का समय लग गया। इसी मध्य उसे समाचार प्राप्त हुआ कि अभी तक हेवलॉक और आउट्रम दोनों ही लखनऊ रेजीडेन्सी में बन्द हैं। अतः पतन की ज्वालाओं में दग्ध होकर पुनः उठनेवाले लखनऊ की स्थिति स्वतः अवलोकन करने के निमित्त

सर कॉलिन केम्पबेल

केम्पबेल ने २७ अक्तूबर को कलकत्ता से लखनऊ के लिए प्रस्थान कर दिया।

उसने अपने प्रस्थान करने के साथ ही साथ एक नौसैनिक बेड़ा कर्नल पावेल और विलियम पील के नेतृत्व में प्रयाग के जलमार्ग से भेज दिया। प्रयाग से कानपुर तक सभी बड़ी-बड़ी सड़कों पर क्रान्तिकारी भी इन अंग्रेज सैनिकों कीज मकर खबर लेते थे। किन्तु कुंवरसिंह के अनुयायियों ने अंग्रेजी नौसेना के सैनिकों की खबर लेने के लिए छापामार युद्धकला का आश्रय लिया था। वे भी छाया के समान अंग्रेज नौसैनिकों के आसपास मंडराते रहते थे और ज्योंही उन्हें समय मिलता था वे अंग्रेजों पर टूट ही नहीं पड़ते थे, अपितु उनमें से कुछ को सदैव के लिए ठिकाने भी लगा देते थे। इस प्रकार अंग्रेजों को आतंकित कर दिया गया था। उनके भी छक्के छूटने लगे थे। अंग्रेज सैनिक और अधिकारी भी इन क्रान्तिदूतों से प्रतिशोध लेने के लिए पूर्ण प्रयास करते थे। कजवा नदी के तट पर तो क्रान्तिकारियों से लोहा लेते समय अंग्रेजी सेना के कर्नल को अपने प्राण भी समर्पित करने पड़े थे। कर्नल पॉवेल के रक्त से जिस दिन क्रान्तिकारियों ने अपनी पिपासा शान्त की उसी दिन केम्पबेल कानपुर पहुंचने में भी सफल हो गया। अंग्रेजी सेना को क्रान्तिकारियों ने किस प्रकार नाकों चने चबाए होंगे, इसका अब सेनापति केम्पबेल को भी स्वतः परिचय मिल रहा था।

एक दिन सर केम्पबेल प्रयाग से एक गाड़ी द्वारा कानपुर की ओर जा रहा था, क्योंकि इस सम्पूर्ण अंचल में अंग्रेजों को कोई वाहन प्राप्त हो पाना भी असंभव ही हो गया था। उसी मार्ग से १०-१२ हाकिमों सहित क्रान्तिकारी सैनिकों का एक दल भी से गुजर रहा था। इस दल में कुछ अश्वारोही भी थे। इधर केम्पबेल अकेला था। जिस समय केम्पबेल की गाड़ी शेरघाटी पहुंची, तो उसी समय उसे यह सूचना भी प्राप्त हुई कि क्रान्तिकारी भी एक अन्य मार्ग से होते हुए वहां पहुंच रहे हैं। 'पाण्डे' के अनुगामी इन क्रान्तिदूतों के लिए गाड़ी में क्या सामान है यह जानना आवश्यक तो नहीं था, किन्तु फिर भी गाड़ी के सामान को जानने की इच्छा तो उनमें अवश्य ही थी। सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय का स्वप्न लेकर प्रस्थान करनेवाले इस सेनापति के कानपुर की दिशा में आगे बढ़ते ही क्रान्तिकारियों के दस्ते से मुठभेड़ हो जाने का अवसर उपस्थित हो रहा था। गोरे सेनापति ने तत्काल ही अपनी गाड़ी पीछे मोड़ देने का आदेश दिया। उस गाड़ीवाले के एक इंगितमात्र पर ही केम्पबेल का कचूमर निकल सकता था। कुछ ही मिनट का विलम्ब हो गया अन्यथा केम्पबेल को बन्दी होकर कुंवरसिंह की सेवा में उपस्थित होना पड़ता और यह भी संभव था कि उसे दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने के स्थान पर नर्क में ही अपने लिए स्थान खोजने पर बाध्य होना पड़ता।

समय ने केम्पबेल को इस महान संकट से बचा दिया। वह ३ नवम्बर को

सकुशल कानपुर पहुँच गया। वहाँ उसने ब्रिगेडियर ग्रन्ट के नेतृत्व में अधिकाधिक संख्या में सैनिकों का सचय करना आरम्भ कर दिया। उपरोक्त नौसैनिक दल भी येन केन प्रकारेण कानपुर जा पहुँचा था। इसी बीच में दिल्ली के क्रान्तिकारियों की शक्ति को विशृंखलित कर देने में सफलता प्राप्त कर ग्रेट हेड भी अपनी सेना सहित वहाँ जा पहुँचा। दिल्ली के क्रान्तिकारियों की शक्ति को तोड़ देनेवाले ग्रेट हेड ने जिस तथाकथित वीरता का प्रदर्शन किया था वह तो प्रयागवालों की शूरता की करतूतों से भी कहीं अधिक भयंकर थी। यह भी कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ग्रेट हेड की वीरता पूर्णतः अनुपम थी। क्रान्ति के पुनीत प्रारम्भ से नवम्बर मास के आरम्भ तक दिल्ली प्रान्त पर क्रान्तिकारियों का ही पूर्ण अधिकार था। उस समय जनता को उन्होंने किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं दिया था। स्वयं अंग्रेजों ने भी इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है—"लोग निश्चिन्त और पूर्णतः निरापद रूप में अपना कृषिकार्य करते थे। क्रान्तिकारियों ने कहीं भी जनता को आवश्यकता से अधिक कष्ट नहीं दिया। इतना ही नहीं उन्होंने सम्पूर्ण प्रान्त में बलात् तो कहीं भी कुछ नहीं किया।"[१]

इस प्रदेश में सक्रिय क्रान्तिकारियों ने स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करनेवाले स्वयंसेवकों के योग्य ही वर्ताव किया-था। इसके विपरीत स्वतन्त्रता की भावना को ही समाप्त करने हेतु सक्रिय अंग्रेजों ने तो पराधीनता के पोषकों को शोभित होनेवाली सभी प्रकार की क्रूरता प्रदर्शित की। और यह सभी कुछ किया भी गया 'शान्ति स्थापना' के नाम पर। ग्रामों को जलाते हुए तथा मार्ग में मिल जानेवाले प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट मानव को फांसी के फन्दे पर लटकाते हुए, वन्य पशुओं और पक्षियों के तुल्य ग्रामीणों के नरमेध रचाते हुए ग्रेट हेड की सेना दिल्ली से कानपुर आई थी।

कानपुर में तो उसकी अत्याचारी सेना के साथ गोरी सेना और नौदल का भी संगम हो गया। और अब ब्रिगेडियर ग्रन्ट गंगा पार करने लगा। हे मातेश्वरी पुण्यतोमा गंगा, लखनऊ को मुक्त कराने के लिए कितने ही गोरे सैनिक तेरे तट पर उतर चुके हैं। हे स्वाभिमानी अवध ! अब तुझे भय प्रकम्पित करने के लिए अंग्रेजों की विशाल वाहिनी आ पहुँची है तो क्या अब तू भयभीत होकर लखनऊ के कारागार में बन्दी गोरे सैनिकों को मुक्त नहीं कर देगा ?

ब्रिगेडियर ग्रन्ट के नेतृत्व में ५००० सैनिक और अनेक ऊंट थे और साथ ही लखनऊ के अंग्रेजों और सैनिकों के लिए भी उसने पर्याप्त मात्रा में खाद्यसामग्री संग्रहीत कर ली थी। जिस समय ग्रन्ट के आलम बाग तक पहुंच जाने का समा-

---

१. 'नेरेटिव्ह आफ दि इण्डियन म्युटिनी'

चार प्राप्त हुआ तो केम्पवेल ने भी कानपुर से बढ़कर गंगा नदी को पार कर लिया। अपने पृष्ठभाग की रक्षा का दायित्व उसने सिख सैनिकों और यूरोप के युद्धों में प्रशंसा प्राप्त करनेवाले एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी विडेहम के नेतृत्व में चुने हुए अंग्रेज सैनिकों को सौंप दिया था। सर केम्पवेल भी ९ नवम्बर को आलमबाग के समीप मुख्य अंग्रेजी सेना के साथ आकर मिल गया। उसने वहाँ सम्पूर्ण अंग्रेज सेना का निरीक्षण कर उनके पृथक-पृथक विभाग किए और संयुक्त आक्रमण की योजना निर्माण की। इस योजना के अनुसार ही १४ नवम्बर को लखनऊ पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया गया। इससे पहले ही केव्हेना नामक एक गोरा अपने मुख पर काला रंग पोतकर पहरेदारों को धोखा देने में सफलता प्राप्त कर अंग्रेजों के बन्दीगृह अथवा रेजीडेन्सी में पहुंचने में भी सफल हो गया था। उसे रेजीडेन्सी में भेजे जाने का एक ही उद्देश्य था कि यह पता लगा लिया जाए कि रेजीडेन्सी में आत्मरक्षा की क्या व्यवस्था है ? इसके साथ-ही-साथ उसने वहां रहनेवालों को आक्रमण के सम्बन्ध में भी पूर्णतः अवगत कराना था। इससे पूर्व भी वह केम्पवेल और आउट्रम को एक दूसरे के सन्देश पहुंचाने में सफल हो गया था। अब रेजीडेन्सी और लखनऊ स्थित अंग्रेजी सेना के शिविर में १४ नवम्बर की तिथि के आगमन की अपलक प्रतीक्षा की जा रही थी। योजना यह बनाई गई थी कि आउट्रम और हेवलॉक रेजीडेन्सी से निकलकर क्रान्तिकारियों पर आक्रमण करेंगे और दूसरी ओर से केम्पवेल की सेना उनपर टूट पड़ेगी। अंग्रेजों की सैनिक छावनी में भी १८५७ के अब तक हुए संग्राम में ख्याति प्राप्त सेनानी और योद्धाओं का समूह एकत्रित था। हेवलॉक, आउट्रम, नील (नौ सेना प्रमुख), ग्रेंट हेड, दिल्ली से आया हुआ हडसन, होपग्रन्ट, आयर और स्वयं सेनापति केम्पवेल भी वहाँ विद्यमान थे। और इतना ही नहीं इन्हीं के साथ हाइलैण्डर सैनिक, रेजीडेन्सी की घिरी हुई रणभूमि में कूद पड़ने के लिए उत्साही आउट्रम के गोरे शूरवीर, देशद्रोही पंजाबी युवक, और दिल्ली में मातृभूमि के रक्त से अब तक सरोवार होनेवाली तलवारों को संभालनेवाले इन सबसे अधिक 'राज्यनिष्ठ' सिख सिपाही भी तो वहाँ आ धमके थे।

इस प्रकार इन सबने संगठित रूप से लखनऊ पर धावा बोल दिया। दिन-भर ही मुठभेड़ें होती रहीं। सायंकाल तक अंग्रेजी सेना दिलखुशा बाग तक पहुंच पाने में सफल हो गई। केम्पबेल ने भी रात्रि में वहीं पड़ाव डाल लेना उचित समझा। रात्रि में भी क्रान्तिकारी सेनाओं के आक्रमण जारी रहे, किन्तु अंग्रेज सेना भी वहीं जमी रही। दूसरे दिन पुनः व्यूह-रचना की गई और १६ नवम्बर को अंग्रेज सैनिकों ने पुनः दूसरा धावा बोल दिया। तूफान के समान प्रचण्ड गति से अंग्रेजी सेना ने सिकन्दर बाग पर धावा बोल दिया। बाग तक पहुंचने के समय में तो

क्रान्तिकारियों ने कोई विशेष प्रतिकार नहीं किया था। किन्तु अब उनका नेता चाहे जो कोई भी हो, उसने अपने प्रचण्ड रणकौशल का प्रदर्शन किया। जिस समय हेवार्ड के नेतृत्व में हाईलैण्डरों तथा पॉवेल के नेतृत्व में सिखों ने भीषण रणगर्जना करते हुए धावा बोला तो एक बार तो ऐसा ही प्रतीत होने लगा कि मानों क्रान्तिकारियों का कचूमर ही निकलने वाला है। उधर सूबेदार गोकुलसिंह भी अपनी तलवार को नचाता हुआ क्रान्तिकारियों का आह्वान् कर रहा था कि हाइलैण्डर्स को कदापि आगे न बढ़ने देना। हाँ, अभागे लखनऊ आज तो इस बात के लिए होड़ लग गई है कि हिन्दू भूमि का कौन अधिक-से-अधिक मात्रा में रक्त-पान करता है। इसी होड़ में विजयी होने के लिए सिख और हाईलैंण्डर्स पूर्ण उत्साह से संग्राम में जुट पड़े थे। किन्तु इतने पर भी तो सिकन्दर के गोल-पत्थर अपने स्थान से तिल-भर नहीं खिसक रहे थे। उन्हें भी येन-केन प्रकारेण तोड़ा गया तो अब पाषाणों से भी कठोर क्रान्तिकारी सैनिक वहाँ शिलाखण्डों के समान ही जमकर जूझ पड़े। अंग्रेज सैनिकों के मार्ग में तो वे मानों पाषाण निर्मित प्राचीर ही बन गए थे। सिख और हाइलैण्डरों में आगे बढ़ने की होड़ जारी थी। अन्ततः एक सिख को इन वीरों की पंक्ति तोड़कर आगे बढ़ने में सफलता मिली। किन्तु उसी समय इस देशद्रोही को यथायोग्य पुरस्कार भी प्राप्त हो गया। एक गोली सनसनाती हुई निकली और उसकी छाती में सूराख बनाकर निकल गई। उसके गिरते ही कूपर ने भीतर प्रवेश किया और उसीके पीछे ईवार्ट, कैप्टन लेप्सडन, सिख सैमिक और हाइलैण्डर भी क्रान्तिकारियों की रक्षापंक्ति को तोड़कर आगे बढ़ चले। इन अंग्रेज अधिकारियों और उनके सैनिकों को इतनी फुर्ती सहित आगे बढ़ते हुए देखकर क्षण-भर के लिए तो क्रान्तिकारी सैनिक भी आश्चर्यचकित रह गए। किन्तु जिस क्रान्तिकारी वीर ने उस दिन सिकन्दर बाग की रणभूमि में व्यूहरचना की थी वह कोई पांचों सवारों में से -एक की श्रेणीवाला नहीं था। पीठ दिखाने की तो कल्पना तक भी कभी उसके मन में नहीं आ पाई थी।

विजय अथवा मृत्यु, ये शब्द उसी नरपुंगव के मुख से उच्चारित किए जाने पर शोभित होते हैं, जो स्वतन्त्रता के लिए रणभूमि में अवतरित होता है। सबसे आगे था कूपर। भला उसको यमलोक पहुंचाने का पावन कार्य लुधियाना के क्रान्तिकारियों के नेता के अतिरिक्त और कौन पूर्ण कर सकता था। कूपर पर दृष्टि गड़ाकर वह उस पर टूट पड़ा। तलवार-तलवार से टकराई और खन्, खन्, खन् का शब्द प्रतिध्वनित हो उठा। गहरे वार लगाये, अतः दोनों ही धराशायी हो गए। उसी समय लैप्सडेन अपनी तलवार चमकाते हुए गरज उठा "क्या देख रहे हो, स्काटलैण्ड की परीक्षा की घड़ी है, आगे बढ़ो।" कितनी अभद्रता, यह कह रहा है कि स्काटलैण्ड की प्रतिष्ठा के लिए आगे बढ़ो, तो क्या हिन्दुस्थान

की कोई प्रतिष्ठा नहीं है ? स्काटलैण्ड की प्रतीष्ठा का आह्वान् सुनकर और कोई आगे आ पाता कि इसके पूर्व ही एक क्रान्तिकारी आगे बढ़ा और उसके एक ही प्रहार में लेप्सडेन की मृत काया धरती पर लुढ़कती हुई दिखाई पड़ी। रक्त की सरिता प्रवाहित हो उठी। इधर क्रान्तिकारी इन नरमुण्डों की बलि काल ले रहे थे तो दूसरी ओर से अंग्रेजी सेना परकोटा तोड़कर भीतर घुस जाने में सफल हो गई। बस अब बाग का मोर्चा भी ध्वस्त हो गया। सिकन्दर बाग में संग्रामरत सिंह सपूतो, कोई चिन्ता नहीं कि विजय भी तुमसे विमुख हो रही है, किन्तु तुम जूझते रहो, विजयश्री का वरण नहीं हो पाता, न सही किन्तु तुम्हें अपनी मातृभूमि की प्रतिष्ठा तो रखनी ही होगी! प्राण जाते हैं तो जाने दो किन्तु हिन्दुस्थान की आन, बान और शान को तुम्हें अक्षुण्ण रखना ही है। प्रत्येक द्वार, प्रत्येक चौराहे, यहां तक कि चप्पे-चप्पे पर तलवारों से तलवारें टकरा रही थीं। रक्त के पतनाले बह रहे थे। इस दृश्य का वर्णन मेलिसन ने इन शब्दों में किया है:

"सिकन्दर बाग का युद्ध रक्तरंजित और घमामान था। विद्रोहियों में निराशा थी। फिर भी वे जमकर लड़ रहे थे। हमारे सैनिकों ने भीतर प्रवेश किया, किन्तु इसी से युद्ध नहीं रुका। एक-एक कक्ष, प्रत्येक सीढ़ी, प्रत्येक बुर्ज, और उसके सामने कोने के लिए तुमुल संग्राम हुआ। जिस समय आक्रमणकारियों ने बाग पर अधिकार किया, उस समय उसके चारों ओर २००० क्रान्तिकारियों के शव पड़े हुए थे। कहा तो यहां तक जाता है कि उस बाग के रक्षकों में केवल चार ही बचे थे, किन्तु यह बात असन्दिग्ध है।"[१]

सिकन्दर बाग को स्वतन्त्र रखने हेतु प्राण विसर्जित करनेवाले दो सहस्र शहीदों! यह कृतज्ञ इतिहास रचना तुम्हारी शौर्य स्मृति में सर्मपित! दो सहस्र नरवीरों का ऊष्ण रक्त! यह इतिहास उसी पर न्यौछावर। हे स्वदेश के लिए रण करनेवाले सिद्ध रणशूरों। तुम कहां थे? तुम्हारे नाम क्या थे? साधना की उज्ज्वल ज्योति के तुम्हारे हृदय मन्दिर में प्रज्वलित होने पर जिसने तुम्हारा नेतृत्व किया, वह महान वीर कौन था, जिसने तुम्हें इस घोर संग्राम में कूद पड़ने की पावन-प्रेरणा प्रदान की थी। हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हे क्रान्तिदूतों मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व सर्मपित करनेवाले हुतात्माओं, हम तुम्हारा नाम, ग्राम कुछ भी तो नहीं जानते। तो फिर मेरी यह इतिहास-रचना तुम्हारी गुमनाम स्मृति को ही सर्मपित! विजय तो तुम्हें नहीं मिली, किन्तु तुमने अपनी आन पर आंच नहीं आने दी! तुम्हारे प्रबल पराक्रम से हमारे अतीत की कीर्ति

---

१. मलेसन-कृत 'म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ १३२

को चार चांद लगे हैं। यह हमारे भविष्य की प्रेरणा और चैतन्य की निधि वनेगी।

हे स्वातन्त्र्य वीरो ! तुमने अपनी आन को अकलंक रखा। यह तो उत्तम ही था, किन्तु सिकन्दर वाग का यह आत्मार्पण यदि तुमने इससे योग्य अवसर पर कर दिया होता तो विजयश्री निश्चित रूप से ही तुम्हारा वरण करती। किन्तु अव तो तुम्हारे शत्रुओं की शक्ति अनन्त हो गई है। सहस्रों नवीन सैनिक उनकी ओर से युद्ध में भाग लेने के लिए आ गए हैं। दिल्ली की पराजय से उनपर युद्ध का दवाव वहुत वड़ी मात्रा में कम हो चुका है। इस विजय ने उनके धैर्य में वृद्धि कर दी है। इसके विपरीत पराजय से तुम्हारे हृदय वैठे होंगे। लखनऊ की यह भूमि भी कितनी भी कितनी पथरीली है कि दो सहस्र हुतात्माओं के रक्त से प्रवाहित होने-वाली सरिताओं द्वारा भी उसे उर्वरा वना पाने में सफल हो पाने में सन्देह ही है। दुर्वल रेजीडेन्सी पर प्रथम प्रहार में ही यदि तुम "विजय अथवा मृत्यु" का जयघोप करते हुए जीवट सहित आगे वढ़ते चलते तो दो ही घड़ी की वात थी कि स्वाधी-नता का मुकुट भारतमाता के पावन मस्तक पर सुशोभित करने में सफलता मिल जाती। तुमने पूर्ण निष्ठासहित आत्मसमर्पण का पावन संकल्प ग्रहण कर मृत्यु का आलिंगन किया है, यह तो सत्य है, किन्तु वह 'दिव्य क्षण' तो तुमने खो ही दिया था। वह समय, वह स्वर्ण सन्धि तुम्हारे हाथों से निकल गई सो निकल गई। क्रान्ति-युद्ध में एक क्षण के विलंव से ही जो महान हानि होती है वह तो प्रायः युग-युग तक कष्ट उठाने से भी पूर्ण नहीं हो पाती। उस समय तो तुम्हारे रक्त की प्रत्येक वूंद विजय माला का सुमन सिद्ध होती किन्तु अव तो रक्त के ये फव्वारे, नहीं-नहीं रक्त का सिन्धु, तुम्हारी कीर्ति लहर को ही अमरत्व प्रदान करेगा। किन्तु यश-प्राप्ति। वह तो आकाश कुसुमवत होकर रह गई है। क्रान्ति के झंझावात में क्षण-मात्र की ही ढील तो सम्पूर्ण योजना का महल ध्वस्त कर देती है। एक पग पीछे पड़ते ही आपदाओं के शैल शिखर मार्ग में उठ खड़े होते हैं। विपत्तियों की शैल मालाएं सिर पर आ पड़ती हैं। जीवन के प्रति क्षण-भर का मोह ही तो निश्चित रूप से ही आदर्श को मृत्यु के गहरे गर्त में फंसा देता है।

सिकन्दर वाग के समान ही अन्य अनेक रणभूमियों में भी रक्त की सरिताएं प्रवाहित हो रही थीं। दिलखुश वाग, आलमवाग और शाह नजफ में भी रक्त की सिंचाई से लाशों की फसल उग रही थी। सहसा ही अरुणोदय होते ही लखनऊ में घण्टे घनघना उठे। मारू वाजे वज उठे, घायल लखनऊ ने एक वार पुनः शत्रु से जोरदार टक्कर ली। आज मोतीमहल में जो घनघोर संग्राम छिड़ा वह कल नजफ-गढ़ में हुए प्रचण्ड संग्राम से रंचमात्र भी कम दुर्धर्ष नहीं थी। किन्तु अन्ततः अंग्रेज ही प्रवल सिद्ध हुए और रेजीडेन्सी में वन्दी पड़े अपने वन्धु-वान्धवों को मुक्त करा

लेने में अंग्रेज सेना सफल हो गई। १७ से २३ नवम्बर तक लखनऊ के चप्पे-चप्पे में रण ताण्डव हुआ और घेरे में बन्दी अंग्रेजों से घेरे को तोड़ने वाले मिलने में सफल हो गए। जिस रेजीडेन्सी पर अभी तक मातम की घटाएँ उमड़ी हुई थी उसी में अब सुख की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठी। इतने पर भी क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों की इस विजय को तुच्छातितुच्छ ही समझा, यद्यपि शत्रु की दोनों सेनाएं अब मिलकर एक हो चुकी थीं। समग्र लखनऊ नगर रक्त का फाग खेल चुका था। इतने पर भी किसी क्रान्तिकारी के मुख से आत्मसमर्पण का स्वर भी उच्चारित नहीं हो पाया था। उनके इसी हठीलेपन और रण-कौशल से ही युद्ध का अन्त अभी भी अनिर्णीत ही था। अतः सर केम्पबेल ने पुनः व्यूह-रचना की। रेजीडेन्सी के सभी सैनिक उसने दिलखुशा बाग में भेज दिए। आलम बाग में चार सहस्र सैनिकों और २५ तोपों के एक दस्ते को आउट्रम के नेतृत्व में नियुक्त कर दिया। इस प्रकार तुमुल संग्राम की पूर्ण सिद्धता हो गई थी। प्रधान सेनापति ने भी अंग्रेजी सेना के शौर्य, पराक्रम, अनुशासन तथा आज्ञापालन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस प्रशंसा का एक बड़ा अंश हेवलॉक को ही प्राप्त हुआ था।

किन्तु, इस सुनिश्चित तथा अपूर्व विजय के आनन्द में मग्न अंग्रेजी सेना के प्रिय हेवलॉक ने भी धरा धाम से पलायन कर दिया। सहसा ही उसके प्राण पखेरू उड़ गए। लखनऊ की चिलचिलाती धूप, अहर्निशि सताने वाली चिन्ता, एवं बढ़ती निराशा हेवलॉक का स्वास्थ्य तो चाट ही चुकी थी। ठीक विजयपूर्ति के क्षणों में ही उसने सदैव के लिए अपनी आंखें मूंद लीं। २३ नवम्बर को उसके आकस्मिक निधन से अंग्रेजी सेना के आनन्द सिन्धु में भी विष मिल गया। किन्तु, इस पर भी यह अवसर मरने वाले पर शोक में अश्रु प्रवाहित ही करते रहने का तो नहीं था। अपितु यह घड़ी तो उसके अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने की थी। हेवलॉक ने लखनऊ पर अधिकार करने के कार्य में लगकर अपने प्राण न्यौछावर किए तो उसका वास्तविक स्मरण, उसकी सच्ची स्मृति तो लखनऊ पर विजय ध्वज फहराते रखने में ही है।

किन्तु यह क्या, लखनऊ पर विजय पताका फहराने के लिए प्रस्थान से भी पूर्व कानपुर के समीप ही तोपों के मुख आग के गोले कैसे उगलने लगे हैं। अरे ! ऐसी छोटी-सी बात पर भला ध्यान ही कौन देता है ! जब तक यूरोप के रणस्थलों में ख्याति प्राप्त करने वाला विंडहम यहां विद्यमान है तो भला केम्पबेल को तोपों की इस गड़गड़ाहट से चिन्ता भी कैसे उत्पन्न हो सकती है। भला कौन होगा ऐसा क्रान्तिकारी जो विंडहम से भिड़ने, उससे लोहा लेने का प्रचण्ड शौर्य प्रदर्शित करेगा। परन्तु यह क्या, ये दूत तो कानपुर पर तात्या टोपे द्वारा आक्रमण कर

दिए जाने का समाचार लेकर आए हैं।

कानपुर और तात्या टोपे ! अब केम्पबेल के समक्ष तोपों की गड़गड़ाहट का अर्थ स्पष्ट होता जा रहा था। उसने तुरन्त ही लखनऊ पर आक्रमण सम्बन्धी सम्पूर्ण दायित्व आउट्रम को सौंप दिया और स्वयं कानपुर में तात्या टोपे की गतिविधियों का अवलोकन करने के लिए प्रस्थान कर गया। ●●●

: ६ :

तात्या टोपे

१६ जुलाई को कानपुर में विद्रोहियों के पराजित हो जाने पर नानासाहब ने ब्रह्मावर्त प्रस्थान कर दिया था। १५ जुलाई की रात्रि में विठूर के राजमहल में भावी योजनाओं पर विचार-विमर्श करने के उपरान्त अगले दिन प्रातःकाल ही नानासाहब को अपने छोटे भाई बालासाहब, भतीजे रावसाहब, परम आज्ञाकारी तात्या टोपे, राजपरिवार की महिलाओं और कुछ खाद्यसामग्री सहित नानासाहब गंगाजी के पावन तट के समीप जल में खड़ी सुसज्जित नौकाओं की ओर बढ़ते हुए लोगों ने देखा था। उनका इरादा फतहपुर जाने का था। वे जब वहाँ पहुंचे तो उनके परम स्नेही चौधरी भूपालसिंह ने उनका अपने महल में भव्य और हार्दिक अभिनन्दन किया था। इधर हेवलॉक कानपुर पर घेरा डालने के उपरान्त लखनऊ पर आक्रमण करने की योजना बनाने में संलग्न था। किन्तु दूसरी ओर नानासाहब भी तो अपनी राजपरिषद् में हेवलॉक का सफल प्रतिरोध करने के लिए उठाए जानेवाले पगों के संबंध में परामर्श करने में ही लिप्त थे।

तात्या टोपे

उनकी राजपरिषद् में ही इस कठिन परिस्थिति में सही उपाय सुझाने की क्षमता रखनेवाला एक असाधारण बुद्धिवाला वीर पुरुष भी था। ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी कुशाग्र बुद्धि ऐसी ही उलझी हुई समस्याओं का समाधान खोजने में लगी रहती थी। अबतक तो तात्या टोपे ने एक सामान्य लिपिक के रूप में ही कार्य किया था। अब तक तो नानासाहब के राजदरबार में उसके लिए अन्य कोई कार्य ही उपयुक्त प्रतीत न हो पाया था। किन्तु स्वतन्त्रता की पावन ज्वालाओं के दहक उठते ही नानासाहब के राजदरबार में भी रायगढ़ के प्राचीन

राजदरबार के समान ही असाधारण, प्रतिभा, बुद्धि और सतर्कता तथा तेजस्विता उद्‌भूत हो उठी थी। सफलता प्राप्त करने के लिए नवअंकुरित साधना की आकांक्षा तथा चेष्टाएं आरम्भ हो गई थीं। उस समय तो नवीन सिंहासनों का सृजन किया जाना था, नवीन सेनाओं का गठन आवश्यक था। इतना ही नहीं, प्रतिदिन ही समरभूमि में अपने जौहर दिखाने का भी तो यही समय था। विजय की प्राप्ति से यदि एक ओर उल्लास था तो दूसरी ओर कानपुर की पराजय ने एक क्षोभ को जन्म दिया था। संपूर्ण वायुमण्डल में सन्नाटा छाया हुआ था। विगत अपमानों के प्रतिशोध की योजनाएं निर्माण की जा रही थीं। यह सन्नाटा तभी भंग हुआ जब क्रान्तिकारी दल की योजनाओं पर सविस्तर चर्चा का क्रम आरम्भ हो गया। यह था भी स्वाभाविक ही, क्योंकि तात्या टोपे की अभी तक सुसुप्त कर्मशक्ति अब जागृत हो उठी थी। इसलिए उसके मुख से तो साहसपूर्ण रणहुंकार ही होनी थी। अब तो उसे उन महान योजनाओं को क्रियान्वित करने की स्वर्ण-संधि उपलब्ध हो गई थी, जो अभी तक केवल उसके मन-मानस में ही किलोलें कर रही थीं। वस्तुतः यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि चातुर्यपूर्ण एवं मौलिक तथा सफल योजनाओं के नियमन में तात्या टोपे सर्वथा अतुलनीय और अनुपम ही सिद्ध हुआ।

तात्या टोपे की इच्छा थी कि कानपुर की पराजय के कारण जो सेना अस्त-व्यस्त हो गई है, उसे पुनः सुसंगठित रूप दिया जाए। अकाट्य तर्क, मानव-मन की नितान्तगूढ़भावनाओं के गुण-दोषों का सांगोपांग विश्लेषण और असाधारण व्यक्तियों में पाया जानेवाला साहस इन सभी लोकोत्तर गुणों की विद्यमानता ने तात्या टोपे को उच्छृंखल सैनिकों को एक ही दिन में सुसंगठित सेना के रूप में खड़ा कर देने का महान कार्य सम्पन्न कर देने की क्षमता प्रदान की थी। जब नए रंगरूटों का प्रसंग छिड़ा तो तात्या शिवराजपुर प्रस्थान कर गया और वहां उसने ४२वीं पलटन को अपने पथ का पथिक बना लिया। इसी समय हेवलॉक गंगा को पार कर लखनऊ को अपना शिकार बनाने की योजना बना रहा था। उसी समय तात्या टोपे ने भी उस पर पीछे से आक्रमण करके उसे सताने का संकल्प ग्रहण किया। इस कारण अंग्रेज सेनापति को कानपुर कैसे लौटना पड़ा, लौटने पर वह यह देखकर कैसे आश्चर्यचकित रह गया कि कानपुर के राजमहल में तो पुनः मराठों का सिरताज ही राज्यसिंहासन पर विराजमान है, लखनऊ में ही पुनः युद्ध करने पर अंग्रेज सेना कैसे विवश हुई और १६ अगस्त को क्रान्तिकारी किस तरह पराजित हो गए, यह सभी चर्चा तो विगत अध्याय में की ही जा चुकी है। पराजय के उपरान्त अपनी संपूर्ण सेनासहित तात्या ने किस भांति गंगाजी को पार किया तथा वह नानासाहब से जा मिला। अब तो नवीन सेना की भर्ती का प्रश्न सामने उपस्थित था। शिंदे की 'राजनिष्ठा' के कारण उसकी संपूर्ण सेना ही

स्वतन्त्रता की पावन ज्वालाओं से धधकते हुए अपने हृदय लिए बैठी हुई विवशता में हाथ हीं मल रही थी। अतः किसी-न-किसी व्यक्ति का ग्वालियर जाना आवश्यक था। किन्तु इस कार्य के लिए भीं उस महान मराठा वीर से अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था, जिसने कुशल जादूगर के समान अपने अनुयायियों को मन्त्रमुग्ध-सा किया हुआ था। इतना ही नहीं अपितु जिसने अंग्रेजों की सेवा में नियुक्त संपूर्ण पलटन को भी विद्रोही बनाकर अपने इंगित-मात्र पर चलने के लिए सिद्ध कर दिखाया था। अतः तात्या टोपे ने ही ग्वालियर में महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। वह नरपुंगव ग्वालियर जा पहुंचा। कुछ हीं दिनों में उसर्ने मुरार की छावनी के पैदल, अश्वारोही सैनिकों ही नहीं अपितु तोपखाने को भी अपने पक्ष मे कर लिया था। वह उन सबको लेकर कालपी भी जा पहुंचा। कालपी सैनिक दृष्टि से एक नितान्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतः क्रान्तिकारियों के लिए भी यह स्थान नितान्त हीं उपयुक्त था। कानपुर और कालपी के मध्य प्रवाहित होती हुई यमुना नदी भी अंग्रेजों के लिए एक प्राकृतिक प्रतिवन्ध ही सिद्ध हो रही थी। कानपुर के उपरान्त कालपी ही क्रान्तिकारियों के लिए सर्वाधिक संरक्षित स्थान है, यही विचार कर तात्या टोपे ने कालपी के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। जव नानासाहब कौ यह शुभ सूचना प्राप्त हुई तो उन्होंने भी कालपी को ही अपना केन्द्र वनाने का निश्चय कर लिया और श्रीमन्त बालासाहब को अपना प्रतिनिधि बनाकर वहां भेंज दिया। अव इस दुर्ग की व्यवस्था श्रीमंत ने संभाल ली थी, अतः वीरवर तात्या टोपे भी अंग्रेजों पर आक्रमण करने की योजना वनाने में दत्तचित्त होकर जुट गए।

उन दिनों कानपुर की अंग्रेजी सेना का सेनापति था सुप्रसिद्ध जनरल विंड्हम। अपनी सेना के कुछ सैनिकों को कानपुर में छोड़कर ही केम्पबेल ने लखनऊ की ओर प्रस्थान किया। तात्या ने भी इस स्थिति को स्वर्ण सन्धि समझा। लखनऊ के क्रान्तिकारी इस स्थिति में थे कि वे केम्पवेल की विशाल वाहिनी को वहीं उलझाएं रखे। उधर जनरल विंडहम के लिए भी अन्य किसी स्थान से सहायता प्राप्त कर पाना संभव नहीं था। तात्या टोपे की यही योजना थी कि इसी समय उसपर आक्रमण कर दिया जाए। तात्या को बालासाहब की अनुमति भी प्राप्त हो गई। कल का निर्धन ब्राह्मण लिपिक ही तो आज पेशवा की सेना का सेनापति बन चुका था। जिस विंडहम ने अपनी सम्पूर्ण आयु ही यूरोप के रणस्थलों में खाण्डे खटकाते हुए गुजारी थी उसी को यमुना नदी को पार कर खुले मैदान में तात्या टोपे ने घेर लिया था। और जब उसने यह अदम्य साहस प्रदर्शित किया तो उस समय उसके पास शक्ति भी कौन-सी थी। हां, वही सिपाही तो थे जो अभी-अभी विद्रोही बने थे, जो अभी तक पूर्णतः संगठित भी नहीं हो पाए थे। इन सैनिकों के अतिरिक्त

कुछ अनाड़ी ग्रामीण और कृषक भी तात्या टोपे की सेना में सहर्ष योगदान देकर रण-आह्वान कर रहे थे। एक ओर थे पूर्णतः सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त अंग्रेज सैनिक तो दूसरी ओर थे तात्या के नौसिखिए। फिर भी दोनों सेनाओं में जमकर युद्ध हुआ। जब स्वतन्त्रता की पावन ज्योति हृदय में जगमगा उठती है तो प्रतिपक्षी की पूर्णतः सुसज्जित सेनाओं से भी मातृभूमि के दीवाने कितने साहस से भिड़ते हैं, इसका उदाहरण ही इस संग्राम ने प्रस्तुत कर दिखाया। यदि कहीं तात्या के सैनिक भी अंग्रेज़ों के समान ही भली भांति प्रशिक्षण प्राप्त होते तो उन्हें कितनी महान् विजय प्राप्त हो सकती थी, इसका अनुमान भी इस दुर्धर्ष संघर्ष से बड़ी ही सर-लता सहित लगाया जा सकता था। ग्वालियर से सैनिकों को साथ लेकर तात्या टोपे ९ नवम्बर को कालपी जा पहुंचे थे। कानपुर और कालपी के मध्य केवल ४६ मील का ही अन्तर है। अंग्रेजी सेना की स्थिति का सही आकलन कर अपना कोष और अन्य सामग्री जालन में छोड़कर तात्या टोपे ने यमुना नदी को पार कर लिया। उसने कालपी की सुरक्षा के लिए ३००० सैनिकों और २० तोपों को छोड़ दिया। इसके बाद तात्या टोपे ने कानपुर के कुछ ग्रामों पर भी अधिकार कर लिया। यमुना को पार कर सीधे ही कानपुर पर आक्रमण करना भी तात्या टोपे की एक चाल ही थी। उसका निश्चय था कि जब तक उसे लखनऊ में क्रान्तिकारियों द्वारा केम्पबेल की सेनाओं को उलझा लिए जाने का समाचार प्राप्त नहीं हो जाएगा, वह विंडहम पर आक्रमण नहीं करेगा। जब उसे इस सम्बन्ध में निश्चित समाचार प्राप्त हो गया तो उसने मार्ग के महत्वपूर्ण स्थानों पर अपनी विजय पताका फहराते हुए शिवराजपुर पर भी धावा बोल दिया। उसने १९ नवम्बर तक ब्रिटिश सेना की रसद आदि पर अधिकार जमा लेने की योजना भी बनाई थी। किन्तु कानपुर का अंग्रेज सेनापति भी तो भांग खाकर मस्त नहीं पड़ा था। अंग्रेजों की जो सेना कल-कत्ता से आई थी उसे उसने कानपुर में ही रोक लिया था और कार्थ्यू के नेतृत्व में अंग्रेज सैनिकों को कालपी के मार्ग पर मोर्चा लगाने के लिए भेज दिया था। वह स्वयं तात्या टोपे की गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन करने में तल्लीन था। क्या अब तात्या टोपे अवध पहुंचकर केम्पवेल की सेना के पृष्ठ भाग को उससे काट देगा, अथवा वह कानपुर पर आक्रमण करेगा ? यह प्रश्न-चिन्ह विद्यमान था।

विंडहम भी तो कोई निकम्मा व्यक्ति था नहीं, जो हाथ पर हाथ धरे ही बैठा रहता। अपनी साहसी एवम् लड़ाकू प्रवृत्ति के कारण उसके लिए ऐसा कर पाना सर्वथा असम्भव था। उसका तो यह विश्वास था कि अंग्रेजों की सेना भारतीयों से ही नहीं एशिया के किसी भी देश की सेना से श्रेष्ठ है। उसकी तो यह मान्यता थी कि एशिया के किसी भी देश की सेना को पराजित करने का अचूक तरीका है एक भयंकर आक्रमण कर देना।

अब तक सभी अंग्रेज यह मानते आए थे कि "तुम चाहे जितने भी बलिष्ठ क्यों न हो, यदि आक्रमण करने में तुमने तनिक-सा भी संकोच प्रदर्शित किया, तो ये एशियाई सैनिक इतराने लग जाते हैं, आत्मविश्वास के साथ अपने बलविक्रम की शेखी बघारने में लग जाते हैं, इतना ही नहीं अपितु आक्रमण भी कर बैठते हैं। अतः उनकी अपेक्षा तुम्हारी स्थिति दुर्बल ही क्यों न हो, तुम साहस के साथ एक जोरदार आक्रमण कर दो, ये एशियावासी तो पराजय की आशंकामात्र के कारण ही रण छोड़कर भाग निकलेंगे।" इसी विश्वास के साथ उन्होंने अनेक बार आक्रमण कर सफलता भी अर्जित की थी। अंग्रेजों ने तो उपरोक्त धारणा को केवल धारणा ही न रखते हुए उसे नियम का ही रूप दे दिया था कि "तुम्हारा संख्या-बल चाहे कितना भी क्यों न हो, किन्तु विजय-प्राप्ति का अमोघ अस्त्र यही है कि अपने प्रतिपक्षी को धोखा दो, उसे प्रकम्पित कर दो।" भारत में आनेवाले प्रत्येक गोरे को ही यह नियम कण्ठस्थ करा दिया जाता था कि "मुट्ठी भर अंग्रेजों को भी तीर के समान एशियाई सैनिकों के विशाल समूह पर टूट पड़ना चाहिए और विजयश्री का वरण करना ही चाहिए।" प्रत्येक ब्रिटिश ग्रंथकार अपने ग्रंथ में भी इसी नियम का गुण गाता था। अतः इस प्रकार की विश्वास की घुट्टी का पान करके भारत आनेवाला विंडहम भला कैसे शान्त रह पाता। उसने तत्काल ही कानपुर से प्रस्थान कर दिया और वह कालपी के निकट स्थित नहर के पुल को पार कर आगे बढ़ चला।

उधर विंडहम बढ़ रहा था तो तात्या टोपे भी २५ नवम्बर को श्री खण्डी से प्रस्थान कर २६ को पाण्डु नदी के तट पर आ धमका था। शत्रु को सन्निकट समझकर अंग्रेजी सेना ने २६ नवम्बर को ही एशिया की अन्य सेनाओं के लिए प्रयोग किए गए नुस्खे का क्रियान्वयन करना आवश्यक समझा। विंडहम तीर के समान तेजी से बढ़ चला। क्रान्तिकारी सैनिक वनों छिपे हुए थे। वहीं से उन्होंने तोपें दागनी आरम्भ कर दीं। प्रचण्ड संघर्ष के उपरान्त अंग्रेजों को क्रान्तिकारियों की तीन तोपों पर अधिकार कर लेने में सफलता भी मिल गई। इस प्रकार विंडहम का यह विश्वास और भी अधिक प्रबल हो गया कि प्रचण्ड आक्रमण के आगे एशियावासी नहीं ठहर सकते। किन्तु विधाता ने तो विचित्र ही खेल दिखाया। अंग्रेजी सेना को ही पीठ दिखानी पड़ रही थी। एक क्षण में ही उसका विजय-स्वप्न विलुप्त हो गया और उसे पराजय के कलंक का टीका अपने मस्तक पर लगवाना पड़ा। इतना ही नहीं, तात्या के अश्वारोहियों ने विंडहम को कानपुर तक ही धकेल दिया। विंडहम का आक्रमण और विजय-प्राप्ति का सिद्धान्त धूल में मिल गया। अब तो भारतीय सेनापति तात्या टोपे ने ही आक्रमण कर अंग्रेजी सेना से दो-दो हाथ करने आरम्भ कर दिए। मॅलेसन ने लिखा है कि "विद्रोहियों की सेना

का नेता मूर्ख नहीं था। विंडहम के जोरदार आक्रमण से वह तनिक भी भयभीत नहीं हुआ, इसके विपरीत उसके मन में यह विश्वास जम गया कि अंग्रेज सेनापति इस समय भयभीत है।···तात्या टोपे ने एक मुद्रित और खुली हुई पुस्तक के समान विंडहम की स्थिति का पूर्णरूपेण सही-सही आकलन कर उसकी आवश्यकताओं को समझ लिया, और एक सिद्धहस्त सेनापति के तुल्य अन्तःप्रेरणा से ही उसने विंडहम की दुर्बलताओं से लाभ उठाने का निश्चय कर लिया।"[१]

गोरी सेना से २४ घण्टों तक सतत संघर्ष करनेवाली अपनी सेना को तात्या टोपे ने पुनः शत्रु पर धावा बोलने का आदेश दे दिया, किन्तु साथ ही यह भी निर्देश दिया कि जब तक शेवोली और शिवराजपुर की ओर से आ रहे क्रान्तिकारी सैनिकों के दस्ते अंग्रेजों की सेना के दाएं भाग पर अपनी तोपों से गोलाबारी न आरम्भ करदें तब तक वे प्रतीक्षा ही करते रहें। विंडहम ने भी अपनी सेना को सुव्यवस्थित किया था। प्रातःकाल ६ बजे तक भी क्रान्तिकारियों की कोई गतिविधि दृष्टिगोचर न हुई। उस समय अंग्रेज सैनिक कलेवा करने के लिए लौट पड़े, किन्तु ११ बजे पुनः मोर्चे पर आकर डट गए। अंग्रेज सेनापति अब भी तात्या की चाल का अनुमान लगाने में ही अपने मस्तिष्क को खपा रहे थे।

कुछ ही क्षणों के उपरान्त यह स्पष्ट हो गया कि तात्या टोपे के मन में क्या था। क्योंकि अब अंग्रेजी सेना के दाएं भाग पर तोपों के गोले आकर गिरने लगे थे तो तात्या भी सामने से ही अंग्रेजी सेना पर टूट पड़ा था। विंडहम ने तत्काल ही कार्थ्यू को ६ तोपों सहित बिठूर की रक्षा के लिए भेज दिया। इन आक्रमणों से अंग्रेजी तोपखाना भी उखड़ता-सा लगने लगा। तात्या टोपे द्वारा अपनी सेना की व्यूह-रचना अर्धवृत्त में की गई थी। उसकी चाल यह थी कि अंग्रेजी सेना पर दोनों ओर से कैंची के दो फलकों के समान बढ़ते हुए क्रान्तिकारी अंग्रेजी सेना को घेर लें। विंडहम ने व्यूह तोड़ने का तो जी तोड़ प्रयास किया, किन्तु तात्या की तोपों ने उसे एक पग भी आगे न बढ़ने दिया। अब तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि अंग्रेजी सेना पलायन ही करनेवाली है। जब अंग्रेजी सेना का बायां भाग तोपखाना छोड़कर पीछे हटा तो दाईं ओर की सेना के भी कदम उखड़ गए। जब अंग्रेज पीछे हटने लगे तो क्रान्तिकारी सेना के अर्द्धवृत्त ने पूर्ण घेरे का ही रूप ले लिया। सायंकाल ६ बजे तक क्रान्तिकारी अंग्रेजों का सफाया करते रहे। अंग्रेजी सेना के सहस्रों तम्बू और अन्य प्रयुक्त सामग्री क्रान्तिकारियों के अधिकार में आ गये। इस प्रकार आधे कानपुर पर तो तात्या टोपे की क्रान्तिकारी सेना ने अपना विजयध्वज फहरा दिया। इस भाँति युद्ध के देवता ने इस साहसी मराठा सेनानायक के गले में विजय

---

१. मॅलेसनकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ १५७

की दूसरी माला समर्पित करदी। कल के युद्ध में तो वह अप्रत्यक्ष रूप से ही विजयी हुआ था, किन्तु आज की विजय तो अधिक स्पष्ट, सुनिश्चित और वास्तविक थी। क्योंकि आज के इस युद्ध में शत्रु को पलायन करने पर विवश बना दिया गया था, और कानपुर पर क्रान्तिकारी सेना ने अधिकार ही कर लिया था। अंग्रेज इतिहासकार भी इस बात से सहमत हैं कि यदि तात्या टोपे के शौर्य और रण-कौशल में उसकी सेना के अनुशासन का भी योगदान हो जाता तो सम्भवतः तात्या टोपे विंडहम को मटियामेट ही कर देता।

अब तो स्थिति यह थी कि तात्या टोपे की तोपों की गडगडाहट से केम्पबेल के कानों के पर्दे भी फटने से लगे थे। तात्या को विश्वास था कि उसके कानपुर पहुँच जाने के उपरान्त लखनऊ के क्रान्तिकारी कम से कम एक मास तक तो केम्प-बेल को चैन की श्वांस नहीं लेने देंगे। किन्तु कतिपय अज्ञात कारणों से केम्पबेल ने बहुत शीघ्र ही लखनऊ के क्रान्तिकारियों को पराजित कर दिया। जब तात्या को यह सूचना मिली तो उसे विश्वास हो गया कि अब शीघ्र ही केम्पबेल उस पर आक्रमण कर देगा। उसने समझ लिया कि गंगा के दोनों तटों पर उसे परेशान किया जाएगा। तात्या चिन्ता मग्न हो गया तो विंडहम ने भी सोचा कि अब वह अपने खोए हुए यश को पुनः प्राप्त कर सकता है। परन्तु उसकी सेना भी थकी हुई थी। अतः रात्रि में छापा मारने के विचार को त्यागकर उसने अगले दिन प्रातःकाल आक्रमण करने का निश्चय किया। दूसरे दिन भगवान सूर्य के प्राची दिशा में उदित होने से भी पहले ही दोनों सेनाओं में मुठभेड़ आरम्भ हो गई। आज अंग्रेज सैनिक क्रान्तिकारियों के सामने से पलायन न करते हुए उनपर पूर्ण शक्ति-सहित धावे बोल रहे थे।

इतने पर भी अंग्रेजी सेना का दायां भाग अव्यवस्थित हो गया। क्रान्तिकारियों की तलवार ब्रिगेडियर विल्सन को चाट गई तो कैप्टन मार्फी भी मारा गया। मेजर स्टर्लिंग न रहा तो लैफ्टिनेन्ट गिब्बन्स भी धराशायी हो गया। अंग्रेज भी सोचने लगे कि एशियावासियों में कोई तात्या टोपे भी होता है। तीसरे दिन तात्या टोपे की सेना को पूर्ण विजय प्राप्त हो गई और दिवाकर के पश्चिम दिशा में अस्त हो जाने के बाद भी लड़ते रहनेवाली गोरी सेना को पूर्णतः साध कर दिया गया। अब सम्पूर्ण कानपुर पर ही तात्या की क्रान्तिकारी सेना का अधिकार हो गया था। इस प्रकार तात्या टोपे को तृतीय विजय प्राप्त हो गई थी और रणदेवता ने उसकी तलवार को एक और सुमनांजलि विजयमाल के रूप में समर्पित कर दी थी।[1]

---

१. इस पराजय का नितान्त ही रोचक वर्णन एक अंग्रेज अधिकारी ने इन शब्दों में किया है—आपको आज के संघर्ष का विवरण पढ़कर आश्चर्य होगा क्योंकि

जिस समय पराजित होकर अंग्रेज सैनिक तितर-बितर होकर भाग निकले उसी समय अंग्रेज सेनापति कॉलिन केम्पवेल भी अंग्रेजों की छावनी में दाखिल हुआ। उसने भी अपने नेत्रों से अंग्रेजी सेना को भागते हुए देखा, कानपुर में प्रवेश करती हुई विद्रोहियों की विजयी सेना को देखा। उनके रणसिंहों, ताशों और जयनाद को अपने कानों से सुना। अब उसे तात्या टोपे द्वारा कानपुर में किए गए संघर्ष का महत्त्व भली-भांति समझ में आ गया।

तात्या टोपे भी इस बात को भली भांति समझ गया था कि जिस बात का उसे भय था वह हो गई है, क्योंकि जिस गर्व के साथ कॉलिन कानपुर आया है, उसका कारण लखनऊ में क्रान्तिकारियों की सामर्थ्य में कमी आना ही है। क्रान्तिकारी हताश हो रहे थे। किन्तु तात्या टोपे हताश न था। उसने अयोध्या के समीप गंगाजी पर बना हुआ पुल उड़ा दिया था और अंग्रेजों का गंगा पार जाना असम्भव बना दिया था। उसने वहाँ तोपें भी सिद्ध स्थिति से खड़ी की हुई थीं। उन्हीं दिनों तात्या के शिविर में ही नानासाहब पेशवा और वीरवर कुवरसिंह भी आ पहुंचे। क्रान्ति के इन महान अग्रदूतों का मत था कि कानपुर छोड़कर हट जाने के स्थान पर अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति से रणभूमि में लोहा लेना ही श्रेयस्कर होगा। अब तो उन्हें तात्या टोपे सरीखे सुलझे हुए सेनापति का भी सहयोग मिल गया था, अतः इस योजना में परिवर्तन करने का कोई कारण ही नहीं रह गया था। तात्या टोपे ने अपनी सेना का बायां भाग कानपुर गंगा नदी के मध्य में स्थित सुरक्षित द्वीप, में नियुक्त कर दिया था। उसने अपनी सम्पूर्ण गतिविधियों का केन्द्र कानपुर को ही बनाया हुआ था। उसकी सेना का दायां भाग गंगा नहर के तट पर दूर तक फैला हुआ था और नहर के पुल पर भी उसी के सैनिकों का अधिकार था। उस समय उसकी सेना में पूर्णतः प्रशिक्षण प्राप्त १० हजार सैनिक थे। उन्हीके बल पर तात्या ने १ और २ दिसम्बर को केम्पवेल की सेनाओं से लोहा लिया था।

आपको विदित होगा कि अपने सम्मान चिन्हों, महान उपाधियों और नितान्त प्रसिद्ध शौर्य से मण्डित गोरे सैनिकों को पराजय मिली और घृणित एवं तुच्छ भारतीयों ने उनके तम्बू और सामग्री ही नहीं, प्रतिष्ठा का भी अपहरण कर लिया था। अब हमारे शत्रुओं को हमें पराजित फिरंगी कहने का अधिकार प्राप्त हो गया। हमारे सैनिक अपने उलट दिए गए तम्बुओं, फटे और जीर्ण-क्षीर्ण वस्त्रों तथा सामग्री और भागते हुए ऊंटों, हाथियों, अश्वों तथा नौकरों सहित भाग निकले। यह सम्पूर्ण घटना ही नितान्त लज्जाजनक और विषादपूर्ण है।"

चार्ल्स बालकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ १९०

इतना ही नहीं, २ दिसम्बर को तो केम्पबेल के शिविर पर ही तोपों से गोलाबारी की गई थी। अन्ततः केम्पबेल को २ दिसम्बर को क्रान्तिकारियों की खुले रण की चुनौती को स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा। उसने अपने ७००० सैनिकों की सराहनीय व्यूहरचना की और उन विद्रोहियों पर आक्रमण कर दिया, जिन्होंने अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति के शिविर पर आक्रमण का दुस्साहस किया था। क्रान्तिकारी सेना के दाएं भाग में कुछ ढिलाई का अनुमान लगाकर केम्पबेल उसी ओर चढ़ दौड़ा।

क्रान्तिकारियों का ध्यान विचलित करने की दृष्टि से अंग्रेजी सेना ने ६ दिसम्बर को प्रातःकाल ही विद्रोही सेना के बाएं भाग पर तोपों से गोलाबारी आरम्भ कर दी थी। इस कारण क्रान्तिकारियों को अपनी शक्ति उसी ओर केन्द्रित करनी पड़ी। कुछ ही समय उपरान्त ग्रेटहेड भी क्रान्तिकारियों के बीच घुस पड़ा और उसने वहाँ ऐसी उथल-पुथल की कि क्रान्तिकारियों को विश्वास हो गया कि अंग्रेजी सेना की सम्पूर्ण शक्ति उनकी बाईं ओर तथा मध्य में ही लगी हुई है। अब क्रान्तिकारियों ने भी अपना सर्वस्व देश पर लगा दिया। अंग्रेजी तोपों की प्रचण्ड गोलाबारी से क्रान्तिकारी सेना का बायां भाग सिकुड़ता ही जा रहा था। तभी अंग्रेज सैनिकों ने सहसा ही अपना मोर्चा बदला और वे क्रान्तिकारियों के दक्षिणी भाग पर टूट पड़े। किन्तु दाईं ओर ग्वालियर की क्रान्तिकारी सेना के सैनिकों ने सिखों और अंग्रेजों पर प्रचण्ड अग्निवर्षा आरम्भ कर दी। विद्रोही सैनिकों की बन्दूकों से भी गोली वर्षा की झाड़ियां लगी हुई थीं। अब सिखों ने दुगुने वेग से आक्रमण किया और उनके पीछे ही पील के नेतृत्व में गोरे सैनिक भी आगे बढ़ते रहे। जब ग्वालियर के क्रान्तिकारियों ने इस दोहरी मार को सहने में अपने आपको असमर्थ समझा तो वे पीछे हट जाने का विचार करने लगे। यह देखकर अंग्रेजों का उत्साह और आक्रमण का ज्वार और भी अधिक गतिमान हो गया। परिणामतः ग्वालियर के क्रान्तिकारी सैनिकों को पराजय का मुख देखना पड़ा। उनकी सारी तोपें तो अंग्रेजों ने छीन ही लीं, कालपी मार्ग पर भी उनका पीछा किया गया। इस प्रकार क्रान्तिकारियों के दाएं भाग को अंग्रेजी सेना ने पूर्णतः पराजित कर दिया। केम्पबेल को इस मोर्चे पर पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। किन्तु वह इतने पर भी आलस्यग्रस्त होनेवाला तो था नहीं। जिस प्रकार उसने दाईं ओर से क्रान्तिकारियों के कालपी जाने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था, उसी प्रकार बाईं ओर का भी मार्ग अवरुद्ध करके तात्या सेना को घेर लेने की उसने घात लगाई। अतः उसने ब्रह्मावर्त के मार्ग पर तो मेन्सफील्ड को नियुक्त कर दिया। उस दिन उपरोक्त एशियावासियों की क्षमता का सिद्धान्त आधा मिथ्या तो आधा सत्य सिद्ध हुआ। सेना के मध्य में ग्रेटहेड ने अचानक ही जो आक्रमण किया था। वह तो इतना

हलका था कि यदि उसका डटकर प्रतिकार किया जाता तो ग्रेटहेड के मुख पर एक करारी चपत जड़ दी जाती। यह चपत इतनी कठोर होती कि वह जीवन-भर उसे याद रखता। और उस दिन की विजय का रुख ही परिवर्तित हो जाता। परन्तु अंग्रेजों द्वारा किए गए सीधे आक्रमण का क्रान्तिकारी सैनिक सामना करने में असफल रहे। "जोरदार आक्रमण होगा और एशियावासी हताश और निराश होकर भाग जाएंगे" धारणा सत्य सी ही होती दिखाई दी। किन्तु सेना के बाएं भाग में इसका पूर्णतः विपरीत परिणाम ही सामने आया। छुपे-छुपे मेन्सफील्ड भी चक्कर लगा रहा था और उसके साथ ही भारी सेना भी थी। किन्तु नानासाहब ने स्वतः बाईं ओर के भाग का नेतृत्व किया। मेन्सफील्ड की धीमी चाल का उन्होंने पूर्ण लाभ उठाया। जब केम्पबेल ने यह पूछा कि अभी तक तात्या टोपे को मेन्सफील्ड ने अपने घेरे में ले लिया है अथवा नहीं तो उसे यह समाचार मिला कि मेन्सफील्ड की मन्दगति ने सारा खेल बिगाड़ दिया है। उसकी आशाओं पर तुषारापात हो गया और तात्या टोपे भी उसके हाथ से निकल गया। अब तो मराठा सेना ने मेन्सफील्ड को पीछे धकेलते-धकेलते ब्रह्मावर्त तक भगा दिया था। तात्या टोपे अंग्रेजी सेना के मोर्चों के जाल को तहस-नहस करता हुआ अपनी सेना और तोपखाने सहित ही अंग्रेजों के दांव से साफ बच निकला था। उस मराठा सिंह को अपने जाल में फंसाने के लिए अंग्रेजों को इस प्रकार के अनेक प्रयास करने पड़े थे।

उस दिन तात्या टोपे अपने सैनिकों और तोपखाने के साथ बचकर तो निकल गए थे, किन्तु होमग्रन्ट अभी भी उनका पीछा कर ही रहा था। ९ दिसम्बर को शिवराजपुर के समीप अंग्रेजी सेना की क्रान्तिकारियों से मुठभेड़ हो गयी। यद्यपि तात्या इस मुठभेड़ में भी अंग्रेजों के हाथ न आ सका, किन्तु उसे अपनी अनेक तोपों से अवश्य ही हाथ धोने पड़े। इस प्रकार ६ से ९ दिसम्बर तक की अवधि में अंग्रेजों ने विडहम की पराजय का प्रतिशोध तो ले लिया। उन्होंने क्रान्तिकारियों की ३२ तोपों पर अधिकार जमा लिया और उनके संगठन को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अनेक क्रान्तिकारी कालपी और अयोध्या की दिशा में भी पलायन कर गए। जब इतनी महान विजय प्राप्त हो गई तो उसके लिए छोटी-छोटी विजयों का महत्त्व ही क्या था। वह तो उन्हें अपने बाएं हाथ का खेल ही मानने लगा। केम्पबेल ने अब ब्रह्मावर्त पहुँचकर वहाँ लूट-मार की और नानासाहब के राजमहल को खण्डहर-सा बना दिया। उसने अपनी विजय के भवन पर कलश चढ़ाने के लिए वहां के सभी मन्दिरों को भी खण्ड-खण्डित कर दिया।

ब्रह्मावर्त का वही राजमहल उसने खण्डहर बना दिया था, जिसमें भारत-माता के महान सपूतों नानासाहब, तात्या टोपे, बालासाहब और रावसाहब खेले

थे, जिसमें झांसी की अलबेली लक्ष्मीबाई पली थी और बढ़ी थी। यही वह राज-महल था, जिसके प्रांगण में बैठकर १८५७ के महान स्वातन्त्र्य संग्राम की कल्प-नाएं संजोई गई थीं। इस साधना को ब्रह्मावर्त के देवालयों ने ही तो आशीर्वाद प्रदान किया था। रायगढ़ का राज्य सिंहासन हाथों से निकल जाने के बाद ब्रह्मा-वर्त के इसी राजमहल में तो स्वातन्त्र्य सुमन खिले थे। इसी राजमहल का प्रक्षा-लन तो एक दिन अंग्रेजों के उष्ण रक्त से किया गया था। इसी राजमहल और इन्हीं देवालयों में तो एक दिन स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के पुजारियों ने दीपोत्सव मनाया था। जिस तेज ने दीपों की पंक्तियां आलोकित कीं, आज उसी तेज में झुलसकर तो वे राख हो गए थे। किन्तु इतिहास को इस राख की ढेरी पर एक भी अश्रुकण गिराने की आवश्यता नहीं, क्योंकि अपनी साधना को पूर्ण करने के उपरान्त ही तो यह राजमहल और ये देवालय राख के ढेर बने हैं। ऐसे भवनों का सर्वनाश और विध्वंस भी उन सैकड़ों इमारतों से सहस्र गुना अधिक प्रेरक और प्राण-प्रदाता है जो दासता को सहन करती रहती है, क्योंकि इस राजमहल और देवा-लयों ने तो स्वतन्त्रता को जन्म देने का प्रयास किया और उसी प्रयास की सफलता के लिए वे अग्नि की भेंट चढ़ गये, उन्होंने आत्माहुति दे डाली। स्वराज्य की स्थापना के पावन प्रयास में रत रहकर आत्मार्पण कर देना पराधीन रहकर वर्षों जीवित रहने से सहस्र गुना श्रेष्ठ होता है। यज्ञवेदी में जलनेवाली समिधा चिता को धधकानेवाली लकड़ी से सहस्र गुना अधिक प्रेरक होती है। ●●●

: ७ :

लखनऊ की पराजय

तात्या टोपे की प्रगति को केम्पबेल ने कानपुर में अपने प्रबल पराक्रम द्वारा रोक दिया था। अब वह प्रदेश के अन्य विद्रोही ग्रामों पर विजय-प्राप्ति की दिशा में सक्रिय हो गया था। अंग्रेज सेनाधिकारी सीटन उसके निर्देश पर "श्मशान की शान्ति" का निर्माण करते हुए अलीगढ़ जा पहुँचा था। अलीगढ़ से कानपुर तक के मार्ग में ऐसी ही शान्ति स्थापित करने के लिए वालपोल को कालपी के मार्ग से भेजा गया। योजना बनाई गई थी कि वालपोल कानपुर से उत्तर जाएगा और सीटन अलीगढ़ से दक्षिण की ओर। फिर वे दोनों मैनपुरी में मिलेंगे। इस प्रकार यमुना तट के सहारे स्थित सम्पूर्ण दोआब क्षेत्र पर अधिकार किया जाएगा। साथ ही केम्पबेल भी कानपुर से फतेहगढ़ पहुंचेगा। यह सुनिश्चित तथ्य समझ लिया गया था कि अंग्रेजी सेना दोआब के क्रान्तिकारियों को पछाड़ती हुई फतेहगढ़ जा पहुँचेगी। यह भी निश्चय किया गया कि इस अभियान का अन्तिम मोर्चा फतेहगढ़ के समीप लगेगा। जहाँ वालपोल, सीटन और केम्पबेल की सेनाएं अपना कार्य पूर्ण करेंगी।

इसी योजना के अनुसार अपने तोपखाने और सेनासहित वालपोल ने कालपी के मार्ग पर १८ दिसम्बर को प्रस्थान कर दिया। मार्ग में उनकी कई स्थानों पर क्रान्तिकारी छापामारों की टोलियों से भी मुठभेड़ हुई और अंग्रेजों ने अपनी क्रूरता का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए (फिरंगी का अपना प्रतिशोध का ढंग भी न्याय और अन्याय की चिन्ता न करते हुए मानवमात्र से ही प्रतिशोध लेना है) पाण्डों को आश्रय देनेवाले और न भी देनेवाले ग्रामों को अग्नि-ज्वालाओं से दग्ध करते हुए इस प्रदेश को पुनः अंग्रेजों की पराधीनता के पाश में जकड़ते हुए वालपोल इटावा जा पहुँचा। वह आगे भी बढ़ सकता था। यद्यपि इटावा को क्रान्तिकारियों ने रिक्त कर दिया था, फिर भी अपनी सम्पूर्ण सेना सहित उसे इटावा में ही रहना पड़ा। ऐसा कौन-सा विचित्र कारण था ? क्या असाधारण आवश्यकता उपस्थित

हो गयी थी ? अंग्रेजी सेना के बढ़ते हुए कदम क्यों रुक गए ? कहीं क्रान्तिकारी सेना ने तो उस पर आक्रमण नहीं कर दिया ? कही पदातियों, अश्वारोहियों अथवातोपखाने ने तो मृत्यु का नग्न ताण्डव आरम्भ नहीं कर दिया है? नहीं, इटावा में ऐसी कोई भी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। न ही पैदल और न ही अश्वारोही अथवा तोपखाना था, किन्तु सुदूर स्थित एक भवन में डटे २०-२५ भारतीय क्रान्ति-दूत कड़ा प्रतिरोध कर रहे थे। इस भवन की छतें पक्की थीं और इसकी दीवारों में भी बन्दूकों से गोलियां दागने के लिए सूराख बने हुए थे। अपने हृदय में देश-प्रेम की पावन ज्वाला को धधकाए ये २०-२५ वीर बन्दूकें हाथ में लेकर सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध अंग्रेजी सेना से मृत्यु का खेल खेल रहे थे। इन्होंने अंग्रेजों की सेना को इटावा नगर की चौखट पर ही रोक दिया था। उन्होंने न तो अंग्रेजों के शस्त्रास्त्रों की ही चिन्ता की और न ही उनके तोपखाने की परवाह। वे तो अपने सुदृढ़ संलल्प के बल पर मृत्यु दूत से बने अंग्रेजी सेना को रोके हुए थे, क्योंकि इटावा को अभी तक अपने नाम और गौरव के अनुरूप कोई बलि जो नहीं प्राप्त हो पाई थी। तो यह बलि किस की चढ़ाई जा सकती थी ! उसी की जो इस नगर में उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रविष्ट हो रहा था। अतः उसे ही इन वीरों ने मानो चुनौती दी थी कि "आओ संघर्ष करो।" इन २५ वीरों ने अपने जीवन का बड़ा महंगा मोल लगाने का संकल्प किया था। चाहते तो वे अपने जीवन को कौड़ियों के मोल भी बेच सकते थे। वे डटे रहे और उन्होंने शत्रु को युद्ध के लिए चुनौती दी। अंग्रेज अभी इसी विचार में मग्न थे कि इस भवन की सीमित परिधि में पड़े हुए इन उन्मादियों से संघर्ष करने के स्थान पर तनिक ठहरना ही उचित रहेगा, क्योंकि इसी समय में इन्हें होश आ जाएगा और ये स्वतः ही भाग खड़े होंगे, उनके लिए भागने का मार्ग तो खुला ही हुआ है। उन्होंने काफी समय तक प्रतीक्षा की, किन्तु ये विद्रोही तो होश में आते ही प्रतीत नहीं हो रहे थे। अन्ततः आक्रमण करने का निश्चय किया गया। तोपों की गड़गड़ाहट को ही इन उन्मादी विद्रोहियों को भगा देने के लिए पर्याप्त समझा गया था। अतः इन विद्रोहियों को भयभीत करने के लिए अंग्रेजों ने अपने तोपखाने की शक्ति का प्रदर्शन किया।

किन्तु मृत्यु का भय तो केवल सामान्य जीवों को ही सता पाता है। जो स्वतन्त्रता की साधना के दीवाने हों, जिन्होंने स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के ही चरणों में अपने जीवन पुष्प समर्पित करने का संकल्प कर लिया हो उनको भला भय और चिन्ता भी किसकी हो सकती है। विजय की आशा से युद्ध करनेवाला तो जीवन के प्रति मोह रख सकता है, कीर्ति हेतु संघर्ष करनेवाला भी शायद कभी भयभीत हो जाए, किन्तु सिर पर कफन बांधकर ही जो समरभूमि में डट गया हो, उसके

तो भय पास भी नहीं फटक सकता। ऐसे लोगों का मार्ग कौन-सा भय अवरुद्ध कह सकता है ! आकाश से भले ही वज्रपात हो अथवा धरती अंगार उगलने लगे उसके रास्ते में रुकावट नहीं आ सकती, क्योंकि वह तो स्वतः ही मृत्यु के पथ का पथिक है, इससे तो प्रकृति के प्रकोप से उसका मन्तव्य तत्काल पूर्ण होने में सहायता प्राप्त होती है। जो मृत्यु का आलिंगन करने को तत्पर है, निराशा उसके पास भी कैसे फटकेगी। जिन्होंने मृत्यु को ही अपनी प्रेयसी समझकर उससे आलिंगन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया हो ऐसे इन इटावा के देशभक्तों को भला कौन भयभीत कर सकता था।

अतः अपने प्राणों को बचाने का पूर्ण अवसर होने पर भी, उससे लाभ न उठाते हुए और विजय की भी तनिक-सी आशा न होते हुए भी वे ताल ठोककर अंग्रेजों की विशाल वाहिनी से लोहा लें रहे थे। जो गोरी सेना दिल्ली की किलाबन्दी, कानपुर के घेरे और लखनऊ के परकोटे से भी नहीं रुक पायी थी आज उसी की गति को इस मामूली से भवन में डटे हुए वीर क्रान्तिकारियों की छोटी-सी टोली ने रोक दिया था।

मॅलेसन ने लिखा है—"संख्या में नगण्य, हाथों में केवल बन्दूकें थामे, निराश न होकर भयंकर रण उत्साह से सचेत ये वीर अपने ध्येय की प्राप्ति हेतु बलिदान चढ़ाने के लिए सहर्ष सन्नद्ध खड़ें थे। वालपोल ने एक बार उस स्थान पर दृष्टिपात कर परिस्थिति का अवलोकन किया। एक सेना को रोकने की क्षमता तो उस स्थान में नहीं थी। उसे तोपों से भी ध्वस्त किया जा सकता था। किन्तु न्यूनतम क्षति हो, इस दृष्टि से पहले हथगोले फेंके गए। इस भवन के भीतर डटे लोगों को भयभीत करने की दृष्टि से घास को आग लगाकर आकाश को धुएं से भर दिया गया, किन्तु ये सभी प्रयास व्यर्थ हुए। विद्रोहियों ने तीन घण्टे तक अपनी बन्दूकों से ऐसी धुआँधार गोली वर्षा की कि शत्रुओं को समीप फटकने का अवसर ही नहीं दिया, अन्ततः इस भवन को ही ध्वंस्त कर देने का निश्चय किया गया। 'इन्जीनियर्स' में से स्केचली को बुलाया गया, उसने बोशीर्क की सहायता से रायफलों के कारतूसों की सुरग की माला बनाई और उसमें अग्नि लगा दी। इस सुरंग में विस्फोट से वह भवन युद्धरत वीरों के मस्तकों के मुकुटों से विभूषित हो गया और ये सभी वीर उस भवन के मलवे के नीचे दब गये।" उसी दिन से इटावा के इन अमर हुतात्माओं की यह पावन समाधि-स्थली, अपने महान ध्येय के हेतु कैसे मृत्यु का वरण किया जाता है, यह पावन किन्तु मूक सन्देश देती हुई आज भी विद्यमान है।

वीर-भूमि इटावा ! तेरी कीर्ति अजर अमर है। इससे बढ़कर स्फूर्ति क्या थर्मापीली के दर्रे में, ब्रेशशा की किलाबन्दी में अथवा नीदरलैण्ड के दरूतर के

कलेवर में भी क्या होगी ? इटावा अमर रहे, बलिदानस्थली इटावा की जय।

जिस समय वालपोल इटावा पहुँचा तब सीटन भी अलीगढ़, काशगंज और मैनपुरी इत्यादि में क्रांतिकारियों की टोलियों से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ रहा था। ८ जनवरी, १८५८ को दोनों सेनाएं मैनपुरी मे मिलीं। निर्धारित योजनानुसार दिल्ली तथा मेरठ की अंग्रेजी सेना ने दोआव में यमुना तट पर स्थिति प्रयाग तक के क्षेत्रों को पुनः अपने पैरों तले रौंद डाला। इधर कैम्पवेल भी कंठ से आगे बढ़ता आ रहा था। उसने फतहगढ़ के नवाब को पराजित कर दोआब के क्रांतिकारियों को पराजित करते हुए कानपुर की ओर पग बढ़ाने का निश्चय किया था। उस समय दोआव के क्रांतिकारियों का फतेहगढ़ प्रमुख केन्द्र बना हुआ था। फतेहगढ़ में ही वहाँ के नवाब ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणाकर आजादी का शंख फूका था। यहां जो लोग एकत्रित हुए थे वे सभी प्रायः दिल्ली और कानपुर से पलायन करके एकत्रित हुए अनसंधे सैनिक थे, जो अंग्रेजों के समक्ष ठहरने का प्रयास करने के स्थान पर भाग खड़ा होने और अपने प्राणों को बचाना ही श्रेयस्कर समझते थे। किन्तु उनकी यह कायरता उनके प्राणों की रक्षा कर सकी ? नहीं, कदापि नहीं। अंग्रेजी सेना उनका पीछा करती थी और अनेक बार तो ऐसे भी अवसर आए थे कि जब अंग्रेजों के एक ही आक्रमण में इन कापुरुषों में ६०० और ७०० ही नहीं एक-एक सहस्र लोग मृत्यु के घाट उतार दिये गये थे। इटावा के उन मृत्यु का वरण करनेवाले क्रान्ति के स्वाभिमानी सैनिकों और इन भगोड़ों में तो उतना ही अन्तर था, जितना स्वर्ग और नरक में हो सकता है। फर्रूखाबाद के नवाब को भी इन कायरों के कारण ही थोड़े ही समय में अधिकाधिक हानि उठानी पड़ी थी। उसकी राजधानी, दुर्ग और युद्धसामग्री भी गोरों के हाथ पड़ चुकी थी और विद्रोहियों को गंगापार कर रुहेलखण्ड की ओर हटने पर विवश होना पड़ा था। इसी गड़बड़ी में अंग्रेजों को अपने कट्टर शत्रु नादिरखाँ को बन्दी बना लेने का सुयोग अवसर प्राप्त हो गया था। इसी नादिरखाँ ने तो नानासाहब की पावन पताका तले अनेक अंग्रेजों को नाकों चने चबाए थे। अंग्रेजों ने अपने इस वीर शत्रु को बन्दी बनाते ही फांसी पर लटका दिया था। इस नादिरखाँ ने मृत्यु का आलिंगन करते समय देशवासियों को यही एक शपथ दी थी—"तुम सभी अपनी तलवारें म्यान से निकालकर अंग्रेजों की सत्ता को निर्मूल कर देने के लिए आगे बढ़ो।" उसने यह वाक्य कहा और चिरनिद्रा में मग्न हो गया। उस प्रातःस्मरणीय महापुरुष स्वातन्त्र्य साधक की अन्तिम श्वांस के साथ यही महामंत्र गुंजित हुआ था।

४ जनवरी, १८५८ ई० को जब विजेता केम्पवेल ने फतेहगढ़ में पग धरा उस समय तक दोआब ही नहीं काशी से मेरठ तक के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था। अब तो अंग्रेजी सेना के समक्ष यही एक समस्या थी कि

आक्रमण का कौन-सा कार्यक्रम निर्धारित किया जाए। अंग्रेज अभी तक यही समझ रहे थे कि दोआब में क्रान्ति की ज्वाला को बुझा लेते ही देश के अन्य स्थानों में भड़क रही विद्रोह की अग्नि का स्वतः शमन हो जाएगा। किन्तु उनकी यह धारणा शत प्रतिशत मिथ्या सिद्ध हुई। अनेक राजनीति विशारदों ने यह भविष्य-वाणी की थी कि दिल्ली का पतन होने के ८ दिन बाद की अवधि में ही विद्रोह की ज्वालाएं सर्वत्र शान्त हो जाएंगी। किन्तु दिल्ली के पतन के उपरान्त भी क्रान्ति की ज्वाला के मन्द न हो पाने से सुखस्वप्नों के महल नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे, क्योंकि दिल्ली की पराजय के उपरान्त तो क्रान्ति की बाढ़ में सम्पूर्ण देश आप्लावित हो गया था। सम्पूर्ण राष्ट्र में उथल-पुथल मच गयी थी। वख्तखाँ के नेतृत्व में रुहेलों की सेना, वीरसिंह के नेतृत्व में नीमच के स्वातन्त्र्य पुजारी सैनिक और विभिन्न नेताओं के निर्देश पर देश भर में क्रान्तिकारी फैल चुके थे और स्थान-स्थान पर स्वातन्त्र्य लक्ष्मी का जय-जयकार हो रहा था। इतना ही नहीं, एक बार तो पुनः यह समाचार पाकर दिल्ली ने भी अपना मस्तिष्क ऊंचा कर उभरने का प्रयास किया था कि नानासाहब कानपुर से प्रस्थान कर बन्दी वहादुरशाह को मुक्त कराने के लिए दिल्ली आ रहे हैं। अंग्रेजों ने भी अपने अधिकारियों को यह चेता-वनी दे दी थी कि यदि कहीं नानासाहब दिल्ली आ ही पहुंचे तो बूढ़े वहादुरशाह को उसी समय खरगोश के समान ही गोली से भून देना।[1] दिल्ली के पतन के पश्चात् तो क्रान्ति की ज्वाला और भी अधिक जोरों से धधक उठी। अब तो क्रान्तिकारियों ने जय-पराजय की चिन्ता छोड़कर केवल युद्धरत रहने का ही व्रत ले लिया था। उनका एक ही संकल्प था या तो आर्य भूमि को आंग्ल दासता के पास से सदैव के लिए मुक्त करा देंगे अथवा हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगाएंगे। उनमें कुछ ऐसे भी थे, जो परस्पर झगड़ते थे तो अनेक ऐसे भी थे जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई भी पग उठाने में संकोच नहीं करते थे। फिर भी उनमें ऐसा तो एक भी नहीं था जो यह चाहता हो कि अंग्रेजों के विरुद्ध आरम्भ किया गया युद्ध अभियान स्थगित कर दिया जाए। युद्ध के समय जो क्रान्तिकारी सिपाही बन्दी बना लिए जाते थे और जब उनसे अंग्रेज यह प्रश्न करते थे कि तुमने इस विद्रोह में भाग क्यों लिया है तो वे छाती ठोककर एक ही उत्तर देते थे "यह तो हमारे धर्म की आज्ञा है कि फिरंगी को समाप्त कर दो।"[2]

इस प्रकार दिल्ली की पराजय से स्वतन्त्रता की पावन भावनाएं मन्द नहीं हुई थीं अपितु और भी अधिक वेगवती हो गई थीं। अतः उन्होंने दिल्ली की हार

---

१. चार्ल्स बालकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २, पृष्ठ १९४

२. वही, खण्ड २, पृष्ठ २४२

का प्रतिशोध लेने के लिए लखनऊ और बरेली में संघर्ष किया था। यद्यपि सम्पूर्ण दोआब पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था, किन्तु अवध और रुहेलखण्ड पर अभी भी क्रान्तिकारियों का ही पूर्ण आधिपत्य था। इतना ही नहीं वहाँ तो सिंहासन उखाड़कर फेंक दिए गए थे और स्वदेशी राजाओं का प्रशासन चल रहा था। अतः केम्पबेल ने योजना बनाई थी कि पहले रुहेलखण्ड को जीता जाए और तदुपरान्त लखनऊ पर विजय प्राप्त की जाए। लार्ड केनिंग इस बात पर बल दे रहा था कि एक बार क्रान्तिवृक्ष के तने अर्थात् लखनऊ को उखाड़ दिया जाए तो समीपस्थ स्थानों को सुगमता सहित झुकाया जा सकेगा। लार्ड केनिंग के निर्देशानुसार केम्पबेल ने भी सर्वप्रथम लखनऊ पर ही धावा बोलने का निर्णय किया। पूर्व-निर्धारित योजनानुसार सैटिन, वॉलपोल और सर सेनापति केम्पबेल ने १०-११ और सैनिक एकत्रित किए। दोआब के सभी महत्वपूर्ण मोर्चों पर भी कुछ दस्ते नियुक्त कर दिए गए तो प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के हेतु भी सैनिक रखे गए।

लार्ड केनिंग

आगरा से भी पर्याप्त संख्या में सैनिक आ गए थे। इतनी विशाल वाहिनी सहित केम्पबेल ने फतेहगढ़ की दिशा में प्रस्थान किया था। इसका विवरण अंग्रेज इतिहासकारों ने इन शब्दों में दिया है—"उन्नाव तथा बूंदी के रेतीले प्रदेशों ने इतनी प्रचण्ड सेना, अश्वारोही, पैदल सैनिक तथा तोपखाने और खाद्यसामग्री से लदी गाड़ियां शायद ही देखी हों। इतने नौकर-चाकर, छोटे-बड़े तम्बू शायद ही उनकी दृष्टि से कभी गुजरे होंगे। सम्पूर्ण व्यवस्था सराहनीय थी। १५वीं अंग्रेज तथा दूसरी भारतीय पलटनें, चौथी गोरी तथा चौबीसवीं भारतीय रिसाला रेजीमेंट ५२वीं गरनाल और ८०वीं तोपखाना पलटन, इतनी संख्या में यह सैनिक संभार एकत्रित हो गया था।" इतनी प्रचण्ड सेना अपने साथ ही लेकर केम्पबेल ने लखनऊ को दण्डित करने के लिए कानपुर से प्रस्थान किया।

हे गंगा माता, आज तुम भी अवध को ध्वस्त कर खण्डहरों में परिणत करने के लिए आई हुई ब्रिटिश सेना पर दृष्टिपात कर लो। हे मानी अवध! तुम पर इतनी भीषण विपत्ति टूट पड़ी है, क्या तुम स्वयं ही नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाओगे।

अंग्रेजों ने गंगाजी को पार किया कि अवध पर आपदा के सघन घन उमड़ पड़ेंगे। अंग्रेज हमारे मन्दिरों को बारूदी सुरंगों से उड़ाने के लिए आ रहे हैं वे देवमूर्तियों को खण्ड-खण्डित कर देंगे और असंख्य ग्राम अग्नि को अर्पित कर दिए

---

१. 'रसेल की डायरी', पृष्ठ २१८

जाएंगे, इस तथ्य को अवध ने पहले ही परख लिया होगा।

किन्तु सर्वाधिक दुखदायी बात यह थी कि जंगबहादुर भी अपने नेपाली मित्रों सहित चढ़ा आ रहा था। इस एकमात्र दुखद घटना से ही उनके नेत्रों से अश्रुकण छलक उठे थे और मुखों पर मुर्दनी-सी छा गई थी। किन्तु अवध इतना कायर तो था नहीं कि गोरी सेना के आक्रमण से भय-प्रकम्पित हो जाए। यदि ऐसा ही होता तो क्रान्तिकारी अंग्रेजों के राज्य-सिंहासन को उलट देने का प्रयास ही क्यों करते। जिस दिन से अंग्रेजी सत्ता के अवधवासियों ने अपने प्रदेश से निष्कासित कर दिया था, उसी दिन से वह पूर्णतः इस तथ्य से परिचित था कि गोरे पुनः आक्रमण अवश्य ही करेंगे। किन्तु अवध यह तो कल्पना तक भी नहीं कर पाया था कि नेपाली गोरखों सहित जंगबहादुर भी उनपर धावा बोल देगा। शत्रु आकर उनकी चीड़-फाड़ करेगा, इसकी तो सम्भावना थी, किन्तु उसने ऐसी कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं की थी कि उसका अपना मित्र, अपना ही भ्राता आकर उसपर क्रूरतासहित कुठाराघात करेगा। अंग्रेजों से लोहा लेने को तो वह प्रतिक्षण कटिबद्ध था, किन्तु भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में भारत के ही एक भाग से भी उसे टकराना होगा, इस लज्जास्पद काण्ड की तो उसने कल्पना तक भी नहीं की थी। अतः अवध के अपमान के लिए जब जंगबहादुर भी गोरखों सहित अवध पर चढ़ दौड़ा तो नेपाल की दिशा में एक दृष्टि डालते हुए उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

अपने अंग्रेज 'मित्रों' के सहायता हेतु ही जंगबहादुर ने अपने नेपाली मित्रोंसहित लखनऊ पर आक्रमण किया था। आज अंग्रेज उसके मित्र थे तो भारत था शत्रु। कारतूसों में गौ की चर्बी लगानेवाले उसके मित्र थे तो उन गौ चर्बी से भ्रष्ट कारतूसों को अपने दांतों से काटना अस्वीकार करनेवाले उसे शत्रु प्रतीत हो रहे थे। भारतीय इतिहास को कलंकित करनेवाले इस जंगबहादुर ने भारत में स्वातन्त्र्य आन्दोलन की ज्योति प्रज्वलित होने का समाचार प्राप्त होने ही अंग्रेजों से हाथ मिला लिया था। इस प्रकार उसने अपने कुल तथा स्वयं को कलंक का टीका लगा लिया। १८५७ ई० से कुछ ही दिन पूर्व वह स्वयं इंग्लैंड गया था और अंग्रेज इतिहासकारों ने इस बात का नितान्त ही गौरवपूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है कि उसने अंग्रेजों की आन, बान और शान को अपने नेत्रों से देखा था, अतः उनके विरुद्ध रणभूमि में उतरने का साहस तो दूर वह तो कल्पना तक भी नहीं कर पाता था। क्या वस्तुतः अंग्रेज की आन, बान और शान का इतना आतंक व्याप्त था? जंगबहादुर इंग्लैंड गया था तो नानासाहब के दूत अजीमुल्ला खां तथा सतारा के रंगो बापूजी भी तो उसी इंग्लैंड में होकर आए थे। उन पर ब्रिटेन की इस यात्रा का क्या प्रभाव पड़ा था? उन्होंने तो अंग्रेजों की सामर्थ्य का पूर्णतः अध्ययन और निरीक्षण करने के ही उपरान्त उस सामर्थ्य को धूल में मिला देने का पावन संकल्प

ग्रहण किया था। उन्होंने ऐसा करने में कोई कमी नहीं रखी, इसकी साक्षी भी इतिहास प्रस्तुत करता है। इंग्लैंड की इस सामर्थ्य के आधार पर ही तो जंग-बहादुर के राष्ट्र-द्रोह को क्षम्य नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजों के प्रबल वैभव और शक्ति का अवलोकन करने पर भी अजीमुल्ला और रंगो बापूजी के अपने हृदय में जल रही स्वतन्त्रता की दीपशिखा को बुझा नहीं दिया था। इसके विपरीत उन्होंने तो परतन्त्रता की शृंखलाओं में आबद्ध भारत माता के मस्तक पर लगे दासता के कलंक का टीका हटाकर उसे स्वतन्त्र कराकर इंग्लैंड की सम्राज्ञी के सिंहासन पर अधीष्ठित कराने की ही योजना बनाई थी। वे तो इसीलिए शास्त्र नहीं शस्त्रों के पुजारी बनकर स्वातन्त्र्य की अलख जगाने निकल पड़े थे। किन्तु इस राष्ट्रद्रोही जंगबहादुर की आंखें तो अंग्रेजों के उस सम्पदा और वैभव के समक्ष इतनी चका-चौंध हो गईं कि उस काले नाग ने तो ब्रिटिश सपेरे के इशारों पर ही नृत्य करना आरम्भ कर दिया, जिससे कि मातृभूमि के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को अपने विषदन्तों से डस लेने के उपरान्त सपेरा उसे भी दूध के दो घूंट प्रदान कर दे।

अपनी तुच्छतम स्वार्थ साधना के लिए ही वह नराधम अपनी मातृभूमि को नीलाम चढ़ाने के लिए भी तत्पर हो गया और उसने अंग्रेजों की सहायतार्थ गोरखों की सेना को भेज दिया। १८५७ ई० में अगस्त के प्रारम्भ में ही काठमाण्डू से प्रस्थान करके ३००० गोरखे आजमगढ़ और जौनपुर में आ पहुंचे थे और इधर गोरखपुर में क्रान्तिकारी नेता मुहम्मह हुसैन भी उनसे दो-दो हाथ करने के लिए संकल्पबद्ध हो गया था। जब अंग्रेज दोआबा में युद्ध कर रहे थे, तब वेणीमाधव, मुहम्मद हुसैन और राजा नादिरखां ने अपनी शक्ति के बल पर काशी के समीप स्थिति प्रदेश और अयोध्या के पूर्ण क्षेत्र पर पूर्णतः अधिकार जमा लिया था। अंग्रेज अवध पर दृष्टि डालने का अवसर पाते इससे पहले ही गोरखों ने क्रान्तिकारियों को अवध की ओर पीछे धकेल दिया था। कुछ ही दिनों में जंगबहादुर और अंग्रेजों के मध्य एक करार हुआ, जिसके अनुसार तीन सेनाओं को अवध पर आक्रमण करने हेतु सुसज्जित किया गया गया। २३ दिसम्बर को ६ हजार सुसज्जित गोरखों सहित जंगबहादुर ने प्रस्थान किया। जनरल फ्रेंक और रोक्राफ्ट भी अपनी-अपनी गोरी सेनाओं सहित चढ़ आए। इस प्रकार काशी के उत्तर के अंचल में क्रान्तिका-रियों का सफाया करती हुई ये तीनों सेनाएं अवध में प्रवेश करने लगीं। २५ फर-वरी १८५८ के आसपास ही नेपाली और अंग्रेजी सेना ने घाघरा नदी को पारकर अंबरपुर की ओर प्रयाण किया। मार्ग में वन था और उसीमें एक अभेद्य दुर्ग भी। इसे इसी भांति छोड़कर आगे बढ़ जाना अंग्रेजों को निरापद प्रतीत न हुआ। अतः गोरखों को उस दुर्ग पर आक्रमण करने का आदेश दिया गया। किन्तु इतनी सुस-ज्जित सेना से टक्कर लेने पर भी वह दुर्ग पूर्ववत ही खड़ा रहा। यह प्रश्न मन में

उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि इस दुर्ग में कितनी संख्या में लोग थे। वहां केवल ३४ लोगों का ही एक दस्ता था, किन्तु उनके हृदय में स्वतन्त्रता की जो ज्वाला धधक रही थी, उसी के कारण वे क्रान्तिकारी अपने शीश हथेलियों पर धरकर इतनी विशाल और सुसंगठित सेना से दो-दो हाथ कर रहे थे। गोरखों ने यद्यपि अपने शौर्य का पूर्ण परिचय, किन्तु उनके प्रतिपक्षी तो इनसे भी अधिक प्रचण्ड शौर्य का प्रदर्शन कर रहे थे। वस्तुतः यहां तो स्वदेशभक्ति और देशद्रोह में संघर्ष हो रहा था। अंबरपुर के इस अवर्णनीय संग्राम में शत्रु-पक्ष के ७ व्यक्ति मारे गए और इन ३४ क्रान्तिकारियों में से ३३ ने रणभूमि में लड़ते-लड़ते ही मातृभूमि के श्रीचरणों में अपने जीवन प्रसून चढ़ा दिए। इनमें से जो एक बचा रह गया था, वह भी अन्तिम समय तक संघर्षरत रहा। उसके शव पर पग धरकर ही शत्रु आगे बढ़ पाया।[1]

अम्बरपुर पर अधिकार कर लेने के उपरान्त आसपास के प्रदेशों को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए गोरखों और अंग्रेजों की संयुक्त वाहिनी आगे बढ़ती आ रही थी। उसी वाहिनी के पीछे जनरल फ्रैंक्स भी सुलतानपुर के नजीम मुहम्मद हुसैन तथा कमाण्डर बन्दाहुसैन से सुलतानपुर, बदायूँ स्थानों पर मोर्चा लेता हुआ अवध की ओर बढ़ता जा रहा था। अब तक मिली पराजयों के कारण गिरी हुई साख को संवारने तथा पुराने राजकीय सम्मान और प्रभाव का पुनरुद्धार करने की दृष्टि से लखनऊ दरबार ने जनरल फ्रैंक्स का सामना करने हेतु नवाब वाजिदअलीशाह के समय में तोपखाने के प्रमुख गफूरबेग को भेजा। ३ फरवरी को सुलतानपुर में ही उसकी जनरल फ्रैंक्स से मुठभेड़ हुई, जिसमें गफूर बेग पराजित हुआ और इस प्रकार अंग्रेजों का मार्ग पूर्णतः साफ हो गया।

इस प्रकार अब जनरल फ्रैंक्स की सम्पूर्ण सेना भी केम्पबेल की सहायता के लिए लखनऊ की ओर चल पड़ी थी। फ्रैंक्स ने कॉलिन केम्पबेल से मिलने जाने से पूर्व देदार के दुर्ग पर भी आक्रमण किया। इस दुर्ग के शूरवीरों ने अपनी तोपों से हाथ धो बैठने के उपरान्त भी शत्रु से जूझने में कोई कमी न दिखाई और अन्तः फ्रैंक्स के भाग्य में एक पराजय भी लिख दी। किन्तु इतने स्थानों पर विजय प्राप्त करनेवाले फ्रैंक्स को इस छोटे से स्थान पर मिली पराजय से कोई हानि नहीं हुई। किन्तु इतने पर भी उस समय अंग्रेजों की सेना में नेतृत्व के दायित्व और अनुशासन में कितनी अधिक कठोरता थी, इसका परिचय इसी घटना से मिल जाता है कि फ्रैंक्स की अनंत विजयों की उपेक्षा कर इस एक पराजय पर ही उसे केम्पबेल ने यह दण्ड दिया कि महत्वपूर्ण आक्रमणों की योजना में भाग लेनेवाले

१. मलेसनकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ २२७

सेनापतियों की तालिका में से उसका नाम निष्कासित कर दिया गया।

इस प्रकार लखनऊ नगर पर चढ़कर आनेवाली ब्रिटिश सेना के विभिन्न दस्ते एक-दूसरे के समीप आते जा रहे थे। कानपुर से प्रस्थान करके चली केम्पवेल की विशाल वाहिनी पश्चिम के मार्ग की ओर से आगे बढ़ रही थी। इधर फ्रैंक्स और जंगवहादुर की सेनाएं पूर्व दिशा की ओर से आगे बढ़ती आ रही थीं। ११ मार्च से पहले ही ये दोनों सेनाएं परस्पर आ मिलीं और उस पापी नगरी (लखनऊ) का मान धूलधूसरित करने के लिए एक-दूसरे से आगे निकलने का प्रयास करने लगीं।

पापी ? नहीं, नहीं, केवल अभागा लखनऊ इसका मान भंग करने हेतु अपने और परायों की तलवारें सतत उठ रही थीं, प्रहार कर रही थीं, किन्तु लखनऊ में इन आक्रमणों के प्रतिकार की व्यवस्था क्या थी ! गत वर्ष नवम्बर मास में जब तात्या टोपे को पराजित करने के लिए सर कॉलिन कानपुर की ओर दौड़ा था, उस समय से लेकर मार्च मास तक प्रत्येक व्यक्ति प्राणप्रण सहित लखनऊ की सुरक्षा और शत्रुओं के मान-मर्दन के लिए निरन्तर संग्रामरत रहा था। लखनऊ में स्वातन्त्र्य पताका को गौरव सहित फहराते रखने की निष्ठा लेकर राजा से रंक तक प्रत्येक व्यक्ति ने प्राण हथेली पर धरकर संघर्ष किया था। किन्तु ऐसे भी कुछ राजा और जमींदार थे, जिन्हें अंग्रेजों की आक्रमक नीति के कारण कोई विशेष हानि नहीं हुई थी। वे अंग्रेजों की नीतियों के विरुद्ध असन्तुष्ट होकर विद्रोही नहीं बने थे, अपितु वे तो अपनी पावन मातृभूमि से फिरंगियों के अपावन पगों को उखाड़ने के लिए कृत संकल्प होकर ही अंग्रेजों से संग्राम कर रहे थे। यह केवल मेरा ही मत नहीं है, अपितु उस समय के गवर्नर जनरल केनिंग का भी यही मत था। उसका नीचे दिया गया कथन मेरे इस कथन की पुष्टि करता है—

"आप समझते होंगे कि अवध के राजा और जमींदार केवल इसलिए विद्रोही वन गए हैं कि हमारी नवीन मालगुजारी पद्धति से उन्हें हानि उठानी पड़ी थी। किन्तु मेरा (गवर्नर जनरल) अभिमत है कि हमें इस एक बात पर भी विचार करना चाहिए कि चंदा, वैंजा और गोण्डा के राजाओं ने हमारे विरुद्ध जिस प्रचण्ड विद्वेष का परिचय दिया था, वैसा दूसरे किसी भी राजा ने प्रदर्शित नहीं किया था। चंदा के राजा का तो एक भी खेत हमने नहीं छीना था, इतना ही नहीं अपितु उसकी तो कर में भी हमने कमी कर दी थी। वैंजा के राजा के साथ भी नितान्त उदारतापूर्ण व्यवहार किया गया था। गोण्डा राज्य के ८०० ग्रामों मे से केवल ३ ही को हमने अपने अधिकार में लिया था। इसके वदले में हमने उससे वसूल की जाने वाली राशि में भी १० हजार की कमी करदी थी।

"राज्यकर्ताओं में हुए परिवर्तन से जितना अधिक लाभ नौपाड़े के युवक

नरेश को हुआ था, इतना तो अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था। हमने शासन संभालते ही उसे एक हजार ग्राम दे दिए थे। हमने इतना ही नहीं किया अपितु अन्य सभी उत्तराधिकारियों को दूर हटाकर उसकी माता को ही मैंने उसकी पालक के रूप में नियुक्त भी कर दिया था। किन्तु हमने देखा कि लखनऊ में सर्वप्रथम उसीकी सेना ने हमारे विरुद्ध संग्राम किया था। घुरा के राजा को भी हमारे शासन से यथेष्ट लाभ मिला था। किन्तु उसी की सेना के लोगों ने कैप्टन हुजे पर आक्रमण कर उसकी पत्नी को बन्दी बनाकर लखनऊ के कारागार में डाल दिया था।

"तालुकेदार अशरफखाँ, जिसे हमारे से पूर्व नवाब ने अत्यधिक यातनाएं दी थीं, और हमने उसे तत्काल ही उसके राज्य का स्वामित्व प्रदान कर दिया था, परन्तु विद्रोह प्रारम्भ होते ही उसने हमारे साथ प्रबल वैर का प्रदर्शन किया। इन्हीं सभी बातों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जमींदारों और राजाओं द्वारा हमारे विरुद्ध विद्रोह करने का कारण उनकी व्यक्तिगत क्षति मात्र होना ही नहीं हो सकता।"[१]

इसी कारण अंग्रेज इतिहासकार होम्स ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि जिन राजाओं और जमींदारों ने इस स्वातन्त्र्य समर को आरम्भ किया तथा निबाहा, वे व्यक्तिगत स्वार्थों की अपेक्षा नितान्त ही उदात्त आदर्शों से प्रेरित थे। ऐसे भी अनेक और जमींदार थे जो किसी वास्तविक शिकायत के न होने पर भी हमारे विरुद्ध संग्रामरत हुए थे, वे तो इसी कारण हमारे विरुद्ध खड़े हो गए थे कि हमारी राज्यसत्ता ही उन्हें यह स्मरण दिलाती थी कि "हमारे राष्ट्र ने उन्हें पराजित किया है।" इस सत्य को निर्मूल सिद्ध कर दिखाने के लिए ही वे रणभूमि में कूद पड़े थे।[२]

परन्तु इन सब में प्रमुख फैजाबाद का वह देशभक्त वीर पुरुष मौलवी अहमद शाह कहां है? वह तो क्रान्तियुद्ध की प्रज्वलित मशाल को लेकर समग्र हिन्दुस्थान को जाग्रत कर रहा था। उसे लखनऊ में बन्दी बनाकर अंग्रेजों ने फांसी की सजा सुना दी थी। उसे फैजाबाद के कारागार में फांसी दिए जाने वाले बन्दियों की बैरक में बन्द कर दिया गया था। १८५७ के विद्रोह ने उसे वहाँ से उठाकर नेतृत्व के सिंहासन पर अधीष्ठित कर दिया था। वह राष्ट्रप्रेमी मौलवी अहमदशाह स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए ही तो समरांगण में उतरा था। राज्य सभा में जब वह भाषण करता था तो उसे सुननेवाले सहस्रों कवि मंत्र-मुग्ध हो जाते

---

१. सर जेम्स आउट्रम के पत्र का लार्ड केनिंग द्वारा दिया गया उत्तर
२. होम्स-कृत 'शिपॉय वार'

थे। इतना ही नहीं समरभूमि में उसकी वीरता की प्रशंसा भी उसके शत्रु और मित्र दोनों ही मुक्तकंठ से करते थे। जब केम्पबेल कानपुर में तात्याटोपे को पराजित करने की दृष्टि से गया था तो उसने आलमबाग में ४ हजार सैनिकों और तोपखाने सहित आउट्रम को नियुक्त कर दिया था। उसी समयसे मौलवी अहमद-शाह शत्रु की सेना की दुर्बलता से लाभ उठाने के लिए सचेष्ट और सक्रिय था। इसके पूर्व भी कई वार नानसाहब की रणनीति और कूटनीति के कारण लखनऊ सुरक्षित रहा था। लखनऊ में पड़ी हुई सेना विद्रोही सेना के घेरे में फंस गई थी। जब लखनऊ पर आक्रमण करने हेतु अंग्रेजी सेना ने गंगा को पार किया था, उसी समय नानासाहव ने कानपुर पर धावा वोलकर उसे दोआवा में वापस लौट आने पर विवश कर दिया था। किन्तु उनकी इस चाल से भी लखनऊ कोई निश्चित लाभ न उठा पाया। किन्तु अब तात्या टोपे की क्षमता से मौलवी अहमदशाह ने पूर्ण लाभ उठाने का निश्चय किया। यद्यपि शासन सूत्र अवध की बेगम के हाथ में था, फिर भी क्रान्तिकारियों, और राजा-महाराजाओं को संगठित करने में अच्छे प्रयत्नों के वावजूद भी उसे सफलता प्राप्त न हो पाई। पारस्परिक स्वार्थपरता के कारण मुट्ठी-भर अंग्रेजों पर आक्रमण कर उनका सफाया करने के अनेक स्वर्णा-वसर हाथ से निकल गए। दिल्ली पराजित हो गई थी, कानपुर का भी पतन हो गया था, फतेहपुर की भी यही दशा बनी थी और आसपास के प्रदेशों के सहस्रों क्रान्तिकारी लखनऊ में आकर एकत्रित हो गए थे, किन्तु वे अवध में अपनी शक्ति का उपयोग करने के स्थान पर अपने अधिकारियों की आज्ञा का उल्लंघन करने में ही लिप्त थे। और अब तो ऐसी आशंका ही उपस्थित हो गई थी कि विजयोन्माद से उत्साहित तथा नवागन्तुक सैनिकों से सुदृढ़ बनी अंग्रेजी सेना की यह अन्तिम चढ़ाई की लहर सभीको डुबो देगी। किन्तु इस घनघोर अन्धकार को विदीर्ण कर मौलवी अहमदशाह ने आशा की स्वर्णिम ऊषा का दर्शन कराया। उसने अपनी प्रभावी वक्तृता और महान व्यक्तित्व द्वारा अगणित हिन्दुस्थानियों में देशभक्ति की लहर प्रवाहित कर दी। उसने जनता को यह विश्वास दिला दिया कि एक हृदय और दृढ़संकल्प सहित अभी भी अंग्रेजों के आक्रमणों का मुंहतोड़ उत्तर दिया जा सकता है! और ऐसा करने से अंग्रेजों को पराजित किया जा सकता है! उसने सम्पूर्ण दोआब की क्रान्तिकारी सेना में प्रचण्ड आत्मविश्वास, अनुशासन और नियमवद्धता का सृजन किया। ऐसा करने से उसके समक्ष अनेक विपत्तियां भी आईं। अहमदशाह की राजदरबार में वढ़ती हुई प्रतिष्ठा से क्षुब्ध होकर कुछ अकर्मण्य लोगों ने षडयन्त्र रचकर उसे कारागार में पटक दिया। किन्तु अवध की वेगम की अपेक्षा मौलवी का प्रभाव ही वहां की सेना पर अधिक था, तो दिल्ली की सेना भी उसमें प्रचण्ड विश्वास व्यक्त करती थी, अतः बेगम को विवश होकर

मौलवी अहमदशाह को कारागार से मुक्त करना पड़ा। जब उससे युद्ध की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उसने उत्तर दिया कि "स्वर्णावसर तो हम हाथ से खो बैठे हैं, अब तो मुझे सर्वत्र ढिलाई ही प्रतीत हो रही है, फिर भी कर्त्तव्य पालन मात्र के लिए तो संग्राम करना ही होगा।"

वीर अहमदशाह ने पुनः स्वातन्त्र्य सैनिको को उत्साहित किया। जिस समय क्रान्तिकारी सेना ने आलमबाग स्थित अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया, उस समय अहमदशाह ही अग्रिम पंक्ति में था। २२ दिसम्बर को उन्हें चकमा देकर उसने आलमबाग में ही बन्दी बना लेने की भी एक महान चाल चली थी। उसने अंग्रेजों को वंचिका दी और अपनी सेना सहित कानपुर के मार्ग पर चल पड़ा। यह योजना बनाई गई थी कि मौलवी आलमबाग की अंग्रेजी सेना पर पीछे की ओर से तथा क्रान्तिकारी सामने से आक्रमण करेंगे। यह चाल वास्तव में ही एक महत्त्वपूर्ण सूझ थी और इसकी सफलता भी असन्दिग्ध थी, किन्तु आलमबाग के सैनिकों में पारस्परिक सहयोग के अभाव में सारी योजना असफल हो गई। वहां का क्रान्तिकारी कमाण्डर अपने सैनिकों में सामान्य अनुशासन भी बनाए रखने में असफल रहा। अतः प्रत्येक क्रान्तिकारी अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने लगा। परिणामतः प्रथम मुठभेड़ में ही चढ़ाई करने के स्थान पर वे पीठ दिखाकर भाग निकले। मौलवी ने अपना कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न किया था, किन्तु इतने पर भी उस दिन रणांगण में विद्रोहियों का पराभव हुआ।

किन्तु इतने पर भी निरुत्साह की स्थिति में भी उत्साह और तेज प्रदान करनेवाले मौलवी और उन्हों के समान अन्य कतिपय निष्ठावान नेताओं ने अपना प्रयास जारी रखा। १५ जनवरी को विद्रोहियों को समाचार मिला कि कानपुर से अंग्रेजों के कुछ दस्ते आलमबाग स्थित ब्रिटिश सेना के लिए रसद सामग्री लेकर चल पड़े हैं। यह सूचना प्राप्त होते ही क्रान्तिकारियों ने इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना आरम्भ कर दिया कि इस रसद को मार्ग में ही किस प्रकार अपने अधिकार में ले लिया जाए। किन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए. अतः विद्रोहियों की इस कातरता से क्षुब्ध होकर मौलवी अहमदशाह ने उनके समक्ष ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि "मैं स्वतः ही इस रसद की लूटमार कर ब्रिटिश सेना को चीरता हुआ लखनऊ में प्रवेश करूंगा।" अपना यह दृढ़ संकल्प घोषित कर यह वीर व्रती अपने कतिपय साथियों सहित नितान्त ही गुप्त रीति से कानपुर की ओर चलने लगा। परन्तु आउट्रम के भारतीय दूतों ने उसे इस छापा मारने की सूचना पहुंचा दी। अतः उसने मौलवी और उनके सैनिकों पर ही छापा मारने के लिए अपने कुछ सैनिक भेज दिए। अतः एक-दूसरे पर छापा मारने के लिए उतावले इन दोनों गुटों में जमकर संघर्ष हुआ। उस दिन मौलवी ने भी अपने साथियों

को विजयश्री से मंडित करने के लिए अपने प्रचण्ड रणकौशल का परिचय दिया। उस दिन उन्होंने रणभूमि में भी अपनी प्रचण्ड सूझ-बूझ और शौर्य का वैसा ही प्रदर्शन किया जैसा कि वे राजनीति में अपनी चालों से करते आए थे। इस घमासान युद्ध में इस वीर को भी एक गोली लगी और वह घायल होकर गिर पड़ा। मौलवी को बन्दी बनाने के लिए अंग्रेज भी प्राणप्रण से जुटे हुए थे, किन्तु क्रान्तिकारियों ने बड़ी ही तत्परता बरती और वे उन्हें डोली में डालकर लखनऊ ले गए।

मौलवी के घायल हो जाने का समाचार पाते ही एक क्षण भी विलम्ब न करते हुए विदेही हनुमान नामक एक ब्राह्मण ने १६ जनवरी को अंग्रेजों पर धावा बोल दिया। प्रातः १० बजे से सूर्यास्त होने तक यह वीर पुरुष रणांगण में जूझता रहा। परन्तु अन्ततः यह वीर भी जब गम्भीर रूप में घायल हो गया तो क्रान्तिकारी मैदान छोड़कर भागने लगे। इस पराजय से विद्रोहियों में परस्पर मनमुटाव भी बढ़ गया और अनेक दुर्बुद्धि सैनिकों ने तो युद्ध से पहले ही पैसे मांगने आरम्भ कर दिए। जिनको पेशगी वेतन मिल गया था, उनमें से भी अनेक रणभूमि में जाने से पहले और भी रुपए दिए जाने की मांग करने लगे। किन्तु उस सुदृढ़, साहसी और कर्त्तव्यपरायण बेगम ने इस सम्पूर्ण विपरीत स्थिति में अपने राज्य प्रशासन में कोई ढील नहीं आने दी। यही था वस्तुतः उसके असामान्य धैर्य का प्रमाण ![1]

---

१. सर डब्लू रसेल ने इस बेगम के सम्बन्ध में कहा : "सिपाही सेना का प्रचण्ड भाग लखनऊ में ही है, ऐसा समझा जाता है ! किन्तु वे उस वीरता सहित नहीं लड़ेंगे जिस वीरता सहित अवध के रक्षक संग्राम करेंगे, जिन्होंने अपने युवा सम्राट् बिरजिश कादिर के हितों को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने प्रमुखों का अनुगमन किया है। और इनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से ही यह कहा जा सकता है कि वे देश भक्ति के युद्ध में लिप्त हैं, जिसे वे अपने देश और सम्राट् के लिए लड़ रहे हैं। रेजीडेंन्सी के घेरे में भी सिपाहियों ने खुलकर रणभूमि में ऐसा युद्ध कभी नहीं किया, जैसी निर्भीकता-सहित जमींदारों और उनके प्रजाजनों ने किया। बेगम ने तो अपनी महान शक्ति और योग्यता का जो परिचय दिया है, उसने सम्पूर्ण अवध को ही अपने पुत्र के पक्ष में उठाकर खड़ा कर दिया और सरदार तथा सामन्त भी उसके प्रति पूर्णतः निष्ठावान थे। हम तो उनके पुत्र के वैध अधिकारी होने में अविश्वास व्यक्त कर सकते हैं किन्तु जमींदार, जो वास्तव में इस प्रश्न पर सही निर्णायक कहे जा सकते हैं, वे निःसंकोच ही बिरजिश कादिर को उत्तराधिकारी स्वीकार करते थे। सरकार इन लोगों से विद्रोहियों जैसा व्यवहार करेगी अथवा सम्मानित शत्रुओं के समान। बेगम ने हमारे विरुद्ध अखण्ड युद्ध की घोषणा की है। इन रानियों

इस प्रकार अपयशों का तो मानों एक क्रम ही आरम्भ हो गया था। उन्हीं दिनों बेगम के अर्थमन्त्री राजा बालकृष्णसिंहजी चल बसे। किन्तु इतनी महान विपत्तियों में भी बेगम ने साहस नहीं छोड़ा, क्योंकि अंग्रेजों की दासता स्वीकार करने की अपेक्षा मृत्यु का हँसते-हँसते वरण करने को तत्पर वीरों की उनके पास कमी नहीं थी। वे प्रतिदिन ही संगठित होते थे और अंग्रेजों से टक्कर लेते थे। इन वीरों में मौलवी अहमदशाह अग्रगण्य था। रणांगण में लगे घाव ज्योंही थोड़े ठीक हुए वह पुनः अपनी सेना को संगठित कर रणभूमि में ५ फरवरी को कूद पड़ा। किन्तु विद्रोही सैनिकों में तो दिन-प्रतिदिन ही कायरता बढ़ती जा रही थी, अतः उस दिन के युद्ध में भी क्रान्तिकारियों को पराजय का मुख देखना पड़ा। फिर भी मौलवी ने तो नतमस्तक न होते हुए संघर्ष जारी रखना था। इस पराक्रमी पुरुष के प्रवल पौरुष को देखकर तो अंग्रेज भी चकित हो गए थे। अतः अंग्रेज इतिहासकार होम्स को भी अपने ग्रन्थ "सिपॉय वार" में इन शब्दों में उसका गुणगान करना पड़ाः—

"यद्यपि अधिकांश विद्रोही कायर थे, किन्तु उनका नेता अवश्य ही अपनी निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता सहित अपने ध्येय देव की अर्चना में तल्लीन था। वह सैनिक कार्य का दायित्व निभाने में भी पूर्णतः योग्य था। और उनका यह नेता था फैजाबाद का मौलवी अहमदशाह।"[१]

६०वीं रेजीमेन्ट के एक सूबेदार ने ८ दिन में ही अंग्रेजों को आलम बाग से निष्कासित कर देने का संकल्प ग्रहण किया। उसने पुनः धावा बोला। एक दिन स्वयं बेगम साहिबा भी सेना के साथ रणांगण में कूद पड़ीं। किन्तु अभागे लखनऊ के भाग्य में तो विजयश्री का वरण करना लिखा ही नहीं था। और विजश्री का वरण लखनऊ के क्रान्तिकारी करते भी तो कैसे ? विजय तो कर्त्तव्यपरायणता और कार्यकुशलता की दासी है। यदि लखनऊ के क्रांतिकारी उस कर्त्तव्यपरायणता का वरण करते तो विजयश्री निश्चित रूप से ही उनका वरण करती।

अन्ततः कॉलिन केम्पबेल को आलम बाग की अंग्रेजी सेना के साथ जाकर मिलने का अवसर प्राप्त हो ही गया। अंग्रेजी सत्ता लखनऊ को पराजित करने के लिए एक वर्ष से जूझ रही थी, फिर भी अनेक आक्रमणों को सहता हुआ यह नगर स्वराज्य की पावन पताका तले अभी तक स्वतन्त्र ही था। किन्तु आज तो अंग्रेजी

और बेगमों के शक्तिपूरित चरित्र से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपने रनिवासों और हरमों में प्रचुर मानसिक शक्ति प्राप्त होती थी और वे किसी भी स्थिति में योग्य पग उठाने में समर्थ थीं। रसेल की डायरी पृष्ठ २७५, "नेरेटिव्हस आफ दि म्युटिनी" पृष्ठ ४०८

१. मेलसन कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ २७०

सेना लखनऊ को पराजित किए बिना वापस न लौटने के लिए दृढ़ संकल्प लेकर चढ़ी थी। आज तो वह अन्तिम और निर्णायक घड़ी आ पहुंची थी जब अंग्रेजी सत्ता अथवा भारतीय सत्ता इन दोनों में से किसी एक-न-एक का पतन होना ही था। जिस प्रकार अंग्रेजी सत्ता ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति यहां एकत्रित कर झोंक दी थी उसी भांति विद्रोही भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति को दांव पर लगा बैठे थे। स्थान-स्थान से स्वातन्त्र्य भक्त लखनऊ में स्वतन्त्रता की पताका को फहराये रखने के लिए संगठित हो रहे थे। चार्ल्स वाल ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन' म्युटिनी के खण्ड दो के पृष्ठ २४१ पर लिखा है—मधुमक्खियों के समान प्रदेश भर से हजारों आवारा लोगों और स्वयंसेवकों के झुण्ड के झुण्ड सशस्त्र होकर फिरंगियों से होने वाले अन्तिम संघर्ष में भाग लेने तथा मरने के लिए अपने सेनापति के पास एकत्रित हो रहे थे।" उन्होंने प्रत्येक घर में ही छेद बनाकर बन्दूकों से गोलियां दागने की व्यवस्था की थी। प्रत्येक मोर्चे पर तपेतपाए क्रान्तिकारियों को नियुक्त किया गया था। पूर्व की ओर गोमती नदी में से अनेक स्थानों पर जल धाराएं काटकर उन नहरों को भरा गया था, जिन्हें क्रान्तिकारियों ने ही खोदा भी था। दिलखुशबाग से लेकर केसरबाग स्थित राजमहल तक संरक्षण के लिए मोर्चे बना दिए गए थे। उस समय इस नगर में अवध और अन्य प्रान्तों से लगभग ८० हजार सशस्त्र योद्धा एकत्रित हो चुके थे। संक्षेप में कहा जाए यो यह कहा जा सकता है कि उत्तर की दिशा को छोड़कर क्रान्तिकारियों ने लखनऊ की सुरक्षा की समुचित और सम्पूर्ण व्यवस्था कर ली थी।

इस]सम्पूर्ण स्थिति का अवलोकन कर सर कॉलिन ने इसी उत्तर दिशा से क्रांतिकारियों पर आक्रमण किया। अब तक हेवलॉक, आउट्रम अथवा केम्पबेल किसी ने भी उत्तर की ओर से आक्रमण नहीं किया था। उधर गोमती नदी होने के कारण क्रान्तिकारियों ने भी कोई विशेष व्यवस्था नहीं की थी। किन्तु सर कॉलिन के निर्देश पर जब तक आउट्रम उस दिशा से क्रान्तिकारियों के गर्मस्थल पर प्रचण्ड प्रहार किया तो क्रान्तिकारियों का इस ओर से दुर्लक्ष ही उनके लिए घातक सिद्ध हुआ। प्रतिकार में ढिलाई आने से क्रान्तिकारी हर मोर्चे पर ही मार खाने लगे। उस समय तक सर कॉलिन के पास भी ३० हजार के लगभग सैनिक एकत्रित हो गए थे।[1] तब उसने दिलसुखबाग के समीप अपना केन्द्र बनाकर पूर्व की ओर से क्रान्तिकारियों पर आक्रमण किया। ६ मार्च से ही ब्रिटिश सेना ने लखनऊ पर उत्तर और पूर्व की ओर से प्रहार करने आरम्भ किए। सर कॉलिन ने अपनी व्यूह-रचना इस उद्देश्य को समक्ष रखकर की थी कि एक भी क्रान्तिकारी को जीवित न जाने दिया जाए। उसने उन्हें चारों ओर से ही घेर लिया था। ६ से १५ मार्च तक क्रांतिकारियों ने डटकर संग्राम किया। इस अवधि में लखनऊ को अपने शत्रुओं से अह-

निशि जूझना पड़ा। दिलखुशबाग, कदम रसूल, शाहनजीफ, बेगम कोठी इत्यादि स्थलों पर अधिकार करते हुए अंग्रेज सैनिक आगे बढ़ते जा रहे थे। दिनांक १० को अंग्रेज योद्धा हडसन क्रान्तिकारियों की गोली का शिकार बन गया। यह वही हडसन था जिसने शरण में आए हुए निरपराध राजपुत्रों की दिल्ली में निर्ममता सहित हत्या की थी। इस पापी नराधम को आज गोली से उड़ाकर लखनऊ ने मानों दिल्ली का प्रतिशोध ही लिया था। दिनांक १४ को तो गोरी सेना राजमहल में ही प्रविष्ट हो गई। मॅलेसन ने उसकी इस विजय का वर्णन इन शब्दों में किया है "इस यश की उपलब्धि का मुख्य कारण सिख सैनिक तथा १०वीं पलटन ही थी।"[१]

परन्तु सर कॉलिन के मन में केसरबाग में मिले इस यश से जो आनन्द की लहर उमड़ी थी आउट्रम की ओर से प्राप्त हुए समाचारों ने उसमें दुःख भी मिला दिया; क्योंकि लखनऊ का पतन भले ही हो गया था, किन्तु सहस्रों क्रान्तिकारी अपने तरुण राजपुत्र तथा अकुंठित बेगम-सहित अंग्रेजों के घेरे को तोड़कर लड़ते-लड़ते निकल भागने में सफल हो गए।

जिस समय गोरे लखनऊ में जी भरकर लूट मार करने में संलग्न थे, उसी समय वह प्रणवीर मौलवी पुनः लखनऊ में प्रविष्ट होता दिखाई पड़ा। लखनऊ के पराजित होने और अंग्रेजों के वहाँ नग्न ताण्डव करने की कल्पना तक भी उसके लिए असह्य थी। वह तो उसे विषतुल्य प्रतीत होता था। अतः उसने शिविर से ही लखनऊ में प्रवेश करने का प्रयास किया। अपने राजा के अपमान से क्षुब्ध, देश-भक्ति से दग्ध हृदय लिए वह वीर देशाभिमानी अपने कतिपय अनुयायियों सहित शहर के मध्य भाग में घुसकर शहादतगंज में जूझ पड़ा। इतिहासकार को लिखना पड़ा कि लखनऊ का संघर्ष करते-करते ही पतन हुआ। शत्रु ने सम्पूर्ण नगर पर अधिकार कर लिया। फिर भी मौलवी उसी प्रकार डटा रहा, जिस प्रकार मैजिनी रोम में संघर्ष करता रहा था। जिस समय सारी क्रान्तिकारी सेना लखनऊ से निकल गयी थी, उस समय अंग्रेज वहाँ आतंक का दौर-दौरा चला रहे थे। मॅलेसन ने लिखा है—"विद्रोहियों का हठी नेता मौलवी पुनः लखनऊ में आ गया था। उसने लखनऊ के ठीक मध्य में स्थित शहादतगंज के एक भवन में मोर्चाबन्दी की थी, जिसमें दो तोपें भी लगी हुई थीं। मौलवी अंग्रेजों को चुनौती दे रहा था। लखनऊ की चढ़ाई के पहले दिन ही बेगम कोठी को जीतनेवाली सेना के अवशिष्ट सैनिकों के साथ लूगार्ड को दिनांक २१ को मौलवी को भगाने के लिए भेजा गया। उसके साथ ही ९३वीं हाइलैण्डर और चौथी पंजाब राइफल्स पलटनें भी

---

१. के तथा मेलसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ २७०

थीं। आज के समान हठवादिता और शौर्य का परिचय विद्रोहियों ने पहले कभी नहीं दिया था। उन्होंने बड़ी वीरता सहित सामना किया। हमारे अनेक लोगों को हताहत कर देने के उपरान्त ही वे पराजित हो पाए।[१]

लखनऊ का यह अन्तिम संघर्ष था। कुछ देर उपरान्त जब यह संघर्ष समाप्त हो गया तो देशभक्त मौलवी ने देखा कि जिस ध्वज के लिए मैं युद्ध करता रहा हूं अब वह राज्यध्वज लखनऊ पर नहीं फहरा रहा है, अपितु मेरी तलवार की मार्ग प्रतीक्षा करते हुए उधर वन प्रान्तर में अधीष्ठित हो गया है।

विद्रोहियों द्वारा अंग्रेज वन्दियों के साथ किए गए व्यवहार तथा अंग्रेजों द्वारा विद्रोहियों के साथ किए गए व्यवहार की तुलना और अन्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से दो-तीन उदाहरण प्रस्तुत करने ही पर्याप्त होंगे। लखनऊ के कारागार में कुछ अंग्रेज महिलाएं तथा अंग्रेज अधिकारी भी थे। किन्तु जब कॉलिन की सेनाओं ने नगर में प्रवेश करते ही छोटे-बड़े, सभी की हत्याएं करनी आरम्भ कर दीं तो क्रान्तिकारी सिपाही भी सन्तप्त हो उठे और वे ६ महीने से बन्दी बनाकर रखे गए इन अंग्रेजों की हत्या कर देने की अनुज्ञा प्राप्त करने हेतु केसरबाग स्थित राजमहल में पहुंचे। विद्रोही सैनिकों ने इन बन्दियों को उनके अधिकार में दिए जाने की मांग की। कैप्टन ओर, सर माउंट स्टुअर्ट, इत्यादि ५-६ गोरे अधिकारियों को सैनिकों को सौंप भी दिया गया और उन्होंने उन्हें वहीं गोलियों से ठण्डा कर दिया। किन्तु जब विद्रोही अंग्रेज महिला वन्दियों को सौंपने की भी मांग करने लगे तो "वेगम ने नारी जाति की प्रतिष्ठा के नाम पर ऐसा करने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया। उन्होंने सभी अंग्रेज महिलाओं को अपने जनानखाने में लाकर उनकी प्राण रक्षा भी की।"[२]

किन्तु इसके विपरीत अंग्रेजों ने लखनऊ में कैसे जघन्य अत्याचार किए, इसकी साक्षी भी प्रसिद्ध इतिहासकारों द्वारा लिखित विवरणों से ही उपलब्ध की गई है। विद्रोहियों को—हां अवध के तो सभी लोग विद्रोही थे, जिनकी आयु ५ वर्ष से लेकर ८० वर्ष तक की थी, गोलियों से उड़ा दिया गया। इस प्रकार विद्रोहियों के इस नरमेध में जो लोग घायल हो गए थे, उन्हें भी गोलियां मारकर उनके प्राण ले लिए गए। ग्रामों को आग लगाकर भस्म कर दिया गया। इस प्रकार के अत्याचार प्रतिदिन ही हो रहे थे। किन्तु इन अत्याचारों की अपेक्षा भी जो लोमहर्षक अत्याचार किए गए उनका वर्णन प्रख्यात लेखक डाक्टर रसेल ने अपनी आंखों से देखा। उन्होंने ऐसी ही एक घटना का विवरण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

---

१. के तथा मेलसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ४, पृष्ठ २८६,

२. चार्ल्स बालकृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड २', पृष्ठ ६४

"अभी भी कुछ सिपाही जीवित थे और उनकी दयासहित हत्या कर दी गई। किन्तु उनमें से भी एक को घर के बाहर रेतीले मैदान में खींचकर लाया गया। उसे पांव पकड़कर खींचते हुए एक उपयुक्त स्थान पर लाया गया। वहाँ अंग्रेज सैनिकों ने उसके शरीर में अपनी संगीनें घोंप दीं। जबकि दूसरे सैनिकों ने एक छोटी-सी अर्थी के लिए ईंधन एकत्रित किया। जब सब कुछ तैयार हो गया तो इस व्यक्ति को जीवित ही जला दिया गया। अनेक अंग्रेजों और उनके अधिकारियों ने इस दृश्य को देखा। किसी ने भी उस समय हस्तक्षेप नहीं किया। इस आन्तरिक अत्याचार की पराकाष्ठा तो उस समय हुई जबकि अधजले व्यक्ति ने उठकर भागने का प्रयास किया। जब बड़ी ही तड़फन के साथ वह अपने लटकते हुए मांसपिण्डों को लिए ही भाग पड़ा, उसी समय उसको पकड़ लिया गया और वापस लाया गया। और उसे फिर चिता पर चढ़ा दिया गया और तब तक उसे संगीनों के बल पर रोके रखा गया जब तक कि वह जलकर क्षार-क्षार नहीं हो गया।"

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत हैं। "जब नगर में हत्याकाण्ड चल रहा था तो एक कश्मीरी बालक एक वृद्ध को लिए हुए आया। उस वृद्ध ने एक गोरे अधिकारी के पास पहुँचकर उसे साष्टांग दण्डवत् किया और उससे प्राण-रक्षा की याचना की। किन्तु उसकी प्राणरक्षा के बदले में उस अधिकारी ने अपनी पिस्तौल निकालकर उस वृद्ध की कनपटी पर दाग दी, फिर एक बार निशाना दागा गया, किन्तु वह भी चूक गया। उस गोली ने भी उस निष्कलंक बालक की हत्या का काम सम्पन्न न करना चाहा। हाँ, चौथी बार वह वीर यशस्वी हुआ और उसके पैरों के पास भूलुंठित होता हुआ वह बालक दम तोड़ गया।"

दिल्ली पराजित हो गई थी, लखनऊ भी हार गया। किन्तु इस पर भी क्रांति-युद्ध की धधकती ज्वालाएं मन्द नहीं हुईं। इस अनपेक्षित स्थिति को देखकर अंग्रेजों को यह विदित हुआ कि वे इस विप्लव को केवल सिपाहियों द्वारा किया गया, तथा एक-दो असन्तोष के कारण उपलब्ध हो जाने के कारण हुआ मानकर भूल कर रहे थे। वे समझ गए कि यह 'बलवा' नहीं था, विद्रोह नहीं था, अपितु स्वातन्त्र्य संग्राम था। असन्तोष के एक-दो कारणों के फलस्वरूप ही इसकी ज्वालाएं नहीं धधक उठी थीं। अपितु इसके मूल में तो अनन्त दुखों की जन्मदायिनी राजनीतिक पराधीनता ही थी। उन्हें विदित हो गया कि इस युद्ध के मूल में क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं थे, अपितु स्वतन्त्रता की दिव्य ज्योति, स्वदेश और स्वधर्म के पुनरुद्धार की पुनीत भावनाएं ही प्रज्वलित हो रही थीं। स्वाधीनता को एक पावन ध्येय माननेवाले सिपाही ही इसमें अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करने को तैयार नहीं हुए थे, अपितु मध्यमवर्गीय लोग और ग्रामीण जनता भी इस उत्थान में प्रमुख रूप से भाग ले

रही थी। यदि ऐसा न होता तो इतनी प्रचण्ड शक्ति निःस्वार्थ भावना, साहस और शौर्य कदापि प्रकट न हो पाता। क्योंकि उसी समय तो लार्ड केनिंग ने यह ढिंढोरा पीटा था कि "जो भी इस विद्रोह में शामिल होगा, उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति, भूमि आदि जप्त करली जाएगी और जो इसमें भाग नहीं लेगा, उसे माफ कर दिया जाएगा।" इस घोषणा के उपरान्त भी क्रान्तिकारियों ने आत्मसमर्पण नहीं किया था! लखनऊ का पतन हुआ तो क्या, अवध तो अभी स्वातन्त्र्य संग्राम को जारी रखे ही हुए था। डा० डफ ने इस प्रचण्ड उत्थान के सम्बन्ध में लिखा है—"यदि इस विद्रोह को बहुसंख्यक जनता का समर्थन प्राप्त न होता और सहानुभूति न मिली होती और यह केवल सैनिकों द्वारा किया गया बलवा मात्र ही होता तो प्रथम दो चार बड़ी विजयों के उपरान्त ही इसे कुचल दिये जाने में सफलता मिल जाती और यह बगावत शान्त हो जाती। किन्तु बात तो पूर्णतः विपरीत ही थी। विद्रोह की गति मन्द होने के स्थान पर और भी अधिक प्रज्वलित हो उठी और उसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया। अब तो इसका रूप अत्यधिक प्रखर रूप ग्रहण कर गया है। प्रतीत होता है कि यह सैनिकों का साधारण-सा विद्रोह नहीं, यह विप्लव है, क्रान्ति का विस्फोट है। यही कारण है कि इसके दमन में हमें थोड़ा ही यश मिल पाता है और प्रतीत हो रहा है कि यह शीघ्र दबनेवाला भी नहीं है। प्रतिदिन के अनुभव से यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि यह "बलवा' सहसा ही नहीं भड़का है। प्रतिदिन ही इसके अनेक प्रमाण मिलते जाते हैं। यह 'बलवा' तो बहुत दिनों के सोच विचार का परिणाम है और इसमें अस्वाभाविक रूप से हिन्दू और मुसलमान मिलकर कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष कर रहे हैं। अवध की सम्पूर्ण जनता ने इसका पृष्ठपोषण किया है और आसपास के आधे से अधिक प्रदेशों ने इसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आशीर्वाद प्रदान किया है, सहायता भी की है। ऐसे विद्रोह को उन कतिपय पूर्ण और सराहनीय विजयों से कुचला जाना असंभव है, जो हमने विद्रोही सिपाहियों पर प्राप्त की हैं।

"प्रारम्भ से ही यह विद्रोह शनैः शनैः विद्रोह का रूप ग्रहण करता जा रहा था। सैनिकों के अतिरिक्त असंख्य सामान्य व्यक्तियों के द्वारा भी जिस विद्रोह में सहयोग दिया जा रहा है, वह वस्तुतः सम्पूर्ण अंग्रेजी राज्यसत्ता और शासन के ही विरुद्ध संग्राम है। हमारा वास्तविक युद्ध केवल बागी सिपाहियों मात्र से ही नहीं था और अब तो केवल नहीं के ही बराबर रह गया है। यदि केवल सिपाही ही हमारे शत्रु होते तो हमें शान्ति स्थापित करने में कभी की सफलता प्राप्त हो गई होती।

"जहाँ-जहाँ भी मुठभेड़ हुई है, हमने वहाँ वहाँ ही शत्रुओं को तितर बितर कर उनकी तोपें भी छीनकर उन्हें भगा देने में सफलता प्राप्त की है। किन्तु बार-

बार पराजित होने पर भी वह पुनः संगठित होकर हमें चुनौती देने खड़ा हो जाता है। इधर एक नगर पर विजय प्राप्त भी नहीं की कि दूसरे नगर के समक्ष संकट आ खड़ा होता है। विद्रोही सैनिकों की बाढ़ से हम एक जिले को सुरक्षित कर देने की घोषणा करते ही हैं तो दूसरे जिले में अशान्ति के अंगारे दहक उठते हैं। मोर्चे के स्थानों में यातायात आरम्भ करते ही उन्हें तत्काल बन्द भी कर देना पड़ता है। और कुछ समय के लिए तो संबंध पूर्णतः कट ही जाता है। एक बस्ती से विद्रोही भगाए जाते हैं, दूसरी में तीन गुनी अधिक संख्या में एकत्रित हो जाते हैं। हमारे गश्ती दस्ते शत्रुओं की पंक्तियों को चीरते हुए आगे बढ़ जाते हैं तो पीछे के प्रदेश पर पुनः विद्रोहियों का अधिकार हो जाता है। शत्रुओं की संख्या में जो कमी आती हैं, वह भी तत्काल पूर्ण करली जाती है। ऐसा कहीं भी हमें अनुभव नहीं हो पाता कि हम शत्रुओं का समूलोच्छेद कर देने में सफल हो गए हैं और न ही हमारी विजयों से लोगों में भय उत्पन्न होता दिखाई पड़ता है।"[1]

डाक्टर डफ़ ने वास्तविक स्थिति का द्योतक जो सत्य विवरण प्रस्तुत किया है, उसका अनुभव अंग्रेजों को लगभग अन्त में ही हो पाया था। किन्तु प्रत्येक "पांडे" (क्रान्तिकारी) अपने ध्येय के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही पूर्णतः परिचित था स्वदेश और स्वराज्य के लिए जिन हुतात्माओं ने अपने जीवन प्रसून मातृभूमि के चरणों में समर्पित किये थे, वे तो इन बातों की घोषणा करते ही थे, उनकी वीर पत्नियों ने भी इतने ही कठोर निश्चय की अभिव्यक्ति की थी। जब कतिपय 'शूर' अंग्रेजों ने रनिवास पर आक्रमण किया तब कुछ महिलाएं भी उनके हाथों में पड़ गयीं। द्वार तोड़कर भीतर प्रवेश करते ही अंग्रेज सैनिकों ने वहाँ अंधाधुंध गोली वर्षा आरम्भ कर दी थी। इस गोली वर्षा के परिणामस्वरूप कुछ देवियों ने तो वहीं प्राण त्याग दिये। जो जीवित रहीं उन्हें बन्दी बना लिया गया। लखनऊ को नष्टभ्रष्ट कर ध्वंसावशेषों में परिणत कर दिया गया था। यह दृश्य देखकर अंग्रेज आनन्दमग्न होकर यह समझने लग गये थे कि बस अब क्रान्तिकारी आत्मसमर्पण करने ही वाले हैं। अपने देश वान्धवों के इस आनन्दित और उन्माद में सहभागी कतिपय अंग्रेज जेलर भी उन बन्दी रानियों को विक्षुब्ध करने हेतु उनसे पूछने लगे कि "क्यों अब भी तुम्हें यह विदित नहीं हुआ कि विद्रोह पूर्णतः कुचल दिया गया है?" किन्तु उन्हें तत्काल ही उत्तर मिलता था कि इसे कुचलना तो बहुत दूर की बात है, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि अन्ततोगत्वा तुम्हें पराजित अवश्य ही होना पड़ेगा।[2]

●●●

---

१. डाक्टर डफ-कृत 'इण्डियन रिबेलियन', पृष्ठ २४१-२४३।

२. नेरेटिव्ह ऑफ दि 'इण्डियन म्युटिनी' पृष्ठ ३३८, रसेल की डायरी, पृष्ठ ४००।

: ८ :

कुंवरसिंह और अमरसिंह

मनुष्य की आयु जितनी अधिक होती है, उसे उतना ही ज्यादा बूढ़ा कहा जाता है। किन्तु ऐसे भी मनुष्य हुए है, जिन्होंने अपने शौर्य-बल से यह सिद्ध किया है कि अधिक आयु से मनुष्य बड़ा तो होता है, बूढ़ा नहीं। नर केहरी वीर कुंवरसिंह ऐसे ही वीर पुरुष थे, जिन्होंने अस्सी वर्ष की उम्र में भी शत्रु के दांत खट्टे कर दिये।

शहाबाद प्रांत के इस वीर ने जगदीशपुर दून से जनरल आयर को भगाया। शेर कुंवरसिंह की तरह ही उनके भाई अमरसिंह, उनकी रानियां तथा जागीरदार निस्वारसिंह स्वाधीनता के इस समर में उनके सहयोगी थे। अन्तःपुर में जिन रानियों के हाथों में चूड़ियाँ खनखनाती थीं, उनके फौलादी हाथों में अब तलवारों की खनखनाहट सुनाई देती थी। अपनी तलवारों की प्यास शत्रु के शोणित से बुझाना ही वीर कुंवरसिंह तथा उनके साथियों की प्रबल इच्छा थी।

जो क्षेत्र शुरू से ही कुंवरसिंह के वंशधरों से शासित रहा, उसे शत्रु ने अपने अधीन कर लिया था। जगदीशपुर का राजप्रासाद भी शत्रु के हाथों में था। इस प्रदेश के धार्मिक केन्द्रों—मन्दिर-मूर्त्तियों के साथ भी शत्रुओं ने ऐसा ही असहिष्णु व्यवहार किया था। अंग्रेजों ने कुंवरसिंह की राजधानी के चारों ओर घेरा डाल रखा था। यद्यपि कुंवरसिंह के पास अंग्रेजों के मुकाबले में बहुत थोड़ी सैन्य शक्ति थी—मात्र बारह सौ सैनिक और पांच सौ नई भरती के जवान; फिर भी उसने शत्रु से लोहा लेने का दृढ़ निश्चय किया।

कुंवरसिंह

जब सैन्य शक्ति प्रतिपक्षी के मुकाबले में कम होती है, तब युद्धपद्धति की सूझ-बूझ, बुद्धिबल और युद्ध की

दूरदर्शिता ही काम देती है। ऐसी ही एक युद्धपद्धित—वृकयुद्ध-पद्धति का वीर कुंवरसिंह एक बहुत बड़ा जानकार था और उसीका सहारा उसने लिथा। कुंवरसिंह जानता था कि उसकी थोड़ी-सी सेना अंग्रेजी फौजों के सामने ज्यादा देर नहीं टिक पायेगी। सोन नदी के किनारे पश्चिमी बिहार के जंगल से कुंवरसिंह शत्रु के ऐसे स्थान का पता लगाने बैठ गया, जहां धावा बोलने पर शत्रु को पराजित किया जा सके। तभी उसे मालूम हुआ कि लखनऊ की जानकारी प्राप्त करने के लिए गोरखों की तथा अंग्रेजी फौजें आजमगढ़ से भेजी गई हैं। बस शेर ने जंगल छोड़ दिया। वृकयुद्ध के इस पण्डित को यह समझते देर नहीं लगी कि पूरबी अवध में अंग्रेजों का बल बहुत थोड़ा है। अतः आजमगढ़ पर छापा मारने चल पड़ा। इस आक्रमण में कुंवरसिंह के सामने दो उद्देश्य थे—पहला शत्रु को पराजित करना तथा दूसरा उद्देश्य यह था कि उस क्षेत्र के क्रान्तिकारियों को सगठित करे। इस आक्रमण में उसका एक विचार यह भी था कि यदि इस वार सफलता मिली तो इलाहाबाद तथा वनारस पर हमला करके जगदीशपुर के आक्रमण का प्रतिशोध लिया जाय।

१८ मार्च, १८५८ को बीवा के क्रान्तिकारी भी उसके साथ मिल गये। तदनन्तर संयुक्त सेना ने अतरौलिया के किले को घेर लिया। आज़मगढ़ अतरौलिया से पच्चीस मील की दूरी पर है। लेकिन यह खवर अंग्रेजों को मिल गई और तीन सौ पैदल सेना, कुछ रिसाला और दो तोपें लेकर मिलमन ने अतरौलिया पर धावा बोल। दिया इस अचानक धावे ने क्रान्तिकारियों को कुछ भी करने की फुरसत न मिलने दी। २२ मार्च को दोनों सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। क्रान्तिकारियों की हार हुई। एक रात पहले से चलकर इतनी दूरी तय करने के वाद थकी अंग्रेज सेना ने जो विजय पाई, वह भी प्रशंसा के योग्य है।

इस विजय के वाद अंग्रेजी सेना को आदेश मिला कि अंग्रेज सैनिकों तुमने अपना खून-पसीना एक करके यह विजय प्राप्त की है। अतः विजयोत्सव मनाओ। और इस आदेश में मस्त होकर अंग्रेज सैनिक आनन्द में विभोर, निश्चिन्त होकर नाश्ता करने लगे। शराव पीने की तैयारियां होने लगीं। चारों ओर सशस्त्र पहरा लगा था। लेकिन शराब के भरे जामों ने उन्हें वेखवर कर दिया।…धांय ! धांय ! धांय ! की आवाज। इस अप्रत्याशित हमले से उनके रंग में भंग पड़ गया। उन्हें आशंका थी कि कहीं वह शेर ही न आ गया हो। उनकी आशंका सही निकली। इस तरह ब्रिटिश सेना रूपी गज पर टूटने वाला गजराज वह कुंवरसिंह ही था। अपनी पुस्तक 'इंडियन म्यूनिटी' (खण्ड ४, पृष्ठ ३१९) में मॅलेसन ने लिखा है, "संच्चे सेनानी को और क्या चाहिए था। मनचाहा सबकुछ उसे मिल गया था।" विजय को निश्चित जान कुंवरसिंह ने धावा वोल दिया। मिलिमन ने हमला

करने का वहकावा दिया। युद्धस्थल के आसपास खेतों, झाड़ियों पर से गोलियां सरसराती हुई इधर-से-उधर निकल रही थीं। इस अवसर पर कुंवरसिंह के पास मिलिमन से पांच-छह गुना अधिक सेना थी। मिल्टन को यह निश्चय हो गया कि कुंवरसिंह की सेना उसे अपने चंगुल से निकलने नहीं देगी, अतः उसने अपने आक्रमण को ढीला कर दिया और परास्त-सी होकर अंग्रेज फौजें पीछे हटने लगीं। यह वृकयुद्ध-पद्धति का कौशल था। इधर-उधर बिखरे अंग्रेज सैनिकों पर कुंवरसिंह की सेना अब भी हावी थी। अंग्रेज सैनिक धराशायी हो रहे थे। इस तरह कुंवरसिंह को विजय श्री मिली। लेकिन इस विजय से वह रणधीर वीर कुंवरसिंह मदोन्मत्त नहीं हुआ। यदि वह इस युद्ध-नीति से काम न लेता तो आमने-सामने की लड़ाई में उसे अपनी जय में संदेह ही था। इस प्रकार अंग्रेज फौजों को अतरौलिया से कोसिल्ला तक खदेड़ दिया गया।

लेकिन कोसिल्ला पहुंचकर भी अंग्रेजी सेना चैन की सांस नहीं ले पाई। कोसिल्ला में अंग्रेजों की हार का समाचार पहले ही पहुँच गया था। वहां के हिन्दुस्थानी नौकर अपनी देखभाल में पशुओं तथा अन्य सभी साज सामान सहित कोसिल्ला से बाहर चले गए थे। वहां पहुंचकर अंग्रेज सेना को भोजन, नौकर आदि कुछ भी सुलभ नहीं हुआ। उधर कुंवरसिंह की सेना भी पीछा कर रही थी। अपने को इस तरह घिरा देखकर मिलिमन ठीक आजमगढ़ की ओर को हटा। यहां उसे तसल्ली मिली, क्योंकि उसके भेजे गए समाचार के अनुसार कर्नल डेम्स के अधीनस्थ ३५० सैनिक उसे सुसज्जित मिले। ये सैनिक बनारस और गाजीपुर से आये थे और युद्ध के लिए पूरी तैयारी के साथ कटिबद्ध थे। अतः सबने मिलकर कुंवरसिंह से बदला लेने का निश्चय कर लिया।

पूर्व निश्चय के अनुसार २८ मार्च को कर्नल डेम्स आजमगढ़ से आगे बढ़ा। लेकिन कर्नल डेम्स को मुंह की खानी पड़ी। यहां से हारने के बाद कर्नल डेम्स को अपनी सेना पीछे लौटानी पड़ी और आजमगढ़ की घुसपैठ से ही उन्हें त्राण मिला। कुंवरसिंह से बदला लेने की बात जहां की तहां रह गई। कुंवरसिंह आंजमगढ़ में घुसा। वहां गढ़ी में अंग्रेज भूखों मर रहे थे। उन अंग्रेजों के लिए थोड़े-से सैनिक छोड़ वीर कुंवरसिंह ने बनारस पर चढ़ाई कर दी।

"इस चढ़ाई के समय गवर्नर जनरल केनिंग इलाहाबाद में ही था। केनिंग कुंवरसिंह की युद्ध-क्षमता, धैर्य, वहादुरी आदि सभी गुणों से परिचित था। अतः आने वाले संवाद का रूप उसके सामने स्पष्ट था।"[1]

आजमगढ़ में गोरी सेना कुंवरसिंह के कब्जे में गढ़ी में भूखों मर रही थी।

---

१. मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी,' खण्ड ४, पृष्ठ ३२१

८१ मील की दूरी को तय करने के बाद कुंवरसिंह ने बनारस पर आक्रमण किया। यह आक्रमण इलाहाबाद और कलकत्ते का सम्बन्ध तोड़ने के लिए किया गया था। इसी समय लखनऊ से आये हुए क्रांतिकारी भी कुंवरसिंह के साथ हो गए थे। कैनिंग यह अच्छी तरह जानता था कि कुंवरसिंह हतोत्साहित सैनिकों में नया उत्साह भरने और उनके संगठन में अद्भुत क्षमता रखता है। कलकत्ते में तथा कलकत्ते के आसपास जो क्रान्ति हुई थी, उसे एकदम दबा दिया गया था। इस समय सिक्खों के बलबूते पर ही इलाहाबाद और बनारस में अंग्रेजों का पूरा अधिकार था। क्रान्ति के पूर्वार्द्ध में जो असफलता मिली थी, उस खोये अवसर को पुनः प्राप्त करने के लिए कुंवरसिंह ने बनारस और इलाहाबाद पर आक्रमण किया। और कुंवरसिंह का सामना करने के लिए कैनिंग ने लार्ड मार्क कर को भेजा।

भारतीय युद्ध-कला से पूर्ण परिचित, क्रीमिया के युद्ध में प्रसिद्ध लार्ड कर ने पांच सौ सैनिक तथा आठ तोपें लेकर ६ अप्रैल को प्रातः ६ बजे आक्रमण कर दिया। उसके हर कार्यक्रम पर कुंवरसिंह के लोगों की नजर है, यह बात लार्ड कर को मालूम हो चुकी थी। किन्तु कर ने इस बात की जानकारी से अनभिज्ञ होने का भुलावा देते हुए अपनी सेना को 'सावधान' रहने का आदेश दे दिया और कुंवरसिंह पर बायें पार्श्व से हमला किया। घमासान लड़ाई हुई। दोनों सेनाओं में डटकर मुकाबला हुआ। इस युद्ध में वीर कुंवरसिंह अपने श्वेताश्व पर युवा राजकुमार की तरह शोभा पा रहा था, मानो उसकी युद्धप्रियता को देखकर अस्सी वर्ष की दीर्घायु में भी बुढ़ापा, युद्ध की भयंकरता से भयाक्रान्त होकर उसके पास नहीं आ रहा था। और यौवन ने वफादार साथी की तरह इस उम्र में भी उसका साथ नहीं छोड़ा था।

वीर कुंवरसिंह ने हर स्थिति में सूझ और साहस को नहीं छोड़ा। सैनिकों की संख्या बढ़ाने के लिए अपने नौकरों को भी तुरन्त सैनिक वेश में सेना में मिला लिया। कुंवरसिंह अपनी सैन्य शक्ति और प्रतिपक्षी की सैन्य शक्ति दोनों से परिचित था। मार्क कर से सामना करने के लिए कुंवरसिंह ने सेना को अलग-अलग भागों में बांटा। कुंवरसिंह के पास एक भी तोप नहीं थी दूसरी ओर प्रतिपक्षी की तोपें आग उगल रही थीं। यह सामना कुंवरसिंह के लिए आसान नहीं था। फिर भी उसने हौसले से काम लिया और चातुर्य से विरोधी के पीछे से हमला कर दिया। इससे अंग्रेजों के छक्के छूट गए, क्योंकि उन्हें अपनी तैयारी को बदलना पड़ा। तोपों का रुख दूसरी ओर करना पड़ा। इस युद्ध का परिणाम कुंवरसिंह के अनुकूल होने लगा। क्रान्तिकारी पूरे उत्साह के साथ टूट पड़े। कुंवरसिंह ने अंग्रेजी फ़ौजों की पिछाड़ी इस तरह दाबी की विरोधियों में भगदड़ पड़ गई। हाथी उल्टे लौटने लगे। सवार हाथी की पीठ से चिपक गए, अब उन्हें प्राणों की चिन्ता थी,

विजय की नहीं। मार्क कर ने भागते हुए सैनिकों को जोश दिलाया, रोका पर अब भागने के सिवा कोई दूसरा विकल्प उनके सामने नहीं था।

उधर कुंवरसिंह ने आग लगाना शुरू कर दिया। मार्क कर आजमगढ़ की ओर लौटने लगा। उसका आजमगढ़ लौटने का उद्देश्य वहां के नजरबन्द अंग्रेजों की रक्षा करना था, क्योंकि इधर क्रान्तिकारियों से तो हार खानी ही पड़ी थी। उसकी तोपों ने इस बार अच्छा काम किया। कुंवरसिंह के पास तो कोई तोप थी नहीं। अर्द्धरात्रि को अपनी सेना लेकर मार्क कर आजमगढ़ पहुँच गया। इस लड़ाई में कुंवरसिंह को अपनी भूलों और अड़चनों का सामना भी करना पड़ा। इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'इंडियन म्यूटिनी' (खण्ड ४, पृष्ठ ३२६-३२७) में मॅलेसन ने लिखा है, "कुंवरसिंह व्यूहबाजी की अपेक्षा युद्ध-निपुणता में अधिक चतुर था। उसने अपने आक्रमण की रूपरेखा बहुत ही सुन्दर बनाई थी। लेकिन उस रूपरेखा के कार्यान्वयन में उसने अनेक भूलें भी की थीं। मिलिमन ने उसे बड़ा अच्छा मौका दिया था। कुंवरसिंह उस अवसर से जो चाहे कर सकता था। अंबराव में अतरौलिया के पास जब मिलिमन की सेना जलपान कर रही थी, उस समय उसका आजमगढ़ से सम्बन्ध तोड़ना कुंवरसिंह के लिए आसान था। किन्तु उसने सामने से आक्रमण करना पसन्द किया। जब मिलिमन पीछे लौट रहा था, तब उसे पीछे से हमला करके भगाया जा सकता था। अपनी सेना का एक भाग आजमगढ़ में मिलिमन की नाकाबन्दी के लिए कुंवरसिंह को रखना चाहिए था। सेना के इस भाग को आजमगढ़ के लिए छोड़ शेष सेना को लेकर ही बनारस की ओर बढ़ना उचित था। ऐसी स्थिति करने से लार्ड कर से सामना सुविधापूर्वक होता। बाद में पता लगा कि उसके पास १२००० की फौज थी। इस संख्या के मुकाबले मार्क कर की सेना बहुत ही थोड़ी थी। वैसे कुंवरसिंह एक योग्य संगठक और युद्धनीति का जानकार था। यह भी संभव है कि उसने इन अवसरों को जाना हो। लेकिन उसके पास अपना दल लेकर जो भी क्रान्तिकारी आता, वह अपनी बनाई योजना के लिए ही हठ करता और इस कारण उसे मिलकर ही कुछ तय करना पड़ता।"

आजमगढ़ पर क्रान्तिकारियों का कब्जा था। लार्ड कर को आजमगढ़ में नजरबन्द अंग्रेजों की रक्षा के प्रयोजन में भी विफल होना पड़ा। कुंवरसिंह सैन्य संचालन का अद्भुत जानकार था और उसे कुशल और सफल सेनापति मानना पड़ता है। अपनी सेना की कमी तथा विरोधी सेना की साधन-शक्ति वह बहुत जल्दी जान जाता था। यही कारण था कि जिस किले में अंग्रेज त्राण पा रहे थे, उस किले पर उसने सीधा हमला नहीं किया। वह जानता था कि उसके सैनिक किसी कारण से भयभीत न हों, पर कार्यसिद्ध होने की संभावना होते हुए भी अंग्रेजों की

संगीनों से डरते थे। यह सब संभावना ही नहीं थी आरा और लखनऊ के घेरों में यह बात सिद्ध हो चुकी थी। अंग्रेज किले में नजरबन्द थे। उनको किले से बाहर न जाने देने के अतिरिक्त उनके सर्वनाश की एक और योजना वह बना रहा था।

१८५७ की स्वाधीनता क्रान्ति में क्रान्तिकारियों में दो तरह के मनोभाव के लोग थे। पहले वर्ग में वे लोग थे, जो युद्धभूमि में साक्षात् काल का भी सामना करने को तैयार रहते थे और उनके लिए आजादी का मूल्य सर्वाधिक था। दूसरे प्रकार में वे क्रान्तिकारी थे, जो देश पर प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर तो रहते थे, पर निश्चय की अस्थिरता के कारण, युद्ध-भूमि से भागते और परिणामस्वरूप पराजित हो जाते। कुंवरसिंह पहली मनोवृत्ति के लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। उसने अपने संगठन में इसी प्रवृत्ति के लोगों को एकत्र किया था। युद्ध की कसौटी में ये व्यक्ति पूरे खरे उतरे। ऐसे लोगों की कई टुकड़ियां कुंवरसिंह ने बनाई थीं, विकट परिस्थिति में सफलता प्राप्त करने के लिए इन टुकड़ियों पर उसे पूरा भरोसा था और तानू नदी के पुल पर इन दस्तों को उसने तैनात कर दिया, क्योंकि इस पुल पर जनरल लुगार्ड आजमगढ़ में नजरबन्द अंग्रेजों को मुक्त करने के लिए आ रहा था। लुगार्ड ने अपने मन में यही तय किया कि इस पुल पर डटे रहने का परिणाम यही होगा कि आजमगढ़ में क्रान्तिकारियों का आधिपत्य बना रहे। लेकिन मॅलेसन ने लिखा है, "किन्तु उस चतुर नेता ने जो रूपरेखा तैयार की थी, उसकी गहराई का अंदाजा उसके साथी भी न लगा सके। अपनी जान पर खेलकर आजमगढ़ की रक्षा करना, शत्रु को भुलावा मात्र देने की चाल थी। इस चाल का उद्देश्य यह था कि शत्रु इस भुलावे में आकर अपनी पूरी शक्ति और तैयारी इसके मुकाबले में लगा दे और उधर जगदीशपुर पर हमला किया जाय। इस तरह की योजना सैन्य संचालन की अद्भुत दूरदर्शिता थी। आजमगढ़ से गाजीपुर के लिए गंगा को तैर कर पार करना पड़ता और तत्पश्चात् जोर-शोर से चढ़ाई की जाती, और उसे पुनः जीता जाता। इस कार्यक्रम में इस संकट की भी पूरी संभावना थी कि लुगार्ड पीछा करेगा और भुलावे में डाली गई आरा की अंग्रेज सेना सामना करेगी। इस सम्पूर्ण साहसिक योजना के लिए कुंवरसिंह ने अपने चुने हुए वीर सैनिकों को पुल पर तैनात किया था। आगे की योजना थी कि ये सैनिक तब तक लुगार्ड को रोके रहें, जब तक कि सम्पूर्ण सैनिक टुकड़ियां अंग्रेजों की दृष्टि से ओझल होकर आजमगढ़ को छोड़ गाजीपुर के मार्ग पर न आ जायं। और गाजीपुर पहुँचकर एक बार में ही गंगा को पार करके कुंवरसिंह अपने जगदीशपुर के जंगल में प्रवेश करे। इस सबका परिणाम यह होगा कि अंग्रेजों को अपना सम्पूर्ण कार्यक्रम फिर से प्रारम्भ करना होगा, क्योंकि वर्ष भर में उन्होंने जो कुछ किया, वह सब तो स्वतः ही नष्ट-सा हो जायगा।

पुल पर तैनात रणबाँकुरे सैनिकों के लिए यह आह्वान था—

वीर सैनिको ! इस योजना की सफलता तुम्हारे ही हाथों में है। जब तक वीर कुंवरसिंह शत्रु की दृष्टि से ओझल होकर, अपनी पूरी सैन्यशक्ति को लेकर अपने लक्ष्य को प्राप्त न करलें; तब तक लुगार्ड को इस पुल पर एक कदम भी न रखने देना। तुम्हारे नेता ने इसी कार्य के लिए तुम्हें संगठित किया है कि किसी भी स्थिति में शत्रु को पीठ नहीं दिखाओगे। इस विश्वास की रक्षा ही तुम्हारी आन है। तुम्हारी यही एक आन हो, यही ध्यान हो, यही लक्ष्य हो कि जब तक कुंवरसिंह विरोधी को झांसा देकर निकल नहीं जाता, तब तक यह पुल शत्रु के कब्जे में न आने पावे। तुममें से अंतिम वीर के शरीर में जब तक आखिरी सांस रहे, तब तक इस आन की रक्षा करना और जब वह अन्तिम वीर भी वीरगति प्राप्त करले तो अपनी इस साधना के लिए वह अंतिम वीर पुनः नया जन्म लेकर जूझता रहे !

यह आवाहन प्रत्येक वीर सैनिक के रोम-रोम में व्याप्त था। यह आह्वान उनके अन्तर्मन की पुकार थी। लुगार्ड ने इस छोटी-सी सैनिक टुकड़ी पर जोर-शोर से हमला किया, पर वह क्षणभर भी पुल पर न ठहर सका। बार-बार उसने हमले पर हमले किये। हर बार सामना होता और प्रत्येक बार अंग्रेजों को मुंह की खानी पड़ती। कुंवरसिंह के आजमगढ़ छोड़कर गाजीपुर के मार्ग में प्रस्थान करने तक के संकेत तक ये वीर बराबर लड़ते रहे। 'इण्डियन म्युटिनी' (खण्ड ४, पृष्ठ ३२४) में मॅलेसन लिखता है "रण में धैर्य रखनेवाले वीरों के समान उन वीरों ने नावों के इस पुल की रक्षा बड़े उत्साह से की और उनके साथ सुरक्षित स्थान में पहुँचने के लम्बे समय तक का प्रतिकार कर हट गये।"

इस प्रकार इस 'मृत्युदल' ने अपना ध्येय पूरा कर लिया और फिर स्वतः ही वह पुल छोड़कर पूर्व-निश्चय के अनुसार कुंवरसिंह के पास पहुँच गये।

अचानक ही पुल पर से कोई जवाब मिलना बन्द देख लुगार्ड आगे घुसने लगा। लेकिन वहाँ जनशून्य स्थान ही मिला। कुंवरसिंह की पूरी सेना सफाई के साथ जा चुकी थी। लुगार्ड को ऐसा अनुभव हो रहा था कि पुल पर मुकाबला करनेवाली सेना जादू से पैदा हुई थी और जादू से ही गायब हो गई। सेना थी, इस खोजबीन के लिए उसने गोरे रिसाले तथा घोड़ों पर जानेवाली तोपों को भेजा। ये खोज करनेवाले बारह मील तक भागे-दौड़े, लेकिन सब प्रयास व्यर्थ रहा। और आगे बढ़ने पर अंग्रेजों को मालूम हुआ कि कुंवरसिंह ऐसी सुरक्षित जगह में पहुँच गया था कि पीछा करनेवालों को संदेह बना रहे। विरोधी के आगे क्रांतिकारी भयभीत नहीं हुए। लेकिन क्रान्तिकारियों के सामने अंग्रेजी दस्तों के होश उड़ गए। आगे जाने पर कुंवरसिंह की सेना हाथ में नंगी तलवारें लिये और

तोपों का मुंह शत्रु की ओर किये तैयार मिली। इस मुठभेड़ में रहनेवाला एक अंग्रेज कहता है—"इतने भारी दलवल के सामने सिवा इसके कि अपनी रक्षा करते और हम क्या कर सकते थे? हमारे रिसाले ने तुरन्त ही आक्रमण किया और वे एक चौकोर बनाकर हमें गालियाँ देकर आगे बढ़ने के लिए ललकारते रहे। "लेकिन जब अंग्रेजों ने आगे बढ़ने की धृष्टता की तब उनका ऐसा शानदार स्वागत हुआ कि सैनिक ही क्या अफसर और सेना संचालक वहीं ढेर हो गए। कुंवरसिंह के चौकोर अभेद्य रहे और अंग्रेजों को अपनी सुरक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। तदनन्तर कुंवरसिंह बढ़ते-बढ़ते गंगा के किनारे पहुँच रहा था।

अंग्रेजों की इस फजीहत का समाचार आजमगढ़ पहुंचा। जनरल डगलस पांच-छः तोपें लेकर उनकी सहायता के लिए पहुंच गया। डगलस कुंवरसिंह की तलवार का लोहा मान चुका था। अतः चक्कर काटते हुए नघई गांव के पास पहुंचा। उधर कुंवरसिंह भी उसके स्वागत के लिए तैयार था। कुंवरसिंह ने अंग्रेजों के लिए 'मृत्यु-दल' को तैनात किया और शेष सेना के दो भाग किए। और उन दो टुकड़ियों को भिन्न मार्गों से गंगा के किनारे भेज दिया। यह सब प्रबन्ध चुपचाप हो रहा था। और कुंवरसिंह के विशेष दल ने अपनी चढ़ाई चालू रखी। अंग्रेजों की तोपें उन वीरों को भस्म कर रही थीं। उनके पास तोपें नहीं थी, फिर भी वे प्राणप्रण से डट-कर मुकाबला करते रहे। चार मील तक यह भीषण लड़ाई चलती रही। जब प्रतिपक्षी अंग्रेज हारने लगे तो यह दल दो भिन्न मार्गों से गंगा जानेवाली सेना में मिल गया और इस प्रकार पूरी सेना के साथ कुंवरसिंह गंगा की तरफ बढ़ने लगा।

उपर्युक्त युद्ध में परास्त अंग्रेजों का दल १७ अप्रैल, १८५८ को अठुस गांव के पास ठहरा। रात बिताने के बाद डगलस ने प्रस्थान करने से पूर्व यही तय किया कि कुंवरसिंह के आगे वह नहीं निकल पाया है और वह आगे बढ़ने लगा। किन्तु बाद में पता लगा कि कुंवरसिंह उससे तेरह मील आगे निकल चुका है। ब्रिटिशों की पूरी सैन्य शक्ति, तोपखाना कुंवरसिंह का पीछा कर रहे थे। लेकिन थकावट के कारण पैदल सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। अतः उसे एक रात विश्राम करने के लिए और दी गई। कुंवरसिंह के गुप्तचर अंग्रेजों की हर गतिविधि की सूचना ठीक और त्वरित गति से देते थे। और अंग्रेजों की पैदल सेना की थकावट की सूचना भी उन्होंने ठीक समय पर पहुंचाई। अस्सी वर्ष का बूढ़ा कुंवरसिंह इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहता था। अतः अर्द्धरात्रि को ही उसने प्रस्थान कर दिया। सिकन्दरपुर पहुंचने के बाद घाघरा नदी पार की और गाजीपुर के प्रदेश में प्रवेश कर गया। ठीक मनहर गांव के पास पहुंचकर कुंवरसिंह ने अपने उन सैनिकों को आराम के लिए ठहरा दिया, जो सैनिक हमेशा उसका हर स्थिति में साथ देते थे, उनकी हर योजना को सफल बनाने में प्राणपण से जुट जाते थे। कुंवर-

सिंह जानता था कि उस समय उसकी सैन्यशक्ति कमजोर है, फिर भी सेना को आराम न देना भी तो असहिष्णुता थी। डगलस को इस पड़ाव का पता लग गया और उसने अचानक ही धावा बोल दिया। कुंवरसिंह की थकी हुई सेना अंग्रेजों के इस जोरदार आक्रमण का सामना न कर सकी। इस बार कुंवरसिंह के वीर सैनिकों को असफल होना पड़ा और सेना की रसद, हाथी गोला-बारूद सब युद्ध-सामग्री शत्रु के हाथ लग गई। लेकिन कुंवरसिंह तथा उसकी सेना का उत्साह कम नहीं हुआ। कुंवरसिंह ने देख लिया कि पासा पलट रहा है, तब उसने अपनी पुरानी रणनीति पर चलना तय किया। और इस निश्चय के अनुसार अपनी सेना की छोटी-छोटी टुकड़ियां बनाईं और उन्हें मैदान से हटाकर भिन्न-भिन्न मार्गों पर भेज दिया। और इस प्रकार शत्रु के लिए पीछा करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा। सेना की हर टुकड़ी के प्रत्येक नेता को निश्चित स्थान पर निश्चित समय पर पहुंचने का आदेश कुंवरसिंह ने दे रखा था। अतः सभी टुकड़ियां एक स्थान पर इकट्ठी हुईं और गन्तव्य मार्ग पर चलने लगीं। मनहर में वैसे अंग्रेजों की विजय हुई थी। किन्तु क्रान्तिकारी सेना के गायब हो जाने से उन्हें आश्चर्य हुआ और अंग्रेजों ने मनहर में ही ठहरने का निश्चय किया। इधर कुंवरसिंह अपनी सेना सहित गंगातट के निकट लगभग पहुंच चुका था।

इस प्रकार अपने मार्ग पर चलता हुआ वह गंगा के किनारे पहुँच गया और इतनी बड़ी शर्त जीतने के बाद वह अपने लक्ष्य पर पहुँचा था। अंग्रेज सेना बराबर उसका पीछा कर रही थी। कुंवरसिंह की सेना काफी काम आ चुकी थी, मुट्ठी भर सेना को लेकर अंग्रेजों का सामना करना उसके पक्ष में नहीं था। अतः उसने एक और चाल चली। प्रदेश भर में उसने अफवाह फैला दी कि नावों की कमी के कारण कुंवरसिंह बलिया के पास हाथियों से गंगा पार करेगा। अंग्रेज गुप्तचरों ने अपने सेनापति को यह संवाद दिया। सेनापति ने अपने संवाददाता के इस चातुर्य की प्रशंसा की, "मेरे गुप्तचरों ने मुझे यह ठीक जानकारी दी है कि क्रान्तिकारियों का सबसे बड़ा नेता किस स्थान पर गंगा नदी पार करेगा। अब वह कैसे अपने इरादे को पूरा करेगा। यही देखना है। ऐसा मालूम होता है कि वह स्वयं अपने साथियों तथा हाथियों सहित 'गंगा लाभ' प्राप्त करेगा।" इस तरह गर्वीले वचन कहता हुआ गोरी फौज लेकर डगलस बलिया के पास गंगातट के पास पहुँच गया। और कुंवरसिंह के हाथियों पर आक्रमण करने के लिए छिपकर बैठ गया। तदनन्तर अपने सैनिकों को चेतावनी दी, "अंग्रेज बहादुरों! आगामी विजयोल्लास को निश्चित जान तुम मौज उड़ाओ और शत्रु के आने तक बलिया के पास छिपे रहो।" लेकिन हो कुछ और ही गया। वहाँ से सात मील की दूरी पर कुंवरसिंह नावों से गंगा पार कर रहा है। बलिया के पास से

हाथियों द्वारा गंगा पार करने की अफवाह से कुंवरसिंह वहाँ जरूरत-भर नावें प्राप्त करने में सफल हुआ। और रातोंरात शिवपुर घाट से गंगा पार होने लगा। प्रतिपक्षी को जब यह पता लगा कि कुंवरसिंह ने उसे झांसा दिया है तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा, और दल-बल सहित शिवपुर घाट की ओर दौड़ा। इस भाग-दौड़ में कुंवरसिंह की मात्र एक नाव पकड़ने में डगलस को सफलता मिली। यह कुंवरसिंह की अन्तिम नाव थी। लगभग पूरी सेना गंगा पार होकर दूसरे किनारे पर सुरक्षित पहुँच चुकी थी। सेना पार होने से निश्चिंत होकर कुंवरसिंह भी नदी पार हो गया होता, लेकिन मातृभूमि का रक्षक वह वीर स्वाभिमानी, पराक्रमी कुंवरसिंह मझदार में था, तभी शत्रु की गोली सनसनाती हुई उसके बाएं हाथ की कलाई में प्रवेश कर गई। अस्सी साल का बूढ़ा होने पर भी उसने चिन्ता नहीं की। लेकिन जब उसने देखा कि पूरा हाथ ही बेकार हो रहा है, तभी उसने दाएं हाथ से तलवार का वार किया और शत्रु की गोली से घायल उस हाथ को कुहनी से अलग कर मां भागीरथी की पतित-पावन जलधारा में सादर भेंट चढ़ा दिया और श्रद्धावनत हो ये वचन कहे, "गंगामैया अपने प्यारे पुत्र की यह भेंट स्वीकार करो।"

मां के सैकड़ों पुत्र होते हैं, पर एक सपूत से ही वह पुत्रवती होती है, सैकड़ों कपूतों से नहीं। गंगा को मुंह से गंगा मैया कहनेवाले अगणित मनुष्य हैं, पर हृदय से मां मानकर कुंवरसिंह के समान इस तरह कुरबानी करनेवाले गिने-चुने ही सपूत होते हैं—'एकश्चन्द्रः स्तमो हन्ति, नच तारागणोंऽपिच' अर्थात् नभमंडल में अनेक तारे चमकते हैं, पर एक चन्द्र ही अपने आलोक से उसे आलोकित और रमणीय बनाता है।

इस प्रकार मां जाह्नवी को भेंट देकर वह वीर और किसी संकट से सुरक्षित गंगा पार हुआ। अंग्रेज इस तरह हाथ मलते रह गए, जैसे किसी शिकारी के सामने से ही उसका शिकार बचकर निकल जाता है। उनके सभी हौसले मिट्टी में मिल गये। चूंकि गंगा पार करने का साहस उनमें न था और न कोई साधन ही था, इसलिए अपने उद्देश्य में उन्हें सफलता की कोई आशा न रही। इस तरह शिकारी के जाल से निकलकर वीर कुंवरसिंह शहाबाद के जंगल को पार कर २२ अप्रैल को अपनी राजधानी जगदीशपुर पहुंच गया। यही वह स्थान था, जहां से आठ महीने पूर्व उसे खदेड़ा गया था। पुनः अब वह वीर राजा कुंवरसिंह अपने राज्य सिंहासन की शोभा बढ़ाने लगा। मातृभूमि के रक्षक, स्वाभिमानी किसानों का दल साथ लेकर कुंवरसिंह का भाई अमरसिंह भी उससे पहले गंगा पार कर वहां पहुंच गया। सैन्य विभाजन कर अमरसिंह को राजधानी की रक्षा का भार सौंपा गया। पूर्व-निश्चय के अनुसार निर्भय होकर फिर युद्ध छेड़ा गया। जगदीशपुर पर

कड़ी निगरानी रखने के लिए अंग्रेज सेना का दल आरा के पास पड़ाव डाले हुए था। कुंवरसिंह फुर्ती और साहस से जगदीशपुर में घुसा था। अंग्रेजों का ध्यान जाने से पहले ही उसने आरा पर चढ़ाई कर दी। शत्रु के इस चकमे से आरा का कमांडर लेग्रांद क्रोधित हो गया। यह चकमा पूरे साहस और पूर्ण बुद्धि-कौशल का प्रतीक था कि पूर्वी अवध में तैनात अंग्रेज सेना को झांसा देकर कुंवरसिंह जगदीशपुर में आकर पूर्ववत् सिंहासनासीन हो गया और जगदीशपुर के लिए आरा में जो अंग्रेज सेना थी, उस पर हमला कर दिया। यह सब अंग्रेज अफसरों, कमांडरों को विस्मित और क्रोधित करने के लिये कम नहीं था। आठ महीने पूर्व जनरल आयर ने इसे जगदीशपुर से भगाया था। लेग्रांद ने निश्चय किया कि जनरल आयर की तरह वह भी इसे यहां नहीं रहने देगा। अतः २३ अप्रैल को चार सौ गोरे सैनिक और दो तोपें लेकर ले ग्रांद ने जगदीशपुर पर हमला कर दिया। इस अचानक हुए आक्रमण का सामना कुंवरसिंह कैसे करता? कई महीनों से लगातार रात दिन एक करके उसने लड़ाइयां लड़ी हैं, उसको, उसकी सेना को क्षण-भर का भी चैन नहीं मिला। एक दिन भी बैठकर आराम का भोजन नहीं मिला। पूरबी अवध में संहारक युद्ध से निपटकर अभी कल ही तो कुंवरसिंह लौटा है। अंग्रेजों के सरकारी विवरणों में भी स्पष्ट है, "उसकी सेना बेतरतीब बिखरी हुई, शस्त्र-अस्त्र, तोपें आदि युद्धसामग्री से अपूर्ण पंगु-सी बन गई थी।" ज्यादा से ज्यादा एक सहस्र सैनिक उसके पास होने का अनुमान था। इस अल्प सेना का सेनापति, अस्सी वर्ष का बूढ़ा, एक हाथ का होने से और भी असहाय सा था। इस स्थिति में लेग्रांद के ताजादम सैनिक तथा तोप आदि सभी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिक इस लड़ाई में सफल क्योंकर न होते? अपनी विजय के निश्चय को समझकर, नगर से डेढ़ मील दूर अंग्रेजी फौजों के दल जंगल में पैठ गये। उनकी तोपें आग उगलने लगीं, पर तोपों का प्रतिकार करने के लिए क्रान्तिकारियों के पास तोपें नहीं थीं। इसके बावजूद गोरी सेना को भय था कि कहीं कुंवरसिंह की सेना उस घनघोर जंगल में उन्हें घेर कर उन पर हमलावर न हो जाय। अतः इस संकल्प-विकल्प में अंग्रेज-सेना हमला करने को उद्यत् हुई और कुंवरसिंह की सेना पर हमला कर दिया। अंग्रेजी सेना ने क्रांतिकारियों को वह अवसर ही न दिया, जिससे जंगल में घेरे जाकर उन्हें हार खानी पड़ती। गोरी फौज का कुंवरसिंह के सैनिकों ने सामना किया। गोरे सैनिकों का साहस यहां भी दम तोड़ गया। कमांडर ने पीछे हटने का आदेश दिया। लेकिन पीछे हटना भी सुरक्षित नहीं था, क्योंकि कुंवरसिंह के वीर सैनिकों ने चारों ओर से उन्हें घेर लिया था। फिर भी पीछे हटने का आदेश देने वाले बिगुल बज रहे थे। पर अंग्रेज-सेना को ललकारा गया कि अंग्रेज सैनिको! शत्रु का सामना करना और पीछे हटना, दोनों खतरे से खाली नहीं हैं तो क्यों न

अपने अटूट धैर्य का परिचय—जिसके लिए तुम्हारी प्रसिद्धि है, शत्रु का सामना करके दो। पर अंग्रेज सैनिक इस प्रकार प्राणरक्षा के लिए भागने लगे, जैसे हिरनों के झुंड पर चीता आक्रमण करता है, और हिरन कुलाचें मारकर जिधर त्राण मिलता है, उधर भाग जाते हैं। क्रांतिकारी पीछा कर रहे थे। गोरी सेना तितर-बितर हो गई थी। इस लड़ाई में उपस्थित एक व्यक्ति ने अपने पत्र में लिखा है," मैं जो कुछ लिखने जा रहा हूं, उस पर स्वयं लज्जित हूं। युद्धभूमि से भागकर हम जंगल से बाहर तो किसी तरह आ गये थे। पर शत्रु हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा था। प्यास से छटपटाते हमारे सैनिक एक गंदा जलाशय देखकर उधर दौड़े, ठीक इसी अवसर पर कुंवरसिंह के सैनिक हमारी खोज करते हुए उधर आ निकले। तब हमारी छीछालेदर की सीमा न रही, और पूरी दुर्दशा हुई। भागकर प्राण रक्षा के लिए जिधर मुंह उठा, भागने लगे। उस समय हमारे सामने, सैनिक आज्ञा, अनुशासन, संगठन प्रभावहीन हो गए थे। चारों ओर आहें, गालियां, आर्तनाद, यही सब सुनाई पड़ता था। कुंवरसिंह ने हमारा चिकित्सा विभाग भी अपने कब्जे में कर लिया था। अतः किसी को औषध आदि भी कुछ नहीं दी जा सकी। कुछ के तो वहीं प्राण पखेरू उड़ गए और कुछ प्रतिपक्षी सैनिकों के वारों से स्वर्ग सिधार गये थे। चारों ओर हाहाकार मचा था। घायल सैनिकों से लदे सोलह हाथी भी थक चुके थे। सेनापति लेग्रांद भी छाती में गोली लगने से अपनी जीवनलीला समाप्त कर चुका था। जो सैनिक पांच-छः मील आसानी से भाग सकते थे, उनमें अब बंदूक उठाने भर की शक्ति भी नहीं रही थी। धूप के अभ्यस्त सिक्ख सैनिकों ने सबसे पहले हाथियों पर चढ़कर पलायन किया। अब गोरों का कोई रक्षक नहीं रहा। एक सौ नब्बे गोरे सैनिकों में एक सौ दस मारे जा चुके थे। क्या ही बीभत्स और करुणाजनक नर-संहार था। हे प्रभु, क्या हम बलि चढ़ाने वाले मूक पशुओं की तरह बधिक के घर रूपी जंगल में लाये गए थे।"[१]

इस प्रकार कुंवरसिंह विजयी हुआ। "शत्रु की तोपों के मुकाबले में क्रांतिकारियों पर एक भी तोप नहीं थी। इतने पर भी प्रतिपक्षी को इतनी बुरी तरह परास्त किया। और तो और अंग्रेजों के साथ जो तोपें थीं, वे भी क्रान्तिकारियों ने हथिया ली थीं।"[२]

इस लड़ाई में मृतकों की संख्या में मात्र नौ सिक्ख ही मारे गए थे। यह एक महत्त्व की बात है। कुंवरसिंह के सैनिकों ने अपने नेता की उस शिक्षा को यहाँ

---

१. चार्ल्स बॉलकृत 'इण्डियन म्यूटिनी', खण्ड २, पृष्ठ २८८

२. "अंग्रेजों को इस प्रसंग में बहुत बुरी हार खानी पड़ी"
ह्वाइट कृत 'हिस्टरी ऑफ दि म्यूटिनी'

कार्यान्वित किया था। कुंवरसिंह प्रायः अपने साथियों से कहा करता था, "जिस तरह विदेशी शत्रु को दया दिखाने की भूल कभी न की जाय, उसी तरह अपना ही कोई भाई अपनी भूल से दुश्मन की ओर से लड़े तो जहां तक हो उसे न मारा जाय।" क्रान्ति की पहली झपट में ही अंग्रेजों का साथ देनेवाले कई बंगाली बाबुओं को कुंवरसिंह के साथियों ने पकड़ा था। उन्हें केवल मुक्त ही नहीं किया गया, बल्कि उनकी इच्छा के अनुसार आदर के साथ हाथियों पर चढ़ाकर उन्हें पटना पहुंचाया गया। अंग्रेजी में लिखे सरकारी कागजातों में आग लगाने का हठ जब क्रान्तिकारियों ने किया, तब कुंवरसिंह ने कड़ाई के साथ उन्हें रोकते हुए कहा, "अंग्रेजों के भारत से चले जाने पर, जिन कागजातों के आधार पर—लोगों के वंश, वारिसदारी के अधिकार तथा लोगों के आपसी लेन-देन का प्रमाण हमें मिलेगा, इन कागजों को जलाकर जब यह सब आप नष्ट कर देंगे जो आपको नहीं करना चाहिए।"[१]

अन्त में अपने शत्रुओं को पूरी तरह परास्त करके, विजयश्री का वरण कर अपनी यशगाथा को फैलाकर वीर कुंवरसिंह ने २३ अप्रैल को जगदीशपुर के राजप्रासाद में प्रवेश किया।

किन्तु विधि-विधान के अनुसार जगदीशपुर के राजप्रासाद में यह उसका अन्तिम प्रवेश था। अब इस संसार के रंगमंच पर उसका दर्शन सदैव के लिये अदृश्य होने जा रहा है। जिस हाथ को उसने भागीरथी में बलि चढ़ाया था, वह घातक सिद्ध हुआ। इस नई विजय के तीसरे दिन मातृभूमि रक्षक वीर इस संसार से विदा हो गया।

"उसकी राजधानी स्वतन्त्र थी। कुंवरसिंह विजित सिंहासन पर आसीन था। राजप्रासाद पर अंग्रेज़ों का 'यूनियन जैक' नहीं, स्वदेश, स्वधर्म का, विजय चिह्न से चिह्नित राष्ट्र का स्वर्णध्वज गौरव के साथ लहरा रहा था। स्वतन्त्रता के इस पवित्र वातावरण में वीरवर कुंवरसिंह ने अपनी जीवन लीला इस विजित राज्य-सिंहासन पर समाप्त की। क्या कोई इससे पावन और उज्ज्वल मृत्यु है, जिसकी अपेक्षा कोई राजपूत करेगा ?"[२]

जिस आयु में लोग वृद्ध और अशक्त हो जाते हैं, उसी आयु में स्वर्गवासी होने से पहले वह देश के लिए बहुत कुछ कर गया था। भारत के साथ जो अत्या-

---

१. बंगाल के राजपूत कान्तगुणानी-कृत 'आर्यकीर्ति'

२. इतिहासकार होम्स अपनी 'हिस्टरी ऑफ दी सिपॉय वॉर' में कहता है—"वह बूढ़ा राजपूत इतने सम्मानपूर्वक तथा वीरता से अंग्रेजों से लड़कर २६ अप्रैल, १८५८ को काल कवलित हो गया।"

चार हुए उसका उसने पूरा बदला ले लिया था। छोटे सामान्य साधनों के बलबूते पर ही उसने शत्रु का फन कुचल दिया था। उसने कोई निन्दनीय कृत्य नहीं किया था। एक स्वाभिमानी वीर जितना कुछ कर सकता है, उतना उसने मातृभूमि को मुक्त करने के लिए प्राणपण से अपनी अन्तिम सांस तक किया। युद्धभूमि में विजयश्री ने उसे स्वतः ही वरण किया था।

श्रद्धावनत देशवासियों की श्रद्धांजलि उसे मिली। हे वीर शिरोमणि, अब तुम्हारे महाप्रयाण का पवित्र पर्व आ गया है। अब तुम आंखें बन्द कर सकते हो। जरा से जर्जर नहीं, स्वतन्त्रता संग्राम में जूझते हुए शरीर पर लगे वारों से तुम्हारा शरीर निष्प्राण हो चुका है। अब इस नश्वर शरीर को पंचभूतों में मिलाकर तुम्हारी आत्मा के संसार की मूल शक्ति में मिलने का समय आ गया है। तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे जीवन कर्मों से भी अधिक उद्दात्त और अनुपम हो। हे वीर, तुम्हें कोटिशः नमन हैं।

वीर कुंवरसिंह का व्यक्तित्व और कर्तृत्व सभी पार्श्वों से प्रभावपूर्ण है। उसकी अनुपमेय वीरता और शौर्य से ही उसकी सेना में अनुशासन और युद्ध का धैर्य, पराक्रम स्वयमेव पैदा हुए थे। इस तरह किसी राष्ट्र के पुनरुत्थान के समय जो नेतृत्व करते हैं, उन नेताओं का जीवन कुंवरसिंह के समान प्रायः महान और कर्मशील नहीं पाया जाता। कुंवरसिंह में उज्ज्वल चरित्र और महान कर्तृत्व का अपूर्व संगम था। सैनिकों पर उसका इतना प्रभाव था कि उसके सामने हुक्का पीने की भी कोई हिम्मत नहीं कर सकता था। सत्तावन की क्रान्ति में अपनी युद्धपद्धति और रणकौशल में उसकी बराबर का कोई वीर नहीं था। छत्रपति शिवाजी के बाद वृक-युद्ध (गोरिला वार फेअर) के महत्त्व को सर्वप्रथम उसी ने सिद्ध किया था। इस युद्धपद्धति का वह बहुत बड़ा पंडित था। महावीर शिवाजी की भांति, वृक-युद्ध के दांव-पेचों का पूर्ण जानकार, कुंवरसिंह ही एक-मात्र वीर था। यही नहीं सत्तावन की क्रान्ति में तात्या टोपे और कुंवरसिंह ने वृक-युद्ध के जो काम किये हैं, यदि उनकी तुलना की जाय तो पहला स्थान कुंवर-सिंह को ही देना पड़ेगा। यह मानते हुए भी कि तात्या टोपे से वृक-युद्ध के विध्वंसक भाग में कोई बराबरी नहीं कर सकता, किन्तु कुंवरसिंह विध्वंसक तथा विधायक दोनों पक्षों का उपयोग करने में सिद्धहस्त था। शत्रु को नयी सेना खड़ी करने तथा अपनी सेना को नष्ट करने का किंचितमात्र भी अवसर तात्या टोपे नहीं देता था। किन्तु कुंवरसिंह विपक्षी को ये दोनों कार्य न करने देने के साथ-साथ शत्रु को ऊपर से पूरी तरह हराता था, और उसकी सेना का सफाया करता था। वृक-युद्ध में विजय की आकांक्षा रखनेवाले को चाहिए कि अपने साथियों को हिम्मत न हारने दे। प्रत्येक बार मैदान से भागना, शत्रु की शक्ति को अधिक जान पलायन करना

आदि सैनिकों के आत्मविश्वास को खो देते हैं। सेनापति को सोद्देश्य मैदान से हटना पड़े, या जानकर सोद्देश्य-ही पराजित होना पड़े तो उसे चाहिए कि सैनिकों में किसी उद्देश्य के लिए किये गए इन कार्यों से भ्रान्ति न होने दे, प्रत्युत उनमें उत्साह का संचार करता रहे। हर बार लड़ाई से मुंह मोड़कर मैदान से भाग जाना भी अच्छा नहीं होता। इसका परिणाम होता है कि न चाहते हुए भी सैनिक-साथियों में लड़ाई के प्रति भय पैदा हो जाता है। अपने उद्देश्य के लिए चातुर्य के साथ लड़ाई टालना तथा भयाक्रान्त होकर लड़ाई से भागना, इन दोनों में बड़ा अन्तर होता है। इसीलिए डरकर भागना वृक-युद्ध-तंत्र के पूर्णतया प्रतिकूल है; मुठभेड़ होते ही पूरे जोश और वेग के साथ इस तरह लड़ना चाहिए, जिससे शत्रु के होश उड़ जायं और अपने साथियों के हृदय में विजय का आत्म-विश्वास अडिग बना रहे। जब शत्रु की शक्ति अधिक हो और वह सामने की लड़ाई के लिए बाध्य करे तो भी मुठभेड़ न हो, इसीमें कुशलता है। लेकिन यदि सामना आ ही पड़े और लड़ाई ठन जाय तो उसी उत्साह और अडिग धैर्य के साथ मुकाबला करना चाहिए, जिस धैर्य के साथ तानू नदी के पुल पर कुंवरसिंह के सैनिकों ने किया था। यदि मृत्यु की और पराजय की पूरी संभावना हो तो भी डटकर वीरतापूर्वक लड़ते रहना चाहिए। यदि विजयश्री नहीं मिलेगी, तो यशकीर्ति तो चारों ओर फैलेगी। इस प्रकार की लड़ाई में विपक्षी का धैर्य डिग जाता है और अपने सैनिकों में आत्मविश्वास अटूट बना रहता है और हुतात्माओं की यशोगाथाओं में वर्णित कीर्ति की वृद्धि होती है। वीरता से वीरता बढ़ती है और यश-प्राप्ति निश्चित ही मिलती है। यही है वृक-युद्ध के तंत्र की सफलता का रहस्य।

किन्तु वृक-युद्ध के इस विधायक पक्ष पर टात्या टोपे ने ध्यान नहीं दिया। नर्मदा पार करने के लिए तात्या टोपे ने तथा गंगा पार करने के लिए कुंवरसिंह ने जो गतिविधियां चलाई, उनका अध्ययन और जानकारी बड़ी बोधप्रद होगी। केवल डर से घबराये अनुयायियों के कारण तात्या टोपे को कई बार परास्त होना पड़ा। किन्तु चढ़ाई के समय कुंवरसिंह अपनी हरावल इतनी जोरदार रखता था कि जब भी अवसर मिलता पीछा करने वाले विपक्षी को बुरी तरह मुंह की खिला सकता था। इसीलिए शत्रु के पीठ पीछे रहने पर भी जब भी वह पीछे हटता था उसके सैनिकों में आत्मविश्वास और साहस कभी कम न होता था। तात्याटोपे को पहले-पहल युद्ध में जो हार खानी पड़ी, उससे उसकी सेना का धैर्य समाप्त प्राय हो गया था और बड़े-बड़े पराक्रमी युद्धवीरों को वीरगति मिली थी तथा अनेक वीर घायल होकर युद्ध करने से वंचित हो गए थे। इस कुसमय में तात्या टोपे को वृक-युद्ध प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा। लेकिन अपूर्ण साधनों के कारण तात्या

टोपे का—वृक-युद्ध में पूर्ण दक्ष होने पर भी असफल होना स्वाभाविक ही था। साधनाभाव के कारण तात्या टोपे की पराजय का मुख्य कारण उसके सैनिकों का डरपोक या भीरु होना था। लेकिन वीर शिवा का अनुकरण करनेवाले वीर कुंवरसिंह ने कभी भी अपने सैनिकों को उत्साहहीन नहीं किया, प्रत्युत उनमें अदम्य उत्साह, धैर्य और आत्मविश्वास पैदा किया। कुंवरसिंह का साहस, पराक्रम, अनुशासन निश्चित ही श्लाघ्य थे। उसने शत्रु का सामना करने तथा सोद्देश्य लड़ाई को टालने में असाधारण सूझ और चातुर्य का परिचय दिया था। यही कारण था कि विपक्षी के मुकावले थोड़ी सैन्य शक्ति, अल्प-साधनों के होते हुए भी विजयश्री ने उसको जयमाला पहनाई। और स्वतन्त्रता के वातावरण में स्वातन्त्र्य-ध्वज की पवित्र छाया में, विजित राज्यसिंहासन पर उसने वीरोचित मृत्यु प्राप्त की।

... ...

२६ अप्रैल, १८५८ को कुंवरसिंह ने यह संसार छोड़ा था। इसके महाप्रस्थान के बाद ऐसे ही एक वीर, देशभक्त ने इतिहास के रंगमंच पर पदार्पण किया। यह व्यक्ति और कोई नहीं इसी वीर का भाई वीर अमरसिंह था।

मात्र चार दिन का भी विश्राम न लेकर लड़ाई को क्रियमाण रखते हुए अमरसिंह ने आरा पर भी धावा वोल दिया। आरा में अंग्रेजों की पराजय के समाचार मिलने पर ब्रिगेडियर डगलस तथा जनरल लुगार्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने, जो गंगा के इस ओर थी, गंगा पर होकर अमरसिंह से सामना किया। जब अंग्रेजों ने क्रान्तिकारियों को घेरा तो अमरसिंह ने एक दूसरी ही चाल चली। अपनी पराजय देख, उसने सेना को अलग-अलग टुकड़ियों में वांट दिया, उन्हें इधर-उधर फैलाकर मैदान छोड़ दिया और सेना की टुकड़ियों को निश्चित समय और स्थान वताकर एकत्र होने का आदेश दे दिया। इस योजना के वनने से विपक्षी उसका पीछा करने में सफल नहीं हुआ। अंग्रेजों के सामने समस्या थी कि अदृश्य शत्रु से कैसे लड़ा जाय। जैसे ही अंग्रेज यह तय करते कि वे हर वार विजयी हो रहे हैं, वैसे ही अमरसिंह की सेना पूर्ववत् जोश और पराक्रम के साथ कहीं और स्थान पर ही दिखाई देती। यदि जंगल के इस छोर से उसका पीछा किया जाय तो दूसरे छोर पर उसका उत्पात मचा होता और वहां से भागकर पहली जगह पर फिर कब्जा कर लेती। अन्त में परेशान, निराश और अपमानित होकर सेनापति लुगार्ड १५ जून को सेवा से निवृत्त हो, इंग्लैंड वापस चला गया। और उसकी सेना भी छावनी लौट गई। अव अमरसिंह विजयोन्मत्त हो मैदान में आ डटा। इसी समय गया की पुलिस भी क्रान्तिकारियों के साथ आ मिली थी।

दूसरी वार अंग्रेजों को झूठा भुलावा दिया कि अमरसिंह ने आरा पर चढ़ाई

कर दी और शहर में प्रवेश कर गया। लेकिन इस भुलावे को देकर उसने जगदीशपुर में प्रवेश किया। जुलाई समाप्त हुई और सितम्बर भी वीत गया। जगदीशपुर के बुर्जों पर स्वतन्त्रता के सूचक विजयध्वज लहरा रहे थे और प्रजा का प्राणप्रिय अमरसिंह राज्यसिंहासन पर विराजमान था। ब्रिगेडियर डगलस और उसकी सात हजार सेना ने अमरसिंह को मारने का प्रण किया। अमरसिंह के लानेवाले को बड़े-से-बड़े पुरस्कार घोषित किये गए। अंग्रेजों ने जंगल का सफाया करके सड़क तैयार कर ली थी। हर चौकी पर ब्रिटिश सेना तैनात कर दी गई। लेकिन कुंवरसिंह के स्थानापन्न उसी के भाई अमरसिंह ने तनिक भी परवा नहीं की। अमरसिंह की सम्पूर्ण गतिविधियों के वर्णन से तो पृष्ठों के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अमरसिंह ने जिस जीवट, पराक्रम, वीरता, धैर्य, साहस और आत्मविश्वास से लड़ाई लड़ी, उससे लोग मानने लगे थे कि कुंवरसिंह अभी जीवित हैं।

जब कोई युक्ति कारगर न हुई तो अंग्रेजों ने सात ओर से जगदीशपुर पर हमला किया। जगदीशपुर से निकलने वाला हर मार्ग अवरुद्ध था। मानों अमरसिंह वनराज को एक कटघरे में बन्द किया जा रहा था। क्या इसी कटघरे में बन्द होकर उस शेर को मारा जाएगा ? पूर्व-निश्चित समय पर सब सेनाएं जगदीशपुर में पैठने लगीं। किन्तु धन्य है उस वीर को ! जो शेर पूरे जंगल में नहीं समाता, वह कटघरे में भला कैसे बन्द किया जा सकता था। अंग्रेजों ने खाली कटघरे पर वार किया। शेर पहले ही भाग चुका था। चूंकि ब्रिटिश व्यूह के निश्चय के अनुसार छः सेनाएं तो छः दिशाओं से नगर के छहों ओर प्रवेश कर चुकी थीं। सातवीं सेना निश्चित समय पर पहुंचने में पांच घंटे की देर हुई। अतः अवसर का लाभ उठाकर अमरसिंह अपनी सेना के साथ उसी मार्ग से निकलने में सफल हुआ।

बिहारी क्रान्तिकारियों को नष्ट करने का इरादा जब असफल हुआ तो अंग्रेजों का एक रिसाला बिखरे हुए इन क्रान्तिकारियों का पीछा करने के लिए भेजा गया। यह रिसाला क्रान्तिकारियों के पीछे हाथ धोकर पड़ गया था। पर अमरसिंह ने इस रिसाले को एक क्षण का भी अवकाश नहीं दिया। "इस समय गोरी सेना के पास नई किस्म की राइफिलें थीं। इन राइफलों के सामने क्रान्तिकारियों की राइफिलें असफल सिद्ध हुईं। अतः अंग्रेज सेना को पीछे करना असम्भव हो गया। तो भी अमरसिंह के मुंह में 'शरण' शब्द आया ही नहीं। १९ अक्तूबर को अंग्रेजी सेना ने नोनदी गांव में क्रान्तिकारियों को पूरी तरह घेर लिया। क्रान्तिकारियों के चार सौ सैनिकों में तीन सौ तो मारे गए। शेष सौ प्राणपण से खुले मैदान में शेर की तरह जूझते रहे। अन्त में सब समाप्त हुए—मात्र तीन शेष रहे। इन तीन में एक वीर अमरसिंह था। यह वीर बराबर लड़ रहा था। इस क्रान्ति में कितनी ही रक्त-

रंजित लड़ाइयां पांडे सेनाओं ने लड़ीं। कितनी ही रक्त नदियां प्रवाहित हुईं, पर स्वातन्त्र्य-ध्वज अभी तक झुका नहीं था। अपनी मुट्ठी पर सेना के साथ राणा अमरसिंह कैसे अपूर्व संकटों से बचा, यह पढ़ते ही बनता है। एक बार तो शत्रु ने राणा के हाथी को ही पकड़ लिया। किन्तु वीर कूद पड़ा और एकदम अदृश्य। इस प्रकार क्रान्तिकारी इंच-इंच भूमि के लिए जूझते हुए अपने प्रान्त के बाहर खदेड़ दिए गए। अब वे कैमूर की पहाड़ियों में पहुंच गए थे। उस प्रान्तवालों ने क्रान्तिकारियों की रक्षा पीछा करनेवाली गोरी सेना को धोखा देकर की।"[1]

शत्रु ने इन क्रान्तिकारियों का भीषण पीछा किया। हर चोटी, हर उपत्यका हर चट्टान पर क्रान्तिकारी अंग्रेजों से जूझते रहे। एक भी क्रान्तिकारी—स्त्री या पुरुष शत्रु के हाथ न लगा। भले ही लड़ते-लड़ते उसने वीरगति प्राप्त की।

वीर कुंवरसिंह के अन्तःपुर की डेढ़ सौ स्त्रियों ने जब त्राण पाने का कोई मार्ग नहीं देखा तो स्वयं को तोपों के मुंह से बांधकर और तोपों को अपने ही हाथ से दाग कर हुतात्मा के अनंतत्त्व में विलीन हो गईं। स्वतन्त्रता के लिए, जो सबका जन्म-सिद्ध अधिकार है, बिहार ने ऐसा प्रखर विद्रोह अंग्रेजों से किया।

और राणा अमरसिंह शत्रु के हाथ नहीं आया। भले ही राजश्री उसे छोड़ गई थी। किन्तु उसके वीरत्व ने उसे कभी नहीं छोड़ा था या उसीने वीरत्व को नहीं छोड़ा।···आगे अमरसिंह की गाथा इतिहास के पृष्ठों में किस तरह लिखी मिलती है···किसीने नहीं पढ़ा। इतिहास के उन पृष्ठों से यही ध्वनि निकलती है··· कहां···ऽऽऽ!

०००

---

१. मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी' खण्ड ४, पृष्ठ ३४४

: ९ :

मौलवी अहमदशाह

लखनऊ का पतन हो चुका था। उसके पतन के बाद रुहेलखण्ड और अवध के क्रान्तिकारियों के लिए कोई सुरक्षित संगठन केन्द्र दिखाई नहीं दे रहा था। शत्रु के आक्रमणों से बिहार और दोआब के क्रान्तिकारियों को रुहेलखंड और दोआब के दिनोंदिन ह्रास होनेवाले क्षेत्र में, आक्रामकों के दबाव से घिरा रहना पड़ा। इस तरह चारों ओर से घिर जाने के कारण तथा कोई सुरक्षित आश्रय-स्थल न होने से क्रान्तिकारियों ने खुले मैदान में आमने-सामने की युद्ध प्रणाली का त्यागकर वृकयुद्ध-पद्धति को ही अपनाया। खुली लड़ाइयों में अपनी शक्ति को नष्ट करने के बाद ही इस वृक-युद्ध का सहारा लिया गया था। यदि प्रारम्भ से ही यह पद्धति अपनाई जाती तो विजय के अनेक अवसर क्रान्तिकारियों को खोने न पड़ते। फिर सुबह का भूला शाम को लौट ही आया था। अब विजय के आसार तो दिखाई देते नहीं थे।

मौलवी अहमदशाह

फिर भी पीछे हटने या शत्रु की शरण जाने का कोई अवसर अभी नहीं आया था। अतः वृकयुद्ध को अपनाते हुए रुहेलखण्ड के क्रान्तिकारियों ने प्रान्त भर में घोषणा कर दी—"प्रतिपक्षी की प्रबल सेना से खुले मैदान में सामना मत करो। सैन्य-शक्ति, अनुशासन और तोपें आदि युद्ध-सामग्री में वह तुमसे ज्यादा परिपूर्ण है। अब उसकी योजनाओं, गतिविधि पर निगरानी रखो, नदी के घाटों पर चौकसी रखो, शत्रु की डाक काटो, रसद रोको और चौकियां तोड़ दो। उसके पड़ाव के इर्दगिर्द मंडराते रहो—फिरंगी को चैन मत लेने दो।"[1]

---

१. रसेल (डायरी, पृष्ठ २७६) कहता है, "इस घोषणापत्र ने दूरदर्शिता तथा

मौलवी अहमदशाह ने उक्त उपायों पर अमल किया। लखनऊ में अंग्रेजी सेना का सेना-विभाजन दृष्टि में रखकर, लखनऊ से उन्तीस मील के फासले पर बारी में अपना पड़ाव डाला। इधर बेगम हजरत महल ने छह हजार सैनिकों के साथ बोतौली में मड़ाव डाल रखा था। इन दोनों क्रांतिकारी नेताओं को नष्ट करने के उद्देश्य से होपग्रंट तीन हजार सैनिक तथा प्रबल तोपखाना लेकर बारी की ओर चल पड़ा। अहमदशाह ब्रिटिश सेना की गतिविधि पर पूरी नजर रखे हुए था। अतः उसने अपने कुछ गुप्तचर छोड़े हुए थे। ये गुप्तचर उसी रात अंग्रेजों की छावनी में दाखिल हो गये। गोरे प्रहरियों ने इन्हें जाने से रोका तो इन्होंने निश्शंक होकर कहा, "हम १२ नम्बर के पलटनवाले हैं।" और आगे प्रवेश कर गए। यह सच भी था कि वे बारहवीं पलटन के सैनिक थे। इसी पलटन ने गत जुलाई को विद्रोह किया और अपने गोरे अधिकारियों को मार डाला। ये लोग इसी बारहवीं पलटन के थे, गोरे प्रहरी इस बात को क्या जानते? उनका निर्भीक उत्तर सुनकर ही अंग्रेज संतरियों को संदेह नहीं हुआ और वे गुप्तचर बेधड़क आगे बढ़ गए। छावनी के अन्दर पहुँचकर, पूरा भेद लेकर ये वापस अहमदशाह के पास आ गये। मौलवी अहमदशाह ने शत्रु की योजना को ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम बनाया। बारी से चार मील की दूरी पर बसे गाँव पर अधिकार कर लिया। कार्यक्रम था कि पैदल सेना इस गाँव में रहकर शत्रु का सामना करे और रिसाला गुप्त मार्ग से शत्रु की पिछाड़ी पर धावा बोले। अहमदशाह अपनी दूरदर्शिता के आधार पर यह जानता था कि विपक्षी दूसरे दिन सुबह किसी संदेह के बिना उस गाँव में आजाएगा। मॅलेसन ने लिखा है, "मौलवी की यह योजना बड़ी चतुरतापूर्ण थी। उसकी व्यूह-रचना के ज्ञान का आभास इसीसे हो जाता है।"

इस समय सफलता प्राप्त करने के लिए दो बातें आवश्यक थीं। पहली यह कि इस गाँव में जो पैदल सेना थी उसका सुराग शत्रु को नहीं लगना चाहिए था, अर्थात् उसे गोपनीय दशा में रहना चाहिए। दूसरी बात यह थी कि यह सेना सामने से शत्रु को जब तक पीट न दे, तब तक रिसाले को विपक्षी की पिछाड़ी से हमला नहीं करना चाहिए। अपनी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार अहमदशाह ने अपने घुड़सवारों को गुप्त मार्ग से रवाना किया और स्वयं पैदल सेना लेकर उसी गाँव में शत्रु की प्रतीक्षा में बैठ गया। दूसरे दिन सुबह अंग्रेज सेनानी नदी किनारे आ पहुँचा। अब केवल आधे घंटे की देरी थी और अंग्रेज चक्की के दो पाटों में पिस जाते। पर आध घंटे का विलम्ब ही घातक बन गया। उसकी योजना तीन-तेरह

चातुर्य का परिचय दिया है। कितनी कठिनतम लड़ाई लड़नी है, यह सूचना हमें मिल जाती है"

हो गई, क्योंकि उसके घुड़सवारों ने बेवकूफी से काम लिया। घुड़सवारों ने गुप्त-रूप से पहुँचकर अंग्रेजों की पिछाड़ी पर एक मोर्चे की जगह पर काबू कर लिया और शत्रु पर धावा बोलने के अवसर की राह देखने लगे। यहाँ तक तो सब ठीक और अनुकूल हुआ। लेकिन मौलवी की आज्ञा का उल्लंघन कर सामने दीखनेवाली अरक्षित तोपों पर कब्जा करने के लिए, उसके अधिकारी ने आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी। क्रान्तिकारियों को कुछ तोपें तो मिल गईं, पर इससे अंग्रेजों को उनका पता लग गया। अंग्रेजों ने तुरन्त ही प्रतिकार किया। उन पर चढ़ाई की और तोपें छीन लीं। और इस सब कृत्य से मौलवी का किया कराया धूल में मिल गया। आगे-पीछे दोनों ओर से सावधान होकर अंग्रेजों ने क्रान्तिकारियों से मुठभेड़ की। अहमदशाह को वह गाँव को छोड़कर दूसरा ही उपाय कार्यान्वित करना पड़ा।

जब होपग्रंट क्रान्तिकारियों को अवध से बाहर खदेड़ने के लिए उन्हें बारी से बोतौली तक दबा रहा था, उसी समय १५ अप्रैल को रुइया के किले के पास भयंकर लड़ाई छिड़ गई। पहले यह बताया जा चुका है कि अंग्रेजों ने दोआब में सेना को दो भागों में बाँटकर, उनकी सहायता से क्रान्तिकारियों को फतेहगढ़ तक पहुँचा दिया था। और अब क्रान्तिकारियों को चारों ओर से घेरकर अवध के बाहर उत्तरी सीमा तक खदेड़ना शुरू हो गया था। १ अप्रैल, १८५८ के आसपास गोरे सैनिकों की संख्या ९६ हजार तक बढ़ गई थी। इसके अतिरिक्त देशद्रोही सिक्ख भी अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। पठान, पारिया (अछूत) तथा अन्य लोगों की भरती भी हो रही थी और नई भरती के होने पर भी रोज होनेवाले युद्धों के कारण वे भी कुशल सैनिक बन गए थे। और देशी नरेशों की सेनाएं भी अंग्रेजों का हाथ बँटा रही थीं। इस प्रकार काले-गोरों की मिली जुली सेना क्रान्ति-कारियों के हाथ से अवध छीनने के लिए भरसक प्रयत्न में थी। अंग्रेज कमांडरों में लुगार्ड और डगलस को बिहार, होपग्रंट को बारी तथा बोतौली तथा वॉलपोल को गंगा के किनारे क्रान्तिकारियों से निपटने की आज्ञा हुई थी। इन सेनापतियों के नेतृत्व में तथा अन्यों के नेतृत्व की अंग्रेज सेनाएँ क्रान्तिकारियों को रुहेलखण्ड तक खदेड़ने के लिए चारों ओर से आक्रमण कर रही थीं। अतः इसी उद्देश्य को लेकर जनरल वॉलपोल १५ अप्रैल को लखनऊ से ५१ मील की दूरी पर बने रुइया किले पर हमला करने आ पहुँचा। रुइया का किला अभेद्य नहीं था और उसका रक्षक नरपतिसिंह भी विशेष शक्तिशाली नहीं था। पर इस जमींदार नरपतिसिंह ने अपनी शक्ति से आगे स्वाधीनता के निमित्त रणवेदी पर अपना सब कुछ लुटा-कर शत्रु से प्रतिशोध लेने की प्रतीज्ञा करली। वॉलपोल सोच रहा था कि मात्र ढाई सौ सैनिकों के साथ नरपतिसिंह, आद्यतन युद्ध सामग्री से सज्जित अंग्रेज सेना का क्या मुकाबला करेगा। और वह किला छोड़कर भाग भी चुका होगा। लेकिन

उसी दिन मुक्त किये हुए एक गोरे बन्दी ने वॉलपोल को बताया कि नरपतिसिंह ने यह दृढ़ निश्चय किया है कि एक वार तो अंग्रेजों से घमासान लड़ाई लड़कर विपक्षी को पराजित अवश्य करेगा और यह प्रतिशोध लेकर वह किला छोड़ देगा।

वॉलपोल को क्रोध आगया—यह छिछोरा जमींदार हमें पराजित करेगा! और उस अंग्रेज जनरल ने अपनी सेना को धावा वोलने का आदेश दे दिया। अंग्रेजों ने यह अफवाह फैलाई थी कि नरपतिसिंह के पास दो हजार आदमी हैं। चूंकि वॉलपोल यह निश्चय किये हुए था कि वह नरपतिसिंह को बुरी तरह पराजित करेगा और इसके लिए शत्रु की सेना बढ़ाकर बताने के अलावा कोई उपाय नहीं था और वॉलपोल ने इस अफवाह की हाँ में हाँ मिलाई। हालाँकि गोरा क़ैदी यह दावे से कह रहा था कि नरपतिसिंह के पास ढाई सौ से अधिक सैनिक नहीं हैं। अंग्रेजों ने उसे विश्वासघाती वताकर उसकी बात सही नहीं मानी। अपनी सैन्य शक्ति के घमंड में चूर होकर अंग्रेजों ने पक्की किलावन्दी की और चारों ओर से हमला किया। सामने की झाड़ी से हमले का जवाव मिलने लगा। गोलियों की वौछार होने लगी और शत्रु खाई के पास आया तो धुआंधार गोलियां वरसने लगीं। आगे बढ़े डेढ़ सौ सैनिकों में छियालीस तो एक साथ ही मारे गए। इधर की तीखी मार से घबराकर वॉलपोल ने किले की कच्ची दीवार की ओर से हमला शुरू किया। अंग्रेजों की तोपें धड़धड़ाने लगीं। पर दुर्भाग्य से तोप के गोले अंग्रेजों की सेना में ही गिरने लगे, जो दीवार के आस-पास थी। शत्रु से मोर्चा लेनेवाले अनेक वीर हुए हैं, लेकिन एक ही समय शत्रु-मित्र से वरावर की कुशलता और वीरता से लड़नेवाला वीर वॉलपोल ही हुआ है। इसका जोड़ कोई दूसरा मिलना मुश्किल है। रण में उसकी वहादुरी देख जनरल होप उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ा, पर दुर्भाग्य से क्रान्तिकारियों की रणवेदी में वह भी भस्मसात हो गया। तव ग्रोव्ह पीछे हटने का आदेश देने लगा। और हार खाकर अंग्रेज सेना चुपचाप वापस लौट गई।

जनरल होप की मृत्यु से भारत के अंग्रेजों को बड़ा आघात पहुंचा। इंग्लैंड में लार्ड कैनिंग तथा सर केम्पवेल ही नहीं सम्पूर्ण इंग्लैंड शोक में डूब गया। उस साहसी वीर होपग्रंट की मृत्यु से अंग्रेजी राष्ट्र को इतना धक्का लगा कि जो सैकड़ों सैनिकों के मारे जाने से भी न लगता।

अपने अटल निश्चय के अनुसार अंग्रेजों को पराजय देकर और प्रतिशोध लेकर थोड़े से सैनिकों को साथ लेकर स्वराज्य का झंडा अकलंकित तथा ऊंचा रखकर वीर नरपतिसिंह किले से निकल गया।

अंग्रेजी सेना के विभिन्न दस्तों ने पहले अवध के उत्तर में और फिर रुहेलखंड

में क्रान्तिकारियों को खदेड़ा, और उसके बाद अंग्रेज सेनापति ने सब टुकड़ियों को मिलाकर रुहेलखंड पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस समय सब क्रान्तिकारी नेता शाहजहाँपुर में जमा थे। मौलवी अहमदशाह के अतिरिक्त कानपुर के नानासाहब भी वहां थे। ब्रिटिश सेनापति के अपने पकड़ने के सभी प्रयत्नों को विफल कर निश्चिन्त होकर घूम रहे थे। अंग्रेज सेनापति ने इन्हें एक ही स्थान पर एकत्र देख, एक साथ इन्हें पकड़ने का अच्छा अवसर जाना और अपने कार्यक्रम को अत्यन्त गोपनीय रखकर सर केम्पबेल ने पूरे शहर को चारों ओर से घेर लिया। पर वे वीर शत्रु को धोखा देकर भाग गये थे। केम्पबेल को इस बात से और भी दुःख हुआ कि चारों ओर से घेरे जाने पर भी ये दोनों क्रान्तिकारी नेता उसी की सेना की ओर से भाग निकले थे।

शाहजहांपुर पर शत्रु का पासा उलटा पड़ा था। अतः बरेली पर अधिकार करने के लिए केम्पबेल ने उस ओर प्रस्थान कर दिया। चार तोपें तथा कुछ सैनिक शाहजहांपुर में छोड़ ४ मई को प्रस्थान करके एक ही दिन में केम्पबेल बरेली पहुंच गया। खान बहादुरखां अब भी बरेली में ही था। दिल्ली और लखनऊ के पतन के बाद क्रान्तिकारी झुंड-के-झुंड इस नगर में आ पहुंचे थे। दिल्ली से शहजादा मिर्जा फीरोजशाह, श्रीमंत नानासाहब, मौलवी अहमदशाह, बेगम हजरत महल, श्रीमंत बालासाहब, राजा तेजसिंह तथा अन्य नेता रुहेलखंड की राजधानी बरेली में आये हुए थे। और इन क्रान्तिकारी नेताओं ने स्वातन्त्र्य ध्वज गौरव के साथ फहराया था। इसी से केम्पबेल ने बरेली को नष्ट करने का बीड़ा उठाया। लेकिन क्रान्तिकारियों ने जो घोषणा-पत्र घोषित किया था, उसके अनुसार वृक-युद्ध-पद्धति अपनाते हुए क्रान्तिकारी नेताओं ने तय किया कि बरेली में लड़ाई न लड़ी जाय। बरेली से निकलकर प्रान्त-भर में फैलकर शत्रु से टक्कर लेने का उनका निश्चय हुआ। वे बरेली खाली करने को उद्यत हो गए, मात्र चल पड़ने की आज्ञा शेष थी। किन्तु रुहेलों ने हठ किया कि जब शत्रु निकट आ पहुंचा है तो उसके रक्त से अपनी तलवार की प्यास बुझाये बिना बरेली नहीं छोड़ेंगे। रुहेलों का खून खौल रहा था। वे यह सिद्ध कर देना चाहते थे कि मातृभूमि की रक्षा के लिए वे कितने उतावले हो रहे थे।

बरेली घेरने जो अंग्रेज-सेना चली आ रही थी, वह पूर्ण सबल और युद्ध-सामग्री से परिपूर्ण थी। उसके पास अत्युत्तम तोपखाना था। उसकी पैदल सेना तथा रिसाला, दोनों ही नये शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे और इसका नेतृत्व करने वाला कुशल सेनापति केम्पबेल था। ऐसी सबल सेना के सामने खान बहादुरखां की तोपों की एक न चली। अन्त में ५ मई को क्रान्तिकारियों ने तलवारें उठाईं। ये क्रान्तिकारी हुतात्मा अपनी पराजय को हर तरह से निश्चित जान शत्रु से भिड़े

थे। वे तो अपने पवित्र ध्येय के लिए लड़ते-लड़ते, हँसते-हँसते निष्ठा के साथ वीर गति पाना चाहते थे। सच ही तो है, प्रयत्न के मार्ग में आई चट्टान बाधा नहीं होती, प्रत्युत सफलता की सीढ़ी होती है, जिस पर पैर रखकर उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है। अथवा पवित्र साधना के लिए असफलता ही स्वर्गद्वारा खोलने की कुंजी है। अतः मन में ऐसे ही निष्ठाभाव रखकर ये क्रान्तिकारी अंग्रेजों पर टूट पड़े। यह धावा इतने उत्साह और निश्चय के साथ हुआ कि अंग्रेज सैनिक एक बार तो हिम्मत हार गये। बयालीसवीं हाइलैंडर पलटन ने प्रतिकार करने का प्रयास किया। किन्तु यमदूत के समान विकराल क्रान्तिकारी सैनिकों ने ऐसी लड़ाई लड़ी कि कुछ सैनिक ब्रिटिश सेना के पीछे भी पहुंच गए। उन वीरों में से एक भी लौटकर नहीं आया। लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। "किन्तु शत्रु की शरण में जाने अथवा पीछे हटने की बात किसी के मन में नहीं आई। किन्तु एक वीर था, जो अंग्रेज सेना का शिकार नहीं हुआ। और वह मृतकों का अभिनय कर मृतकों में सो गया। और जब देखा, अंग्रेजों का सेनानी आ रहा है तो मृतकों में से पुनर्जीवित-सा होकर वह उस अंग्रेज सेनानी का गला घोंटता है और···पास ही में, देशद्रोही-राजभक्त खड़े हुए सिक्ख ने उस वीर पर वार किया और वह सचमुच ही मृतक बन गया।"[१] संसार के इतिहास में मातृभूमि के रक्षक हुतात्माओं के जो चरित्र देखने को मिलते हैं, उनमें यह वीर हुतात्मा अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

ब्रिटिश सेना ने क्रान्तिकारियों के सभी प्रयत्नों को विफल बना दिया; ७ मई को सभी कान्तिकारी सैनिक अपने नेता खान बहादुरखां सहित बरेली से बाहर हो गए। अब रुहेलखंड की खाली पड़ी राजधानी बरेली पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

खान बहादुर के सही-सलामत निकल जाने से खिन्न, बरेली पर अधिकार पाने से प्रसन्न—सेनापति केम्पबेल अपने खेमे में बैठा था। तभी अचानक कोलाहल हुआ, मौलवी, मौलवी ! शाहजहांपुर में मौलवी अहमदशाह एक अद्भुत योजना बना रहा था। मौलवी और नानासाहब लड़ाई टालने के कारण ही शाहजहांपुर से नहीं निकले थे, बल्कि योजनाओं को बनाने, शत्रु को पराजित करने के प्रयत्न में वे संलग्न थे। शहर छोड़ने से पहले ही सरकारी कार्यालयों, उद्यानों को नष्ट-भ्रष्ट करने की आज्ञा दे दी गई। वे दोनों दूरदर्शी क्रान्ति-नेता यह जानते थे कि थोड़े से सैनिक शाहजहांपुर में छोड़कर ही केम्पबेल बरेली को प्रस्थान करेगा। इसीलिए यह योजना बनी कि केम्पबेल के बरेली पहुँचते ही अहमदशाह

---

१. रसेल की डायरी से

शाहजहांपुर पर टूट पड़े और अंग्रेज सैनिकों को नष्ट कर शहर लूटे। अनुमान सही निकला। चार तोपें और कुछ सैनिक छोड़कर केम्पबेल बरेली गया था। घुसपैठ के स्थानों को नानासाहब ने पहले ही उजाड़ दिया था। अतः अंग्रेजों को खुले मैदान में पड़ाव डालने के लिए विवश होना पड़ा। मई ४ को अहमदशाह शाहजहांपुर पर चढ़ गया। विपक्षी उस समय सुरक्षा के भ्रम में निश्चित था। किन्तु आधी रात को किसी मूर्ख के हठ के कारण मौलवी की सेना शहर से ४ मील दूर अटक गई। और अहमदशाह की योजना मिट्टी में मिल गई, क्योंकि अंग्रेजों के हिन्दुस्तानी गुप्तचर ने सावधानी से इस योजना के सब समाचार शाहजहांपुर के कर्नल हेल को सुना दिये। इस देशद्रोही गुप्तचर से समाचार मिलते ही ब्रिटिश सेना को बनसी गढ़ी में भेज दिया गया। मौलवी यह जान चुका था कि प्रतिपक्षी दल सुरक्षित है, फिर भी उसने चढ़ाई जारी रखी। शहर तथा किला हथियाकर वहां के लोगों ने अपने लिए कर भी जमा किया। मॅलेसन लिखता है, "मौलवी ने वही बरताव किया, जो यूरोप की युद्ध-नीति में किया जाता है।" किसी विचारक का कथन है, स्वतन्त्रता संग्राम में, मातृभूमि के रक्षक, पराधीनता की जंजीरें तोड़ने, अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए जब अपना रक्त बहाते हैं, तब इन देशभक्त वीरों की सहायता, उत्साह और स्वेच्छा से करने के लिए जनता को भी बढ़कर आगे आना चाहिए।"··· शहर पर कब्जा करने के बाद अहमदशाह ने आठ तोपों का प्रबन्ध किया और गढ़ी पर दागना शुरू कर दिया।

७ मई को जब यह समाचार केम्पबेल को मिला तो उसे विस्मित होना पड़ा। पर मौलवी के इस प्रकार पुनः वापस आने पर उसे प्रसन्नता भी हुई, क्योंकि उससे प्रतिशोध लेने की कसक केम्पबेल के अन्दर अभी शेष थी। अहमदशाह स्वयं ही तो उसे यह अवसर दे रहा था। इस तरह पूरा प्रबन्ध कर केम्पबेल अहमदशाह को फंसाने चल पड़ा। अब मौलवी को भागने का कोई मार्ग नहीं मिला। ११ मई से १३ मई तक घमासान लड़ाई होती रही। मौलवी का छुटकारा असंभव बन गया। तब इस जनप्रिय देशभक्त को बचाने के लिए क्रान्तिकारी नेता चारों ओर से अपनी-अपनी सेना लेकर एकत्र हुए। बेगम हज़रत महल अवध से, महमदी नरेश मय्यन साहब, दिल्ली के शहजादा फीरोजशाह, कानपुर के नानासाहब; ये क्रान्तिकारी नेता १५ मई के पूर्व शाहजहांपुर में फंसे स्वातन्त्र्य ध्वज की रक्षा हेतु उद्यत हुए। इस प्रकार सहायता पाकर अहमदशाह, केम्पबेल का व्यूह तोड़कर बाहर निकल गया। केम्पबेल ने मौलवी को आसानी से पकड़ लेने के विश्वास से अपनी सेनाओं को बांटकर अलग-अलग दिशाओं में भेज दिया। पर मौलवी विपक्षी की सभी गतिविधियों को असफलत करते हुए अलग हो गया—शत्रु के कब्जे से दूर। वर्ष भर तक के घोर प्रयत्न तथा रक्तपात से अवध को क्रान्ति-

कारियों से अंग्रेजों ने खाली कराया था। उसी अवध में अहमदशाह पहुँच गया। पहले अवध पर केम्पबेल का पूरा अधिकार था, और रुहेलखंड पर अहमदशाह का—अब मौलवी अहमदशाह अवध को अपने अधिकार में कर लेता है।

अहमदशाह ने अपनी दृढ़ता और वीरता से अंग्रेजों की नाक में दम कर दिया। अहमदशाह की इस भयंकर लड़ाई का अन्त कर देने में अंग्रेज निराश से हो गए। आखिर जब केम्पबेल की तलवार कुंठित हो गई तो अब कौन ऐसा वीर है, जो इस क्रान्तिकारी को परास्त कर सके? यही समस्या अंग्रेजों के सामने बनी रहती थी। पर जब-जब अंग्रेजों की तलवार का पानी उतरा है, विश्वासघात के खड्ग ने उन्हें सफलता दिलाई है। अब भी उन्हें इस विश्वासघात पर भरोसा था। ऐसे विश्वासघाती, कृतघ्न, राष्ट्रद्रोही देश में बिखरे थे, जो चन्द चांदी के टुकड़ों पर अंग्रेजों के कहे बिना विश्वासघात जैसा नीच कर्म कर सकते थे।

अवध में आने के बाद मौलवी ने यह तय किया कि अब संगठन करके अंग्रेजों से टक्कर ली जाय। अतः अवध में जो भयंकर आन्दोलन वह करनेवाला था, उसके लिए पोवेननरेश की थोड़ी-सी सेना प्राप्त कर वह अधिक मजबूत हो जायगा। इसी विचार से बेगम की मुद्रा से अंकित पोवेन नरेश के पास पत्र भेजा। यह राजा मामूली राजा तो था ही, साथ ही—मंदबुद्धि, देशद्रोही, विश्वासघाती और नीच था, अतः उस कायर, कपटी राजा ने पत्र के उत्तर में लिख भेजा कि वह मौलवी साहब से स्वयं मिलना चाहता है। निमंत्रण पाकर अहमदशाह स्वयं मिलने चला। वहां पहुंचने पर उसके विस्मय की सीमा न रही; उसके स्वागत का प्रबन्ध ही कुछ ऐसा विचित्र था। गांव के सब द्वार बन्द हैं। परकोटे पर सशस्त्र सैनिक पहरा दे रहे हैं। पोवेन राजा जगन्नाथ उनके बीच में खड़ा है और बगल में उसका भाई खड़ा है। इस सब प्रपंच का अभिप्राय मौलवी समझ गया, फिर भी कायर की भांति लौटा नहीं; निडर होकर राजा से चर्चा शुरू कर दी। पर उस पर चर्चा का प्रभाव होना ही नहीं था। उस नीच ने दरवाजा नहीं खोला। मौलवी ने अपने महावत को आज्ञा दी कि हाथी से दरवाजा खोलो। एक ही धक्के से द्वार टूटने को था कि राजा के भाई ने निशाना लगाकर मौलवी का सिर··· । और वह वीर उसके हाथों मारा गया।

मौलवी का सिर एक कपड़े में लपेटकर १३ मील की दूरी पर लगे शाहजहाँपुर के अंग्रेजी पड़ाव में ले गया। रक्त से लथपथ उस स्वाभिमानी सिर को अंग्रेजों के पैरों के पास रख दिया। अंग्रेज अफसर अपने खाने के कमरे में खाना खा रहे थे। अंग्रेजों ने उस सिर को द्वार पर लटकवा दिया और पोवेन राजा को इस राष्ट्र-द्रोही घृणित कार्य पर ५० हजार रुपये का पुरस्कार दिया।

मौलवी अहमदशाह की मृत्यु का समाचार जब इंग्लैंड पहुँचा तो, "उत्तर

भारत का ब्रिटिशों का भयंकर शत्रु समाप्त हुआ।"[१] कहकर अंग्रेजों ने चैन की साँस ली।

मौलवी अहमदशाह ने सिखाया था कि धर्म दो होकर देश के टुकड़े नहीं करवा सकते। मातृभूमि हिन्दू-मुसलमान दोनों को बराबर ही प्यारी है। वह वीर ऊँचे कद, इकहरे शरीर का गठा हुआ जवान था। आंखें बड़ी तथा भेदकर देखने-वाली थीं। सच्चे इस्लाम को माननेवाला, वीर मुसलमान देश की रक्षा के लिए मर मिट जाना ही भाग्य समझेगा।

अंग्रेज इतिहासकार मॅलेसन जो अंग्रेजी प्रभाव में सही बात क्रांतिकारियों के लिए नहीं कह सकता, वह भी अंग्रेजी प्रभाव को भूलकर लिखता है, "मौलवी अह-मदशाह एक असाधारण व्यक्ति था। विद्रोह काल में उसके सैनिक नेतृत्व की योग्यता का परिचय कई प्रसंगों में मिलता है।...सर केम्पबेल को रण में दो बार मुँह की खिलाने का साहस दूसरा कोई नहीं कर सकता।...अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़नेवाला वीर देशभक्त है तो अहमदशाह सच्चा देशभक्त था। उसने अपनी तलवार अकारण ही किसी की हत्या से नहीं रंगी थी। वह वीरता से लड़ा, उन विदेशियों से लड़ा जिन्होंने उसके देश पर अधिकार कर लिया था। संसार के सभी राष्ट्रों के वीर उसकी स्मृति का सम्मान करेंगे, ऐसी उसकी योग्यता थी।"[२]

●●●

१. होम्स-कृत, 'हिस्ट्री ऑफ दी म्युटिनी', पृष्ठ ५३९
२. मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी' खण्ड ४, पृष्ठ ३८१

: १० :

रानी लक्ष्मीबाई

जिन राजाओं ने अपने पीछे राज्य का कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा था, उनका राज्य ईस्ट इंडिया कम्पनी में मिलाने की नीति लार्ड डलहौजी ने अपनाई। डलहौजी की इस अपहरण नीति के अन्तर्गत गोद लेकर उत्तराधिकारी बनाने का अधिकार भी नहीं दिया गया था। यही बात झाँसी के लिए थी। झाँसी राज्य भी अंग्रेजों ने हथियाना चाहा। विधवा रानी लक्ष्मीबाई ने विरोध के स्वर में कड़ककर कहा, "क्या मैं झांसी छोड़ूं ? नहीं छोड़ूंगी। किसी की हिम्मत हो तो आजमा ले। मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी।"

झांसी की लक्ष्मी के कंठ से स्वातन्त्र्य-कौस्तुभमणि छीनने का साहस किसमें था ? इस समय सम्पूर्ण दैत्य दानव एकत्र होकर आयें—साक्षात् मृत्युदेव यमराज भी लक्ष्मीबाई से युद्ध करके झाँसी लेना चाहें तो भी झाँसी उन्हें नहीं मिल सकती। जब तक लक्ष्मीबाई के अन्दर रक्त की एक बूंद भी शेष रहेगी, तब तक उसकी स्वातन्त्र्य कौस्तुभमणि उसके कंठ में ही शोभा पायेगी और उसकी धधकती ज्वाला में देशद्रोही, अंग्रेज नराधम जलकर भस्म होंगे। झांसी, झांसी का राज-प्रासाद, जरीपटका (मराठी कपड़ा), राजसिंहासन, उसका सतीत्व आदि सब झांसी की रानी लक्ष्मी के साथ स्वाधीन रहेंगे या स्वाधीनता की यज्ञाग्नि में भस्म हो जाएंगे।

महारानी लक्ष्मी बाई

अपनी बुलन्द आवाज, "नहीं, मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी। जिसकी हिम्मत तो आजमाले।" के साथ वीरांगना लक्ष्मीवाई अंग्रेजों से लोहा लेने को तत्पर हो गई! सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में आगामी क्रांति के लक्षण दिखाई देने लगे। सागर, नौगाँव, बांदा, बानापुर, शाहगढ़ और कालपी में प्रतिशोध की भयंकर अग्नि प्रज्वलित होने लगी। अब तक झाँसी की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। झांसी की प्रजा शान्त, सुखी और व्यवस्थित रही। किन्तु डलहौजी ने स्वतन्त्रता की उस मणि को अपहृत किया, पर लक्ष्मी ने उससे छीन लिया और विजय गर्व से राज्य संचालन करती रही। कमलासना लक्ष्मी अब युद्ध देवी के रूप में शोभा पा रही थी। अब उसके युद्धोचित वेश से आँखें चौंधिया जाती थीं। नखशिख की सज्जा शस्त्रों, युद्धाभूषणों से सजी थी। इन दिनों रानी की दिनचर्या इस प्रकार बताई गई है—

लार्ड डलहौजी

"प्रातः पाँच बजे से जाकर इत्र से सुगन्धित जल से स्नान करती थी। उसके बाद वस्त्र धारण करती थी। साधारण तथा सफेद चंदेरी साड़ी उसे पसंद थी। तदनन्तर पूजा पर बैठ जाती। विधवा होते हुए भी प्रायश्चित्तार्घ्य देती; तुलसी वृन्दावन में तुलसी की पूजा करती। उसके बाद पार्थिव पूजा होती। दरबारी संगीतज्ञ साम गायन करते। फिर कथावाचक कथा सुनाते। समाप्ति पर मांडलिक सरदार वन्दना करते। दरबार के समय साढ़े सातसौ दरबारियों में जब कोई अनुपस्थित रहता तो दूसरे दिन अपनी तीक्ष्ण स्मरणशक्ति का परिचय देती हुई अनुपस्थित रहने का कारण पूछती। पूजापाठ के बाद प्रातराश (ब्रेकफास्ट) करती। विशेष जल्दी का कार्य न होता तो नाश्ते के बाद एक घंटे आराम करती। उसके बाद भेंट में आये उपहार चाँदी के थालों में रखे, रेशमी वस्त्रों से ढँके उसके सामने पेश किये जाते। उनमें पसन्द की वस्तुओं को स्वीकार करती जो नौकरों में वितरण करने के लिए कोठीवालों को दी जातीं। अपराह्न तीन बजे पुरुषवेश में दरबार में जाती। उस समय की वेशभूषा होती—पायजामा, गहरे नीले रंग का कोट, सिरपर टोपी और उसपर सुन्दर-सी पगड़ी बाँधती। बूटे का काम किया हुआ दुपट्टा पतली कमर में बाँधती, जिसमें रत्नजटित तलवार लटकती। इस वेश मे वह साक्षात गौरी मालूम देती थी। पुरुष वेश के अतिरिक्त कभी-कभी स्त्री वेश के भी वस्त्र पहनती। विधवा होने के बाद सौभाग्य अलंकरण नथनी आदि वह धारण नहीं करती थी। कलाई में हीरे की चूड़ियाँ, गले में मोतियों का हार और कनिष्ठका अँगुली में हीरे की अँगूठी रहती। बालों का जूड़ा बाँधती। सफेद साड़ी और सफेद कंचुकी पहनती। इस प्रकार दरबार में कभी पुरुष वेश, कभी स्त्री वेश में बैठती।

दरबारी लोग उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देख पाते थे। उनका कमरा अलग होता था, जिसका दरवाजा दरबार में खुलता था। सोने के वेलबूटों से सज्जित द्वार पर चिक पड़ी रहती थी। कमरे में मुलायम गद्दी पर, तकिये के सहारे बैठती थी। द्वार पर सोने चाँदी के आवरण में लिपटे दो दंड धारण किये दो वेत्रधारी खड़े रहते। दीवान लक्ष्मणराव उस कमरे के सम्मुख महत्त्वपूर्ण कागजों को लेकर खड़े रहते और उनके पास दरबार का आमात्य बैठता।

"रानी बुद्धिमान थी। बात के मर्म को शीघ्र ही ताड़ लेती। उनके निर्णय स्पष्ट तथा संक्षिप्त और निश्चित रहते। कभी-कभी वे अपने हाथ से आज्ञाएं लिखतीं। न्याय के समय वे बहुत सावधान रहतीं। मुलकी तथा फौजदारी के निर्णय बड़ी योग्यता के साथ करतीं।

"बड़े भक्तिभाव से वे महालक्ष्मी के दर्शन को जातीं। यह मन्दिर एक तालाब के किनारे था। तालाब में सुन्दर कमल खिले रहते। हर मंगलवार तथा शुक्रवार को मन्दिर जातीं। एक बार मन्दिर से लौटकर दक्षिण दरवाजे से रानी आ रही थी। वहां हजारों भिखारी रास्ता रोककर खड़े थे। रानी ने मंत्री लक्ष्मणराव पांडे से कारण जानना चाहा। मंत्री ने बताया कि ये लोग अत्यंत गरीब हैं। जाड़े से परेशान हैं। रानी साहिबा से त्राण मांगते हैं। दयालु रानी बहुत दुखी हुई। आज्ञा दी गई। चौथे दिन एक-एक कुरता, टोपी और एक कम्बल सभी भिखारी तथा गरीबों को इकट्ठा करके रानी ने अपने हाथ से बांटा।...नत्थे खां के साथ की लड़ाई में घायलों के घाव धोने के कार्य के लिए रानी हठ करती, अपने दुख में रानी की ऐसी रुचि देखकर उनके घाव अच्छे हो जाते। उन्हें अपने कर्त्तव्य पालन का पूरा प्रतिदान रानी से मिल जाता और वे निहाल हो जाते। मन्दिर जाते समय रानी की शोभा देखते ही बनती। कभी पालकी में तो कभी घोड़े पर बैठकर जाती। पुरुष वेश में साफे का छोर पीठ पर लहराकर शोभा पाता था। उनके आगे राजध्वज मारू बाजे के साथ चलता था। इस ध्वज के पीछे दोसौ गोरे घुड़सवार रहते। रानी के आगे पीछे सौ-सौ सवार चलते...कभी सारी सेना जुलूस में रानी के साथ होती। रानी के निकलते ही नगाड़ा और शहनाई बजने लगते।"[१]

अब स्वराज का नगाड़ा गंभीर घोष कर रहा था। ग्यारह महीने से गूंजनेवाले इस स्वातन्त्र्य घोष से सम्पूर्ण बुंदेलखण्ड भर गया था। नगाड़े के इस नाद का साथ कालपी से तात्या टोपे की तोपें दे रही थीं। विंध्य से जमुना तक ब्रिटिश सत्ता का कोई चिह्न दिखाई नहीं दे रहा था। कोई उसका, अंग्रेजी राज का नाम भी नहीं ले रहा था। अब तो ब्राह्मण, मौलवी, सरदार, जागीरदार, सैनिक, पुलिस, राजा-राव, साहूकार देहाती सभी की एक ही मांग की; एक ही चाह थी—स्वाधीनता

१. दत्तात्रेय बलवंत पारसनी-कृत, 'रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र,' पृष्ठ १४७-१५१

प्राप्ति। इन सबको एक सूत्र में पिरोने का कार्य लक्ष्मीबाई ने किया। उसकी आवाज में वही दृढ़ता थी..." अपनी झांसी मैं नहीं दूंगी..."

संसार के सामने दृढ़तापूर्वक कहा गया 'नहीं' शब्द बहुत कम आया है। भारत के उदारमना लोगों के मुंह से अब तक यही एक शब्द सुनाई देता आया है, "मैं दूंगा।" किन्तु लक्ष्मीबाई ने यह विलक्षण जयघोष किया..."मैं नहीं दूंगी।" काश ! यह आवाज भारत के हर मुख से गूंजी होती !

इसी समय सर ह्यू रोज पांच हज़ार सैनिकों को लेकर विद्रोही को दबाने झांसी की ओर चल पड़ा।

१८५८ के प्रारम्भ में हिमालय से विंध्य तक के समूचे प्रदेश को जीतने की सैनिक योजना पुनः बनाई। यह प्रदेश दो हिस्सों में बांटा गया। प्रत्येक पर अधिकार करने के लिए सेना भेजी गई। सर कम्बेल इलाहाबाद से गंगा जमुना के उत्तर की ओर अपनी बड़ी सेना के साथ बढ़ा; दोआब जीता, गंगा पार कर लखनऊ को नष्ट भ्रष्ट किया, बिहार के विद्रोह को दबाया, बनारस के आस पास तथा अवध के बागियों को हराया, सब क्रान्तिकारियों को रुहेलखंड में जहां अन्तिम मुठभेड़ें हुईं भगाया, उत्तर प्रदेश को क्रान्तिकारियों से मुक्त किया। इन सब बातों का उल्लेख पिछले अध्यायों में आ चुका है। जहां कम्पबेल जमुना से उत्तर में हिमालय की ओर बढ़ रहा था, वहां जमुना से दक्षिण में विंध्य तक का प्रदेश जीतने ह्यू रोज बढ़ा। सिक्खों, गोरखों तथा कुछ हिन्दुस्तानी सैनिकों ने केम्पबेल की सहायता की। दक्षिण में ह्यू रोज को हैदराबाद, भोपाल आदि रियासतों की सहायता मिली। ह्यू रोज को विशेष रूप से, मद्रास, बम्बई तथा हैदराबाद की पलटनों की सहायता मिली। हिन्दुस्तानी सैनिकों का सहयोग भी ह्यू रोज को मिला था। सच तो यह है कि मात्र अपनी शक्ति से विजय पाना अंग्रेजों के लिए असंभव था।

ह्यू रोज

दक्षिणी भाग को जीतने के लिए हिन्दी सेना को दो हिस्सों में बांटा गया। एक भाग ब्रिगेडियर विटलॉक के अधीन रखा गया, जो जबलपुर से आगे बढ़कर मार्ग के सब प्रदेशों को जीतता हुआ ह्यू रोज से मिला। दूसरा भाग ह्यू रोज के ही अधीन था। योजना थी कि जब जबलपुर से विटलॉक चलेगा तभी रोज मऊ से प्रस्थान करेगा और झांसी तथा कालपी होकर आगे बढ़ेगा। योजना के अनुसार ६ जनवरी १८५८ को ह्यू रोज मऊ से निकला। एक छोटी लड़ाई करके उसने रायगढ़ जीता। वहां से सागर गया। क्रान्तिकारियों द्वारा बंदी बनाये गोरों को मुक्त किया और दक्षिण जाकर १० मार्च को बानपुर लिया तथा चंदेरी का प्रसिद्ध

किला जीत लिया। झांसी से चौदह मील की दूरी पर २० मार्च को इस विजयी सेना ने डेरा डाला। इन मुठभेड़ों के कारण नर्मदा से उत्तर में देशभर में फैले क्रान्तिकारी दस्तों की झांसी में भीड़ थी। इसीलिए रोज क्रान्तिकारियों के इस अड्डे को नष्ट-भ्रष्ट करने झांसी की ओर चल पड़ा। इसी बीच लार्ड कैनिंग तथा केम्पबेल ने उसे आज्ञा दी कि पहले वह चरखारी नरेश की सहायता करे, क्योंकि वह तात्या टोपे से घिरा था। लेकिन वह इस बात को मानता तो झांसी को नष्ट करने का उसका इरादा ही नष्ट हो जाता। बड़ी द्विविधा में था। परिस्थिति विकट थी। झांसी पर चढ़ाई करने में अंग्रेजी शासन का हित था। अतः इस हित को ही सर्वोपरि मान रावर्ट हैमिल्टन ने दोनों अधिकारियों की आज्ञा के उल्लंघन का अपराध अपने ऊपर ले लिया और अंग्रेजी राज के हित को ध्यान में रखकर झांसी पर चढ़ाई कर दी। किन्तु झांसी की भूमि में पैठते ही उसे बड़े कष्ट उठाने पड़े। रानी लक्ष्मींबाई ने अपनी आज्ञा से आस-पास का क्षेत्र उजड़वा दिया था, ताकि शत्रु को रसद न प्राप्त हो सके। न छाया को पेड़ रहा, न खेतों में एक भी भुट्टा रहा; यहां तक घास का एक-एक तृण भी नहीं छोड़ा था। नीदरलैण्ड्स के विलियम ऑफ आरेंज ने स्पेनवाले शत्रु के हाथ में देश जाने की अपेक्षा सागर के पानी को अन्दर लेना ज्यादा पसंद किया। झांसी की रानी ने भी इसी नीति का अनुसरण किया।

रानी के स्वर में वही कठोरता, वही गर्जना है। बानापुर का राजा मर्दानसिंह क्रोध से उन्मत्त है, शाहगढ़ का राजा, जान हथेली पर लिए शूर ठाकुर, बुन्देलखण्ड के सरदार, देश की आजादी के लिए अड़े उनके अनुयायी ये सभी प्रतिशोध की अग्नि में धधक रहे थे। राजध्वज—'जरीपटका' क्रोध की ज्वाला की तरह ऊपर उठ रहे हैं। इन सब शक्तियों का केन्द्रीभूत वही रानी हैं। स्वराज्य की साक्षात मूर्ति जो दुर्गा का अवतार है।

उजाड़ भूमि में से भूख-प्यास का कष्ट उठाती हुई अंग्रेज सेना झांसी की ओर बढ़ रही है। "धन्य है शिंदे तथा टेहरी नरेश को, जिन्होंने 'अंग्रेज निष्ठा' के कारण इस लड़ाई में सारी सेना को घास, ईंधन और फल मेवों से भरपूर सहायता की।"[१] शिंदे और टिहरी नरेश अंग्रेजों की सहायता कर रहे हैं। विश्वासघात और देशद्रोह का बोलबाला है। अब तुम्हारी विजय के आसार नहीं दिखाई देते। तो फिर क्यों न अंग्रेजों की शरण में जाकर सर्वनाश से बचतीं? पर क्या झांसीवाली रानी के मन में देशद्रोहियों, विश्वासघातियों के प्रबल जोर के कारण यह बात आएगी ? क्या शरण लेने पर रानी ही क्या महामन्त्री लक्ष्मणराव, मोरोपन्त, शूर-ठाकुर, सरदार सभी वीर बच जाएंगे। पर इनके स्वर में स्वर मिलाकर पूरी झांसी का उत्तर था—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः···सम्भावितस्य चाऽकीर्ति मरणादतिरिच्यते'

---

१. मॅलेसन-कृत 'इंडियन म्यूटिनी', खण्ड ५, पृष्ठ ११०

अर्थात् जो जन्म पाता है, वह अवश्य मरता है, तो फिर व्यर्थ में कीर्ति को क्यों कलंकित किया जाय ?

सो देश की आन-बान की रक्षा के लिए अंग्रेजों से लड़ना निश्चित रहा। झांसी की सेना अपनी रानी के साथ युद्ध की तैयारी में निमग्न हो गई।···उसकी सेना में वीरों की कमी नहीं थी। पर कुशल शिक्षित सैनिक कम थे। अनुशासन का भी अभाव था। फिर भी रानी ने सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व किया। हर बुर्ज पर, हर द्वार पर घूमती हुई नजर आती थी। तोपों की कुर्सियां बनने और उन्हें मोर्चे पर लगाने की जगह वह स्वयं उपस्थित रहती। चतुर तोपचियों का चुनाव करने में वह संलग्न थी। इधर-उधर घूमकर निराश हृदयों में उत्साह का संचार कर रही थी। इधर झांसी की जनता में भी पूरा उत्साह था। झांसी के पंडित मन्दिरों में स्वाधीनता के लिए प्रार्थनाएं कर रहे थे। झांसी के मन्दिर के पुजारियों ने रण में जानेवाले सैनिकों को आशीर्वाद दिए और घायल होने पर उनकी सुश्रूषा भी की। झांसी के कारीगर गोलाबारूद तथा युद्ध की अन्य सामग्री बनाने में व्यस्त रहते। झांसी की जनता ने तोपों के काम में आदमी दिए। बन्दूकें भरने का काम किया और तलवारें पैनी कीं। वहां की स्त्रियों ने भी पूरा योग दिया—गोलाबारूद पहुंचाई, तोपों की कुर्सियां बनाईं और समय पर रसद भी पहुंचाई। स्वयं ह्यू रोज ने अपनी आंखों देखा वयान किया है, "स्त्रियां तोपखाने में गोलाबारूद पहुंचाने आदि कामों में व्यस्त दिखाई दीं।"[1] इस प्रकार रात को नगर-भर में युद्ध के नगाड़े बजने लगे और किले के बीच में मशालें जलती दिखाई दीं। पहरेदारों ने गोलियां भी चलाईं। २४ का सवेरा हुआ। अब क्या देर थी। 'घन गर्ज' तोप ने अपना काम शुरू किया। उसकी गर्जन बड़ी भयंकर थी।

झांसी के घेरे का आंखों देखा वर्णन, दत्तात्रय बलवन्त पारसनीकृत 'रानी लक्ष्मीवाई का चरित्र' पृष्ठ १८७-१९३ के आधार पर इस प्रकार है—

"२५ तारीख से दोनों ओर से बराबर मुठभेड़ शुरू हुई। अंग्रेजी तोपें दिन-रात आग बरसा रही थीं। रात को किले और शहर में गोले पड़ने लगे। बड़ा भयं-दृश्य था। पचास-साठ पौंड का गोला टेनिस की गेंद की तरह किन्तु अंगार-सा दीख पड़ता था। दिन की धूप में ये अस्पष्ट दीखते थे। पर रात में खूब चमकते और रात को भयंकर बना देते थे। २६ तारीख की दोपहर को दक्षिणी द्वार की अपनी तोपें अंग्रेजों ने निकम्मी कर दी थीं। एक भी व्यक्ति वहां नहीं टिक पाता था। सब धैर्य खो बैठे थे। तब पश्चिमी द्वार के तोपची ने अपनी तोप का मुंह घुमाया और अंग्रेजों पर गोले फेंकने लगा। तीसरे गोले से अंग्रेजों का कुशल तोपची मारा गया और तोप भी बेकार हो गई। इससे रानी ने प्रसन्न होकर तोपची को

---

१. मॅलेसन कृत 'इण्डियन म्यूटिनी', खण्ड ५, पृष्ठ ११०

चाँदी का कड़ा इनाम में दिया। उस बहादुर तोपची का नाम था—गुलाम गोश-खान। नत्थेखां के साथ हुए युद्ध में भी उसने ऐसा ही काम किया था।

"पांचवे-छठे दिन उसी तरह युद्ध हुआ। चार-पांच घण्टों तक रानी की तोपों ने अच्छा काम किया, अतः अंग्रेजों की तोपों को भारी हानि हुई। उनकी तोपें कुछ समय के लिए बंद हो गईं। लेकिन फिर अंग्रेजी तोपों की भीषण मार से रानी की तोपें बन्द पड़ने लगीं। लोगों का दिल बैठने लगा। सातवें दिन सूर्यास्त के समय बाएं की तोप निकम्मी हुई। कोई वहां खड़ा नहीं हो सकता था। अंग्रेजों के गोलों से मुंडेर ढह पड़ी। किन्तु रात में ही कम्वलों में छिपाकर ग्यारह राज वहां लाए गए और सुवह होने से पहले मुंडेर का काम पूरा हो गया। अंग्रेजों ने देखा कि छेद पूरा हो गया है तो दांतों तले अंगुली दवा गए। झांसीवाली रानी की तोप ठीक काम कर रही है। इस वार अंग्रेज वेखवर थे। उनको वहुत हानि उठानी पड़ी। उनकी तोपें लम्बे अरसे तक वेकार रहीं।

"आठवें दिन सवेरे ही शंकर किले पर अंग्रेजों ने हमला किया। अंग्रेजों के पास कीमती आधुनिक दूरबीनें थीं। दूरबीनों से किले के जलाशय पर तोपों से आग बरसाने लगे। पानी लाने के लिए नियुक्त छः-सात आदमियों में से चार मारे गए। शेष बर्तन वहीं फेंक भाग गए। चार घण्टे तक पानी न मिलने से वड़ा कष्ट हुआ। अब पश्चिमी तथा दक्षिणी द्वारों पर से गोलावारी करके अंग्रेजी तोपों को वेकार कर दिया गया। उन तोपों के वेकार होने से ही पीने और नहाने का पानी मिल पाया। इमली कुंज में वारूद का कारखाना था। दो मन वारूद तैयार होते ही साथ के साथ कारखाने से बारूद तहखाने में भेज दी जाती। उस कारखाने पर तोप का गोला पड़ा, तीस आदमी और आठ औरतें वहीं समाप्त हो गए। उस दिन घमा-सान लड़ाई हुई। वीरों के गर्जने का शोर था। तोपों और वन्दूकों की कर्णभेदी आवाज कायरों के दिलों को फाड़े डाल रही थीं। तुरहियां और करताल जोरों से बज रहे थे। धूल और धुएं ने आकाश ढंक लिया था। बुर्जों के कई तोपची तथा सैनिक मारे गए। उनके स्थान पर नए आ गए। रानी स्वयं भाग-दौड़कर वहुत कार्य कर रही थी। हर छोटी-बड़ी वात पर रानी का ध्यान था। तुरन्त आज्ञा होती। झट से कच्चे स्थान की मरम्मत हो जाती। रानी के इस व्यवहार से सैनिकों का हौसला वढ़ता और वे जी तोड़कर लड़ते। इस कठोर प्रतिकार से पर्याप्त शक्ति होने पर भी ३१ मार्च (१८५८) तक अंग्रेज किले में प्रवेश नहीं कर पाए।"

पग-पग पर संकटों का सामना था। युद्धकार्य में व्यस्त रानी लक्ष्मीवाई वड़ी उत्सुकता से एक दिशा की ओर उन्मुख होकर देख रही है। क्यों? रानी के होठों पर मुस्कराहट बिखर गई। मुस्कान मुद्रा के साथ आदेश हुआ। मान वंदना में तोपें दागो। गंभीर गर्जन की आवाज में विजय के ढोल वजने लगे। रणोल्लास से आकाश

गूंज उठा। वात यह थी झांसी की सहायता के लिए सेना लेकर तात्या टोपे आ रहा है।

तात्या टोपे विंडहम और कानपुर को पराजित कर तथा केम्पवेल से पराजित होकर—गंगा पार कर नानासाहब की छावनी में पहुंच गया। यहां से आगे चलकर कालपी के निकट यमुना को पार किया। पेशवा के स्वाधीनता-युद्ध में चरखारी नरेश ने सहयोग देने से इन्कार कर दिया। अतः उस देशद्रोही चरखारी नरेश पर आक्रमण कर दिया। उसे देशद्रोह का दण्ड भी अच्छा मिल गया। तात्या ने उसे हराकर उससे जुर्माना वसूल किया, चौबीस तोपें छीन लीं। फिर वह कालपी की ओर मुड़ा। वहां उसे लक्ष्मीबाई का पत्र मिला, जिसमें झांसी पर पड़े अंग्रेजों के घेरे को तोड़ने की प्रार्थना थी। तात्या ने झांसी के प्रधान मन्त्री रावसाहब को पत्र भेजा और उनकी आज्ञा पाते ही अंग्रेजों की पिछाड़ी पर टूट पड़ा। इसी सहयोग से रानी के होठों पर मुस्कराहट दौड़ गई। वचपन में तात्या और लक्ष्मीवाई ब्रह्मावर्त के राजमहल में खेले थे। और आज भी वे सजग होकर खेल रहे हैं—युद्ध-भूमि में। रानी झांसी की घुसबंदी में आग की लपटों में खड़ी है और तात्या बाइस हजार सेना के साथ वेतवा के पास खड़ा है। बचपन के उनके खेल पर कौन ध्यान देता था। आज सारा विश्व उनके इस रण-खेल को देख रहा है।

इतनी वड़ी सेना को लेकर तात्या को आते देख अंग्रेज घबड़ा गए। उस समय थोड़े सैनिक होने से उन्हें बड़ा धोखा था, क्योंकि सामने से लक्ष्मीवाई सामना कर रही थी और पीछे से तात्या पिछाड़ी दाव रहा था। तात्या शेर अपने बाईस हजार पंजों से अंग्रेजों पर टूट रहा था। जैसे ही वह शेर झपटने को था कि उसके बाईस हजार पंजे लुंज-पुंज हो गये। विना पंजों के शेर क्या करता? उसके सैनिकों ने वेतवा के किनारे कायरता का वड़ा लज्जास्पद प्रदर्शन किया। रानी का सामने से और तात्या का पीछे से अंग्रेजों को घेरना सचमुच सराहनीय कार्य था। अंग्रेजों को निराशा हो रही थी; फिर भी अंग्रेजों ने तात्या पर हमला किया, झांसी पर तोपों से आग बरसायी और इस प्रकार क्रान्तिकारियों के दोनों मोर्चों को अंग्रेजों ने ठंडा कर दिया। शिवाजी या कुंवरसिंह के रणधीर योद्धाओं की तरह हमला होता तो यह निश्चय था कि यूनियन जैक तथा उसके अनुयायियों की लाशों पर गिद्धों को दावत मिलती। पर हाय री कायरता। कायर सैनिक आगे बढ़ने से हिचकिचाये। तोपों से एक गोला भी न चला। सेना और सेनापति बुरी तरह हारकर भाग गए। इस गड़वड़ में अत्यधिक युद्ध-सामग्री अंग्रेजों के हाथ लगी। तात्या की सभी तोपें रखी रह गईं और पन्द्रह सौ आदमी मारे गए—भागते हुए एक हजार पांच सौ मरे। भागते हुए कायरों की मौत मरने की अपेक्षा जोर से सामना करते हुए मरते तो उसकी सेना का सफाया निश्चित था। और सच्ची वीरगति पाकर

हुतात्मा बनकर यश के भागी बनते। फिर भी हम तुम पर यों तरस खाते हैं कि कैसे ही सही तुम लोग स्वतंत्रता के काम में मारे गये हो। परमात्मा तुम्हें क्षमा करे। वीर तात्या के कायर सैनिको! तुम्हारी मृत्यु से देशवासियों को इतना पाठ अवश्य मिलेगा कि जो जीने के लिए भागते हैं, वे मारे जाते हैं और जो मरने के लिए रण-मैदान में जूझते हैं, वे जीवित रहते हैं—अमर हो जाते हैं।

मृत्यु को चुनौती देती हुई रानी लक्ष्मीबाई जूझ रही थी। पर सरदारों, ठाकुरों और सिपाहियों ने एकाएक लाचारी दिखाई! नौ दिन, नौ रातें आग बरसाती हुई तोपों के सामने ये लोग खड़े रहे। इन्हें आशा थी कि तात्या टोपे की दैवी सहायता अचानक ही मिलेगी और जब वह आया तो इन्होंने आनन्द के नारे लगाये। १ अप्रैल को तात्या की हार हुई। तब तुम्हारा आनन्द ही नहीं, विजय की आशा ही मिट गई। जिस रसद को विश्वासघाती शत्रु के हाथ से हजारों सैनिकों का बलिदान देकर छीना था, वह अब अनायास ही गोरों के हाथ लग गई। तात्या की तोपें गोला-बारूद अंग्रेजों के हाथ लगी। फिर भी निराशा क्यों? विजयी होकर शत्रु न जीने दे तो भी मृत्यु के बाद की अमर कीर्ति को वह तुमसे नहीं छीन सकता। हे वीरो, दृढ़ निश्चय करके वीरता की मूर्ति रानी के मुख से उसका स्वर सुनो—

"अब तक झांसी पेशवा के बलबूते पर नहीं जूझ रही थी। आगे युद्ध जारी रखने के लिए भी उनके सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं है। अब तक तुमने आत्माभिमान, साहस, दृढ़ता एवं वीरता का सराहनीय परिचय दिया है। अब भी तुम उसी तरह काम लो। और मैं तुमसे आग्रह करती हूं कि धैर्य और प्राणपण से लड़ो।"

"हां प्राणपण से लड़ो। मारू बजने दो। वीर गर्जन से आकाश गूंजने दो। बड़ी-बड़ी तोपों को धड़धड़ाने दो। ३ अप्रैल की प्रभात किरणें पृथ्वी पर आ चुकी हैं और अंग्रेजों का आखिरी हमला झांसी पर हो चुका है। चारों ओर से उनका दबाव बढ़ गया है। तो अब डटकर प्राणपण से लड़ो। देखो युद्ध की देवी ने कैसी तलवार संभाली है और वीरता की पराकाष्ठा दिखाने के लिए शत्रु की हरावल को विचलित कर रही है। रानी बिजली की तरह घूम रही है। किसी को सोने के कड़े, किसीको पोशाक बाँट रही है। किसीकी पीठ ठोंकती है तो किसीको अपनी मुस्कान से उत्साहित कर रही है। गुलाम गोशखां और कुंवर खुदाबक्स तोपों से आग बरसाओ। शत्रु मुख्य द्वार तोड़ रहा है, किलाबंदी तोड़ रहा है; आठ जगह नसैनियां लगाई गई हैं। हर-हर महादेव की गूंज। किले से, बुर्जों से हर घर से गोलियों की बौछार हुई। बाढ़ों का तांता बंध गया। तोपें लाल गोले उगल रही हैं। आवाजें आती हैं—'फिरंगी को मारो।' यह देखो, क्या यह युद्ध देवता है या

रणचण्डी, काली माता स्वयं है ? खड़े होकर भीषण युद्ध कर रही हैं। ले० डिक और ले० मेयकल जोहान सीढ़ियां चढ़ रहे हैं और अपने आदमियों को चढ़ने के लिए ललकार रहे हैं। तोपों का धड़ाका हुआ। साहसी अंग्रेज काल के गाल में चले गए। और कोई है, उनके पीछे आने वाला ? ले० बोनस और ले० फॉक्स, तुम मरना चाहते हो ? बड़ी कठिनाई से चढ़े हुए इन चार वीरों को गिरते देख नसैनियां भी कांपने लगीं। अंग्रेजी सैनिकों की मार से लड़खड़ाकर टूट गईं। अंग्रेजों ने पीछे हटने का बिगुल बजाया। सेना पीछे भागी। हर सिपाही हर चट्टान की ओट लेकर छिपते हुए भागा।"[1]

प्रमुख द्वार पर इस तरह डटकर प्रतिकार हुआ। उधर दक्षिण बुर्ज पर कोई कराह रहा है। मालूम पड़ता है विश्वासघाती नीच ने मोर्चा द्वार गँवाया होगा। यह सच है कि अंग्रेजों ने देशद्रोहियों के वल पर ही फतह पाई है और अंग्रेज बुर्ज पर चढ़कर फुर्ती से आगे बढ़ रहे हैं। उस दिन सबके मन में एक मात्र भाव था— मारेंगे या मरेंगे। एक बार शहर में अंग्रेजों ने मारकाट की धूम मचा दी। एक के पीछे एक मोर्चे पर कब्जा करते गए। कत्ल, आगजनी और विध्वंस का बाजार गर्म था। वे राजमहल तक पहुंचे। राजप्रासाद पर अधिकार करने पर हजारों रुपये लूटे गए। पहरेदारों को मार डाला गया। ईंट से ईंट वज गई। आखिरकार झांसी अंग्रेजों के हाथों में चली गई।

परकोटे पर खड़ी रानी ने एक बार झांसी पर दृष्टि डाली। दक्षिण दरवाजे पर हुए भीषण कांड का दृश्य उसकी आँखों में तैर गया। शत्रु के स्पर्श से उसका झांसी अपवित्र हो गया। क्रोध से रानी पागल हो उठी। आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ छूट रही थीं। उसने अपनी तलवार सम्हाली। हजार-पन्द्रहसौ सैनिक साथ लिए और किले को चल पड़ी। अपने बच्चे को छेड़नेवाले पर भी शेरनी इतनी फुर्ती से नहीं झपटती, जितनी जोर से वह दक्षिण द्वार पर तैनात अंग्रेजों पर झपटी। और तलवारों से तलवारें भिड़ गईं। दोनों दल थोड़ी देर के लिए एक दूसरे में मिल गए। खनाखन की मार बजी, बहुत से गोरे मारे गए। शेष शहर की ओर भागे और ओट में छिपकर शिकार खेलने लगे। फिरंगी के खून से उस महाकाली का क्रोध कुछ शान्त हुआ। उसके ध्यान में आया कि किले से इतनी दूर अकेली का लड़ना महा मूर्खता थी। अब इस असाधारण साहसिक वीरता की प्रतिध्वनि शहर के हर रास्ते से मिलने लगी। हालांकि सारा शहर, राजप्रासाद अंग्रेजों की तलवारों ने खून से रंग दिया था। राजप्रासाद की घुड़साल के पचास नौकरों ने घुड़साल छोड़ने से इनकार कर दिया। 'शरण' शब्द उनके शब्दकोश में था ही नहीं। उनमें

१. सं० ग० देख लो कृत, 'सेंट्रल इण्डिया' पृ० २५४

से हर वीर ने अपनी शक्ति-भर अधिक-से-अधिक गोरों का सामना किया। उनमें से प्रत्येक के मर मिटने पर घुड़साल शत्रु के हाथ लगी। अंग्रेजों ने अब तक शहर को खंडहर बना डाला था। उनके सामने जो भी आता—भले पाँच वर्ष का बालक हो या अस्सी साल का बूढ़ा—उनकी तलवार का शिकार हो जाता। नगर-भर आग से जल उठा। घायलों, मरनेवालों की चीखों से आकाश गूँज उठा।

किले के परकोटे के बहुत पक्का होने के कारण, अंग्रेजों ने उसे तोड़ने का विचार दूसरे दिन का रखा। रानी परकोटे पर खड़ी करुणापूर्ण दृश्य को देख रही थी। उसे अत्यंत दुःख हुआ। उसकी आँखें डबडबा आईं। रानी लक्ष्मीबाई रोईं। वे सुन्दर आँखें रोने से लाल हो गईं। उसकी झांसी की यह दशा। एक बार फिर सिर ऊँचा करके देखा, झाँसी की किलाबन्दी पर पराधीनता का दाग, फिरंगी का झंडा गाड़ा गया है। उन रोनेवाली आँखों में एक विलक्षण तेज चमक उठा। धन्य हैं वे आँखें, वह हृदय और वह धैर्य! इतने में बेतहाशा दौड़ता हुआ एक दूत आता है। दूत कहता है, "रानी सरकार! किले के प्रमुख द्वार-रक्षक सरदार कुंवरसिंह दोनों तोपचियों खुदाबक्स और गुलाम गोशखां को अंग्रेजों ने गोली से उड़ा दिया है।" पहले से ही दुखी हृदय पर यह कितना भयंकर आघात। संकट पर संकट आ रहे हैं। रानी का आगे अब एक मात्र निश्चय है—स्वाधीनता की कौस्तुभ मणि झांसी की लक्ष्मी के गले से नहीं गिरनी चाहिए। उस दूत से, जो एक बूढ़ा सरदार था, रानी ने कहा, देखो, "मैं इस किले में अपने हाथों बारूद के भंडार में आग लगाकर उड़ जाना चाहती हूँ।" अपने जरपटि के साथ स्वाधीनता के झंडे को लिए हुए या तो वह राजसिंहासन पर विराजमान होगी या फिर चिता पर। यह सुनकर उस बूढ़े सरदार ने शान्ति से कहा, "सरकार यहाँ रहना अब खतरनाक है। शत्रु की छावनी को चीरकर आपको आज रात किला छोड़कर चले जाना चाहिए। और पेशवा की सेना में पहुँचना चाहिए। और यदि मार्ग में ही मृत्यु मिल जाय तो समरांगण-तीर्थ की पवित्रधारा में गोता लगाकर स्वर्ग के खुले द्वार में प्रवेश हो सकता है।"

"मैं मैदान में लड़ते-लड़ते मरना अधिक पसंद करती हूँ।" रानी का जवाब था, "किन्तु मैं स्त्री हूँ। मेरे शरीर की कहीं विडंबना हुई तो?"

यह सुनकर सब सरदारों ने एक स्वर से कहा, "जब तक हममें से एक भी जीवित है, तब तक आपके शरीर को छूनेवाले के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएंगे।"

रात हुई। रानी ने अपनी प्रजा को बुलाकर अन्तिम बार आशीर्वाद दिया। रानी का झांसी छोड़ने का इरादा देख प्रजा की आँखें गीली हो गईं, शायद फ़िर न लौटें। रानी ने चुनिन्दे घुड़सवारों को अपने साथ लिया। आभूषणों से सजाया हुआ एक हाथी उनके बीच रखा गया। 'हर हर महादेव' के घोष के साथ वे किले

से उतरने लगीं। पुरुष वेश बनाया था। फौलादी कवच ने शरीर की रक्षा की थी। कमरबन्द में एक जमिया पड़ा था और एक पैनी तलवार लटक रही थी। अंचल में एक प्याला बँधा था; रेशमी धोती से उनका दत्तक पुत्र दामोदर बँधा हुआ था। श्वेताश्व पर सवार वह रानी साक्षात लक्ष्मी लगती थी। उत्तरी दरवाजे के निकट पहुँचने पर देशद्रोही टिहरी-नरेश के पहरेदार ने टोका, "कौन है ?" "टिहरी की सेना सर ह्यू रोज की सहायता के लिए कूच कर रही है।" उत्तर मिला और प्रहरी ने जाने दिया। रानी आगे बढ़ी। एक गोरे प्रहरी को भी इसी तरह टाला गया। रानी के अंग-रक्षकों में एक दासी, एक बारगीर और १०-१५ घुड़सवार थे। इस तरह यह सेना शत्रु की छावनी के बीच से कालपी तक सुरक्षित पहुँच गई। किन्तु रानी के अन्य घुड़सवारों को संदेह में अंग्रेजों ने रोका और वहीं ठन गई। मोरोपंत तांबे घायल होने पर भी दतिया तक निकल गए, किन्तु दतिया के देशद्रोही दीवान ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और अंग्रेज़ों को सौंप दिया। अंग्रेज़ों ने उन्हें फाँसी के झूले पर झुला दिया।

लक्ष्मी ने घोड़े को एड़ लगाई, क्योंकि ले० बॉकर चुने हुए घुड़सवारों के साथ रानी को पकड़ने के लिए पीछा करता हुआ आ रहा है। रानी के अश्व, तुम्हारी पीठ पर जो पवित्र निधि है, उसकी रक्षा के लिए पूरा बल लगाकर दौड़ो। देश के मानव भले ही देशद्रोही बनें, पर देश के पशु तुम तो ईमानदार ही रहोगे—तुम्हारे पशुत्व के आगे देशद्रोहियों के मनुष्यत्व पर हजार बार लानत है। और हे रजनी, तुम भी रानी और घुड़सवारों को छिपाने के लिए अपनी काली चादर फैला दो ? और भारत के मार्ग तुम उस घोड़े को कोई बाधा मत देना। और आकाश में चमकते तारागणों शत्रु को प्रकाश मत दो; हां इतना प्रकाश अवश्य दो कि कमल के समान कोमल रानी उत्साह के साथ अपने मार्ग पर अग्रसर हो सके।··· अब उषा का आगमन हुआ है और वीर रानी तुम वायु के पंखों पर रात-भर उड़ी चली आ रही हो। सो अब मंडेर गांव के पास कुछ विश्राम लो। वहां का लम्बरदार तुम्हारे प्यारे दामोदर को खिलायेगा।

सुबह का नाश्ता करके रानी तुरन्त कालपी के मार्ग में चल पड़ी। लेकिन पीछे से गुबार उड़ रहे हैं। रानी घोड़े को तेज करो, दामोदर को सम्हालो और आगे बढ़ो। अपनी तलवार सम्हालो। बॉकर नजदीक आ चुका है।··· तो नीच बॉकर अपनी नीचता का पुरस्कार ले। तलवार उठी और बॉकर लड़खड़ाता हुआ घोड़े से गिर पड़ा। पीछा करनेवाले अंग्रेज और रानी के दस-पन्द्रह घुड़सवारों में प्राणघातक मुठभेड़ हुई। उनमें जो बचे वे लक्ष्मी की रक्षा के लिए आगे बढ़े। घायल बॉकर और उसके साथियों ने पीछा करने से मुंह मोड़ लिया। भारत माता की तलवार विजयी होकर चमकती हुई आगे बढ़ी। आकाश में सूर्य और

धरती पर लक्ष्मी—दोनों आगे बढ़ रहे थे। दोपहर हुआ। रानी नहीं रुकी। सांझ हुई। सूर्यदेव थककर क्षितिज के पीछे जा छिपे। रानी नहीं थकी। वह बढ़ती गई। दौड़ते-दौड़ते रानी कालपी पहुंची। १०२ मील का सफर, और वह भी बॉकर जैसे योद्धा के साथ जूझते हुए—पीठ पर एक बालक का बोझ लेकर रानी ने तय किया। वह घोड़ा कालपी तक रानी को सुरक्षित पहुँचाने के लिए ही प्राण धारण किये हुए था। और वह अमूल्य रत्न को अपनी पीठ पर से उतारने के बाद लड़खड़ाया और स्वर्ग सिधार गया। छह आदमियों को उसकी अन्त्यक्रिया में तुरन्त लगाया गया। वह घोड़ा रानी को अत्यन्त प्यारा था। जिस घोड़े ने इतनी ईमानदारी से अपने प्राण देकर भी अपने जिस कर्त्तव्य का पालन किया उसकी स्मृति सदा के लिए प्यारी रहेगी।

रानी ने सवेरे तक आराम किया। सुबह रानी और रावसाहब पेशवा का हृदयवेधक साक्षात्कार हुआ। दोनों को अपने पूर्वजों का स्मरण हुआ, जिन्होंने असंभव को संभव बनाने के बड़े-बड़े काम किये। ऐसे महापुरुषों में जन्म लेने का सौभाग्य दोनों को प्राप्त था। उन्हें इस बात से प्रेरणा मिलती थी कि मराठों का झंडा अटक पर लहराने का कारण था—शिंदे, होलकर, गायकवाड़, बुंदेले और पटवर्द्धन का स्वराज्य के लिए अपने प्राणों के उत्सर्ग के लिए कृतसंकल्प होना। जिसके लिए उनके पूर्वजों ने अपना खून बहाया था, उसी झंडे, उसी स्वराज्य के लिए शुरू हुए युद्ध को अन्त तक निवाहने के लिए दोनों ने प्रण किया। स्वदेश को भ्रष्ट करनेवालों से वह युद्ध लड़ा जा रहा था। पुनः लक्ष्मीबाई तथा तात्या टोपे ने घनघोर संग्राम की सिद्धता के लिए युद्ध शुरू किया।

इन दोनों को युद्ध में तत्पर छोड़, अब हम ब्रिगेडियर विटलॉक की गतिविधि पर सरसरी निगाह डालेंगे, जिसे हम कुछ पहले छोड़ चुके हैं। नर्मदा तथा गंगा-जमुना के प्रदेश को फिर से जीतने के लिए दो सेनाएं चली थीं। उनमें एक ह्यू रोज के नेतृत्व में बढ़ी थी। उसने झांसी जीत लिया। झांसी जीतने के बाद वहां अराजकता फैली। लूट के काम में तो नादिरशाह की बराबरी की गई। मन्दिर-मूर्तियां तोड़ी गईं। भयंकर हत्याकाण्ड हुआ। उसके बाद यह सेना मुहीम जारी रखने के लिए कालपी बढ़नेवाली थी। इसका अन्तिम भाग पूरा करने का भार ब्रिगेडियर विटलॉक को सौंपा गया। विटलॉक १७ फरवरी को जबलपुर से चला। उसके साथ गोरी पलटन और मद्रासवाली काली पलटन, गोरा और काला रिसाला और उत्कृष्ट तोपखाना था। बड़ी शान के साथ उसने सागर में प्रवेश किया। अंग्रेज-भक्त ओरछा-नरेश उससे मिला। यहां से यह सेना बांदा के नवाब को जीतने चली, जो उस प्रान्त के मुख्य क्रान्ति-नेता थे। क्रान्ति की पहली लहर में, झांसी, सागर, और अन्य स्थानों में क्रूर कत्ल हुए थे। वहां के गोरे जहां शरण मिली, वहां जान बचाने

भाग गए। बांदा के नवाब ने उन्हें अपने राजमहल में सुरक्षित रखा था और उनकी अच्छी तरह देख-भाल की थी। किन्तु साथ ही क्रान्ति के धमाके से थर्रानेवाली ब्रिटिशसत्ता के कंधावर को फेंक देने के काम में भी व्यस्त था। शुरू में ही उसने परायी सत्ता के सभी चिन्ह मिटा दिए थे और स्वतन्त्र नरेश की हैसियत से राज्य कर रहा था। जब उसने देखा कि अंग्रेजी सेना उसका राज्य छीनने आ रही है तो अपनी प्रजा से युद्ध के सहयोग के लिए अनुरोध किया। कई मुठभेड़ों के बाद हारकर नवाब अपनी सेना के साथ कालपी चल पड़ा। १६ अप्रैल को विजयी विटलॉक ने बांदा में प्रवेश किया। अब किरवी के राव पर चढ़ाई होनेवाली थी। किरवी नरेश राव माधवराव की अवस्था १० वर्ष की थी और अंग्रेज उसके रक्षक बने थे। बाजीराव पेशवा किरवीराव के निकट के सम्बन्धी थे। १८२७ में अनन्तराव—तत्कालीन किरवी-नरेश ने, काशी के मन्दिरों में दान करने के लिए दो लाख रुपए जमा कर दिए थे। अनन्तराव के मरते ही अंग्रेज सारी रकम हड़प कर गए। इससे कोई सबक न लेकर उनके पुत्र विनायकराव ने भी कई लाख रुपयों की रकम अंग्रेजों को सौंपने की मूर्खता की। वह रकम भी अंग्रेज हड़प गए। विनायकराव के मरने पर उनका दत्तक पुत्र माधवराव नाबालिग था। रियासत का प्रबन्ध अंग्रेजों के हाथ में था। प्रधान कर्मचारी रामचन्द्रराव अंग्रेजों द्वारा नियुक्त था। इस दशा में किरवी रियासत में विद्रोह की आशा अंग्रेजों को नहीं थी। किन्तु १८५७ में इन राव उमराओं ने जो कुछ किया उससे इनकी प्रजा सहमत नहीं थी। प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों तरह से देश की सच्ची शक्ति—जनता का बल सदियों से कुचला जाने के बाद भी अपना असर जमाने की भरसक चेष्टा कर रहा था। किरवी के जमींदार, धर्म-गुरु, व्यापारी, यहां तक कि मामूली-से-मामूली आदमी भी स्वाधीनता के आदर्श से प्रभावित हुआ था। और एक दिल्ली के स्वतन्त्र होने का समाचार सुनकर आनंद से उछल पड़े थे। दूसरे दिन लखनऊ स्वतन्त्र घोषित हुआ। तीसरे दिन झांसी द्वारा फिरंगी झण्डे को उखाड़ फेंकने का समाचार मिला। इन आशाप्रद घटनाओं-समाचारों से उत्साहित होकर लोगों ने किरवी के स्वतन्त्र होने की घोषणा की; और विदेशी कंधावर को राव की सम्मति तथा मन्त्रियों के आज्ञा के बिना फेंक दिया। जब जनता द्वारा आजादी की घोषणा डंके की चोट की जा रही थी तब किरवी के ९ या १० वर्ष के राजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ भी न किया था, बल्कि उसने अंग्रेजी सेना को उस समय अपने राज्य में सस्वागत आने का निमन्त्रण दिया, जब अंग्रेजी सेना बुन्देलखण्ड में लौट आई। निमंत्रण पाकर अंग्रेजी सेना किरवी राज्य में चुप चली आई; किन्तु नाबालिग राव को बन्दी बनाने के अपवित्र उद्देश्य को लेकर उसकी राजधानी खण्डहर करने, उसके राजमहल को विध्वंस करने और पैशाचिक

लूट, अग्निकाण्ड आदि के द्वारा प्रतिशोध लेने ।[१]

किरवी रियासत खालसा में मिलायी गयी। विजित प्रदेश में 'शान्ति' स्थापना के लिए विटलॉक महोबे में छावनी डाल रहा था। दरसल उसने अपनी मुहीम पूरी की थी। बुंदेलखंड का पूरबी भाग जीत लिया था। एक-दो छोटी जगहों में शान्ति कायम करने के लिए कुछ दस्ते भेजे थे।··· अब विटलॉक को यहीं छोड़ झांसी की रानी के पवित्र चरणों का दर्शन करें।

अब रानी ने पेशवा की सेना के साथ कालपी से ४२ मील दूर कंच गाँव को कूंच किया। लेकिन ऐसा अनुमान है कि रानी की सूचना के अनुसार सेना की व्यूह-रचना रावसाहब ने नहीं की थी। ध्यान रहे, रावसाहब या तात्या टोपे के लिए पूरी तरह प्रबन्ध करना असंभव-सा था। यद्यपि उनके साथ बाँदा का नवाव, शाहगढ़ नरेश, वानापुर के राजा, ये सब एक ही झंडे के नीचे इकट्ठे हुए थे; फिर भी एक विशाल सैनिक संगठन के अन्तर्गत अनुशासित होकर नहीं आये थे। कोई ऐसा संगठन नहीं था, जो एक स्वर से संचालित हो, एक सुनिश्चित विधान के अनुसार चले। प्रत्येक अपनी अलग योजना बनाता, इससे किसीकी योजना पर पूरा अमल न हो पाता। दूसरी ओर शत्रु दल के नेताओं में कोई झगड़ा न था; उनका संगठन व्यवस्थित और अच्छी तरह अनुशासित था। सर ह्यू रोज के सेनानी नियुक्त होने से पहले अफवाहों, और मतभेदों का बाजार गर्म रहा। लेकिन एक बार जब उसकी नियुक्ति हुई कि उसका मत ही सवका मत था। जो भी आज्ञा वह देता वह ठीक मानी जाती, उसका पालन होता। किसी साधारण सेनानी की आज्ञा का भी, चाहे वह गलत ही हो, पालन ऐक्य के साथ हो तो सफलता निश्चित ही है। इसके विपरीत यदि सैनिक अपनी सनक को महत्त्व दें, शासन में संगठन न हो, सुयोग्य सेनानी की विचारपूर्ण आज्ञा भी पराजय का कारण वनती है। यदि यह तथ्य गलत है तो कँच गाँव में जो पराजय हुई वह कभी न होती।

झाँसी से सर ह्यू रोजके आते ही क्रान्तिकारियों से कँच गाँव में मुठभेड़ हुई।

---

१. सं० ४८ राव के किए गए इस अन्याय के विषय में मॅलेसन को मानना पड़ा है कि, "विटलॉक के सैनिकों पर एक भी गोली न चली; तो भी उसने निश्चय कर लिया था कि उस नाबालिग राव को बागी माना जाय। इस नीचता का कारण था कि गोरे सैनिकों को उनकी कठिन लड़ाइयों तथा चिलचिलाती धूप में कष्ट उठाने का पुरस्कार किरवी के खजाने में ही भरा पड़ा था। वहां के तहखाने आदि में अनमोल हीरे तथा जेवर थे। इस सम्पत्ति के लालच में यह अन्याय किया गया।"

—के और मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी', खण्ड ५, पृष्ठ १४०-१४१

दोपहर की कड़ी धूप गोरे सह नहीं सकते, यह जानकर क्रान्तिकारियों के एक आज्ञा-पत्र में लिखा था, "सवेरे १० बजे के पहले फिरंगी से कोई मुठभेड़ न करे; सदा ही दस के बाद लड़ाई हो।" इस सूझ-बूझपूर्ण आज्ञा का उस दिन पालन हुआ। जैसा कि अन्य स्थानों में हुआ था, दस बजने के बाद जहां लड़ाई शुरू होती अंग्रेजों की छावनी में कुहराम मच जाता आज ऐसा ही हुआ। इस पर भी कँच गांव में क्रान्तिकारियों की हार हुई और उन्हें कालपी की ओर हटना पड़ा। जिस सराहनीय ढंग से पीछे हटे, जिस संगठित ढंग से मोर्चे छोड़ते गये, शत्रु ने उसकी अत्यन्त प्रशंसा की है।[1] काश! वह असंगठन अनुशासन-हीनता पराजय से पहले दूर करदी जाती!... इसके बाद क्रान्तिकारी कालपी पहुंचे और पराजय का दोष एक-दूसरे पर मढ़ने लगे; पैदल सेना ने रिसाले को कोसा, रिसाले ने झांसीवालों की निन्दा की और सब मिलाकर तात्या टोपे की गलती बताई।

किन्तु इस आपसी बखेड़े को देखने तात्या कालपी पहुंचा ही न था। वह तो जालवण के पास चरखी गांव में अपने पिता से मिलने गया था। ध्यान रहे रास्ते में ग्वालियर पड़ता है; उसके बाद वह और कहां जा सकता है? हम आशा करते हैं कि पिता-पुत्र की भेंट अत्यन्त प्रेमपूर्वक तथा आनन्द से हो; और फिर इस महान क्रान्तिकारी नेता को अपनी योजनाओं के कार्यान्वयन में यश प्राप्त हो।

इस मनचाही यात्रा में तात्या के चले जाने के बाद रानी लक्ष्मी पेशवा के शिविर में गई। कँच गाँव के पराभव से पेशवा को बड़ा दुःख हुआ। अपने ओज-

---

१. सं० ४६ "फिर बागियों ने वह काम किया जिसकी प्रशंसा उनके शत्रुओं को भी करनी पड़ी। पीछे हटने का कार्यक्रम उन्होंने इस तरह पूरा किया कि उसका जोड़ पाना असंभव है। अंग्रेज अफसरों ने उन्हें जो पाठ अच्छी तरह पढ़ाये थे, उनको ठीक तरह ध्यान में रखा गया था। किसी प्रकार की जल्द-बाजी, अव्यवस्था तनिक भी न थी; पीछे भागने का नाम नहीं। रणमैदान का संचालन आदि सब कुछ व्यवस्थित था। दो मील लम्बी मुठभेड़ की हरा-वल होने पर भी किसी जगह घबराहट नहीं थी। सैनिक गोली चलाते, फिर पीछे की पाती की ओर दौड़ते और अपनी बंदूकें भरते। फिर आगेवाले गोलियां चलाते ओर पीछे अपनी जगह पर हट जाते। पीछा करनेवाले यदि बहुत जोर करते तो वे डटकर खड़े हो जाते ओर घमासान लड़ाई पर मजबूर करते।"

—मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्यूटिनी', खंड ५, पृ० १२४।

(शत्रु द्वारा की गई इस प्रशंसा से 'पांडे' की सेना का श्रेष्ठत्व निखर पड़ता है।)

पूर्ण शब्दों से उनकी उदासी को दूर करते हुए तथा धीरज बंधाते हुए वीरांगना रानी ने कहा, "आप यदि सेना को फिर से संगठित करें तो शत्रु उस पर कभी विजय नहीं पा सकता।" रानी के शब्दों से बाँदा के नवाब को उत्साह प्राप्त हुआ। ओजपूर्ण शब्दों में रचे घोषणा-पत्र फिर से क्रान्ति-सेना में वितरित हुए। आज यमुना के किनारे भीड़ जमा हो रही थी। तलवारें और तोपें चमकती हैं; मातृभूमि की साधना में रत सिपाही यमुना मैया से आशीर्वाद माँग रहे हैं। इस तरह का मेला यमुना किनारे पहले कभी किसी ने नहीं देखा होगा। सब ओर मातृभूमि और धर्म की जय-जयकार हो रही है। "जय जमुना मैया, तुम्हारा पवित्र जल हाथ में लेकर हम प्रतिज्ञा करते हैं कि फिरंगी नष्ट होगा। देश स्वतंत्र होगा। स्वधर्म की पुनः स्थापना होगी। माँ जमुना ! यह सब होगा, तभी हम जिन्दा रहेंगे, नहीं तो रणभूमि में सदैव के लिए सो जाएंगे। कालिन्दी माता हम तीन वार प्रतिज्ञा करते हैं।"

तीन वार शपथ ग्रहण किये वीरो ! मैदान में बढ़ो। रण-लक्ष्मी तुम्हें उत्तर की ओर बुला रही है। रावसाहव सारी सेना का नेतृत्व करेंगे। ह्यू रोज के नेतृत्व में चलनेवाली पच्चीसवीं पैदल पलटन को भगा दो। ये सब हिन्दी हैं—इन देश-द्रोहियों को भगा दो। यह मेजर आर्क बढ़ा क्या ? उसकी भी वही गत कर दो। कालपी के सामने के मैदान में हिलोरनेवाले हिस्से की सेना को सुरक्षित रखने पर हमारी स्थिति लगभग अजेय है। देखो ! सेना मुख पीछे हट रहा है। वह बहुत अधिक आगे बढ़ गया था और पीछे से पूरी सहायता न मिलने पर उसे पीछे हटना पड़ा है। रानी लक्ष्मी तुम उनकी रक्षा के लिए दौड़ो। तलवार हाथ में लिये हुए अपनी सेना को बचाने बिजली की तरह वह दौड़ पड़ी। अंग्रेजों के दाएं पार्श्व पर लाल गणवेशधारी सवारों के साथ टूट पड़ी। अंग्रेज एकदम ठंडे पड़े—हमला इतना जोरदार था ! लाचार हो पीछे हटने लगे। इक्कीस साल की लड़की की बिजली-सी झपट, उसके घोड़े का वायुवेग से दौड़ना, दाएं-बाएं गाजर-मूली की तरह उसका अंग्रेजों को काटना; इन सबको देख, कौन होगा जो लड़ने को तत्पर न होगा ? रानी ने अपने रणकौशल से सभी क्रान्तिकारियों का उत्साह बढ़ाया। भीषण युद्ध शुरू हुआ। हल्की तोपों के गोरे तोपची एक-एक करके मारे गए। तब रानी ने अपने रिसाले के साथ आग उगलती हुई तोपों पर धावा बोल दिया। तोपची भागे। घोड़ों पर चलनेवाला तोपखाना तितर-बितर हो गया। क्रान्तिवीर चारों ओर से आगे बढ़ने लगे। आज तक हाथ में न आनेवाले फिरंगी को मटिया-मेट करने का मौका मिलने से वे आनन्दित हो उठे। उन सबके आगे रानी लक्ष्मी चल रही थी।

इस आकस्मिक धावे को देखकर ह्यू रोज चौंक पड़ा। वह अपने इमदादी

ऊंटों को लेकर आगे बढ़ा; किसी तरह ऊंटों के कारण अंग्रेजों ने अपनी प्राणरक्षा की। एक अंग्रेज का कथन है, "यदि पन्द्रह मिनट और बीत जातीं तो क्रान्तिकारियों ने हमारा सफाया कर दिया होता। इमदादी डेढ़ सौ ऊँटों ने ही उस दिन हमारा उद्धार किया। और उसी दिन से सचमुच मैं ऊँट को प्यार की नजर से देखने लगा।" केवल ऊँटों के काफिले ने २२ मई को पेशवा की सेना को कालपी तक पीछे हटने के लिए मजबूर किया। कुछ मुठभेड़ों के बाद २४ मई को ह्यू रोज कालपी में घुस पड़ा। तात्या टोपे तथा पेशवा रावसाहब द्वारा कालपी किले में एकत्र की गई युद्ध-सामग्री अनायास ही अंग्रेजों के हाथ लगी। साठ हजार रतल बारूद भूमि में गड़ी पाई गई। नई बन्दूकें, अघावत् ढंग से बने पीतल की तोपों के गोले, उन्हें बनाने के यंत्र, ढेरों सैनिक गणवेश, झंडे, मारू बाजे, फ्रांसीसी तरहियां, यूरोप में बनी गरनाल तोपें तथा कई प्रकार के शस्त्रास्त्र आदि युद्धोपयोगी सामग्री अंग्रेजों के हाथ लगी।

अगर हाथ न लगे तो शूरवीर चिरस्मरणीय क्रान्ति नेता, क्योंकि कालपी का सम्पूर्ण पतन होने के पहले एक सप्ताह तक रावसाहब, बांदा का नवाब, रानी लक्ष्मी और अन्य नेता वहां से गायब होकर किसी अज्ञात स्थान को चले गए थे। निस्सहाय, निःशस्त्र इन नेताओं को मारे-मारे फिरकर, भूखों भटककर या तो शत्रु के चंगुल में पकड़ा जाने या आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कोई चारा न था।

इस तरह, जमुना के उत्तर कांठे का प्रदेश फिर से हड़प कर विजयी केम्पवेल हिमालय तक पहुंच गया। इधर ह्यू रोज ओर विटलॉक ने नर्मदा से प्रारम्भ कर यमुना के दक्षिण काँठे के प्रदेश पर दखल किया। क्रान्तिकारियों का पूरा सफाया करने पर अंग्रेजों को हक था कि वे अपना अभिनन्दन करें। ह्यू रोज ने अपने सैनिकों का अभिन्दन इन शब्दों में किया है," वीर सैनिको! तुमने एक हजार मील का प्रदेश रौंदकर शत्रु से सौ तोपें छीन ली हैं। नदियों को तैरकर, पहाड़ टीले लांघकर; जंगलों, दर्रों, उपत्यकाओं में शत्रु का सफाया कर असीम प्रदेश जीतकर अपने देश की प्रतिष्ठा में चार चांद लगाए हैं। वीर तो तुम हो ही; पर अनुशासन का पालन भी तुमने बड़ी तत्परता से किया है क्योंकि बिना अनुशासन के साहसी वीरता का मूल्य नहीं होता। अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में, कठोर यंत्रणाओं में भी तुमने अपने अधिकारियों की क्षाज्ञा का पालन ज्यों का त्यों किया है। आज्ञाभंग करने या उदण्डता का तनिक भी परिचय नहीं दिया। यमुना से नर्मदा तक तुमने अपने अद्वितीय सैनिक अनुशासन से महान विजय प्राप्त की है।"

वीर स्तुतिपूर्ण और प्रभावशाली वक्तव्य देकर ह्यू रोज स्वास्थ्य के कारण सैनिक सेवा से निवृत्त हुआ। उसकी विजयी सेना भी शत्रु की पूरी हार होने से

छुटकारे की सांस लेकर आराम की अपेक्षा करने लगी।

लेकिन अंग्रेज सैनिकों अभी आराम की क्यों सोचते हो। अभी तो तात्या और लक्ष्मी जीवित हैं। और यदि स्वेच्छा से रण के लिए तैयार नहीं होगे तो ग्वालियर की सेना युद्धभूमि में खदेड़ने के लिए कटिबद्ध है।···कालपी से छिटक कर सभी क्रान्ति नेता आगामी योजना बनाने के लिए गोपालपुर में जमा हो गए। वास्तव में इस समय आशा के कोई आसार नहीं थे। नर्मदा से यमुना तक और यमुना से हिमाचल तक सारा प्रदेश अंग्रेज फिर से जीत चुके थे। क्रान्तिकारियों के पास सैन्यबल नहीं था, किले आदि भी नहीं थे; बराबर हार होते रहने से नई सेना का संगठन करना भी असम्भव-सा ही था। परन्तु तात्या जीवित है, यही पर्याप्त है। रानी लक्ष्मी भी वहां थीं; तात्या गोपालपुर लौट आया था। लोगों में यह खबर उड़ी कि वह अपने पिता से मिल आया है। खबर झूठ हो या सच पर इतिहास इसका कोई प्रमाण नहीं देता। अब ह्यू रोज ने अपना धूर्त दांव कालपी में लगाया। तभी एकाएक तात्या को अपने पिता के दर्शन की सनक आ गई। और पितृ-दर्शन की यह धुन आगे चलकर युद्ध की विस्मृति कराने लगी और अपनी इस इच्छा पर काबू न रखते हुए वह चरखी चला गया। इस सनक का रहस्य क्या हो सकता है? यही कि कालपी का पतन होने पर क्रान्तिकारियों के हाथ में, कोई-न-कोई सुरक्षित स्थान या किले का होना अत्यन्त आवश्यक था। नई सेना मिल जाए, यह भी अच्छा था। इसी कारण क्रान्ति का अग्रदूत तात्या कालपी से छटककर ग्वालियर में घुस पड़ा। अब क्रान्ति का वात्याचक्र घूमने लगा है। सेनाधिकारियों के शपथपूर्वक आश्वासन तात्या ने प्राप्त किये तथा दरबार के उत्तरदायी व्यक्ति, सरदार आदि लोगों से सम्बन्ध स्थापित कर क्रान्ति के लिए उसने एक स्वतन्त्र सेना बना ली। अपनी शक्तिभर सब-कुछ करने का आश्वासन लोगों ने उसको दिया; एक महीने में ही ग्वालियर की सम्पूर्ण सेना तात्या की मुट्ठी में थी। फिर ग्वालियर के मर्म स्थानों को जान लिया और शिंदे के सिंहासन के नीचे से सुरंग बनाकर तात्या टोपे रावसाहब के पास गोपालपुर में आया। अपने 'पिता के दर्शन' वह कर चुका था।

ग्वालियर की प्रजा को क्रान्तिकार्य की ओर कर लेने में सफल हो तात्या के आ पहुंचने के समाचार सुनकर रानी लक्ष्मी को बड़ा आनन्द हुआ और उसने पेशवा से सीधे ग्वालियर पर चढ़ जाने का आग्रह किया। २८ मई को क्रान्तिकारी अमीनमहल को पहुंचे। लम्बरदार ने उन्हें रोकने की चेष्टा की। उत्तर मिला, "तुम कौन हो रोकनेवाले? हम पेशवा हैं और स्वराज्य, स्वधर्म के लिए लड़ रहे हैं।"

श्रीमन्त रावसाहब के इन शब्दों से कायर चुप हो गए और वहां के हजारों

देशभक्तों ने क्रान्तिवीरों का हृदय से स्वागत किया। तब पेशवा सीधे ग्वालियर राजधानी की दीवारों से आ टकराये। शिंदे को उन्होंने लिखा, "मात्र मित्रत्व की भावना से हम आपके पास आ रहे हैं। आपसी, पुराने सम्बन्धों का स्मरण करो। हम आपकी सहायता चाहते हैं। और उसीसे हम दक्षिण पर चढ़ाई कर सकेंगे।" किन्तु कृतघ्न ग्वालियर नरेश ने पुराना नाता कब का तोड़ दिया था। यह तो उसे बताना होगा कि पुराना नाता कब का और क्या है। "शिंदे के पुरखा हमारे सेवक थे—मामूली सेवक; यही पुराना नाता। और इस समय शिंदे की सारी सेना हमारा साथ देने को उद्यत है। तात्या टोपे ने सेनाधिकारियों से मिलकर सब भेद जान लिया है।"

किन्तु यह सब भूलकर शिंदे अपनी सेना और तोपों के साथ ग्वालियर के पास पेशवा की सेना पर चढ़ाई करने चला। श्रीमन्त पेशवा ने सैन्य दल को आते देख यह जाना कि शिंदे पछताकर स्वदेश के झंडे की वन्दना करके अगवानी कर रहा है। किन्तु रानी लक्ष्मी ने स्पष्ट बता दिया कि ग्वालियर नरेश स्वदेश के झंडे को ठुकराने आ रहा है। रानी अपने तीनसौ सैनिकों के साथ शिंदे के तोपखाने पर धावा बोल गई। थोड़े ही समय में जयाजीराव शिंदे और उसके अंगरक्षक 'भाले घाटी' वीर दीख पड़े। छेड़ी हुई नागिन से अधिक क्रोधातुर रानी लक्ष्मी उन पर टूट पड़ी। "देख महादजी शिंदे के शूर वंशज जयाजी ! रनवास में पड़ी यही बाईस वर्ष की अबला तुम्हारी तलवार को ललकार रही है। अब संसार यह देखे कि देश-भक्त महादजी का कितना अंश इस फिरंगी भक्त जयाजी में उतरा है। रानी के पहले हमले से ही उसके मुसाहब बगलें झांकने लगे और 'भाले घाटी' भाग खड़े हुए। किन्तु उसका विशाल तोपखाना अवश्य अपनी शक्ति दिखा देगा। ग्वालियर की सेना ने तात्या टोपे को देखा और अपनी शपथ का स्मरण कर पेशवा के विरुद्ध लड़ने से साफ इन्कार कर दिया। मुख्य सेनाधिकारियों के साथ सारी सेना पेशवा के साथ हो गई। तोपखाना रखा रह गया। ग्वालियर के हर सैनिक ने स्वराज्य के झंडे को प्रणाम किया। इस प्रकार क्रान्तिनेता के जादुई स्पर्श से ग्वालियर नरेश का सिंहासन लड़खड़ाकर गिर पड़ा। और कायर जयाजी, उसका मंत्री दिनकर राव दोनों, केवल रणभूमि ही नहीं—ग्वालियर छोड़कर आगरे भाग गए।

ग्वालियर की प्रजा के आनन्द का ठिकाना न रहा। श्रीमन्त रावसाहब के सम्मान में सेना ने तोपें दागीं। शिंदे के कोषाध्यक्ष अमरचन्द भाटिया ने शिंदे के खजाने का सब कुछ पेशवा के चरणों में अर्पित कर दिया। क्रान्तिकार्य में सहानु-भूति दिखानेवाले इन देशभक्तों को बन्दी बनाया गया था; उन्हें जनता के जयघोष में मुक्त किया गया। अंग्रेजों का साथ देने के सलाहकार पिट्ठू जयाजी के साथ भाग गए। लेकिन उनके घरों में इसलिए आग भी लगाई गई कि उनका नामो

निशान भी न रहे—उनकी सम्पत्ति भी जब्त करली गई। "राजा और प्रजा का नाता एशियायी लोग बिलकुल नहीं समझ पाते।" इस घृणित व्यंग्य का ग्वालियर की प्रजा ने मुंहतोड़ जवाब देकर झूठ साबित कर दिया है, क्योंकि वह राजा क्या जो 'स्वदेश' 'स्वधर्म' का द्रोह करे? पेशवा के सिंहासन से बाजीराव (द्वितीय) को ठीक समय पर नीचे न खींचने के कारण ही तो १८१८ में मातृभूमि का द्रोह करने के कलंक का टीका पूना के माथे लगा। ग्वालियर इस कलंक से बचा रहा, इसलिए १८५७ की क्रांति आधुनिक भारत में नवांकुरित प्रजा की शक्ति के प्रथम उदाहरण के रूप में इतिहास में अंकित होगी। शिंदे यदि स्वदेश का साथ नहीं देता तो देश भी उसे सहारा नहीं देगा। तलवारें और तोपें, रिसाला तथा पैदल सेना, दरबार एवं सरदार, मन्दिर और मूर्ति सब कुछ राष्ट्र के लिए हैं और अकेला शिंदे यदि राष्ट्र के लिए नहीं है तो उसे सिंहासन से घसीटकर फेंक दो। राजमहल से निकाल बाहर करो। राजसीमा से भी दूर भगा दो। अब 'राजा प्रकृति रंजनात्' (रघुवंश सर्ग ४, श्लोक १२) अर्थात् राजा जनता के सुख के लिए है—इस रघुकुल रीति के अनुसार राजा वही बनेगा, जो प्रजा को सुखी करने के लिए ही राजपद स्वीकार करेगा।

३ जून का शुभ दिन निकम्मे होकर बिताना अच्छा नहीं। स्वराज्य को अभ्यंग स्नात कराकर स्वदेश के सिंहासन पर बिठाना आवश्यक है। अतः फुलबाग में एक बड़ा समारोह किया गया। सरदार, राजनीतिज्ञ, सेनाधिकारी; जो भी क्रान्ति-कार्य में पेशवा का साथ दे रहे थे—अपनी श्रेणी के अनुसार सभी विराजमान थे। तात्या के नेतृत्व में अरब, रुहेला, पठान, राजपूत, रंगड़, परदेसी हर प्रकार के वीर अपने-अपने सैनिक गणवेश में तलवार लगाये आये थे। श्रीमंत पेशवा ने भी अपने पद के वस्त्र पहने थे; मस्तक पर सिरपेंच और कलगी तुर्रा, कानों में मोती के कुंडल, गले में मोतियों तथा हीरों के हार थे। पेशवा के समस्त सम्मान-चिह्नों के साथ—भालदार, चोपदारों की ललकारों में श्रीमंत दरबार में पधारे। सबने झटक-पद वन्दना की और आनन्दाश्रुओं से डबडबाई आँखों के साथ सिंहासन पर पेशवा विराजमान हुए। फिर उन्होंने ओजपूर्ण शब्दों में धन्यवाद देकर रामराव गोविन्द को प्रधान मंत्री नियुक्त किया। तात्या टोपे सेनापति बने और रत्नजड़ित तलवार उन्हें दी गई। अष्ट प्रधानों का चुनाव हुआ। सैनिकों को बीस लाख रुपये बांटे गये··· (पारसनी-कृत 'रानी लक्ष्मीबाई की जीवनी', पृ० ३०६)

नानासाहब पेशवा के प्रतिनिधि रावसाहब ने इस तरह एक नया सिंहासन जमाकर—एक नई आशा, नया प्राण क्रांतिदल में प्रेरित किया और विशृंख-लित क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में पिरोने के लिए एक नया केन्द्र पैदा किया। युद्ध की धूम के बीच ही इस प्रकार राज्यारोहण समारोह संपन्न करने

और वंदनार्थ तोपों को दागने में तात्या का पागलपन नहीं था। संसार ने क्रान्ति को मृतप्राय देखा था, जिसे इसी उपाय से तात्या ने निराशा के गर्त से उठाया था। संसार कुछ आनन्द से, कुछ निराशा से चिल्लाया था—'क्रन्ति अब मर गई; उसमें कोई चेतना नहीं; किन्तु यह कैसा जादू है। तात्या ने गोपालपुर में मरी मिट्टी को उठाया, उसमें फूंक मारी और सारे संसार ने चकित होकर देखा कि उस मिट्टी में से एक सिंहासन ऊपर उठा, जिसके चरणों में लाखों रुपयों की झनझनाहट थी। हजारों तलवारें बढ़ रही हैं। तोपें वन्दना कर रही हैं। एक नई सेना खड़ी हुई है। नई तोपें तैयार हैं; तात्या ने एक नया राज्य जीता है। पर तात्या ने अपने चमत्कार से चकित करने के लिए इतनी चेष्टा थोड़े ही की है? उसे पहले से ही मालूम था कि मराठा पेशवा के आसीन होने की तोप-गर्जना से दूर बिखरे हुए क्रान्तिकारी संगठित होंगे। वह जानता था कि ग्वालियर में राष्ट्रीय झंडे को लहराता देखकर उनमें असीम उत्साह और साहस पैदा होगा। तात्या ने जो ताड़ लिया था, उसके अनुसार पांडेदल के शरीर में फिर से जान आ गई। जहां एक ओर तात्या के देशवासियों में उत्साह की लहर दौड़ी, वहां दूसरी ओर अंग्रेज सैनिकों का दिल बैठ गया। इसीलिए तात्या तथा अन्य क्रान्तिनेताओं ने राज्यारोहण की धम मचाई थी। उनकी यह चाल सफल हुई, क्योंकि तात्या की तोपों की गर्जना से ह्यू रोज के सुस्ताने की योजना मिट्टी में मिल गई। जिस चतुरता और नीतिज्ञता का परिचय ग्वालियर पर कब्जा करने में तात्या और रानी लक्ष्मी ने दिया, उसके बारे में मॅलेसन लिखता है, "असंभव संभव कैसे बन गया, यह बताया गया है। ...ह्यू रोज को यह भी मालूम हुआ कि अब और देर करने का परिणाम क्या होगा। क्रांतिकारियों के हाथ से यदि ग्वालियर शीघ्र न छीना गया तो क्या भयंकर परिणाम होंगे? इसकी कल्पना करना भी कठिन था। समय मिले तो; ग्वालियर पर दखल करने से, जो असीम राजनीतिक व सैन्य शक्ति तात्या ने प्राप्त की थी—मानव शक्ति, धन, युद्ध-सामग्री के साधन उसे जो मिले थे, उसके बल पर कालपी में बिखरी सेना को एकत्र कर फिर से नई सेना खड़ी करेगा और भारतभर में मराठों का उत्थान होगा। अपने स्वाभाविक जीवट के बलबूते पर वह दक्षिण महाराष्ट्र में फिर से पेशवा का झंडा लहराने में समर्थ होगा। उस प्रदेश से हमारी अर्थात् अंग्रेजी सेना निकाली गई थी, और यदि मध्यभारत में तात्या को विशेष विजय मिल जाय तो वहां के लोग पुनः उस साधना में लग जायेंगे, इसी साधना को पूरा करने में उसके पूर्वजों ने अपनी शक्ति क्षीण की थी—अपना खून बहाया था।[1]

---

१. मॅलेसन-कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खंड ५, पृष्ठ १४९-१५०

अब तक जो हुआ, सो ठीक हुआ। एक बार तो ह्यू रोज को वेदम-सा बना दिया। लक्ष्मीबाई की बात को महत्त्व न देने-वालों को धिक्कार है। युद्ध ही एक मात्र कार्य हो—और सब समारोह बन्द कर दिये जायं। किन्तु खेद है कि इस बात की ओर कोई ध्यान न देकर क्रान्तिकारी अपनी मस्ती में बेखबर थे। ऐश, शराब, दावतें आदि में सारे लोग बेसुध थे। शायद स्वराज्य की सीमा उन्होंने यहीं तक मानी थी। पर दरसल वे स्वराज्य खो रहे थे, क्योंकि मौके का लाभ उठाकर कुशल सैनिकों को लेकर ग्वालियर पर हमला कर दिया। अपने साथ वह देशद्रोही शिंदे को लाया था और यह घोषणा की थी कि अंग्रेज केवल शिंदे के लिए लड़ेंगे। यह घोषणा ग्वालियर की भोली प्रजा को धोखा देने के लिए की। किन्तु अब लोगों की आंखें खुल गई थीं। क्रान्तिकारियों को संगठित करने में कुशल तात्या अंग्रेजों का मुकाबला करने आगे बढ़ा। मुरार की छावनी के सैनिकों को अंग्रेजों ने हराया था। पराजय की छाया पड़ने से क्रान्तिकारियों में सनसनी फैल गई थी। रावसाहब बांदा के नवाब की कोठी की ओर जाते दिखाई दिये और बांदा के नवाब रावसाहब के पास दौड़े। इस भाग-दौड़ में मात्र रानी ठंडे दिल से काम कर रही थीं। सब तरह से संयत होकर आशा और निराशा को उसने अपने पैरों तले कुचल दिया था। उसकी तलवार म्यान से बाहर थी। संसार की हर वस्तु से उसे वैराग्य था। उसकी तो एक मात्र इच्छा थी जब तक उसकी सांस रहे उसकी तलवार स्वाधीनता के झंडे को ऊँचा करने में ही चलती रहे। इसी हौसले के सहारे उसने रावसाहब को धीरज बँधाया और अपनी शक्ति-भर अव्यवस्थित सेना का पुनर्गठन किया। इस तरह पूरबी द्वार की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। रानी की एक ही मांग थी, "मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने प्रण को निभाऊंगी, तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो।"

रानी ने अपना सैनिक गणवेश धारण किया, अच्छे घोड़े पर सवार हुई, रत्न-जटित खड्ग को म्यान से बाहर निकाला और सैनिकों को 'आगे बढ़ो' की आज्ञा दे दी। कोटा की सराय के आस-पास, जिसकी रक्षा का भार उनपर था; मोर्चा-बन्दी की। जब अंग्रेज सेना का चारों तरफ से जोर देखा तो रण के बाजों के साथ सैनिक अंग्रेज सेना पर टूट पड़े। काश, उनके पास उनके समान ही धैर्यवान सेना होती। रानी के नेतृत्व में उद्दंड और भीरु भी अनुशासित वीर बन जाता; उनके तथा अपने सैनिकों के साथ रानी ने अंग्रेजों पर हमला किया। लक्ष्मीबाई की दो सखियां—मंदार और काशी भी रानी के कन्धे-से कन्धा-मिलाकर लड़ीं। पुरुषवेश से विभूषित इन दो सुन्दर कन्याओं की स्मृति रानी लक्ष्मीबाई के साथ-साथ भारतीय इतिहास के जीवन में अमरत्व प्राप्त करेगी। स्मिथ जैसा जनरल रानी की सेना को दबा रहा था, किन्तु रानी का साहस और शौर्य देखते ही बनता था। पूरे

दिन विद्युत्-सी रणभूमि में घूम रही थी। उसकी हरावल पर अंग्रेज जोरदार हमले करते, किन्तु हर बार वह अपने पक्ष को विचलित न होने देती और उसका दल जोश में आकर अंग्रेजों की हरावल पर धावा बोल देता और अंग्रेज मौत की गोद में विश्राम पाते। अन्त में स्मिथ को पीछे पटना पड़ा; उसने चट्टान-सी खड़ी हरावल को तोड़ने की कोशिश रोक दी।

इस तरह वह दिन बीता। १८ तारीख का सूरज निकला। आज अंग्रेजों ने बड़े जोड़-तोड़ से हमला करने का निश्चय किया। सभी दिशाओं से उन्होंने किले पर धावा बोलने का निश्चय किया। जिस स्मिथ को कल पीछे हटना पड़ा था, वही आज नई कुमक से झांसी की सेना पर टूट पड़ा। ह्यू रोज ने समझ लिया कि उसका वहां होना आवश्यक है, इसी विचार के कारण आज के हमलावर सैनिकों के साथ वह स्वयं था। रानी भी अपनी सेना के साथ तैनात थी। उस दिन रानी ने कामदार चंदेरी की पगड़ी पहनी, चोगा और पायजामा पहना और गले में एक मोतियों का हार पहनकर घोड़े पर सवार हुई। उसका घोड़ा उस दिन कुछ थका हुआ-सा मालूम देता था। अतः एक दूसरा नया घोड़ा लाया गया। रानी की दोनों सखियां शरबत पी रही थीं, तभी संवाद मिला कि अंग्रेजी सेना बढ़ी चली आ रही है। रानी तुरन्त अपने खेमे में दौड़ पड़ी—तीर भी इतनी तेजी से नहीं छूटता। रानी ने घोड़ा दौड़ाया और तलवार हाथ में लेकर शत्रु पर धावा बोल दिया। इसी विषय में एक अंग्रेज लिखता है—"तत्काल वह सुन्दरी मैदान में उतरी और ह्यू रोज के व्यूह का डटकर सामना किया। अपनी सेना के आगे रहकर पूरी मारकाट करवाती यद्यपि उसकी सफों को चीरकर अंग्रेज जाते, फिर भी रानी हरावल में दिखाई पड़ती थी और अपनी टूटी पांतियों को फिर से संगठित कर अतुल धैर्य का परिचय देती थी। इसके बावजूद ह्यूरोज ने स्वयं अपने ऊंट दल के जोर पर आखिरी पंक्ति तोड़ ही दी तो भी रानी अपने स्थान पर डटी रही।"

इतने असाधारण शौर्य से लड़ते हुए उसने देखा कि अंग्रेज सेना पिछाड़ी से आक्रमण कर रही है, क्योंकि पिछाड़ी से रक्षा करनेवाले क्रान्तिकारियों की पांतियों को उसने तोड़ दिया था। तोपें ठण्डी पड़ी थीं। मुख्य सेना तितर-बितर हो गई थी, विजयी अंग्रेज सेना रानी पर चारों तरफ से हमला बोल रही थी और रानी के पास केवल १५-२० सवार थे। रानी ने अपनी दोनों सखियों के साथ घोड़े को एड़ लगाई। शत्रु की पांतियों को चीर वह परले सिरे पर होनेवाले लोगों से मिलना चाहती थी। गोरे घुड़सवार शिकारी कुत्तों की तरह उसका पीछा कर रहे थे। किंतु रानी ने तलवार के बल पर अपना मार्ग बनाया और आगे बढ़ी...और सहसा एक चीख सुनाई दी—"बाई साहब मैं मरी!" उफ् यह किसकी पुकार! रानी ने घूमकर देखा। उसकी सखी मंदार को एक अंग्रेज ने गोली मारी थी। वह मर गई

बिजली की गति से दौड़कर एक ही वार में उस फिरंगी के दो टुकड़े रानी ने कर दिए। मन्दार का प्रतिशोध ले लिया। अब घूमकर आगे वढ़ी। मार्ग में एक नाला आया। बस घोड़े की एक छलांग में रानी अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त थी। किन्तु नया घोड़ा वहीं अड़ गया। नाला पार करने से उस बेवफा घोड़े ने इन्कार कर दिया। काश आज उनका वह पुराना घोड़ा होता! मानो किसी जादुई असर के प्रभाव से वह घोड़ा गोल चक्कर काटने लगा। क्षण-भर में ही गोरे सैनिक रानी के करीब आ गए और इस घिरी हुई अवस्था में भी एक तलवार ने अनेक तलवारों का सामना किया। पर एक एक ही है, उन बहुत-से अंग्रेजों में से एक ने पीछे से सिर पर वार किया और उस वार के साथ सिर का दाहिना हिस्सा और दायीं आंख निकलकर बाहर लटकने लगी—उसी समय दूसरा वार छाती पर हुआ। महालक्ष्मी अब तुम्हारे रक्त की पावन बूंद—आखिरी बूंद टपकने वाली है। स्वतन्त्रता की देवी को उसने अन्तिम बलि दी। अपने ऊपर वार करनेवाले अंग्रेज के टुकड़े कर डाले और अब रानी अन्तिम सांस लेने लगी। रानी का विश्वासपात्र नौकर रामचन्द्रराव देशमुख पास ही था। उसने रानी को उठाया और पास की एक झोंपड़ी में उसे ले गया। बाबा गंगादास ने रानी को ठंडा पानी पिलाया और बिछौने पर लिटा दिया। रक्त से लथपथ शरीर को उस देवी ने बिस्तरे पर लिटा दिया और उसकी पावन आत्मा स्वर्ग सिधार गई। अन्तिम सांस में निकले अपनी स्वामिनी की अन्तिम सूचना के शब्दों के अनुसार रामचन्द्रराव देशमुख ने शत्रु की आंख बचाकर घास का ढेर लगा दिया और उसी चिता पर लिटाकर, पराधीनता के अपवित्र स्पर्श के भय से अग्नि-संस्कार कर डाला।

सिंहासन पर नहीं चिता पर लक्ष्मी के गले में स्वतन्त्रता की कौस्तुभमणि विराजमान है। रणभूमि में उत्सर्ग करके रानी ने मृत्यु का दरवाजा तोड़ दिया है। अब भला कोई मानव उसका क्या पीछा करेगा ?

इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई लड़ी। अपना लक्ष्य पूरा कर गई। ऐसा एक जीवन सम्पूर्ण राष्ट्र का मुख उज्ज्वल करता है। वह सब सद्गुणों का निचोड़ थीं। एक महिला, जिसने जीवन के २३-वसन्त ही देखे थे, कोमलांगी, मधुर, विशुद्ध चरित्र, पुरुषों में भी न पायी जानेवाली संगठन कुशलता से ओतप्रोत थी। उसके हृदय में देशभक्ति रत्नदीप की तरह प्रकाशमान थीं। अपने देश भारत पर उसे गर्व था। युद्ध कौशल में अद्वितीय थी। विश्व में शायद ही कोई देश ऐसा होगा, जो ऐसी देवी को अपनी कन्या और रानी कहने का अधिकारी होगा। इंग्लैंड के भाग्य में यह सम्मान अब तक नहीं बदा है। इटली की क्रान्ति में ऊंचे शौर्य और आदर्श का परिचय मिलता है; फिर भी इतने वैभवपूर्ण समय में इटली एक लक्ष्मी को पैदा नहीं कर सका।

भारत का यह अहोभाग्य है कि ऐसा स्त्री रत्न यहां पैदा हुआ। उसका शरीर बाबा गंगादास की झौंपड़ी में प्रज्वलित ज्वाला में दमक रहा है। पर यह रत्नदीप हमारी मातृभूमि भी कदाचित् पैदा न कर सकती यदि यह स्वतन्त्रता संग्राम का महा-यज्ञ न रचा जाता। अनमोल मोती सागर की सतह पर ही नहीं मिल जाते। रात्रि के अन्धकार में सूर्यकान्त मणि तेज की किरणें नहीं फेंकती। चकमक पत्थर कोमल वस्तु की रगड़ पर चिंगारी उत्पन्न नहीं करता। इन सबको विरोध की अपेक्षा होती है। अन्याय से पिसे हुए मन को बेचैन बना दो—अन्दर तक, रक्त की एक-एक बूंद में उबाल आना चाहिए। अन्याय का ईंधन प्रतिशोध की भट्टी को तपाता रहे; ऐसी भट्टी में फिर सद्गुणों के कण चमकने लगते हैं।

१८५७ में हमारी भूमि पर सचमुच ही आग भड़क उठी थी और फिर विश्व के कानों में गूंज भरनेवाला धमाका···इस अग्नि का कितना विस्तृत फैलाव हुआ है। ऊंची लपट—लपट में से लपट—मेरठ में चिन्गारी और डलहौजी के 'रोलर' से समतल बना धूल का ढेर—सारा देश ज्वालामुखी बारूद के अम्बार-सा दिखाई पड़ा। जैसे आतिशबाजी का अनार खुलने पर उसमें से रंग-बिरंगे बाण-पेड़ तथा अन्य चीज़ें छूटती हैं और शान्त हो जाती हैं। उसी तरह इस क्रान्ति के अनार से तप्त लहू बहा, शस्त्रास्त्र और मुठभेड़ें निकलीं। और यह अनार भी कितना बड़ा—मेरठ से विन्ध्याचल तक लम्बा; पेशावर से डमडम तक चौड़ा। और उसे सुलगाया गया। आग की लपटें सभी दिशाओं में व्याप्त हो गईं और उस अनार के पेट में क्या-क्या अजीब चीजें थीं। लहू मेघ की तरह बरसा—ओलों के साथ। दिल्ली के घेरे, प्लासी के प्रतिशोध, कानपुर, लखनऊ तथा सिकन्दराबाद के कत्ल। सहस्रों वीर जूझ रहे हैं, खप रहे हैं, नगर जल रहे हैं; कुंवरसिंह आता है, जूझता है, गिरता है; मौलवी आया, लड़ा और मरा; कानपुर, लखनऊ, दिल्ली, बरेली, जगदीशपुर, झांसी, बांदा, फर्रुखाबाद के सिंहासन; पांच हजार, दस हजार, सहस्रों, लाखों तलवारें, ध्वजाएं; झंडे; सेनापति, घोड़े, हाथी, ऊंट—सब इस अनार से बाहर—एक-के-बाद एक आग के फव्वारे से निकलते हैं। एक कुछ ऊंचाई की लपट पर कुछ दूसरी पर—ये ऊंचे चढ़ जाते हैं, लड़खड़ाते हैं और और लुप्त हो जाते हैं। सब ओर लड़ाई—बिजली की कड़क, ज्वालामुखी की भीषण ज्वालाओं का यह फव्वारा।

और यह चिता—बाबा गंगादास की झोंपड़ी के पास जल रही है। १८५७ के स्वातन्त्र्य समर के ज्वालामुखी की यह अन्तिम ज्वाला है।

●
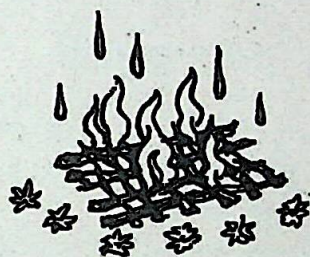
चतुर्थ खण्ड

अस्थायी शान्ति

: १ :

विहंगावलोकन

१८५७ के स्वातन्त्र्य समर की प्रमुख भूमिका उत्तर हिन्दुस्थान में ही निभाई गई थी, अतः इस प्रदेश में हुई अद्भुत उथल-पुथल का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करना आवश्यक ही था। परन्तु इस स्वातन्त्र्य-युद्ध को पूर्णतः समझने के लिए अन्य प्रदेशों में इन दिनों में हुई घटनाओं का उल्लेख करना भी अनिवार्य है। एतदर्थ इस रण विस्फोट की प्रचण्ड ज्वालाओं को उत्तर हिन्दुस्थान के आकाश में किल्लोलें करते हुए छोड़कर अब हम अन्य प्रदेशों में इस विस्फोट से भड़की चिंगारियों पर भी दृष्टिपात करेंगे।

दिल्ली के घेरे के दिनों में पंजाब प्रान्त में चले घटनाचक्र का कुछ विवरण हमने उसी स्थान पर प्रस्तुत किया है। तदुपरान्त वहाँ एक-दो सामान्य विद्रोही घटनाओं के अतिरिक्त प्रायः शान्ति ही रही। सिखों के अतिरिक्त यहाँ की अन्य जनता ने किसी भी ओर से इस युद्ध में भाग तो नहीं लिया, किन्तु वे हृदय से इस बात के आकांक्षी थे कि क्रांति का यह यज्ञ सफलता प्राप्त करे। हाँ, सिख लोग और सिख संस्थान निश्चित रूप से ही अंग्रेजों के पक्ष में संघर्ष करते रहे।

राजपूताना के जनसाधारण की सहानुभूति क्रांतिकारियों के साथ ही थी। इस तथ्य की साक्षी भी अनेक प्रसंगों से प्रस्तुत हुई। जयपुर, जोधपुर, और उदयपुर आदि के जो भारतीय सैनिक अंग्रेजों की ओर से संघर्ष करते थे, उन्हें अपशब्दों से संबोधित किया जाता था, किन्तु ज्योंही क्रांतिकारियों के कहीं विजयी होने का समाचार प्राप्त होता था राजस्थान के बाजारों और गलियों में हर्ष का वायुमंडल व्याप्त हो जाता था। स्थान-स्थान पर इन क्रांतिकारियों के जय-जयकार से धरा गगन निनादित हो उठता था। किन्तु जब कभी क्रांतिकारियों की पराजय की सूचना मिलती थी तो सम्पूर्ण राजस्थान में विषाद और संताप की गहरी छाया व्याप्त हो जाती थी। ये घटनाएं इसी सत्य की परिचायक हैं कि राजस्थान का जनसाधारण हृदय से क्रांति की सफलता का इच्छुक था। राजस्थान के राजपूत

नरेशों की स्थिति यह थी कि वे किसी विशेष स्थिति के उत्पन्न होने से पूर्व किसी भी एक पक्ष को प्रकट रूप से सहायता देने के लिए तत्पर नहीं होते थे। किन्तु जब कभी भी अंग्रेजों द्वारा दबाव डाला जाता था तो इन राजपूत राजाओं के सैनिक ही अपने शासकों की आज्ञाओं का खुला उल्लंघन कर अपने देश बान्धओं के विरुद्ध अंग्रेजों का पक्ष लेकर युद्ध करने से स्पष्टतः इंकार कर देते थे।

विंध्याचल के उत्तर का यह विहंगावलोकन करने के उपरान्त जब हम दक्षिण की ओर दृष्टपात करते हैं तो हमारी आंखों के समक्ष सर्वप्रथम शिवाजी के मराठों का साम्राज्य उभर आता है। इन्हींके देशबान्धवों ने उत्तर में जाकर कानपुर, कालपी और झांसी इत्यादि में प्रचण्ड रणगर्जना की थी। इसके कारण रायगढ़ में पराभूत हुआ राज्य सिंहासन ब्रह्मावर्त में रक्त से स्नान करता हुआ दिखाई दे रहा था। वहाँ स्वराज्य के पुनीत आसन का प्रादुर्भाव हो रहा था। संताजी और धानाजी ने जिस परम पवित्र भगवे ध्वज को उत्तोलित किया था वह अब उत्तर भारत में तात्या टोपे द्वारा पुनः फहराया जा रहा था। उत्तर हिन्दुस्थान ने इस स्वातन्त्र्य युद्ध में जैसी एकता, साहस और दृढ़ संकल्प व्यक्त किया, वैसी ही एकता यदि दक्षिण में भी उत्पन्न हो जाती तो यह सुनिश्चित था कि यदि सम्पूर्ण ब्रिटेन भी भारत में आकर युद्ध करने लग जाता तब भी महाराष्ट्र की पावन पताका कभी भी झुक न पाती। महाराष्ट्र का भगवा ध्वज जब रणांगण में फहराता है तो उसके प्रति प्रेम और गर्व से जिसका हृदय न भर जाता हो, ऐसा मराठा वंश का एक भी व्यक्ति कहीं खोजने से मिलना कठिन है। १८५७ की वीरता की यह पावन प्रेरणा सभी मराठों के हृदय में स्वाभाविक रूप से ही जाग्रत हो उठी थी। किन्तु दृढ़ संकल्प के अभाव और अनिश्चित नीति इन दो रोगों ने इस वीर भावना और पावन प्रेरणा की भ्रूणहत्या ही कर दी। जिन दिनों उत्तरी हिन्दुस्थान में क्रान्ति की योजना प्रगति पथ पर थी, उन्हीं दिनों दक्षिण भारत में भी क्रान्ति का प्रचार करने के लिए दूत भेजे गए थे। वे प्रत्येक नगर और संस्थान में जा रहे थे। सातारा के रंगोजी बापू से भी कानपुर के नानासाहब का पत्र-व्यवहार हो रहा था। पूना, सातारा, बेलगाँव, धारवाड़, बम्बई, हैदराबाद, इत्यादि स्थानों की विभिन्न पलटनों में ब्राह्मण, मौलवी और उत्तर भारत की क्रान्तिकारी सेनाओं के प्रतिनिधि क्रान्ति की ज्वाला गुप्त रूप से धधकाने में संलग्न थे। मैसूर से लेकर विंध्य पर्वत मेखला तक सर्वत्र यह प्रतिज्ञा दोहराई जा चुकी थी कि जब "उत्तर उठेगा तो दक्षिण भी उभरकर खड़ा हो जाएगा।" दक्षिण भारत ने भी विद्रोह करना तो स्मरण रखा, किन्तु यह भी सत्य है कि वह उत्तरी हिन्दुस्थान के साथ उठना स्मरण न रख सका। उत्तर में तो क्रान्ति की विद्युत ज्वाला अकल्पित गति सहित धधकी और इस संकल्प के साथ दहकी कि करेंगे अथवा मरेंगे। किन्तु तत्काल ही विद्रोह

करने के स्थान पर दक्षिणवाले उस विद्रोह के परिणाम की ओर ही दृष्टि गड़ाए शान्त रहे। क्रान्ति के जोखिम के समय में तो एक क्षण में ही जीवन-मरण का निर्णय हो जाता है। उतावलापन और विलम्ब दोनों ही इसकी सफलता में बाधक सिद्ध होते हैं। दुविधा के इन क्षणों में क्षमतावान पुरुष ऐसे मुहुर्त का चयन करते हैं जिनमें तेजी और धैर्य से अधिकाधिक लाभ की उपलब्धि हो। क्रान्ति का संचालन अंकगणित के नियमों के अनुसार नहीं होता। क्रान्ति की सफलता तो मानव के हृदय में विद्यमान अद्‌भुत आत्मिक सामर्थ्य पर ही अवलम्बित होती है। अकर्मण्यता और मंदता से तो क्रान्ति की धधकती ज्वाला ठण्डी हो जाती है। कर्मठता की तीव्रता ही क्रान्ति को जाग्रत रखती है। संयम, दूरदर्शिता और विद्रोह की तिथि का निर्धारण करना आदि क्रान्ति की सिद्धता तक ही उपयोगी है। किन्तु एक बार शंखनाद हुआ कि जीवन जाए अथवा रहे, इस ओर से निश्चिन्त होकर ही क्रान्ति के रणांगण में जूझना पड़ता है। उस अवस्था में जो दुविधा में पड़ेगा उसकी पराजय सुनिश्चित है। उस निर्णायक घड़ी में जो इस चर्चा में उलझ जाएगा कि विद्रोह करना अच्छा है अथवा बुरा है वह निश्चित रूप से ही अन्ततोगत्वा पराजित होगा। संगठन करते हुए शान्ति और क्रान्ति में धैर्य ये ही सफलता की सीढ़ियां हैं। क्रान्ति का संगठन तो गलीचे की बुनाई के समान सावधानी सहित धीरे-धीरे किया जाना अपेक्षित है। किन्तु जब एक बार क्रान्ति का विस्फोट हो जाए तो क्षणमात्र के लिए भी असमंजस ग्रस्त न होते हुए तीर के तुल्य उसमें प्रवेश करना चाहिए। फिर यश मिले अथवा अपयश, जीवित रहें अथवा मृत्यु का वरण करें सब ओर से निश्चिन्त होकर समरांगण में जूझना ही श्रेयस्कर है। मारते-मारते मरने का सत् संकल्प ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि एक बार क्रान्ति की नौबत बज उठे तो क्रान्ति को यशस्वी करने के लिए एकमात्र मार्ग है आगे बढ़ते जाना और अपने पग कदापि न रोकना।"

किन्तु दक्षिण भारत ने इस तत्व को विस्मृत कर दिया और जब उत्तर में क्रान्ति की ज्वाला धधकी तो उसके साथ ही न उठकर खड़े होते हुए धीरे-धीरे सक्रिय रहे, किन्तु असमंजस ग्रस्त भी रहे। सफलता के प्रति अत्यधिक चिन्ता और उसके फलस्वरूप जोश में आकर अनुपम विद्रोह करने के कारण उन्हें अपयश कैसे प्राप्त हुआ, आइए, इस तथ्य पर भी दृष्टिपात करें।

कोल्हापुर में २१वीं और धारवाड़ में २८वीं रेजीमेन्ट थीं। जब पत्र-व्यवहार के माध्यम से क्रान्ति की योजना बनाई गई तो विद्रोह की तिथि १० अगस्त १८५७ निर्धारित की गई। परन्तु कोल्हापुर की जनता और सिपाहियों के दमन के लिए इसी बीच अंग्रेजों द्वारा एक गोरी सेना भेजने का निश्चय किया गया। यह समाचार तार विभाग के एक भारतीय कर्मचारी के माध्यम से भारतीय सिपा-

हियों को भी मिल गया ? ज्योंही यह गुप्त सूचना प्राप्त हुई तो पहले से ही दग्ध सिपाहियों ने ३१ जुलाई को ही विद्रोह कर दिया। उन्होंने कतिपय अंग्रेज अधिकारियों की तो हत्या कर ही दी, साथ ही कोषागार पर भी अधिकार कर लिया। इन विद्रोही सैनिकों ने आई हुई गोरी सेना से भी दो-दो हाथ किए और कोल्हापुर से चलकर घाटियों की ओर निकल गए। विभिन्न क्रान्तिकारी पथक सांवतवाड़ी के प्रमुख नेता रामजी शिरसाई के नेतृत्व में एकत्रित हुए और वाड़ी के वनों से गोरी सेना पर छापे मारने लगे। गोवा के पुर्तगालियों के सहयोग से अंग्रेजों ने कोल्हापुर में हुए इस विद्रोह को दबा दिया और वहाँ आए हुए नए अंग्रेज अधिकारी जेकब ने अवशिष्ट क्रान्तिकारी सिपाहियों को आत्मसमर्पण करने पर विवश कर उनके नेताओं को गोलियों से उड़ा दिया।

किन्तु जिस दिन इन सिपाहियों ने विद्रोह किया, उस दिन भी कोल्हापुर के नागरिक तो मौन दर्शक ही बने रहे। इसी मध्य वहाँ के तरुण राजा के साथ नानासाहब के दूत से भी मंत्रणा हुई थी। उस दूत ने नरेश को भी क्रान्ति के संघर्ष में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। लखनऊ के नवोत्थित सिंहासन की ओर से उसे एक तलवार भी भेंट की गई। इसी भांति जपखण्डी, सांगलीआदि के अन्य दक्षिणी संस्थानों से भी गुप्त पत्र व्यवहार चल रहा था। किन्तु कोल्हापुर के नरेश की अपेक्षा तो शिवाजी का अधिक उष्ण रक्त उसके छोटे भाई चिमासाहब की ही नसों में प्रवाहित हो रहा था। अब तक क्रान्ति का जो बना-बनाया कार्य बिगड़ गया था अब क्रान्ति के उसी कार्य को पुनः व्यवस्थित रूप देने के लिए पुनः मन्त्रणाओं का क्रम आरम्भ हो गया था। इस कार्य को चिमासाहब ही निभा रहे थे। उन्होंने कोल्हापुर के अस्थायी सैनिकों को विद्रोह के लिए संगठित किया। १५ दिसम्बर को प्रातःकाल ही कोल्हापुर में पुनः क्रान्ति की ज्वाला धधक उठी। नगर के द्वार बन्द कर वहाँ तोपें तैनात कर दी गईं। नगर के प्रत्येक मार्ग में क्रान्ति की पुनीत पताका फहरा उठी। जेकब को ज्योंही समाचार मिला उसने अपनी सेना को एकत्रित कर एक कच्चे द्वार पर आक्रमण कर दिया। उस समय से अंग्रेजी सेना द्वारा राजमहल पर अधिकार करने की घड़ी तक प्रचण्ड मुठभेड़ और संघर्ष जारी रहा। पराजय मिलने पर, जैसाकि सामान्यतः होता रहा है, उसने घोषणा की कि विद्रोह सैनिकों तथा राजाज्ञा का उल्लंघन कर जनता ने आरम्भ किया था। जब विद्रोहियों के नाम पूछे गए तो उसने कहा कि मुझे इस संबंध में कोई जानकारी नहीं है। जेकब विद्रोही नेताओं को बन्दी बनाने में प्राणप्रण सहित लगा रहा। उसने अनेक व्यक्तियों को सन्देह में ही कारागार में बन्द कर दिया, किन्तु उसके जीतोड़ प्रयास करने पर भी उसे इस विशाल क्रान्ति का सूत्र उपलब्ध नहीं हो सका। जब एक क्रान्तिकारी नेता को पकड़ा गया तो वह अपने

हाथ के लिखे एक पत्र के टुकड़े-टुकड़े करके ही उन्हें निगल गया। बन्दी बनाने वाले ताकते ही रह गए। अनेक लोगों को तोपों के सामने खड़ा करके उड़ा दिया गया। उनमें से एक पहली वार के आघात से न मारा जा सका। किन्तु वह दूसरी बार तोप से गोला दगने तक भी निश्चिन्त भाव सहित खड़ा रहा। उस समय जेकब उसके पास आया और बोला, "तुम यदि कतिपय विद्रोहियों के नाम बता दोगे तो तुम्हें प्राणदान दे दिया जाएगा।" किन्तु वह महान् वीर धैर्य सहित अपने अंग-भंग हुए शरीर का कष्ट सहन करता रहा। उसने जेकब की ओर घृणा सहित दृष्टिपात करते हुए कहा "विद्रोह मैंने ही किया है।" दूसरे एक क्रान्तिकारी ने तोप दगने से पूर्व भूल से एक नेता का स्मरण कर लिया। किन्तु गोरे अधिकारी उस नेता को वन्दी बना पाते इसके पूर्व ही वह सुशिक्षित नेता कोल्हापुर के बाहर निकल गया। चिमासाहब ने भी अंग्रेजों को उसका कोई सूत्र नहीं दिया। इस प्रकार के पारस्परिक विश्वास के कारण ही क्रान्तिकारी एकता के महान सूत्र में आबद्ध हुए थे। इसी पद्धति के कारण उनमें कोई भी आपसी मनमुटाव उत्पन्न न हो पाता था। इसी के कारण वे षड्यन्त्रों का सफलता सहित निर्वाह करते थे।[१]

कोल्हापुर में यदि इस प्रकार विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हुई थी तो बेलगाँव में भी १० अगस्त से ही क्रान्ति का रंग मुखरित होने लग गया था। किन्तु विद्रोही सिपाहियों के एक नेता ठाकुरसिंह तथा मुसलमान एवं अन्य नागरिकों के नेता एक साहसी मुंशी के बन्दी बना लिए जाने से बेलगाँव और धारवाड़ में शान्ति ही बनी रही, क्योंकि अंग्रेजी सेना भी तत्काल वहाँ आ पहुँची थी। मुंशी एक सरकारी कर्मचारी था, अतः उसके द्वारा क्रान्ति के सम्बन्ध में पूना और कोल्हा-पुर आदि के सैनिकों को लिखे गए पत्रों के पकड़ लिए जाने के कारण अंग्रेजों ने उसे तोप से उड़ा दिया।

सातारा में रंगोजी बापू पर तो पहले ही ब्रिटिश सरकार अपना क्रोध प्रदर्शित कर चुकी थी। इधर कोल्हापुर में क्रान्ति का संचार करने के आरोप में अंग्रेजों ने रंगोजी बापू के एक पुत्र को भी बन्दी बना लिया था, उसे भी सातारा में लाकर विद्रोह के संशय में ही अन्य क्रान्तिकारियों के साथ फांसी पर लटका दिया गया था। सातारा के दो राजपुत्रों को सीमा पार निष्कासित कर दिया गया था। जिस राजसिंहासन की सेवा करने में रंगोजी बापू ने अपना पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था, उसकी ऐसी दुर्दशा देखकर उन्होंने भी तत्काल सातारा का परि-

---

१. सर जॉर्ज ले ग्राण्ड जेकब के० सी० एस० आई० सी० बी० कृत 'वेस्टर्न इण्डिया'

त्याग कर दिया था। उनके बन्दी बनाने के लिए अंग्रेजों ने भारी मात्रा में इनाम देने की घोषणा की थी, किन्तु अभी कोई ऐसा घृणित कार्य करनेवाला वहाँ नहीं जन्मा था। शत्रुओं के हाथों से बच निकलने के उपरान्त रंगोजी बापू का क्या हुआ, यह तो इतिहास आज तक भी नहीं बता पाया, किन्तु उनके जाने के साथ ही साथ सातारा स्वतन्त्रता से भी हाथ धो बैठा।

उन दिनों बम्बई क्षेत्र का गवर्नर लार्ड एलफिन्सटन नामक एक सुयोग्य अधिकारी को बनाया गया था। अपने प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के साथ-ही-साथ उसने कुछ अंग्रेजी सेना राजस्थान भेज दी। किन्तु बम्बई में विद्रोहाग्नि का शमन करने में जो तत्परता प्रदर्शित की गई उसका श्रेय फॉरेस्ट नामक मुख्य पुलिस अधिकारी को था। बम्बई तो उस समय आलसी, सुखभोगी और राष्ट्र-द्रोहियों की नगरी ही बनकर रह गई थी। ऐसी स्थिति में केवल उन्हीं सैनिकों के हृदय राष्ट्र-प्रेम की पावन ज्वाला से दग्ध हो रहे थे, जो वहाँ तैनात थे। इस स्थिति को समझकर ही फॉरेस्ट की दृष्टि निरन्तर उन पर रहती थी। विद्रोह के दीपावली के दिन निर्धारित हो चुके थे। तदनुसार सैनिकों की गुप्त बैठकों का क्रम भी आरम्भ हो चुका था। इन सभाओं में फॉरेस्ट ने अपने विशेष कृपापात्रों को भी घुसाने की भरसक चेष्टा की थी। किन्तु सिपाहियों की दक्षता ने उनकी दाल न गलने दी। फॉरेस्ट कभी ब्राह्मण तो कभी अन्य कोई वेश बदलकर स्वयं भी सामूहिक भोजों आदि में यदाकदा पहुंचने में सफल हो जाता था। अन्ततः उसे विदित हो गया कि गंगाप्रसाद नामक एक सज्जन का निवासस्थान ही गुप्त बैठकों का केन्द्र है। किसी-न-किसी प्रकार रौब और आतंक के सहारे वह एक दिन गंगा-प्रसाद के घर में प्रविष्ट होने में सफल भी हो गया। उसने एक दीवार के छेद से क्रान्तिकारियों की पूरी बैठक का भी अवलोकन कर लिया। किन्तु क्रान्तिकारियों को वहाँ उसकी उपस्थिति का आभास तक भी नहीं हो पाया। इतना ही नहीं वह कतिपय अंग्रेज अधिकारियों को भी एक दिन वहाँ ले गया और उसने उन्हें भी सब कुछ दिखा दिया। जब एक अंग्रेज अधिकारी ने देखा कि अपने जिन सैनिकों को वे परम राजभक्त समझते थे वे ही एक-एक करके उस बैठक में भाग लेने के लिए आ रहे हैं तो उसके मुख से हठात निकल पड़ा, "हे मेरे भगवान, ये तो मेरे अपने ही आदमी हैं। क्या ऐसा होना भी संभव है?" इन सिपाहियों के विद्रोह की रूपरेखा सामान्यतः इस प्रकार थी कि पहले बम्बई में विद्रोह किया जाए और तदुपरान्त पूना की ओर प्रस्थान किया जाए, और जब वहाँ अधिकार कर लिया जाए तो फिर नानासाहब पेशवा के नाम की दुहाई देकर वहाँ मराठों का झण्डा पुनः फहरा दिया जाए।[१] परन्तु इस योजना के क्रियान्वित होने के पूर्व ही फॉरेस्ट

१. फॉरेस्ट-कृत 'रियल डेंजर इन इण्डिया'

द्वारा इस योजना का पता लगा लिए जाने के कारण दो विद्रोही नेता फांसी पर लटका दिए गए तथा ६ अन्यों को सीमा पार कर दिया गया। इस प्रकार वहाँ १८५७ के अक्तूबर मास में ही विद्रोह को पूर्णतः कुचल दिया गया।

उन्हीं दिनों नागपुर और जबलपुर में भी क्रान्ति की चिंगारी फूटने की संभावनाएं प्रतीत होने लगी थीं। नागपुर में विद्रोह के लिए सिपाहियों ने १३ जून, १८५७ की तिथि निर्धारित की थी। इस योजना को सभी प्रमुख नागरिकों का भी समर्थन प्राप्त था। निर्धारित योजना के अनुसार १३ जून की रात्रि में ग्राम के लोगों को तीन प्रज्वलित आकाशदीप आकाश में उठाने थे। इन्हें ही सैनिकों के विद्रोह का संकेत वाक्य निर्धारित किया गया था। यहां क्रांतिकारियों के पक्ष में एक और भी बात थी कि नागपुर से जबलपुर तक के मध्य क्षेत्र में अंग्रेज एक भी गोरी पलटन नहीं रख पाए थे। किन्तु कुछ ही समय उपरान्त मद्रास से गोरी पलटन आ पहुंची और उसने विद्रोह का दमन कर दिया। जबलपुर में गोंड़ जाति के राजा शंकरसिंह और उनके पुत्र द्वारा सर्वत्र क्रान्ति की ज्वाला धधकाई जा रही थी। जब उन्हें अंग्रेजों द्वारा बन्दी बना लिया गया तो उनके पास से एक रेशमी बस्ता भी निकला, जिसमें वह प्रातः स्मरण की श्लोक पंक्ति भी एक काग़ज़ पर लिखी मिली जिसका राजा शंकरसिंह प्रतिदिन पाठ करते थे। उसके अंग्रेजी भाषान्तर का हिन्दी रूपान्तर संक्षेप में इस प्रकार है—

साधुओं से छल और दुष्कृत्य कर रहे नित्य,
दुष्ट दलन हेतु धाओ त्वरित, आओ देवि चण्डिके।
शत्रुओं का दलन करो, धर्म संस्थापन करो,
भक्त की पुकार सुनो, ध्याओ शीघ्र मातृके।
आंग्ल दुष्ट संहार करो, धरती का त्रास हरो,
शत्रु रक्त पी अघाओ, आओ शत्रु संहारके!

राजा शंकरसिंह ने ५२वीं रेजीमेंट को भी अपने साथ विद्रोह में सम्मिलित करने का प्रयास किया था। इस आरोप में इनको इनके सुपुत्र सहित १८ सितम्बर, १८५७ ई० को तोप के गोलों से उड़ा दिया गया। किन्तु इस समाचार से निराश होने के स्थान पर ५२वीं पलटन ने विद्रोह का शंखनाद ही कर दिया। उन्होंने रणभूमि में कूदकर एक अंग्रेज अधिकारी येक ग्रेगर को यमलोक ही पठा दिया। इसी भांति धार राज्य में भी विद्रोह की ज्वालाएं दहकी थीं तो दिल्ली के राजपुत्र वीर फीरोजशाह के द्वारा किये गये प्रयासों के फलस्वरूप महिदपुर और गौरेया में भी क्रान्ति का विस्फोट हुआ था। जिसका विवरण हम यहां विस्तार के भय से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

किन्तु इन सभी स्थानों की अपेक्षा ब्रिटिश सत्ता का मर्मस्थान तो हैदराबाद के निजाम के हाथों में ही था। इस राज्य के सिंहासन पर मई १८५७ के मध्य में अफजल उल-उद्दौला सिंहासनासीन हुआ था। सर सालारजंग नामक व्यक्ति उसके दीवान पद का भार वहन कर रहा था। इस सालारजंग में अपने एक इंगित मात्र पर ही संपूर्ण दक्षिण को उठाने की क्षमता थी। यदि हैदराबाद का निजाम विद्रोह में सम्मिलित हो जाता, तो यह सुनिश्चित था कि संपूर्ण दक्षिण प्रदेश ही एक व्यक्ति के समान उठ खड़ा होता। फिर उत्तर में हुए विद्रोह के कारण पड़नेवाले दवाव से कसमसाकर टूटने की स्थिति में आई हुई ब्रिटिश साम्राज्य की आयु की डोरी, दक्षिण का भी दवाव पड़ने से निश्चित रूप से ही कड़कड़ाकर टूक-टूक हो जाती। यह भी कैसे कहा जाय कि अंग्रेजों के विरुद्ध प्रारम्भ किए गए इस स्वातन्त्र्य संग्राम के सिद्धान्तों से किसी ने सालारजंग को अवगत नहीं कराया होगा। यही मानना होगा कि सर सालारजंग के अन्तःकरण में इतनी प्रचण्ड "राजभक्ति" विद्यमान थी कि उसने स्वधर्म, स्वराज्य और स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम की एक भी तरंग से उसके हृदय को तरंगित नहीं होने दिया। किन्तु इतने पर भी उसे क्रान्ति के संघर्ष में योगदान देने के लिए प्रेरित करने में हैदरावाद की जनता ने कोई कसर न उठा रखी थी। किन्तु सालारजंग अविचल ही रहा। तव हैदरावाद में १२ जून को प्रातःकाल ही अत्यधिक उत्तेजना परिलक्षित हुई, उस दिन एक लब्ध प्रतिष्ठित मौलवी के हस्ताक्षरों से युक्त भित्तिपत्रक यत्र-तत्र दीवारों पर चिपके हुए दृष्टिगोचर हुए। क्रान्तिकारी हस्तपत्रकों के तो अम्बार ही लग गए थे। मस्जिदों में मुसलमानों की विशाल सभाएं भी आयोजित हुईं। जहां उत्ते-जनात्मक भाषण होते थे और लोगों से ये प्रतिज्ञाएं कराई जाती थीं कि फिरंगी कांफिरों को भारत से निष्कासित करके ही चैन की श्वांस ग्रहण की जाएगी। किन्तु सालारजंग पर तो इन सभी घटनाओं का विपरीत प्रभाव पड़ा, उसने कति पय क्रान्तिकारी नेताओं को वन्दी वनाकर अंग्रेजों को सौंप दिया। किन्तु इसपर भी १७ जुलाई को हैदरावाद में विद्रोह का शंखनाद गूंज उठा और क्रान्तिकारी नारों की गूंज सर्वत्र सुनाई पड़ने लगी। क्रान्ति की पताका फहराते हुए लोग अपने नेताओं को मुक्त कराने के लिए ब्रिटिश रेजीडेन्सी में प्रविष्ट हो गए। सर्वप्रथम निजाम की सेना के ही रुहेलों ने विद्रोह की पताका फहराई थी और ५०० नागरिक भी इसमें सम्मिलित हुए थे। विद्रोहियों को आशा थी कि सालारजंग खुलकर भले ही उनकी सहायता न करे, किन्तु गुप्त रूप से तो उनकी सहायता करेगा ही, और यदि उसने ऐसा भी न किया तो वह कम-से-कम तटस्थ तो अवश्य ही रहेगा, किन्तु उसने तो सभी की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। वह उनसे न मिलकर शांत ही नहीं वैठा रहा, अपितु उसने तो ब्रिटिश अधिकारियों से हाथ मिलाकर अपने

ही सैनिकों की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया। एक मुठभेड़ में क्रान्तिकारी नेता तोरावाजखां मारे गए तो अलाउद्दीन नामक एक अन्य नेता शत्रुओं द्वारा वन्दी वना लिया गया। उसे तत्काल ही अण्डमान भेज दिया गया। इस प्रकार हैदरावाद में हुआ क्रान्ति का प्रयत्न असफल हो गया। एक अंग्रेज इतिहासकार ने स्पष्टतः इन शब्दों में वस्तुस्थिनि को स्वीकार किया है—

"तीन मास तक संपूर्ण भारत का भाग्य निजाम अफजल उद्दौला और सालार-जंग के ही हाथों में था। उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने विद्रोही सिपाहियों के प्रयासों से दिल्ली के राज्य सिंहासन के पुनः प्रतिष्ठित होने की आशा पर संदिग्ध अवस्था में पड़े रहकर अवलम्वित रहने के स्थान पर अंग्रेजों की छत्रछाया में माण्डलिक वनकर रहना ही श्रेष्ठ समझा।" अपनी इस अस्पृह-णीय कारस्तानी के कारण सालारजंग की इतिहास सदैव निन्दा ही करता रहेगा।

इस प्रकार जहां दक्षिण में निजाम क्रान्ति का विनाश करने में तल्लीन था वहां उसी के राज्य के समीप स्थित जोहरापुर के तरुण हिन्दू राजा ने अपना सर्वस्व स्वातन्त्र्य संग्राम में समर्पित कर देने का सत्संकल्प ग्रहण किया था। तदनुसार उसने अरव, रूहेलों, पठानों तथा डोगरों की एक सेना का गठन किया था। उन्हीं दिनों उसके पास नानासाहव के दूत भी पहुंचे थे और उन्होंने उसको नानासाहव के पक्ष में उठ खड़े होने के लिए प्रेरित किया था। रायचूर और अर्काट के भी कतिपय ब्राह्मणों और मौलवियों ने भी उसे प्रेरित किया। किन्तु इन सबके प्रोत्साहित करने पर भी जब वह अंग्रेजों के विरुद्ध उठकर खड़े होने में टालमटोल कर रहा था तो उसकी प्रजा ने ही उसे कायर कहकर ताने देने आरम्भ कर दिए। तब उसने पेशवा के नाम पर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। परन्तु निजाम और अंग्रेज इन दोनों की शक्ति के विरुद्ध इस अकेले की पार न वसाई। अतः १८५८ ई० के फरवरी मास में यह वीर नरेश अपनी सेनाओं के पराभव के उपरांत हैदरावाद में आ गया। जब वह वहां के वाजारों में टहल रहा था तो उसे सालार-जंग ने वन्दी वना लिया। अंग्रेज अधिकारी मेडोज टेलर के साथ इस राजा का वाल्यावस्था से ही परिचय था। वह टेलर को 'अप्पा' कहकर सम्वोधित करता था। अतः इस राजा से क्रांति के गुप्त संगठन का रहस्य जानने तथा प्रमुख क्रान्ति-कारियों के नाम और पता लगाने के लिए कारागार में उससे भेंट करने के लिए टेलर को ही भेजा गया। किन्तु गुप्त संगठन और उसमें योगदान के संवंध में जब राजा से टेलर ने प्रश्न किया तो उसने क्या उत्तर दिया, यह टेलर के शब्दों में ही वताना उत्तम होगा। मेडोज टेलर ने लिखा है कि "वह तत्काल तनकर खड़ा हो गया, और बड़े आवेश सहित उसने कहा, 'नहीं, अप्पा, जिस संवंध में तुम मुझे रेजीडेन्स से भेंट करने के लिए कह रहे हो, मैं उस बात को कदापि स्वीकार नहीं करूंगा।

रेजीडेन्स समझता होगा कि मैं अपने प्राणदान के लिए उससे याचना करूंगा, किन्तु स्मरण रहे, अप्पा, मैं कायरों के समान क्षमा याचना कर जीवित रहना कदापि स्वीकार नहीं करूंगा। मैं अपने सहयोगी देशबान्धवों के नाम तो जीवन की अंतिम घड़ी तक भी नहीं बता सकता।' "टेलर एक बार पुनः उसके पास गया। उसने राजा से कहा कि यदि तुम षड्यन्त्रकारियों के केवल नाम ही बता दो तब भी तुम्हारे साथ दया प्रदर्शित किए जाने की पूर्ण आशा है। किन्तु राजा ने उसे उत्तर दिया कि "मैं जब से क्रांतिकारी संगठन में सम्मिलित हुआ हूं, तब से मैंने क्या-क्या किया है, इसका पूर्ण विवरण तो मैं बता सकता हूं, किन्तु यदि मुझे मेरे स्फूर्तिदाता का नाम बताने हेतु बाध्य किया जाता हो तो मेरा स्पष्ट उत्तर है 'नहीं'। क्या काल के गाल में जाने के हेतु स्वतः सिद्ध हुआ मैं अपने नेताओं के नाम बता दूं ? मैं तो तोप से उड़ाए जाने, कालेपानी में सड़ाए जाने अथवा फांसी पर लटकाए जाने, इन सबसे भी अधिक भयंकर दण्ड अपनेको देशद्रोहियों की श्रेणी में गिना जाना मानता हूं।" जब टेलर ने उससे कहा कि "फिर तो तुझे मृत्युदण्ड ही दिया जाएगा।" यह सुनते ही वीरव्रती नरेश गरज उठा, "अप्पा, मैं तुमसे एक ही याचना करता हूं कि मुझे फांसी पर न लटकाओ, अपितु मुझे तोप से उड़ा दो, फिर तुम देखोगे कि मैं कितनी निर्भीकता और शांति सहित तोप के समक्ष सधकर खड़ा होता हूं।"

इस देशभक्त नरेश को पहले फांसी का ही दण्ड सुनाया गया, किन्तु मेडोज टेलर के हस्तक्षेप से उसे कालापानी के दण्ड में परिवर्तित कर दिया गया। उसे जब अण्डमान भेजा जा रहा था तो उसने समीप में किसी को न पाकर जेल के एक वार्डर से पिस्तौल छीन ली और अपने ऊपर गोली दागकर प्राण विसर्जित करते हुए ये अन्तिम शब्द कहे—कालापानी से तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है, मेरा तो एक साधारण-सा प्रहरी भी बन्दीशाला में नहीं रहेगा, फिर मैं तो उनका राजा हूं, मैं कदापि बन्दी नहीं रह सकता।[१]

जोहरापुर के नरेश का इस प्रकार पराभव होते हुए देखकर अब तक असमंजस में पड़े नरगुंद के नरेश ने भी अब विद्रोह करने के लिए कमर कस ली। इस वीरव्रती का नाम था भास्करराव बाबासाहब ! बाबासाहब बड़ा विद्या-प्रेमी था, उसने अपने पुस्तकालय में विभिन्न उत्तम ग्रन्थों का एक संग्रहालय भी बनाया था। वह स्वतः तो दयालु था ही, उसकी धर्मपत्नी भी अनिन्द्य सुन्दरी थी और साहसी भी। जब से उसे दत्तक पुत्र लेने की स्वीकृति न दी गई थी तभी से उसने अंग्रेजी राज्य का सर्वनाश कर देने का संकल्प कर लिया था। उसी की प्रेरणा से,

---

१. मेडोज टेलर-कृत 'स्टोरी आफ माई लाइफ'

नितान्त ही संकोच सहित नरगुंद नरेश ने २५ मई, १८५८ को अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठा लिए। बाबासाहब ने ब्रिटिश राज्य सत्ता की दासता का तौक गले से तोड़कर फेंक दिया। जब उन्हें विदित हुआ कि अंग्रेज अधिकारी मैन्सन उन पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है तो उन्होंने अपने कतिपय विश्वस्त साथियों के साथ नरगुंद के समीप स्थित वन में ही उसे घेर लिया। मैन्सन को यमलोक पठा दिया गया और वीर सैनिक उसका सिर काटकर ले आए। वे इस अंग्रेज अधिकारी के सिर को जलूस के रूप में नरगुंद लाए और अगले दिन उसे नरगुंद नगर के प्रवेश-द्वार पर टांग दिया गया। किन्तु नरगुंद नरेश के ही सौतेले भाई ने क्रान्तिकारियों के साथ सहयोग देना ही अस्वीकार नहीं किया, अपितु वह अंग्रेजों से भी जा मिला। अंग्रेज सेना ने नरगुंद पर आक्रमण कर वहां की सेना को पराजित कर दिया। किन्तु बाबासाहब शत्रुओं के हाथ में आने से बच निकलने में सफल हो गए। बाद में एक दिन गुप्त रूप से घूमते हुए वे बन्दी बना लिए गए और उन्हें १२ जून को अंग्रेजों ने फांसी दे दी। उनकी नवयुवती, परम सुन्दरी महारानी भी जीते जी अंग्रेजों के हाथ न आई, अपितु उसने अपनी सास सहित मलप्रभा नदी की जलधारा में छलांग लगाकर प्राण विसर्जित कर दिए।

इनके अतिरिक्त कोमलदुर्ग के भीमराव, सावंतवाडी के अधिपति इत्यादि अन्य लोगों ने भी पेशवा के नाम पर अनेक स्थानों पर विद्रोह किए। किन्तु विद्रोह का ठीक समय निर्धारित करने की चतुरता के अभाव, संगठन की अपूर्णता एवं एकाकी और असंगठित जन-बल के आधार पर दक्षिण में हुई क्रान्तियों में से कोई भी प्रभावी सिद्ध नहीं हुई और अंग्रेजों को भी अपना अधिक ध्यान केन्द्रित नहीं करना पड़ा। परिणामतः उन्हें उत्तर में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने का सुयोग मिल गया।

इस प्रकार दक्षिण का विहंगावलोकन करने के उपरान्त अब हमें पुनः अहमदशाह की उस वीर रस प्रचुर चरित्र कथा के उस अध्याय पर दृष्टिपात करना होगा जब वह तड़फते और कराहते अवध की पीड़ा का हरण करने के लिए अन्तिम बार प्रयासरत हुआ था। मौलवी सरीखे असाधारण वीरों की मृत्यु भी उनके जीवन के सदृश ही वैभवशाली होती है। दूसरे अनेक व्यक्ति रणभूमि में संघर्ष करते हुए स्वर्ग सिधारते हैं, किन्तु जिनके अन्तःकरणों में राष्ट्रभक्ति की पावन ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, उसके शमन हेतु रणभूमि पर 'रक्त-रक्त' कहते जो ताण्डव करते हुए अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हैं, उन्हें तो वस्तुतः मृत्यु भी नहीं मार पाती। ऐसे महान योद्धा यदि प्रतिशोध की अग्नि पूर्णतः बुझ जाने के पूर्व ही रणभूमि में प्राण विसर्जित कर दें तो भी यमराज के अधीन नहीं हो पाते। यह भी देखा गया है कि ऐसे महान वीर का शीश धड़ से पृथक हो जाने

पर उनका धड़ ही समर में लिप्त रहता है। और अनेक लोगों में यह भी धारणा व्याप्त है कि यदि ऐसे महावीर के धड़ के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएं तब भी उस वीर का अदृश्य भूत ही रात्रि में शत्रुओं की छाती पर चढ़कर अपनी प्रतिशोधाग्नि को शान्त करता है।

इस धारणा के मूल में कोई न कोई तथ्य अवश्य ही है, ऐसा प्रतीत होता है। जब मौलवी अहमशाह समर भूमि में लड़ रहे थे, उस समय लार्ड केनिंग ने एक घोषणा प्रसारित कर सम्पूर्ण अवधवासियों पर यह व्यक्त किया था कि "जो स्वतः आत्मसमर्पण कर देगा उसे विद्रोही न समझते हुए, उसके पूर्व के सभी अपराधों को दया सहित क्षमा कर दिया जाएगा और जो लोग आज हमारा साथ दे रहे हैं उनकी सम्पत्ति और जागीरें आदि भी वापस दे दी जाएंगी। अव अंग्रेजी सत्ता की निश्चित रूपेण विजय हो रही है, अतः अवध के जो लोग अभी भी ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने पर डटे रहेंगे उन्हें उनकी इस हठ के लिए कठोरतम दण्ड दिया जाएगा।" अंग्रेज ये समझते थे कि इस घोषणा के उपरान्त अवध के प्रायः सभी जमींदार शान्त हो जाएंगे। परन्तु इन्हीं दिनों यह समाचार भी मिला कि "पावेन के राजा ने ५ जून, १८५८ को मौलवी अहमदशाह का सिर काट लिया है।" मंद होती हुई अग्नि मौलवी की मृत्यु के समाचार से पुनः दहक उठी। अत्यधिक प्रयत्नों के उपरान्त मिली असफलता से जो अवध थक गया था और जिसे क्षमा के प्रलोभन में फंसाया जा रहा था वह अवध मौलवी के निधन पर शोक प्रदर्शन करने के स्थान पर "प्रतिशोध" "प्रतिशोध" की गर्जना करता हुआ पुनः रणभूमि में कूद पड़ा। मौलवी का शीश तो उनके क्रूर शत्रु ने काटकर निश्चित रूप से हीं नगर के तोरण द्वार पर लटका दिया था, किन्तु अब तो उसका धड़ ही रणभूमि में अंग्रेजों के होश उड़ा रहा था। मौलवी की हत्या के कारण सम्पूर्ण अवध पर ही मानो उनका भूत सवार हो गया था और अब अवध जय पराजय, हानि लाभ, आशा निराशा और जीवन मरण का मोह त्यागकर नवीन और प्रचण्ड उत्साह सहित शत्रु से संघर्ष हेतु रणभूमि में पुनः उतर पड़ा था। पावेन के चाण्डाल से प्रतिशोध लेने के लिए निजामअलीखां पीलीभीत पर्यन्त जा पहुंचा। खानबहादुरखां ने ४ हजार लोगों सहित चढ़ाई की तो फर्रुखाबाद के नेता के साथ ५००० लोग थे और ३००० लोगों सहित विलायतशाह तथा ३००० को साथ लेकर ही नानासाहब, अलीखां मेवाती और उनके अनुगामियों ने सम्पूर्ण अवध में ही उथल-पुथल मचा दी। इनमें से प्रत्येक ही पावेन के राजा का रक्त पीने के लिए उतावला था। इतनी विशाल वाहिनी को चढ़कर आता हुआ देखकर इस देशद्रोही पापी का अंग-अंग कांप उठा। उसके संरक्षण के लिए अंग्रेजी सेना भी वहां तीव्र गति से एकत्रित होती जा रही थी। इस प्रदेश के आसपास शत्रुओं से

क्रान्तिकारियों का दुर्धर्ष संघर्ष हो रहा था। घाघरा नदी के तट पर बेगम हजरत-महल और हेमूखां डेरे डाले हुए थे। इधर राजा रामवख्श, बाहुनाथसिंह, चांदा-सिंह, हनुमन्तसिंह एवम् अन्य वड़े-बड़े जमींदार अपनी सम्पूर्ण सेना लेकर अवध की स्वतन्त्रता के लिए एक और प्रयास करने में लगे थे। इसी भांति शाहजादा फीरोजशाह, जो अभी तक धार में युद्ध कर रहा था, अवध आ पहुंचा था। अपने असाधारण धैर्य का परिचय देकर कोया के दुर्ग की रक्षा करनेवाले वीर पिता के वीर पुत्र नृपतिसिंह भी अवध के संग्राम में भाग लेने के लिए आ पहुंचे थे। इसके पिता जुस्सासिंह नानासाहव के परम मित्र थे और स्वतन्त्रता के युद्ध में ही उन्होंने अपने प्राण विसर्जित किए थे। उन्होंने ही नानासाहव को अपने दुर्ग में भी आश्रय दिया था। इसी भांति देशप्रेम की पावन प्रेरणा लिए दृढ़ता और उत्साह से बढ़ता राजा वेणीमाधव भी अपने दुर्ग से निकलकर देश हेतु रण कंकण वांध कर प्रचण्ड शौर्य का प्रदर्शन करता कानपुर होते हुए लखनऊ के लिए चल पड़ा। जिनकी विजयी होने की आशाएं धूमिल हो गई हों, किन्तु जो जाति के सम्मान हेतु मरण का वरण करने चल पड़े हों उनके साहस का पारावार पा भी कौन सकता है? केवल अपने क्षात्र धर्म का निर्वाह करने हेतु वीर वेणीमाधव ने अनुपम साहस का प्रदर्शन किया था। उन्हें तो यहां प्राप्ति की किंचितमात्र भी आशा नहीं थी। किन्तु विलम्ब से ही क्यों न हो, उसने लखनऊ पर धावा बोला था। उसने लखनऊ नगर में यह विज्ञप्ति भी प्रसारित कर दी कि नगर में रहनेवाले सभी भारतीय नगर छोड़ दें, क्योंकि फिरंगियों पर मेरा प्रचण्ड प्रहार आरम्भ होनेवाला है। विजय से उन्मत्त और पूर्ण अनुशासनवद्ध सेना से सुरक्षित अंग्रेज भी उसकी इस घोषणा, तत्परता और साहस से आश्चर्यचकित हो गए थे, इसमें आश्चर्य की कौन सी वात थी। मृतवत अवध एक निमिषमात्र के लिए ही क्यों न हो, पुनः प्राण-वान सा होकर खड़ा हो गया था। लखनऊ पर इससे पूर्व क्रान्तिकारियों का जितना प्रवल आक्रमण कभी भी नहीं हो पाया था, वैसा अब होनेवाला था।

रक्त के सागर से तो अभी भी अयोध्या (अवध) के अंग सूख नहीं पाए थे, तभी १३ जून, १८५८ को होपग्रंट लखनऊ के समीप नवाबगंज की ओर बढ़ चला, जहाँ लखनऊ प्रस्थान करने के लिए क्रान्तिकारी वीर एकत्रित हुए थे। उन्हें अपनी विजय की तो किंचित मात्र भी आशा नहीं थी। उन पर होप ग्रंट सहसा ही अपने गोरे और काले सैनिकों सहित टूट पड़ा। अन्य कोई सेना होती तो ऐसे आक्रमण की स्थिति में उसका तितर-बितर हो जाना अपरिहार्य था। परन्तु हे क्रांतिवीरो ठहरो। अभी तो मोलवी का निधन हुए ८ दिन भी व्यतीत नहीं हो पाए हैं। अतः रुको! वे रुके और उन्होंने आक्रमण का प्रतिकार करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने जिस प्रचण्ड, उत्कर्ष शौर्य का परिचय दिया उसे देखकर तो शत्रुओं

के हृदय भी उनकी वीरता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। आंग्ल वीर होप ग्रंट ने भी उनकी वीरता के सम्बन्ध में लिखा—"इतने पर भी उनके आक्रमण बड़े ही प्रचण्ड होते थे और उन्हें विफल बनाने के लिए हमें कठोर परिश्रम करना पड़ा। सुदृढ़ साहसी जमींदारों ने दो तोपों सहित हमारी सेना के पिछले भाग पर आक्रमण कर दिया। मैंने हिन्दुस्थान में अनेक संग्राम देखे हैं और विजय अथवा मृत्यु का वरण करने के लिए कृत संकल्प सुभट वीरों को भी देखा है; किन्तु जिस असाधारण वीरता का प्रदर्शन इन जमींदारों ने किया वैसी शायद ही कहीं देखी हो। सर्वप्रथम उन्होंने हडसन के अश्वारोही दल पर आक्रमण किया और उसे तितर-वितर कर दिया और उसकी दो तोपें भी विचलित-सी हो गईं। उस समय मैंने सातवीं हुजार पलटन के दस्तों को आगे बढ़ने का आदेश दिया, उनके साथ चार तोपें भी थीं। ये तोपें विद्रोहियों पर केवल ५०० गज के अन्तर से ही अग्नि वर्षा कर रही थीं। विद्रोही हँसिया से काटे जाने वाले भुट्टों के तुल्य गिरते जा रहे थे। उनके प्रमुख ने, जो काफी मोटा था निर्भय होकर दो पताकाएं अपनी तोपों के समक्ष गाड़ दीं, वस्तुतः यह वहीं डटे रहने का संकेत था। किन्तु हमारी तोपों से इतने प्रचण्ड प्रहार हो रहे थे कि जो भी उनके समीप आता, धराशायी हो जाता। हमारी सहायता के लिए अन्य दो दस्ते भी आ पहुंचे। अतः बचे हुए विद्रोहियों को हटना पड़ा। फिर भी वे हम पर तलवारें और भाले चमकाते हुए हमें चुनौती देते रहे। केवल उन दो तोपों के चारों ओर ही १२५ शव पड़े हुए थे। तीन घंटे के संग्राम के उपरान्त विजय श्री हमारे हाथ रही।"[१]

इस प्रकार की घमासान मुठभेड़ें पूर्वी अवध, मध्य अवध, उत्तरी अवध अथवा सम्पूर्ण अवध में ही आरम्भ हो गई थी। अपनी पुरानी शमशीरों और तोड़ेदार बन्दूकों से ही अवधवासी अंग्रेजों की प्रबल सत्ता को चुनौती दे रहे थे। अंग्रेजों के रचे हुए जाल को उनकी कृपाणें काट डालने में संलग्न हो उठी थीं। इन उग्र हठी रणवीरों के प्रबल पराक्रम का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना तो स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, किन्तु इतना कहना ही उपयुक्त होगा कि अवधवासी रणांगण में भयंकर ताण्डव करने में संलग्न थे। वे केवल आंग्ल शत्रुओं को ही ठिकाने नहीं लगा रहे थे अपितु शत्रु द्वारा क्षमादान दिए जाने की भूलभुलैया में पड़े हुए राजा मानसिंह तथा पावेन नरेश के समान चांडाल देशद्रोहियों पर टूट पड़े थे। इस प्रकार अवध के देशभक्तों को दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही थी। उन्होंने पावेन पर धावा बोला, लखनऊ में संग्राम जारी रखा, सुलतानपुर में वे शत्रु से भिड़े, उन्होंने नीच विश्वासघाती मानसिंह को उसके दुर्ग में ही बन्द कर दिया, अंग्रेजों

---

१. होप ग्रंट कृत "इन्सीडेन्ट्स ऑफ दि सिपाय वार', पृष्ठ २९२

के लिए प्रत्येक मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया, उनकी चौकियों को लूट लिया। उन्होंने अवध के कण-कण को अपने रक्त का अभिषेक देकर पावन बना दिया। उसके चप्पे-चप्पे में आत्मत्याग की पताकाएं गाड़ दीं। जहाँ कहीं भी अंग्रेज उन्हें घेर लेते थे, वे देशभक्त उसे तोड़कर इधर-उधर फैल जाते थे और युद्ध तथा प्रतिशोध का जयघोष जारी रखते थे। जून से अक्तूबर पर्यन्त और अक्तूबर से दिसम्बर पर्यन्त अवध रण में जूझता रहा। दक्षिण से और उत्तर से ही नहीं अपितु सभी दिशाओं से नित नवीन अंग्रेजी सेनाएं उनपर आकर धावे बोलती थीं। इस प्रकार अनन्त शत्रु शैन्य के साथ ये कृतनिश्चयी अक्तूबर पर्यन्त लोहा लेते रहे। वेणीमाधव के शंकरपुर को अंग्रेजी सेनाओं द्वारा तीन ओर से घेरा गया। शंकरपुर में सेना भी कम थी और रसद भी। वेणीमाधव ने इस स्थिति में भी शस्त्र समर्पित नहीं किए। तब अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति ने उन्हें स्वतः यह सन्देश भेजा कि "तुम्हारे पक्ष के विजयी होने का जो अब कोई भी लक्षण दिखाई नहीं देता। अतः तुम यदि युद्ध की हठ को छोड़कर शरण मांग लोगे तो तुम्हें पूर्णरूपेण क्षमाकर तुम्हारी संपत्ति भी वापस लौटा दी जाएगी।" वेणीमाधव ने उसे उत्तर दिया, "अब मेरे लिए दुर्ग की रक्षा कर पाना सम्भव नहीं, अतः उसे तो मैं छोड़ रहा हूं, केवल तुम्हारी शरण में कदापि नहीं आऊंगा, क्योंकि मेरी इस देह पर मेरा अधिकार नहीं है, यह तो मेरे प्रभु की है। किला तुम्हारे हाथ में आ जाएगा, किन्तु वेणीमाधव नहीं, कारण उसकी देह तो स्वराज्य की दास है।"[१]

---

१. चार्ल्स बाल कहता है—"उपर्युक्त घोषणा के उपरान्त भी अवध का संघर्ष विचित्र-सा ही रहा। इन सभी विद्रोहियों को जनता की अपूर्व सहानुभूति प्राप्त थी तथा उन्हें आदमियों की कुमुक भी मिलती रहती थी। ये विद्रोही बिना रसद के ही रवाना हो जाते थे, क्योंकि प्रत्येक स्थान पर ही लोग इन्हें खिलाते-पिलाते थे। ये अपना सामान आदि भी बिना किसी प्रहरी के ही छोड़ कर चल देते थे, क्योंकि लोग अपने आप ही उसकी रक्षा करते थे। इन विद्रोहियों को प्रति घंटे ही अंग्रेजों की गतिविधियों की पूरी-पूरी सूचना प्राप्त होती रहती थी, जिससे वे अपनी तथा अंग्रेजों की दशा का पूर्णतः आकलन कर लेते थे। प्रत्येक भोजनालय में मेज के समीप खड़े रहनेवाले खानसामा भी विद्रोहियों से गुप्तरूप से सहानुभूति रखते थे। इस कारण हमारी कोई भी योजना गुप्त नहीं रह सकती थी। यों तो अंग्रेजों के शिविर में ही गुप्तचर खड़े होते थे, विद्रोहियों पर अचानक आक्रमण करना इसीलिए सम्भव नहीं था। कोई कौतुक ही हो जाए तो अलग बात थी। क्योंकि एक मुख से दूसरे मुख तक पहुंचनेवाले समाचारों ने तो हमारे अश्वारोही भी मात कर दिये थे।—खण्ड २, पृष्ठ ५७०।

इस बीच १८५८ ई० के नवम्बर मास में इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी ने अपनी सुप्रसिद्ध घोषणा की और यह भविष्यवाणी भी इस घोषणा के माध्यम से सत्य ही सिद्ध हो गई कि ठीक १०० वर्ष पश्चात् कम्पनी के राज्य का भारत से अन्त हो जाएगा, क्योंकि अब हिन्दुस्थान से कम्पनी की राज्य सत्ता समाप्त हो गई थी और उसके स्थान पर ब्रिटिश महारानी का राज्य आरम्भ हो गया था। महारानी की घोषणा में यह भी स्पष्ट वचन दिया गया था कि जिस जिसने भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया है, किन्तु अपने शस्त्र समर्पित कर दिए हैं और ब्रिटेन की शरण में आ गए हैं, उन्हें सार्वजनिक रूप से क्षमादान दिया जाएगा और उनकी सम्पत्ति भी जब्त नहीं की जाएगी।[1] इतना ही नहीं अपितु उनके अपराधों की भी जांच पड़ताल नहीं की जाएगी। इस घोषणा में ही राजा-महाराजाओं को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटेन की महारानी का इसी घोषणा में ही यह अभिवचन भी दिया गया कि जनता के धार्मिक अधिकारों और रूढ़ियों में किंचितमात्र भी हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और उपर्युक्त सभी वचनों का पूर्ण-

---

१. महारानी के इन वचनों का पालन अंग्रेजों ने किस प्रकार किया, इसका परिचय भारतवासियों को भली भाँति मिला है। विभिन्न साहूकारों से जमानती देकर जो लाखों रुपये ऋण के रूप में लिए गए थे वे रुपए साहूकारों को विद्रोही बताकर देने से पूर्णतः इन्कार कर दिये गये। इस संबंध में प्रस्तुत उदाहरण नितान्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि १८५७ से संबंधित किसी भी इतिहास ग्रन्थ में इसकी जानकारी नहीं मिल सकेगी। इतना ही नहीं, अपितु 'लन्दन टाइम्स' के लिए श्री रसेल द्वारा प्रेषित सम्वाद पत्रों में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु 'लन्दन टाइम्स' के सम्पादक जॉन डीलन का आत्म-चरित्र प्रकाशित हुआ है। उसमें 'लन्दन टाइम्स' के सम्पादक को भारत स्थित संवाददाता श्री रसेल द्वारा लिखे गए व्यक्तिगत पत्र का भी समावेश है। इस पत्र में लिखा गया है—"१८५९ ई० के जनवरी मास के अन्त में भी सर डब्लू० एच० रसेल लॉर्ड क्लाइड के साथ था। लखनऊ से लिखे गए अपने अन्तिम पत्रों में से एक में उसने एक रोचक कहानी बताई है जो उसने प्रधान सेनापति से सुनी थी। इलाहाबाद के अपने मकान मालिक (एक एंग्लो-इण्डियन जनरल मर्चेन्ट) के संबंध में लार्ड क्लाइड ने बताया कि तुम ठीक प्रकार जानते हो कि उसने क्या किया? "नहीं", अच्छा, जब विद्रोह भड़क उठा तब देशी व्यापारियों का उस पर पर्याप्त ऋण था। वह अब स्पेशल कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया था और उसने सर्वप्रथम जो कार्य किया वह यह था कि उसने सभी साहूकारों को फाँसी के तख्तों पर लटका दिया।"

रूपेण पालन किया जाएगा।

महारानी ने अपनी घोषणा में यह भी कहा—"ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यकाल में नागरिक तथा सैनिक पदों पर काम कर रहे वर्तमान कर्मचारियों को हम उन्हीं पदों तथा अधिकारों पर बनाए रखने का भी वचन देते हैं, किन्तु भविष्य के नियम कानूनों का निर्धारण हम स्वेच्छानुसार करेंगे और उन्हें इनका पालन करना होगा।

"मैं यह भी घोषणा करती हूं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने देशी राज्यों और संस्थानों से जो संधियां की हैं अथवा करार किए हैं, उनका अक्षरशः पालन किया जाएगा। दूसरे पक्ष द्वारा भी उनका पालन होगा, ऐसी भी मुझे आशा है। इस समय जितने प्रदेश पर हमारा अधिकार है, उससे अधिक पर अधिकार करने की हमारी इच्छा नहीं है। जिस प्रकार हम अपनी प्रभुसत्ता के अधिकारों तथा मातहत प्रदेशों पर किसी प्रकार का और किसी का भी अतिक्रमण मौन रह कर सहन नहीं करेंगे, उसी प्रकार दूसरे के अधिकारों पर भी कोई आक्रमण करने की अनुमति नहीं देंगे। देशी नरेशों के अधिकार, सम्मान और पद की प्रतिष्ठा का विचार करते हुए हम उनके साथ नितान्त आदरपूर्ण व्यवहार करेंगे। हमारी यह भी इच्छा है कि हमारी प्रजा के समान ही वे भी उन्नति करें और आन्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा और सुप्रबन्ध से प्राप्त होनेवाली सामाजिक प्रगति का भी उन्हें लाभ प्राप्त हो।

"हमारी यह भी अभिलाषा है कि हमारे प्रजाजनों में जो भी अपनी शिक्षा, क्षमता एवम् कर्तृत्व के आधार पर योग्यता अर्जित कर ले तो जाति, धर्म, पंथ किसी का भी विचार न करते हुए उसे निःसंकोच और निष्पक्ष भाव सहित हमारी सेवा में किसी पद पर भरती किया जाए।

"जिन लोगों ने ब्रिटिश प्रजाजनों की हत्या करने में सक्रिय योग दिया हो और जिनके विरुद्ध अभियोग प्रमाणित हो चुका हो उन अपराधियों के अतिरिक्त अन्य सभी को हम क्षमा देने की भी घोषणा करते हैं।

"जो अन्य व्यक्ति अभी तक भी सशस्त्र होकर हमारे विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं वे भी यदि अपने ग्रामों को वापस चले जाएंगे, अपने पहले कामों में लग जाएंगे तो उन्होंने हमारे तथा हमारे शासन के विरुद्ध जो भी अपराध किए हैं, हम उन्हें नितान्त कृपा सहित भूल जाने को तत्पर हैं।"

इस प्रकार महारानी का घोषणा-पत्र अथवा भारत का भाग्यलेख प्रकाशित किया गया। निस्संदेह, इसका एकमात्र उद्देश्य अवध की क्रान्ति ज्वाला पर पानी डालना ही था। किन्तु अवध के क्रान्तिदूतों को यह घोषणा तनिक-सा भी आकर्षित न कर सकी। महारानी की घोषणा के सर्वथा विपरीत अवध की बेगम ने

घोषणा कर दी—"इंग्लैंड की रानी के घोषणा-पत्र में यह बताया गया है कि देशी नरेशों से कम्पनी ने जो संधियां अथवा प्रस्ताव प्रस्तुत किये हैं वह उन सभी का पालन करेगी। किन्तु भारतीय जनता को इस कपटपूर्ण चाल को भली भाँति समझ लेना चाहिए। कम्पनी तो सम्पूर्ण भारत को हीं हड़प कर चुकी है और इसको सिर आंखों पर रखना हो तो इंग्लैंड की रानी ने कौन-सी बात नई कही है ? भरतपुर नरेश को कम्पनी ने वचन दिया था कि उसे पुत्रवत माना जाएगा और दूसरी ओर उसके सम्पूर्ण राज्य पर भी हाथ साफ कर दिया। लाहौर के अधिपति (दिलीप सिंह) को लन्दन में बन्दी बनाकर रख दिया गया है और उन्हें भारत नहीं लाया जाता। नवाब शमसुद्दीन को इन्हीं अंग्रेजों ने एक हाथ से फांसी पर लटकाया और दूसरी ओर दूसरे हाथ से उसे सलाम करते हुए भी उन्हें तनिक-सी लज्जा न आई। सातारा के छत्रपति को, पूना के पेशवा को बन्दी बनाया और मृत्यु पर्यन्त बिठूर में उससे पेंशन चढ़वाते रहे। काशी नरेश को इन्होंने आगरा में बन्दी बनाकर रखा। इन्होंने ही बिहार, उत्कल और बंगभूमि के राजाओं को और जागीरदारों को समूल नष्ट कर दिया। इन्होंने अवशिष्ट वेतन का वितरण करने के नाम पर अवध का सम्पूर्ण पैतृक धन भी हड़प लिया। हाँ, इतनी कृपा अवश्य ही की कि सन्धि के ७वें परिच्छेद में इस प्रतिज्ञा का अवश्य ही उल्लेख कर दिया कि भविष्य में और कोई वसूली नहीं की जाएगी। ऐसी स्थिति में जो कुछ कम्पनी ने किया है, यदि उसी को स्वीकृत करने की बात इंग्लैंड की रानी भी करती हो तो पहले की और आज की स्थिति में अन्तर ही क्या है ? यह सब तो पुरानी ही बातें हैं। किन्तु हाल ही में लिखी गई सन्धि की शर्तों की पूर्णतः उपेक्षा करके और हमारा लाखों रुपए का ऋण उसकी ओर होते हुए भी कम्पनी को जब कोई अन्य बहाना हाथ न आया तो 'शासकों के प्रति प्रजा में असन्तोष' का कृत्रिम उपालम्भ गढ़कर हमारे विपुल धन और करोड़ों रुपए के प्रदेश को हड़प लिया। यदि हमारी प्रजा इससे पूर्व नवाब वाजिदअलीशाह के शासनकाल में ही सुखी नहीं थी तो अब हमारे प्रशासन काल में उसके सन्तुष्ट हो जाने का कारण क्या है ? आज हमारी प्रजा हमारे प्रति जितनी श्रद्धा और प्रेम तथा राजनिष्ठा का प्रदर्शन कर रही है उतनी तो शायद ही किसी राजा की प्रजा ने प्रदर्शित किया होगा। ऐसी स्थिति में हमारा प्रदेश हमें क्यों नहीं लौटाया जा रहा है ? इंग्लैंड की रानी ने यह भी कहा है कि और अधिक प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने शासन में मिलाने की उसकी कोई इच्छा नहीं है। किन्तु इस कथन के बावजूद भी राज्यों पर दखल करने का कार्य पूर्ववत् चल ही रहा है। यदि अब उसने सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था अपने हाथों में ले ली है, तो फिर हमारे प्रजाजनों द्वारा स्पष्टतः अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति कर देने के पश्चात भी

हमारा राज्य हमें वापस क्यों नहीं दिया जा रहा है !

"किसी भी राजा अथवा रानी ने आज तक विद्रोह के अपराध में सम्पूर्ण सेना अथवा सम्पूर्ण जनता को कदापि दण्डित नहीं किया, यह सत्य जगत् विख्यात है। सभी को क्षमा किया जाएगा, क्योंकि सम्पूर्ण सेना अथवा समग्र हिन्दुस्थान को दण्डित किया जाना कोई भी विचारवान व्यक्ति कदापि पसन्द न करेगा। उन्हें यह भी भली भांति विदित है कि जब तक दण्ड का भय विद्यमान रहता है तब तक विद्रोह की ज्वाला भी शान्त नहीं हो पाती। 'मरता क्या न करता' यह कहावत भी सुप्रसिद्ध ही है।

"रानी की घोषणा में कहा गया है कि जिन्होंने विद्रोहियों को आश्रय दिया अथवा विद्रोह को प्रोत्साहन दिया है, उनका पता लगाकर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाएगा, अपितु नाम मात्र का दण्ड ही दिया जाएगा। किन्तु जिन्होंने स्वयं हत्या की है अथवा हत्या करने में सहायता की है, उनके साथ किसी प्रकार की भी दया प्रदर्शित नहीं की जाएगी, किन्तु अन्य सभी को क्षमा प्रदान कर दी जाएगी। इस घोषणा को पढ़कर तो कोई मूर्ख भी यह समझ सकता है कि चाहे कोई अपराधी हो अथवा न हो कोई भी दण्डित हुए बिना नहीं रहेगा। इस घोषणा में तो सभी कुछ लिखकर भी कुछ नहीं लिखा गया। किन्तु एक तथ्य तो स्पष्टतः उल्लिखित हुआ है कि जिस किसी का भी क्रान्ति से सम्बन्ध रहा है, ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं छोड़ा जाएगा। यह भी स्पष्ट है कि जिस नगर अथवा अंचल में हमारे सैनिक रुके हैं उस ग्राम के सभी ग्रामीणों को क्षमा नहीं किया जा सकता। शत्रुता से परिपूर्ण रानी की इस घोषणा को पढ़कर मेरे मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गई है कि हमारी प्रिय प्रजा के साथ क्या व्यवहार किया जाएगा। उस व्यवहार की तो कल्पना मात्र से ही मेरा हृदय भर आता है। अतः मैं स्पष्ट शब्दों में विश्वास दिलाती हूं कि जो ग्राम-प्रमुख अपनी अनभिज्ञता के वशीभूत अंग्रेजों के समक्ष आत्म-समर्पण कर चुके हैं, वे १ जनवरी, १८५६ से पूर्व ही हमारे शिविर में उपस्थित हो जाएं। इस बात में कोई भी संशय नहीं है कि मैं उन्हें क्षमा प्रदान कर दूंगी। हिन्दुस्थान के राज्यकर्ता दयालु और उदार रहे हैं, इस अनुभव को ध्यान में रखते हुए हमारी घोषणा पर विश्वास करो। सहस्रों लोगों ने यह अनुभव ग्रहण किया है, लक्षाविधि लोगों ने भारतीय शासकों की यह कीर्ति सुनी है, किन्तु अंग्रेजों ने कभी एक भी अपराधी को क्षमा किया है, यह भी किसी ने नहीं सुना होगा।

"इंग्लैण्ड की रानी की घोषणा में यह भी कहा गया है कि शान्ति की प्रस्थापना के उपरान्त लोगों की स्थिति सुधारने की दृष्टि से राजमार्ग बनेंगे और नवीन नहरों का निर्माण आदि जनहित के कार्य किए जाएंगे। उनके इस आश्वासन से ही यह

स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दुस्थान की जनता को मार्गों के बनाने और नहरें तथा कुएं आदि खोदने से अधिक अन्य कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं सौंप सकते।

"इसका अर्थ यदि जनता ने ध्यानपूर्वक समझने की चेष्टा न की तो फिर आशा की कोई भी सम्भावना नहीं रह जाएगी।

"मैं यही चाहती हूं कि इस घोषणा-पत्र के भुलावे में किसी को भी नहीं फंसना चाहिए।" एतदर्थ अब अवध ने बिना शर्त दिए जाने वाले इस क्षमादान को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। वह अब भी हाथों में तलवार संभाले हुए था, आश्वारूढ़ था, उसके एक-एक खेत में लड़ाई चल रही थी, रक्त-स्नान हो रहा था, और अवध स्वातन्त्र्य यज्ञ की ज्वाला में खुलकर भाग ले रहा है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति अथवा अन्तिम समय तक संग्राम, यही उसकी टेक थी। शत्रु के पैरों में पड़ने के स्थान पर शत्रु का गला घोट देना ही उसने अपनी प्रवृत्ति बना ली थी। इस प्रकार १८५९ को अप्रैल मास आ जाने पर भी अवध का संग्राम जारी था। शंकरपुर, टुंढिया खेड़ा, राय बरेली, सीतापुर आदि अनेक स्थान इस समय भी रणस्थली बने हुए थे। किन्तु इन स्थानों पर हुई पराजय के उपरान्त इन क्रान्तिवीरों को नेपाल की सीमा तक हटने पर विवश होना पड़ा। अंग्रेजों ने भी अपनी विभिन्न सेनाओं द्वारा इनका पीछा करना जारी रखा। अतः क्रान्तिकारियों को अब नेपाल में ही प्रविष्ट होना पड़ा और साथ ही उनमें यह नवीन आशा भी उत्पन्न हुई कि नेपाल का हिन्दू राजा उन्हें संरक्षण प्रदान करेगा।

उस समय नेपाल में प्रविष्ट होनेवाले क्रान्तिकारियों की संख्या ६०००० थी। बेगम, उसका पुत्र और तरुण नवाब, नानासाहब तथा बालासाहब ही इनके नेता थे। उन्हें नेपाल के जंग बहादुर का एक पत्र मिला था, जिसके उत्तर में नानासाहब और बेगम ने उसे दो पत्र लिखे थे। इनमें से भी नानासाहब का पत्र सुस्पष्ट, मुंह-तोड़ तथा मार्मिक था। उसका एक अंश यहाँ देना उपयुक्त रहेगा। उन्होंने लिखा था—"आपका पत्र प्राप्त हुआ। आपकी उदारता की ख्याति हम अब तक दूर से ही सुन रहे थे। हमने भारत के अनेक प्राचीन राजाओं का इतिहास पढ़ा है तथा नरेशों के भी गुण-दोषों से हम परिचित हैं। तब भी हम यह बात निश्चय के साथ कह सकते हैं कि आपकी समानता उनमें से कोई भी नहीं कर सकता, क्योंकि जिन अंग्रेजों ने आपकी प्रजा से भी दुर्व्यवहार किया है उन्हींकी आपने सहायता की और इस कार्य में आपने तनिक-सा भी संकोच नहीं दिखाया। उनके आग्रह मात्र पर ही आप तत्काल उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़े, आपकी निःसीम उदारता सब पर स्पष्ट हो गई। आप जैसे उदारमना व्यक्ति ने जब प्रत्येक दृष्टि से अपने विरोधी शत्रु की भी सहायता की तो मैं भी आपसे आशा करता हूं कि आपके प्रजा जनों से पेशवाओं के जो वंशज सदैव ही मैत्री और उदारतापूर्ण व्यवहार करते आए

हैं उनको भी आप अवश्य ही सहायता प्रदान करेंगे। क्या मेरी आपसे ऐसी अपेक्षा अस्वाभाविक है ? और विशेषतः उस स्थिति में जबकि आपने कट्टर शत्रु अंग्रेजों की मुक्त हस्त से सहायता की है। जिसने अपने शत्रु को अपने घर में सादर निमंत्रित किया हो वह अपने मित्रों को तो कदापि निराश नहीं करेगा। क्या आपने यह नहीं सुना है कि अनेकानेक अन्यायों, दिए गए वचनों के स्पष्टतः उल्लंघन और अनेक सन्धियों के भंग किए जाने से हिन्दुस्थान अंग्रेजों द्वारा किस प्रकार सताया जा रहा है ? इसका विवरण यहां प्रस्तुत किया जाना आवश्यक नहीं है। स्वराज्य के अतिरिक्त अंग्रेज हिन्दुस्थान के लोगों के धर्म को नष्ट करने के लिए किस प्रकार प्रवृत्त है, यह भी जगत् विख्यात है। इन्हीं कारणों से यह क्रान्तियुद्ध आरम्भ हुआ है। मैं अपने भाई वालासाहब पेशवा को आपके पास भेज रहा हूं, जिससे कि वे आपसे मिलकर अन्य वातों को विस्तृत रूप से आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे।"[1]

इस पत्र पर पेशवा की राजमुद्रा भी अंकित की गई। इस पत्र के पहुंचने के उपरान्त पर्याप्त विचार-विमर्श भी हुआ। विद्रोहियों से भेंट करने के लिए जब जंग बहादुर ने अपने एक सरदार कर्नल बलभद्र को भेजा तो उसे भी विद्रोहियों की सेना के प्रमुखों ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया कि "हम हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। महाराज जंगबहादुर (नेपाल नरेश) भी हिन्दू ही हैं। अत उन्हें हमारी सहायता अवश्य करनी चाहिए।" तब उस सरदार ने उनसे प्रश्न किया कि "आपके कार्य करने का उद्देश्य क्या है ?" इसके उत्तर में विद्रोही पक्ष के उस प्रतिनिधि ने उसे उत्तर दिया "हमारे पास अभी भी ६० हजार लड़ाके जवान हैं। जंगबहादुर ने अंग्रेजों को सहायता दी है, किन्तु यदि वे हमें ५० हजार गुरखा सैनिक दे दें तो मैं उन्हें अंग्रेजों की अपेक्षा दुगना वेतन दे सकता हूं। यदि वे ऐसा न कर सकते हों तो हमें केवल अपने सुयोग्य सेनापति ही दे दें, मैं पुनः हिन्दुस्थान में जाकर अंग्रेजों को कलकत्ता तक भगा सकता हूं और हम जो भी प्रदेश जीतेंगे उस पर नेपाल राज्य का आधिपत्य होगा, और यदि हो सके तो उसके पश्चात् महाराज हमें अपने राज्य में आश्रय दे दें, हम उनके आज्ञाकारी बन कर वहां रहेंगे।" उनकी यह बात सुनकर सरदार बलभद्र बोला "किन्तु ब्रिटिश सरकार तो कृपा दृष्टि कर रही है, आप लोग उसके समक्ष आत्मसमर्पण क्यों नहीं कर देते ?" इसपर क्रान्तिकारी नेताओं ने उसे उत्तर दिया "हमने अंग्रेजों की वह घोषणा सुन ली है। किन्तु दूसरों को मृत्यु के मुख में धकेलकर हम अपनी जीवन रक्षा करना नहीं चाहते। हम ब्रिटेन के समक्ष आत्मसमर्पण कदापि नहीं करेंगे।"

इस प्रकार की अनेक वार्ताओं के उपरान्त जंगबहादुर ने विद्रोहियों को स्पष्ट

---

१. चार्ल्स बाल-कृत 'इंडियन म्युटिनी', खंड २

उत्तर दिया कि "यदि मुझे तुम्हारी सहायता ही करनी होती तो मैं लखनऊ में तुम लोगों की हत्या कराने हेतु अपनी सेनाएं ही क्यों भेजता ?" इतना अधिक नीचतापूर्ण उत्तर देकर ही उसने बस नहीं की, अपितु उसने अंग्रेजों को नेपाल में प्रवेश कर क्रान्तिकारियों का शिकार करने की पूरी-पूरी छूट भी दे दी।

अब सभी ओर से सर्वथा निराश होकर क्रान्तिकारी सिपाही अपने-अपने शस्त्रास्त्र छिपाकर अपने घरों को जाने लगे। अब उन्हें उभारने में कोई लाभ न होता देखकर अंग्रेज़ों ने भी उन्हें छेड़ने का प्रयास नहीं किया। जो क्रान्तिकारी अपने घरों को न लौटे वे वन में ही उपवासकर आत्मार्पण करने लगे। इन्हीं दिनों नानासाहब ने प्रमुख ब्रिटिश सेनापति होप ग्रंट को भी एक पत्र लिखा था। अपने इस पत्र में उन्होंने ब्रिटिश कूटनीति की घोर भर्त्सना की तथा विस्तृत आलोचना करने के पश्चात् लिखा था "What right have you to occupy India and declare me an outlaw ?" (हिन्दुस्थान पर राज्य करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया है ? तुम विदेशी हमारे राजा हो तो क्या मैं चोर हूं) इतिहास ने नानासाहब के नाम पर ये ही अन्तिम शब्द संग्रहीत रखे हैं। ये शब्द क्या हैं, वस्तुतः बालाजी विश्वनाथ पेशवा के सिंहासन का अन्तिम उच्छ्वास है। शिवाजी के अन्तिम उत्तराधिकारी के योग्य, सुदृढ़, न्यायपूर्ण, आत्माभिमान और शान की शोभा बढ़ानेवाले ही ये शब्द हैं। बाज़ीराव द्वितीय की नपुंसकता के कलंक को रक्त की शत-शत धाराओं से नहलाकर निष्कलंक कर दिया गया था और पेशवा का वह विशुद्ध राजसिंहासन चित्तौड़ की राजपूतनियों के समान लड़ते, झगड़ते, जलते तथा दैदीप्यमान अग्नि ज्वालमालाओं को विस्फारित करते हुए विश्व के रंगमंच से विलुप्त हो गया। उनकी अन्तिम आह इन्हीं शब्दों से निकली थी "परकीय हिंदुस्थान के राजा और हम हिन्दू-भूमि के ही पुत्र हिन्दुस्थान में चोर बना दिए गए हैं।"

इस पत्र के लिखने के पश्चात् नानासाहब का क्या हुआ, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। स्वेच्छासहित अंगीकृतदरिद्रता में ही बालासाहब का इन्हीं दिनों वनों में ही स्वर्गवास हो गया। तदुपरान्त अवध की बेगम और तरुण राजकुमार को नेपाल में अनुमति प्रदान कर दी गई। महान हुतात्मा गजराजसिंह नायक एक अन्य क्रान्तिकारी नेता भी बाद में हुए एक संघर्ष में देवलोकगामी हुआ।

इस प्रकार अवध में क्रान्तियुद्ध की इतिश्री हो गई। अपनी स्वतन्त्रता हेतु अवध ने कितनी वीरता सहित संघर्ष किया था, इसका विवरण शत्रु द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरण से ही पढ़ना उचित होगा। स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए इतनी महान हठ और पराक्रम सहित क्या विश्व के किसी अन्य देश ने संघर्ष किया होगा ? मॅलेसन ने लिखा है—"सिपाहियों ने स्वतन्त्रता के लिए जिस क्रान्तियुद्ध का श्रीगणेश

किया था उसमें अवध की प्रजा ने बढ़-चढ़कर भाग लिया था, वे स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए जूझ पड़े। वे कितनी वीरतासहित संग्राम कर रहे थे, इसका विवरण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। किन्तु जितने दीर्घकाल तक अवध की जनता संग्राम करती रही उतनी वीरता से हिन्दुस्थान के अन्य किसी भी अचल में संग्राम नहीं हुआ था। १८५६ ई० के मध्य से ही उनपर जो अत्याचार और अन्याय हुए थे, इससे उनका अन्तःकरण इस्पात के समान कठोर हो गया था और उन्होंने सुदृढ़ संकल्प भी ग्रहण कर लिया था। यदा-कदा उन्हें मारकर पलायन भी करना पड़ जाता था। इस आशा से ही वे ऐसा करते थे कि किसी अन्य दिवस वे विजय के लिए संघर्ष करेंगे। अन्ततः लार्ड क्लाइड ने अवध पर अन्तिम आक्रमण एक प्रचण्ड बवण्डर के समान किया। अवशिष्ट सैनिकों को नेपाल के वनों में आश्रय ढूंढ़ने पर विवश होना पड़ा। वहां भी जो वीर बचे रह गए थे, उन्होंने आत्मसर्पण करने के स्थान पर उपवास करते हुए आत्मार्पण करना वरेण्य माना। दीर्घकाल तक चले इस संघर्ष में जब उन्हें विजय की कोई आशा नहीं रही तो अवध के श्रमिकों, कृषकों, तालुकेदारों भूमिधरों और व्यापारियों ने पराजय स्वीकार कर ली।"[१]

१. मॅलेसन कृत 'इण्डियन म्युटिनी', खण्ड ५, पृष्ठ २०७

: २ :

पूर्णाहुति

दिनांक २० जून को ग्वालियर की रणभूमि में हुए घनघोर संग्राम में रणलक्ष्मी लक्ष्मीबाई की पराजय हो गई थी। इस कारण अंग्रेजों को अपने एक दृढ़ निश्चयी शत्रु से मुक्ति प्राप्त हो गई थी। किन्तु अभी भी रानी से भी अधिक एक दृढ़-निश्चयी शत्रु ने, जो रणकौशल में लक्ष्मीबाई की अपेक्षा भी अधिक सिद्धहस्थ था, रणभूमि से पलायन कर अंग्रेजों को वंचिका दे गया था। ग्वालियर की रणभूमि में वह २० मई को ओझल हुआ था तो जावरा और अलीपुर की रणभूमि से भी बच निकलने में सफल हो गया।

यत्र तत्र तात्या-टोपे

कुछ हीं दिनों में मध्य हिन्दुस्थान के सभी वन, गुफाएं ग्राम, नगर, पर्वत सभी से प्रचण्ड रण गर्जनाएं होने लगीं और यत्र-तत्र तात्या टोपे ! तात्या टोपे का ही स्वर गूंज उठा।

इसका कारण यह था कि शिकारी के भालों से घिरा हुआ यह मराठा सिंह अब विवश होकर मध्य भारत के जंगलों में घुस गया था। ग्वालियर की रणभूमि में रानी लक्ष्मीबाई के बलिदान हो जाने के कारण तो मानों उसका दाहिना हाथ ही कट गया था। अनेक पराजयों के फलस्वरूप क्रान्ति दब-सी गई थी, श्रीमंत नाना-साहब से तो सदा के लिए ही बिछुड़ चुका था। कतिपय भारतीयों के ही विश्वासघात के कारण अब अंग्रेजी सत्ता अपने अजेय होने का दम्भ कर रही थी। इधर तात्या के पास न तो उत्तम सेना ही थी और न ही तोपें तथा पैसा ही। उसके पास तो रसद का भी अभाव था। उसे तो इन साधनों के कहीं से उपलब्ध होने की भी आशा नहीं थी, किन्तु इस सारी स्थिति में ही अकुंठित धैर्य रखनेवाला तात्या टोपे, सम्पूर्ण आपदाओं और विपरीत परिस्थितियों में भी झुका नहीं और न ही उसने स्वतन्त्रता के प्रतीक भगवे ध्वज को ही झुकने दिया। शत्रु के समक्ष अपनी पताका झुकाना,

नहीं, यह महान पाप कदापि नहीं होगा। क्योंकि भगवे ध्वज का दण्ड ही ऐसे वृक्ष से निर्मित हुआ है कि उसे कभी शत्रु तोड़ तो सकता है, किन्तु वह शत्रुओं के आगे झुक कदापि नहीं सकता।

ग्वालियर और जावरा तथा अलीपुर में मिली पराजयों के पश्चात् अपनी बचीखुची सेनाओं को लेकर तात्या और रावसाहब पेशवा सरमथुरा नामक ग्राम में चले गए। यहीं उन्होंने अपने सम्पूर्ण युद्ध योजना के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निर्धारित किए। प्रथम यह कि अब किसी भी स्थान पर प्रत्यक्ष युद्ध नहीं लड़ा जाएगा। दूसरा सिद्धान्त यह निर्धारित किया कि चाहे कोई भी स्थिति क्यों न हो प्रत्यक्ष युद्ध न करते हुए छापामार युद्ध का अनुगमन कर अंग्रेजी सेना को छकाया जाएगा। परन्तु इन दोनों निर्धारित सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए भी तो रसद और शस्त्रों की प्राप्ति अनिवार्य थी। इस समस्या का निदान करने हेतु तात्या ने तीसरा सिद्धान्त यह निर्धारित किया कि मार्ग में जो भी देशी रियासतें मिलेंगी उनसे उनकी इच्छा से अथवा कठोरता सहित शस्त्रास्त्र और पैसा प्राप्त किया जाएगा। उत्तर और मध्य भारत में तो पग-पग पर देशी रियासतें विद्यमान थीं। प्रत्येक राज्य में ही वर्ष भर के लिए सैनिकों हेतु रसद तथा आवश्यक शस्त्रास्त्र जमा रहते थे। उस रसद और उन शस्त्रास्त्रों को प्रदेश की रक्षा में लगाना ही तो इन नरेशों का प्राथमिक कर्त्तव्य था। परन्तु १८५७ के स्वातन्त्र्य संग्राम में इस भूमि और उसमें निवास करनेवाली अपनी प्रजा की इच्छा एवं दृढ़ आशा को साफल्यमंडित करने के स्थान पर इन नरेशों ने अपने व्यक्तिगत लाभ को ही महत्व दिया था। इसी कारण ये क्रान्तिकारियों के साथ खुला सहयोग नहीं कर सके थे। अतः उनके पास इस समय भी रसद और शस्त्रास्त्र निरुपयोगी होकर पड़े हुए थे, वे अपने राज्यों में उत्पन्न हुए अन्न को भी दबाकर बैठे थे। वे व्यर्थ ही संग्रह किए हुए थे और दूसरी ओर देशभक्त और स्वतः देशमाता भी दरिद्रता में जीवन यापन कर रही थीं। ऐसी स्थिति में इन विश्वासघाती जमाखोरों को उत्तम पाठ पढ़ाने और देश की प्रजा से जो धन एकत्रित किया गया है उसे देश हितार्थ ही खर्च करने के लिए प्राप्त करने के संघर्ष में तात्या और रावसाहब ने एक नितान्त उत्तम योजना बनाई। अपनी इस योजना के द्वारा उन्होंने स्वातन्त्र्य सैनिकों के भोजन के लिए खाद्य सामग्री और युद्ध करने के लिए शस्त्रास्त्र उपलब्ध करने का निश्चय किया। इस प्रकार जनता पर युद्ध का कोई दबाव न पड़ेगा, अपितु इन नरेशों से युद्ध-कर की प्राप्ति की जाएगी। इन नरेशों के पास तो नाममात्र के लिए ही सेना थी, अतः उनपर यह युद्ध-कर लादना भी कोई कठिन कार्य सिद्ध न होगा। साथ ही इन देशी राज्यों के पास-पास स्थित होने के कारण खाद्य सामग्री को एक स्थान से ढोकर दूसरे स्थान पर ले जाने की कठिनाई भी नहीं उठानी पड़ेगी। इन दोनों

सेनानियों ने निश्चय कर लिया था कि यदि उनके आह्वान मात्र से ये देशी नरेश उनकी योजना को स्वीकार कर लें तो अच्छा है अन्यथा उन्हें ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आधार पर तात्या ने अपने नितांत विस्मयकारक रणताण्डव की सम्पूर्ण रचना की थी।

किन्तु अंग्रेजों की यह सहज कल्पना थी कि ऐसी विपन्न अवस्था में किसी भी मनुष्य का बहुत दिनों तक प्रयत्न करते रहना असंभव है। यही समझकर उन्होंने यह धारणा भी बना ली कि अलीपुर में उनका दबाव पड़ने के कारण तात्या के पलायन करते ही वहाँ से विद्रोह समाप्त हो गया है। इसके साथ ही उन्होंने तात्या को चारों ओर से घेरकर १-१॥ मास में ही आत्म-समर्पण कर देने पर विवश बनाने के लिए अपनी सेनाएं भी भेज दीं। ग्वालियर, झांसी, शिवपुरी और गुना सभी ओर ब्रिटिश सेना छा गई थी तो राजस्थान में भी राबर्ट ने अपनी सेना डटा दी थी। इस प्रकार अंग्रेजों की सेनाओं ने चारों ओर से ही अपने व्यूह में तात्या को घेर लिया था और अब प्रश्नचिन्ह उपस्थित था कि तात्या इस व्यूह से किस प्रकार निकलता है?

तात्या की प्रथम पर दृष्टि भरतपुर केन्द्रित हुई थी। किन्तु वहाँ अंग्रेजी सेना के पहुंच जाने का समाचार प्राप्त होते ही उसने जयपुर की दिशा में अपने पग बढ़ा दिए। जयपुर के राजदरबार में तात्या से सहानुभूति रखने वाले अनेक व्यक्ति तो थे ही साथ ही वहां की सेना और जनता का झुकाव भी तात्या की ओर था। अतः तात्या ने वहाँ अपना दूत भेजकर अपने शुभचिन्तकों को सावधान और सन्नद्ध रहने का निर्देश दिया। किन्तु यह सूचना अंग्रेजी सेना को भी मिल गई, अतः उसने तत्काल ही नसीराबाद से जयपुर की ओर प्रस्थान कर दिया। जयपुर की यह स्थिति देखकर तात्या ने दक्षिण दिशा में प्रस्थान कर दिया। उसके पीछे कर्नल होम्स भी अपनी सेना सहित लगा ही हुआ था। यहां तात्या टोपे ने अपनी प्रचण्ड बुद्धि-कौशल का परिचय देते हुए इस सेना को वंचिका दी और उसने टौंक राज्य पर धावा बोल दिया। वहाँ के नवाब ने नगर के द्वार बन्द करा दिए और तात्या का प्रतिरोध करने के लिए अपने कुछ सैनिकों को चार तोपों सहित नगर के बाहर भेज दिया। भयंकर संग्राम हो सकता था, किन्तु टौंक के इन सैनिकों ने नितान्त ही मैत्रीपूर्ण ढंग से तात्या के सैनिकों का अभिनन्दन किया। उन्होंने अपनी चारों तोपें भी तात्या को समर्पित कर दीं। इस नवीन सेना और नवीन तोपों को प्राप्त कर तात्या ने नितान्त ही निश्चन्त भावना सहित दक्षिण दिशा में प्रस्थान कर दिया। तात्या टोपे ने इन्द्रगढ़ पहुंचकर वहां कुछ समय विश्राम किया। किन्तु उसके पीछे ही होम्स की सेना तथा दूसरी ओर से राबर्ट्स की सेना भी आ रही थी। उन दिनों घनघोर वर्षा की झड़ी लगी

हुई थी, इस कारण चम्बल भी जल से लबालब भरी अपने रौद्र रूप का प्रदर्शन कर रही थी। पीछे से शत्रु बढ़ा आ रहा था तो तात्या के समक्ष थी बाढ़ से परिपूर्ण चम्बल सरिता। अतः तात्या उत्तर-पूर्व की ओर मुड़कर बूंदी जा पहुंचा। वहाँ से बड़ी चतुराई और सफलता सहित शत्रुओं को भूलभुलैया में डालता हुआ तात्या नीमच और नसीराबाद के मध्य स्थित प्रदेश में जा पहुँचा जहाँ की जनता पहले से ही क्रान्तियज्ञ में योगदान दे रही थी। यहाँ उसने पुनः अंग्रेजों को छकाने में सफलता प्राप्त की। उन्हें उसने ऐसा भुलावा दिया कि तात्या दक्षिण की ओर बढ़ रहा है, किन्तु वह भीलवाड़ा जा पहुंचा। यह समाचार प्राप्त होते ही राबर्ट्स सरवर नामक ग्राम से बढ़ा और उसने तात्या की सेना पर आक्रमण कर दिया। ७ अगस्त को अंग्रेजों की सेना ने धावा बोला, किन्तु तात्या ने दिन भर इस सेना को रोके रखने में सफलता पाई और रात्रि में ही वह अपनी सेना और तोपों सहित सुरक्षित रूप से उदयपुर राज्य की सीमा में स्थित कोटरा नामक ग्राम में जा पहुंचा। वहाँ अपनी सेना को विश्राम करने का अवसर देकर तात्या टोपे समीप ही स्थित नाथद्वारा नाम के हिन्दू तीर्थ क्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण की पावन प्रतिमा के दर्शन करने जा पहुंचा। जब वह वहाँ से मध्यरात्रि में वापस लौटा तो उसे विदित हुआ कि उसका पीछा करती हुई ब्रिटिश सेना भी समीप आ पहुंची है। अतः उसने वहाँ से अपनी सेना को प्रस्थान करने का आदेश दे दिया। परन्तु सैनिक इतने अधिक थक गए थे कि पैदल सैनिकों ने उससे स्पष्टतः कह दिया कि सतत् प्रवास करने के कारण पैदल सेना अब आगे बढ़ने में समर्थ नहीं है, अश्वारोही चाहें तो आगे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में तो युद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं रह गया था।

दूसरे दिन अर्थात् १४ अगस्त को यथाशीघ्र सूर्योदय से पूर्व ही उसने अपनी सेना की यथासंभव व्यूहरचना कर ली। यहाँ तात्या की सेनाओं ने राबर्ट्स की सेनाओं से जमकर संघर्ष किया किन्तु अंग्रेजों की सेना के समक्ष उसे पराजित होकर तितर-बितर होना पड़ा। तात्या की सेनाएं तोपें भी छोड़कर रणभूमि से हट गयीं और हटते-हटते लगभग १५ मील दूर चली गईं। अब पुनः तात्या टोपे की सेनाएं तोपों से वंचित हो गई थीं। किन्तु विजय के उन्माद से उन्मत्त शत्रु अभी भी तात्या का पीछा कर ही रहे थे। फिर भी तात्या अंग्रेजों को झाँसा देकर चम्बल की ओर बढ़ने लगा, किन्तु अंग्रेजी सेना के उस पर हमले भी जारी रहे। और चम्बल सरिता पर एक और ही दृश्य उपस्थित हो गया जब एक अंग्रेज कमाण्डर अपने चुने हुए सैनिकों सहित चम्बल के किनारे पर ही आ धमका। किन्तु बाधाओं को खेल समझनेवाले तात्या का हौसला मंद नहीं हुआ, अपितु उसने अंग्रेजों को भी आश्चर्य में डाल दिया। उसने एक अंग्रेज अधिकारी को

पीछे हटा दिया तो दूसरे को वंचिका दी और उनकी आंखों में धूल झोंकता हुआ तात्या मंजिल-पर-मंजिल पार करता हुआ चम्बल पर जा पहुंचा। इतना ही नहीं उसने चम्बल को पार भी कर लिया और अंग्रेज उसका मुख ही ताकते रह गए।

अब अंग्रेजों और तात्या की सेनाओं के मध्य चम्बल वह रही थी। किन्तु तात्या के पास न तो तोपें ही थीं और न ही खाद्य सामग्री और धन ही। इस प्रकार तात्या टोपे का पूर्ण पराभव हुआ था। अतः अब उसे नर्मदा का मार्ग छोड़कर झालरापाटण की ओर प्रस्थान करना पड़ा। उस राज्य का अंग्रेज-निष्ठ नरेश भी नामर्द तो नहीं था, उसने अपनी विश्वासपात्र सेना और जंगी तोपखाने सहित तात्या की सेना पर टूट पड़ने की 'वीरता' दिखाई। किन्तु यह भी क्या चमत्कार था कि ज्योंही तात्या और उस अंग्रेजों के चाटुकार राजा की सेना के सैनिकों की आंखें चार हुई वे तात्या को ही स्वामी कहकर उसका अभिवादन करने लगे। इस प्रकार वहां भी तात्या को पर्याप्त संख्या में घोड़े, गाड़ियां तथा रसद अर्पित कर दी गई। तात्या वहां खाली हाथ पहुंचा था, किन्तु अब उसके पास ३२ तोपें हो गई थीं। रावसाहब पेशवा का आदेश मिला कि झालरापाटण नरेश से २५ लाख रुपया जुर्माने के रूप में वसूल किया जाए। किन्तु उसके अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर १५ लाख रुपये पर समझौता हो गया। तात्या टोपे वहां पांच दिन ठहरा और उसने अश्वारोही सैनिकों को ३० रुपये तथा पैदल सैनिकों को २० रुपये मासिक के हिसाब से वेतन चुका दिया। अब तात्या, रावसाहब और बांदा के नवाब ने दक्षिण की ओर बढ़ने के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया। पेशवा की इस सेना का प्रमुख लक्ष्य था नर्मदा नदी को पारकर दक्षिण भारत में प्रवेश। अंग्रेजों ने भी तात्या की योजना को असफल बनाने हेतु अपनी सेना की कुशलतापूर्ण और सुदृढ़ व्यूह-रचना करने में कोई कसर न छोड़ी। उन्होंने तात्या के आगे बढ़ सकने के सभी मार्गों को अवरुद्ध कर दिया। किन्तु अब तो तात्या के पास भी तोपखाना था और साथ ही वह तो प्रत्येक आपदा और बाधा से टकराने को बहुत पहले से ही संकल्पबद्ध था। अतः उसने अपने सहयोगियों को आह्वान् दिया चलो साथियो इन्दौर की ओर प्रस्थान कर दो।

यह कल्पना तात्या के साहसी स्वभाव के सर्वथा अनुरूप ही थी। जिस तात्या टोपे ने ग्वालियर की रणभूमि में अपने अद्‌भुत नाटक का प्रदर्शन किया था, उसके लिए इन्दौर में होल्कर के सिंहासन को हिला देना कौन-सा असंभव कार्य था। होल्कर उसके इस साहसपूर्ण कार्य में उसकी सहायता करता यही उसका कर्त्तव्य था। किन्तु उसने तो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया था। अतः पेशवा अब इन्दौर से ऐसा कराने के लिए ही तो जा रहा था। इन्दौर की सेना गुप्त रूप से तात्या के साथ थी। होल्कर का राजदरबार भी तात्या का

समर्थक था। इसीलिए महान धैर्यवान तात्या ने इन्दौर प्रस्थान करने की योजना बनाई थी। अब तात्या ने तत्काल ही झालरापाटण से दक्षिण की ओर बढ़कर मालवा में प्रवेश किया और वह राजगढ़ ग्राम के पास खड़ा हुआ दृष्टिगोचर हुआ।

अब तात्या का पीछा करते हुए राबर्ट, होम्स, पार्क, मिचेल, होप, लॉक, हार्ट आदि अंग्रेज सेनापतियों के नेतृत्व में अंग्रेज सेनाएं चारों दिशाओं से बढ़ती आ रही थीं। तात्या के इन्दौर पर आक्रमण करने के लिए बढ़ने के समाचार से ही उनके हृदय प्रकम्पित हो उठे थे। कोई उज्जयिनी से बढ़ा तो कोई राजगढ़ की ओर से आ निकला, कोई महू की ओर से सरका तो कोई तलखेड़ की ओर से चढ़ दौड़ा। मिचेल ज्योंही एक पहाड़ी पर चढ़ा तो उसकी दृष्टि दूसरी ओर पहाड़ी से उतरते हुए तात्या पर पड़ी। किन्तु अब अंग्रेजी सेना भी थककर इतनी चकनाचूर हो गई थी कि उसके लिए एक पग भी आगे धरना असम्भव हो गया था। उसका दम फूल चुका था। तात्या ने अंग्रेजी सेना की इस हताश अवस्था का पूर्ण लाभ उठाया और वह आगे निकल गया। प्रातःकाल ही मिचेल पुनः उसके पीछे आ धमका। अब क्रान्तिकारी थके हुए थे, किन्तु फिर भी उन्हें युद्ध के लिए सिद्ध होना ही पड़ा। उस समय उनकी संख्या लगभग ५-६ हजार थी और उनके पास उत्तम श्रेणी की तीस के लगभग तोपें भी थीं। नितान्त ही आश्चर्य की बात है कि एक डेढ़हजार अंग्रेजी सेना के सैनिकों के धावा बोलते ही क्रान्तिकारी अपनी तोपों को भी छोड़कर भागते हुए ही दिखाई दिए। यहीं पर तो तात्या टोपे और कुंवरसिंह की छापामार युद्धकला का उत्कृष्ट रहस्य मुखरित हो उठता है। अंग्रेजी सेना से खुले मैदान में युद्ध न करने के अपने निर्णीत सिद्धान्त को भंग न होने देने के लिए ही तो तात्या की सेना ने अनेक हाथ में आए अवसर भी इच्छा-सहित ही जाने दिए थे। अब तात्या की सेनाएं मैदान से हटकर बेतवा नदी के समीप स्थित वनखण्ड में जा घुसी थीं और दूसरी ओर सिरोजनगर के पास आ निकली थीं। सिरोज में पुनः तात्या टोपे को चार तोपें प्राप्त हो गई थीं। इसी समय वर्षा अपने पूर्ण भयंकर रूप का प्रदर्शन भी करने लग गई थी, अतः तात्या की सेनाओं को भी विश्राम करने का पूर्ण अवसर उपलब्ध हो गया था। आठ दिन के उपरान्त तात्या ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया, किन्तु शिन्दे के राज्य में स्थित ईसागढ़ ग्राम ने उसे रसद देना अस्वीकार कर दिया। अतः उसे वहां से बलात् रसद लेनी पड़ी और आठ तोपें भी उसके हाथ लग गईं। परन्तु अब नर्मदा को पार करना तो दिन प्रतिदिन पीछे हटता जा रहा था, क्योंकि तात्या और नर्मदा में अन्तर बढ़ता ही तो जा रहा था। परन्तु जब इतनी अंग्रेज सेनाएं अकेले तात्या के पीछे ही लगी हुई हों तो फिर नर्मदा पार करने का ध्यान ही कैसे आ

सकता है।[१]

अब क्रान्तिकारियों ने भी अपनी सेना दो भागों में विभाजित कर दी। एक का नेतृत्व रावसाहब पेशवा कर रहे थे तो दूसरी का तात्या टोपे। दोनों सेनाएं पृथक-पृथक दिशाओं में प्रस्थान भले ही करतीं थीं, किन्तु उनकी युद्ध-पद्धति में कोई अन्तर नहीं था। शत्रुओं को धोखे में डालती, यदाकदा अपनी ही तोपें गंवाती मंग्रोली, छिदवाड़ा आदि में संग्राम करती और हटती हुई ये दोनों सेनाएं अंत में ललितपुर में जाकर मिल गईं। परन्तु नर्मदा की लहरें तो अभी भी बड़ी दूर थीं। अब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि अंग्रेजों की प्रसन्नता का कोई पारावार ही न रहा। दक्षिण की ओर से मिचले, पूर्व और उत्तर की दिशा से कर्नल लिडेल और

१. एक अंग्रेज लेखक कहता है—"फिर पीछे हटने का वह अनोखा क्रम आरम्भ हो गया जो १० मास तक चलता रहा। किन्तु तात्या टोपे भी पराजय का उपहास उड़ाता जाता था और अब उसका नाम यूरोप भर में अनेक एंग्लो-इण्डियन सेनापतियों की अपेक्षा भी अधिक प्रसिद्ध हो गया था। उसके समक्ष कोई साधारण समस्या तो विद्यमान नहीं थी। उसे पराजित एशिया-वासियों की सेना को संगठन-सूत्र में आबद्ध करना था, जिसका उससे कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध भी नहीं था। और परस्पर भी तो वे सैनिक एक ही आधार पर एकता के सूत्र में आबद्ध थे। वह सूत्र था समान द्वेष और समान भय; अंग्रेजों के नाम से द्वेष और उनके द्वारा फांसी के फन्दों पर लटका दिए जाने की आशंका। ऐसी अस्त-व्यस्त सेना को भी एकता के सूत्र में पिरोकर उसे येन केन प्रकारेण आगे बढ़ना पड़ता था। और वह भी इतनी तीव्र गति से कि उससे केवल उसका पीछा करनेवाले शत्रु ही स्तम्भित नहीं रह जाते थे अपितु तात्या के प्रस्थान की रेखा से समकोण करके दौड़ लगानेवालों को भी दांतों तले उंगली हां दबानी पड़ती थी। अपने इस अर्ध-संगठित गिरोह को उन्मादियों के तुल्य दौड़ाते रखने के साथ ही तात्या को अनेक नगरों पर अपनी विजय पताका फहरानी पड़ी, अनेक स्थानों से रसद आदि जुटानी पड़ी, नई तोपों को हथियाना पड़ता था तो जनता में से ही नए स्वयंसेवक भी अपने साथ लगाने पड़ते थे, जिन बेचारों के भाग्य में प्रतिदिन ही ६० मील की दौड़ लगाना लिखा गया था। इन सभी कार्यों को यथा उपलब्ध साधनों के बलबूते पर पूर्ण करने में ही तात्या की असाधारण क्षमता प्रकट होती है। अपने विद्रोही शत्रु के नाते हम भले ही उसको सम्मान न दें, किन्तु यह सत्य है कि वह हैदरअली के ही समक्ष था। यदि वह अपनी योजना को पूर्णतः क्रियान्वित करने में सफलता प्राप्त कर लेता और नागपुर से घुसकर मद्रास की ओर निकल जाता तो वह भी हैदरअली के सदृश ही बीभत्स शत्रु

पश्चिम दिशा से कर्नल पार्क तथा चंबल की ओर से राबर्ट्स आगे बढ़ता आ रहा था और इस प्रकार तात्या टोपे शत्रु के व्यूह-पाश में चारों ओर से घिर गया। अब तात्या और रावसाहब पेशवा में विचार-विमर्श हुआ। तदनुसार वे तत्काल कजूरी जा पहुंचे। वहां उन्हें पता लगा कि अंग्रेज सेना विद्यमान है। अतः उन्होंने पुनः वन-खण्ड में प्रवेश किया और वे उत्तर में स्थित तालवेहट तक जा पहुंचे। अंग्रेजों ने समझा अब तात्या ने अपना दक्षिण जाने का विचार बदल दिया है। किन्तु वहीं से तात्या और रावसाहब ने बड़ी ही त्वरित गति से बेतवा को पार किया। कजूरी और रायगढ़ में अंग्रेजों को अपने हाथ दिखाते हुए कभी खुलकर लोहा लेते हुए छिपकर दक्षिण की ओर बढ़ते रहे। तात्या के इस साहसपूर्ण कृत्य से अंग्रेज दुविधा में पड़ गए। अब वे उसे रोकने के लिए चारों ओर से आगे बढ़े। किन्तु अपनी विचित्र गति-विधि से शत्रु को चकमा देकर इस नर पुंगव ने विद्युत वेग-सहित घाटियां लाघीं और सरिताएं पार की, वन-प्रान्तरों को चीरा और दक्षिण की ओर बढ़ता रहा। उस पर एक ओर से पार्क दृष्टि-गड़ा रहा था और सामने से मिचेल आ धमका। इस पर भी तात्या टोपे का दक्षिण की ओर बढ़ना जारी रहा। अन्ततः वह नर्मदा तट पर आ पहुंचा। आश्चर्यचकित संसार ने तात्या का जय-जयकार किया और तात्या टोपे ने अन्ततः नर्मदा को लांघ ही लिया। अब उसका प्रयाण दक्षिण की ओर हो रहा था। मॅलेसन ने लिखा है— "तात्या ने जिस जीवट और हठ-सहित अपनी योजना क्रियान्वित की उसकी प्रशंसा न करना असम्भव है।" इस सम्बन्ध में १७ जनवरी, १८५९ के 'लन्दन टाइम्स' का विवरण भी पठनीय है। उसने लिखा था—

"Our very remarkable friend, Tatia Tope, is too troublesome and clever an enemy to be admired, Since last June he has kept central India in a fervour. He has sacked stations, plundered treasuries, emptied arsenals, collected armies, lost them, fought battles, lost them, taken guns from native princes, lost

---

बन जाता। नेपोलियन को जिस प्रकार इंगलिश चैनल ने रोक दिया था इसी प्रकार नर्मदा ने तात्या को रोक लिया था। नर्मदा पार कर पाने के अतिरिक्त वह और तो सभी कुछ कर लेने में सफल हो गया। अंग्रेजी सेनाएं पहले तो अपने स्वभाव के अनुरूप आगे बढ़ती रहीं और अन्ततः जब उन्हें वेग से बढ़ना आ ही गया तब भी ब्रिगेडियर पार्क और कर्नल नेपियर तात्या की आधी गति को ही प्राप्त कर पाए। इस पर भी वह बच निकला और सर्दी, गर्मी तथा वर्षा से टकराता हुआ भागता ही रहा। कभी दो हजार सैनिकों के साथ तो कभी १५ हजार सैनिकों के साथ। 'फ्रेण्ड्स आफ इण्डिया'

them; then, his mations were like forked lightning; and for weeks, he has marched 30 and 40 miles a day. He has crossed the Narmada to and fro. He has marched between our columns, behind them and before them. Ariel was not more subtle aided by the best stage mechanism. Up mountains, over rivers, through ravines and vallies, amidst swamps, on he goes, backwards and forwards, sideways and zig-zag ways, now falling upon a post-cart and carrying off the Bombay mail, now looting a village headed and burned yet evasive as Proteus."

अन्ततः मराठा सेना दक्षिण में जा पहुंची। हौशंगाबाद के समीप नर्मदा नदी को पार कर तात्या नागपुर के समीप पहुंच गया है, यह समाचार प्राप्त होते ही केवल तीन प्रान्तों में ही नहीं, इंग्लैंड मात्र में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण यूरोप में एक ही स्वर निनादित हो उठा, "धन्य तात्या, धन्य-धन्य टोपे।" महाराष्ट्र तो उसके सान्निध्य की ही बाट जोह रहा था। हैदराबाद का निजाम, मद्रास का गवर्नर लार्ड हेरिस, बम्बई का लार्ड एलफिन्सटन, कलकत्ता का लार्ड केनिंग तत्क्षण थर्रा उठे। तात्या ने रणचण्डी का ऐसा अपूर्व पासा फेंका था, किन्तु अब तो समय हाथ से निकल चुका था। यदि एक वर्ष पूर्व ही यह नर्मदा संतरण हो गया होता तो दृश्य कुछ और ही होता। अब तो १८५८ के अक्तूबर मास के मध्य में उसकी यह रणचपलता केवल कौतुक का ही कारण सिद्ध हुई, उपयोगी अथवा जय-प्रदायनी नहीं। यत्र-तत्र उठी क्रान्ति की ज्वाला पर पानी पड़ चुका था। अब तो सम्पूर्ण राष्ट्र भयंकर रक्तस्राव के उपरान्त शिथिलगात्र व संज्ञाविमूढ़ होकर रह गया था। यद्यपि अभी भी उत्तरी हिन्दुस्थान और राजस्थान में तात्या और उसकी सेना को ग्राम-ग्राम में लोग रसद और धनधान्य अर्पित करते थे, वह वहाँ देशभक्त के रूप में पूजित और वंदनीय था, परन्तु नागपुर में स्वयं मराठों के प्रदेश में लोग उसका योग देने में भय का अनुभव करते थे। किसी ने भी उसके महान कार्य में योगदान नहीं दिया। हाँ, कुलकलंकिणी बाकाबाई की राजनिष्ठा के बीज से और कौन-सी फसल उत्पन्न हो सकती थी। तब भी तात्या ने इस सम्पूर्ण विपरीत स्थिति के बावजूद वहाँ ठहरने का निश्चय कर लिया।

---

१. मॅलेसन ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन म्युटिनी,' खण्ड ५ के पृष्ठ २३८-४० पर लिखा है—यह बात नितान्त ही उल्लेखनीय है कि उस व्यक्ति का भतीजा सेना सहित महाराष्ट्र की धरती पर आ पहुंचा था, जिसे मराठों द्वारा अन्तिम पेशवा का वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाता था। निजाम राजनिष्ठ

अब तात्या के समक्ष निजाम का राज्य था। वहाँ भी क्रान्तिकारी थे जो स्वातन्त्र्य युद्ध की ज्वाला को धधकाने की बाट जोह रहे थे। इधर पूना और खानदेश से भी अंग्रेजी सेनाएं चढ़ दौड़ीं। मेलघाट, असीरगढ़, खानदेश, गुजरात, नागपुर आदि सभी दिशाओं से अनेक अंग्रेजी सेनाएं दक्षिण का द्वार बन्द कर देने के लिए बढ़ रही थीं। किन्तु ऐसी स्थिति में भी तात्या ने अपने अपूर्व धैर्य का परिचय देते हुए अपनी रणनीति का चमत्कार दिखाया। उसने अपना पीछा करने वाली तथा घेरनेवाली सेनाओं की रोक-थाम कर नर्मदा के उद्गम स्थल तक अपना रणकौशल दिखाया, क्योंकि अब उसकी दृष्टि बड़ौदा पर गड़ी हुई थी। आगरा रोड से होकर, अंग्रेजों की डाक-गाड़ियों को लूटता, तारयंत्रों को तोड़ता और अंग्रेज सेनाओं को वंचिका देता हुआ तात्या नर्मदा की ओर बढ़ता रहा। नर्मदा के सभी घाटों पर शत्रु सेना के दल बादल से मंडरा रहे थे, नदी के दोनों घाटों पर शत्रु सेना डटी हुई थी, किन्तु नर्मदा को पार करने की उत्कट लगनवाले तात्या का उत्साह मंद नहीं हुआ और वह करगूण नामक ग्राम में जा पहुंचा। वहाँ उसका अंग्रेज सेनापति मेजर संडरलैंड से डटकर संघर्ष हुआ। युद्ध अब अपने पूर्ण बीभत्स रूप को ग्रहण कर रहा था। उसी समय तात्या ने अपनी सेनाओं को आदेश दिया कि तत्काल गोली वर्षा बन्द कर दो और नर्मदा में कूद पड़ो। उसके इस आदेश के मिलते ही तात्या के सैनिक नर्मदा में कूद पड़े। अभी अंग्रेज यह विचारने में ही लगे हुए थे कि यह क्या हो रहा है और दूसरी ओर तात्या अपने अनुयायियों सहित नर्मदा को पार कर गया।

यह प्रसंग आज तक भी युद्धों के इतिहास में एक अतुलनीय एवं नवीन आश्चर्यपूर्ण घटना के रूप में स्मरण किया जाता है। मॅलेसन ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है—"उनकी तोपें छीन ली गयी थीं, किन्तु तात्या के सैनिकों ने नितान्त शीघ्रता सहित मार्ग तय करने का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया। इस कला में इन देशी सिपाहियों का कोई भी मुकाबला नहीं कर सकेगा। मैं तो यहाँ तक भी कहूँगा कि विश्व की कोई भी सेना उनका सामना नहीं कर पाएगी। इस स्थिति

था। किन्तु स्थिति बड़ी विचित्र थी। इससे पूर्व भी ऐसी घटनाएं हो चुकी थीं जिनका एक उदाहरण सिन्धिया के मामले में उपलब्ध हुआ था। जब सर्वोच्च शासक ने राष्ट्र-भावनाओं को रोकने के प्रयास किए तो लोगों ने उसके विरुद्ध भी विद्रोह कर दिया। अतः यह असंभव ही था कि यह भय उत्पन्न न हो कि तात्या की सेना सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता को उभार दे और तब शस्त्रसज्ज लोगों का यह विद्रोह सम्पूर्ण दक्षिण की जनता को ही प्रभावित कर दे।"

में भी तात्या ने बड़ौदा की ओर बढ़ते जाने का अपना लक्ष्य नहीं छोड़ा था। बड़ौदा, वहाँ के राजदरबार तथा सेना में भी नानासाहब के पक्ष के अनेक लोग थे। अतः वे तो तात्या के आगमन की बाट ही जोह रहे थे। तात्या राजपुर पहुँचा, जहाँ उसे घोड़े और धन भी मिला। दूसरे दिन उसने छोटे उदयपुर में प्रवेश किया, वहाँ से बड़ौदा केवल ५० मील ही दूर रह गया था।"

अब यद्यपि बड़ौदा केवल ५० मील की ही दूरी पर रह गया था, किन्तु अंग्रेजों की सेनाएं भी तो तात्या का निरन्तर पीछा कर रही थीं। तात्या को चारों ओर से ही अंग्रेजी सेनाएं घेरने का प्रयास कर रही थीं। तात्या का पीछा करते हुए पार्क छोटा उदयपुर भी जा पहुंचा था। अतः तात्या को भी अब बड़ौदा की ओर बढ़ने का अपना विचार त्याग देना पड़ा और उसने अपनी सेना सहित उत्तर की ओर बढ़ते हुए बांसवाड़ा के जंगलों में प्रवेश किया। किन्तु उसी समय इंग्लैण्ड की महारानी की घोषणा सुनकर बांदा के नवाब ने आत्मसमर्पण कर दिया। तात्या और रावसाहब के समक्ष अब ऐसी विचित्र और कठिन परिस्थिति पैदा हो गई थी कि उससे निकल पाना भी असंभव सा ही प्रतीत हो रहा था। दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में रावर्टस तथा उत्तर और पूर्व में अनुल्लंघनीय ढलान थी। इस विपरीत परिस्थिति में यदि रावसाहब और तात्या टोपे आत्मसमर्पण भी कर देते तो उन्हें कौन दोषी ठहरा सकता था। किन्तु वे वीर धन्य हैं, उन्होंने इस संकटापन्न अवस्था में भी आत्मसमर्पण की कायरतापूर्ण भावना को पास न फटकने दिया। एक अंग्रेज ग्रन्थकार ने आश्चर्यचकित होकर इन वीरों का गुणगान करते हुए लिखा है "किन्तु ये दो ऐसे व्यक्ति थे जो इस घोर संकटपूर्ण परिस्थिति में भी नितान्त शांति, वीरता और धैर्य सहित अपने जीवन के इस प्राणांतक संघर्ष का सामना करते रहे।"

किन्तु तात्या ने कठिनाइयों के इस चक्रव्यूह को भी वेध डाला। वह ११ दिसम्बर को जंगल से बाहर निकला और एक किलेदार से थोड़ी सी सहायता प्राप्त कर उदयपुर की दिशा में बढ़ चला। किन्तु उसी समय कई अंग्रेजी सेनाओं ने भी उसपर आक्रमण कर दिया। अतः उसे पुनः वनखण्ड में शरण लेनी पड़ी। अब तात्या को एक सप्ताह से अधिक ठहरना असंभव ही हो गया था। यह स्पष्ट होता जा रहा था कि उसे शरण लेनी ही पड़ेगी। उसी समय क्रांतिकारी नेताओं में भी परस्पर यह चर्चा चलने लगी थी कि अब इस संघर्ष को समाप्त कर देना ही श्रेयस्कर होगा। अब तो वह वन भी वन नहीं रह गया था, अपितु वह चारों ओर से खदेड़कर उस स्थान पर बन्द कर दिए गए। महाराष्ट्र के सिंहों का पिंजरा ही बनकर रह गया। सभी दिशाओं से अंग्रेजों की सेनाओं के पाश तो मानो उसकी ग्रीवा को ही जकड़ते जा रहे थे। इस स्थिति में भी युद्ध को बन्द कर देने का विचार इस मराठा वीर के मन में उत्पन्न नहीं हो पाया। एक दिन

वह रावसाहब के साथ प्रतापगढ़ की दिशा में बढ़ चला। अभी तात्या टोपे की सेनाएं वन प्रदेश से बाहर भी नहीं निकल सकी थीं कि मेजर रॉक ने उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। तात्या ने किसी प्रकार की भी दुविधा में न पड़ते हुए उस-पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण भी इतना प्रचण्ड था कि रॉक के सैनिक आश्चर्यचकित रह गए। इस भांति जंगला तोड़कर इस मराठा सिंह ने एक बार पुनः अंग्रेजों पर आघात किया। यह आघात ऐसा था कि अंग्रेज सेनापति भी लज्जा से सिर झुकाए और हाथ मलते ही रह गए।

२५ दिसम्बर को तात्या टोपे बांसवाड़ा के वनखण्ड से बाहर आया। उसी समय अवध का प्रख्यात वीर शाहजादा फीरोजशाह भी अपनी सेना सहित तात्या की सहायता करने के लिए आ रहा था। स्थानाभाव के कारण यहां फीरोजशाह ने गंगा और यमुना को पारकर जिस प्रचण्ड शौर्य का प्रदर्शन किया उसका विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। फीरोजशाह, शिन्दे के एक दरबारी मानसिंह और तात्या एवं रावसाहब की १३ जनवरी १८५९ को इन्द्रगढ़ में भेंट हुई। इन चारों नेताओं ने यहां एकत्रित होकर आगामी कार्यक्रम पर विचार-विमर्श किया। अंग्रेजों की साधारण-सी गतिविधियों की सूचना भी तात्या को मिलती रहती थी। जब उसे यह विदित हुआ कि अंग्रेज पुनः चारों ओर से घेरा डालते आ रहे हैं तो वह बड़ी निर्भीकता सहित मंजिल तय करता हुआ देवास जा निकला। किन्तु वहां भी वह चारों दिशाओं से बढ़ी आ रही अंग्रेज सेनाओं के व्यूह में घिर गया। अब उसकी यश प्राप्ति की आशा तो किंचित मात्र भी आशा नहीं रह गई थी, अतः कोई साहसी योजना बनाने का विचार ही करना निरर्थक था। अब उसके लिए अपनी थकी हुई सेनाओं को अंग्रेजों की इस व्यूह-रचना से निकाल पाना ही दुर्लभ हो गया था। अंग्रेज सेनापति भी दम्भ से अकड़े हुए यह घोषणा कर रहे थे कि "देखें अब यह कैसे बचकर निकलता है।" अब तो क्रान्तिकारियों के चारों नेता फीरोजशाह, मानसिंह, तात्या टोपे और राव-साहब पर अंग्रेजों ने अपना जाल पूर्णरूपेण कस दिया था। १६ जनवरी, १८५९ को तात्या, रावसाहब तथा फीरोजशाह आगामी योजना पर विचार-विमर्श कर ही रहे थे कि बाहर कुहराम मच गया। तात्या ने तत्काल अनुमान लगाया कि अब उन्हें अंग्रेजों ने पूर्णतः घेर लिया है। उसने बाहर आकर दृष्टिपात किया तो देखा कि संपूर्ण छावनी में गोरों ने कुहराम मचा दिया है। गोरे सैनिक आनन्द से झूमते हुए चीख उठे "तात्या मिल गया।" किन्तु उनकी वह चिल्लाहट क्षण-भर में ही लुप्त हो गया। वे यही कहते रह गए कि अभी-अभी तो वह यहां था, किन्तु कहां खिसक गया। दौड़ो सैनिको, दौड़ो और खोजो की चीख ही सुनाई पड़ी, किन्तु तात्या कहीं न मिला। अंग्रेज सैनिकों की पूर्ण सतर्कता भी तात्या टोपे

की चाल के समक्ष निढाल हो गई। तात्या मानो पंख लगाकर उड़ गया और अंग्रेज सैनिक और सेनापति क्रोध से सिर पटककर ही रह गए।

अब २१ जनवरी को रावसाहब, फीरोजशाह और तात्या अपने अन्य सहयोगियों सहित अलवर के समीप स्थित सीकर नाम ग्रामक में उपस्थित हुए। अंग्रेज पुनः पागल होकर उनका पीछा करने में लग गए। अंग्रेज सेनापति होम्स की सेनाओं और क्रान्तिकारियों में मुठभेड़ हुई, जिसमें क्रान्तिकारी पराजित हो गए। किन्तु इस पराजय ने क्रान्तिकारियों को हताश नहीं किया, क्योंकि उनकी विजय की आशाएं तो पहले ही नष्ट हो चुकी थीं। किन्तु अब उनमें प्रतिकार की शक्ति नहीं रह गई थी। नर्मदा को पार कर बड़ौदा पर आक्रमण करने की तात्या की योजना भी अब समाप्त ही हो गई थी। अब तात्या और रावसाहब ने अपनी छापामार युद्धकला में कुछ सुधार करने के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया और कतिपय निश्चय करने के पश्चात् तात्या और रावसाहब ने अपनी सेनाओं से विदाई ले ली। तात्या के साथ केवल दो अश्व, एक टट्टू, दो ब्राह्मण रसोइए और एक नौकर था। अपने इस परिवार के साथ वह ग्वालियर के सरदार मानसिंह के पास पहुंचे। सरदार मानसिंह उन दिनों पारौन के वनों में शरण ले रहा था। मानसिंह ने उससे कहा "तात्या तुमनें अपनी सेना को छोड़कर यहां आने में भूल की है।" तात्या ने उत्तर दिया "चाहे अच्छा हुआ अथवा बुरा, मैं तो अब तुम्हारे साथ ही रहने का निश्चय करके आया हूं। अब मैं तो इन प्राणलेवा पलायनों से बहुत अधिक थक गया हूं।"

अंग्रेजों को भी यह सूचना मिल गई कि तात्या टोपे मानसिंह के पास रह रहा है। अंग्रेज प्रत्यक्ष युद्ध में उसे बन्दी बनाने में असफल हो चुके थे। अतः उन्होंने छलछद्रक और कपट के नीच हथकण्डों को अपनाने की योजना बनाई। उन्होंने अपना एक दूत भी मानसिंह के पास भेजा और उसके माध्यम से यह कहलाया गया कि यदि मानसिंह तात्या को पकड़वा दे तथा आत्मसमर्पण कर दे तो उसे क्षमा प्रदान की जा सकती है। इतना ही नहीं अपितु शिंदे से यह भी कहा जाएगा कि वह नरवर का राज्य उसे दे दे। इसी मानसिंह ने पहले अपने चाचा को भी अंग्रेजों को सौंप देने की कायरता प्रदर्शित की थी। वह इस प्रलोभन में फंसकर अंग्रेजों के झांसे में आ गया। उसने तात्या को बताया कि वह अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर देगा। जब तात्या से भी उसने आत्मसमर्पण कर देने का आग्रह किया तो वीरवर तात्या ने उसके इस प्रस्ताव को घृणा सहित ठुकरा दिया। उसी समय फीरोजशाह का एक पत्र भी तात्या को मिला था, जिसमें उसने तात्या को अपनी छावनी में आ जाने का निमन्त्रण दिया था। तात्या ने यह पत्र मानसिंह को दिखाया और उससे परामर्श किया कि "मैं वहां जाऊं अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में तुम्हारे परामर्श के अनुसार

ही मैं कार्य करूंगा।" किन्तु नीच मानसिंह ने उससे कहा कि "आपको अभी कुछ दिनों यहीं ठहरना चाहिए, फिर इस सम्बन्ध में निश्चय कर लिया जाएगा।" तात्या ने ताड़ लिया कि मानसिंह को अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण करना है, किन्तु इस पर भी वह यह समझता था कि मेरे सम्बन्ध में मानसिंह की नीयत में कोई अन्तर नहीं आ पाया है। मानसिंह उससे कहा कि "मेरे वापस लौटने तक आप उस स्थान पर रहो जहां मेरा एक व्यक्ति आपको ले जाएगा।" उसके द्वारा बताए गए स्थान को सुरक्षित स्थान समझकर तात्या टोपे तीन दिन तक वहां रहा। तीसरा दिन हुआ और सहस्रों युद्धों में शत्रु को नाकों चने चवानेवाला वीर मराठा सेनानी, जो अब तक अनेक प्राणघातक संकटों और कष्टों में भी अपनी चतुरता और रणकौशल के कारण शत्रुओं के हाथ में नहीं आ पाया था, इस विश्वासघाती मानसिंह द्वारा ही बन्दी बनवा दिया गया।

मानसिंह तात्या को वहां रहने का परामर्श देकर सीधा अंग्रेजों की शरण में गया था। उन्होंने तात्या को बन्दी बनाने हेतु बम्बई की अंग्रेजी सेना को इस विश्वासघाती के साथ भेजा था। तात्या के प्रति प्रत्येक भारतीय के मन में जो महान आदर भावना विद्यमान थी उसके कारण अंग्रेज किसी भारतीय पर विश्वास नहीं कर पाते थे। अतः बम्बई के इन सैनिकों को केवल इतना ही निर्देश दिया गया था कि "मानसिंह [illegible] व्यक्ति को बन्दी बनाने का निर्देश दे, उसे तुम्हें बन्दी बनाकर ले आना होगा।" मानसिंह इन सैनिकों सहित पारौन के वनखण्ड में जा पहुंचा। तात्या को उसने तीन दिन पश्चात् ही वापस आने की बात कही थी और वह अपने कथनानुसार ठीक समय पर वापस आ पहुंचा था। जिस स्थान पर मानसिंह द्वारा साथ भेजे गए आदमी द्वारा तात्या को ले जाया गया था, तात्या वहां विश्राम कर रहा था और जिस समय मानसिंह वहां पहुंचा उस समय वह प्रगाढ़ निद्रा में लीन था। नराधम मानसिंह ने अपने साथ लाए हुए शिकारी कुत्तों को इस नर केसरी पर छोड़ दिया था। तात्या के नेत्र जब खुले तो उसने अपने-आपको अंग्रेजों के बन्दी के रूप में पड़ा हुआ देखा।

यह घटना ७ अप्रैल, १८५९ को अर्धरात्रि में घटित हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसे शिवपुरी में जनरल मीड की छावनी में कड़े पहरे के बीच ले जाया गया। यहां सैनिक न्यायालय लगा और उसमें तात्या टोपे के विरुद्ध ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप लगाया गया। बुधवार को इन आरोपों का उत्तर देते हुए तात्या ने कहा—

"मैंने जो भी कार्य किया है, अपने स्वामी के निर्देशानुसार किया है। कालपी तक मैंने नानासाहब के आदेशों के अनुसार ही आचरण किया। तदुपरान्त मैंने रावसाहब का आदेश माना। न्याय के अनुसार लड़ गए युद्धों अथवा मुठभेड़ों को

छोड़कर मैंने अथवा नानासाहब ने एक भी यूरोपियन पुरुष, स्त्री अथवा बालक की निरर्थक हत्या नहीं की और न ही किसी को फांसी पर ही लटकाया। इससे अधिक मैं इस न्यायालय के समक्ष अन्य कोई भी बात कहने को तैयार नहीं हूं।" अंग्रेजों के विशेष अनुरोध पर तात्या ने क्रान्ति के पुनीत प्रारम्भ से लेकर उस दिन तक की घटनाओं का प्रतिदिन का वृत्त भी संक्षेप में बता दिया। लिपिक ने उसके द्वारा दिए गए सम्पूर्ण विवरण को लिपिबद्ध कर लिया। तदुपरान्त इस दैनिक कार्य-क्रम और वक्तव्य को उसे पढ़कर सुनाया गया और उसे सुनने के पश्चात तात्या टोपे ने उसके नीचे सुन्दर रोमन अक्षरों में लिख दिया TATIA TOPE। किन्तु अंग्रेजों द्वारा उससे जो प्रश्न पूछे गए उनका उत्तर उसने नितान्त ही संक्षेप में हिन्दी में ही अपनी ओजस्वी भाषा में दिया। जब अंग्रेजी में उससे कोई प्रश्न पूछते थे तो वह बड़ी ही शान्तिपूर्ण मुद्रा में उसका उत्तर देता था "मुझे पता नहीं।" तीन दिन तक तात्या से इसी प्रकार पूछताछ की जाती रही। भारतीयों के झुण्ड के झुण्ड इस महान वीर के दर्शनार्थ एकत्रित होते थे, किन्तु उन्हें दर्शन करने से वंचित रखा जाता था। जिनको उसके दर्शन करने की अनुमति प्राप्त हो जाती थी वे बड़े ही आदर सहित नतमस्तक होकर उसका अभिवादन करते थे। जिस समय अंग्रेजों ने तात्या को सूचित किया कि सैनिक न्यायालय उसके मामले में निर्णय देगा तो उसी समय उन्होंने यह भी कहा था कि वह अपने बचाव के लिए भी आवश्यक प्रमाण संगृहीत कर ले। उसी समय इस महा वीर क्रान्ति-योद्धा ने अंग्रेजों को एक ही उत्तर दिया "मैंने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया है और मैं भली भांति जानता हूं कि मुझे आत्माहुति देने के लिए तत्पर रहना चाहिए। मुझे तुम्हारे न्यायालय के निर्णय अथवा जांच से कोई सरोकार नहीं है।" इस वीर मराठा के हाथों में बेड़ियां पड़ी हुई थीं किन्तु इस पर भी अपने हाथों को ऊंचा करते हुए इस महान योद्धा ने घोषणा की "इन हथकड़ियों से मुक्त होने की मुझे एकमात्र आशा यही है कि तोप का गोला अथवा फांसी का फन्दा चूमते ही ये दूर जाएंगी। परन्तु मैं तुम्हें एक बात बता देना चाहता हूं कि ग्वालियर में मेरा परिवार रह रहा है और उसका मेरे इन कार्यों से तनिक-सा भी सम्बन्ध नहीं है। अत: कृपा करके मेरे कार्यों के बदले में मेरे पिताजी अथवा पारिवारिक जनों को तनिक-सा भी त्रास देना उचित नहीं होगा।"

जांच-पड़ताल और पूछताछ का नाटक समाप्त हो गया। तात्या टोपे को फांसी का दण्ड सुना दिया गया। दोपहर के चार बजे थे कि उसे तीसरी बंगाली गोरी सेना के कड़े पहरे में वध-स्तम्भ के समीप लाया गया। फांसी के तख्ते के समीप आने पर सैनिकों ने व्यूह बनाकर इस महान सेनानी को चारों ओर से घेर लिया। इस अवसर पर भारतीय पैदल सैनिक अश्वारोही तथा अन्य दर्शकों की

एक भारी भीड़ वहां एकत्रित हो गई थी। तात्या ने अंग्रेजों से पुनः एक बार आग्रह किया कि उसके वृद्ध पिताजी को किसी प्रकार से भी त्रस्त न किया जाए। तात्या को दण्ड सुना दिया गया। तात्या के पैरों में पड़ी बेड़ियां काट दी गईं। वह नर-पुंगव निःसंकोच होकर धीरे-धीरे वधस्तम्भ तक पहुंचा और बड़ी ही तीव्र गति से सीढ़ियों पर जा चढ़ा। नियमानुसार अब वधिक उसके हाथ-पैर बांधने के लिए वहां पहुंचे। उस समय तात्या ने हंसते हुए उन्हें कहा "ऐसा करने की किंचितमात्र भी आवश्यकता नहीं है।" यह कहकर उसने स्वयं फांसी के फन्दे को हार के समान अपने गले में पहन लिया। फन्दा कसा गया और एक झटके के साथ तख्ता गिर पड़ा !!

और इस प्रकार पेशवा का राजनिष्ठ सेवक १८५७ के स्वातन्त्र्य समर का महान नायक, हिन्दुस्थान का निर्भीक वीर, धर्मरक्षक, देशाभिमानी और कुशल सेनापति तात्या टोपे का निर्जीव शरीर अंग्रेजों द्वारा निर्मित फांसी की टिकटिकी पर झूलता दृष्टिगोचर हुआ। वधमंच रक्त से सराबोर हो गया तो सम्पूर्ण देश के नेत्रों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो उठीं। समग्र हिन्दुस्थान ही अश्रुओं से भीग गया। स्वदेश की सेवा के लिए उसने महान और अवर्णनीय कष्टों को सहन किया था, यही तात्या का एकमात्र दोष था। उसे इस देशभक्ति का पारितोषिक एक विश्वास-घाती द्वारा उसके साथ किए गए विश्वासघात और नीचता के रूप में मिला था। अंग्रेजों ने उसे किसी रक्तपिपासु दस्यु के समान वधस्तम्भ पर लटकाया था। हे महावीर तात्या! तुमने इस अभागे देश में जन्म ही क्यों ग्रहण किया? इन विश्वासघाती नराधमों और महामूर्खों की स्वतन्त्रता के लिए तुमने संघर्ष का आह्वान क्यों किया? तात्या टोपे, तुम्हारे लिए हमारे नेत्रों से जो अश्रु धाराएं प्रवाहित हो रही हैं क्या तुम उन्हें देख रहे हो? हां, तुम्हें रक्तदान का प्रतिदान हम अभागे और निर्बल अश्रु बहाकर ही तो दे रहे हैं। हे नरवीर तुमने भी यह कैसा घाटे का सौदा किया?

तात्या की निष्प्राण देह को फांसी के फन्दे से झूलता हुआ देखकर अपने पराक्रम पर समाधान व्यक्त करते हुए शूरवीर अंग्रेज अब वापस लौट रहे थे। तात्या की नश्वर काया इसी स्थिति में भगवान सूर्य देव के अस्ताचलगामी होने तक लटकती रही। वहा खड़े हुए पहरेदार भी जब चले गए तो तब भीड़ को चीरते हुए यूरोपियन प्रेक्षक आगे बढ़े और उनमें इस महान राष्ट्रभक्त के केशों के गुच्छे स्मृति स्वरूप अपने पास रखने के लिए पहल करने की होड़ लग गयी।

१८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध के इस होमकुंड में तात्या के बलिदान के रूप में यह अन्तिम आहुति पड़ गयी थी।

इस प्रकार वह भयंकर ज्वालामुखी, जिसने अपने विस्तीर्ण मुख से क्रोध के

आवेग में मांस, रक्त, लाशों, गड़गड़ाहटों, और दग्ध लाल-लाल उष्ण लावा रस को उगला था, अब अपना मुख बन्द कर रहा था। उसकी तलवार रूपी जीभें अब पुनः म्यान रूपी जबड़ों में समाती जा रही थीं। अब उसकी कड़कती बिजलियां और कर्णभेदी गड़गड़ाहट तथा गर्जनाएं, प्रचण्ड वेग और बवण्डर उग्रता सभी मदारी के पिटारे के समान वायुमण्डल में विलुप्त हो रहे थे। ज्वालामुखी का मुख बन्द हो गया। उसके धरातल पर पुनः हरियाली उगती दृष्टिगोचर होने लगी। उस पर पुनः कृषि-कार्य आरम्भ हो गया। पुनः शान्ति, सुरक्षा और प्रेमभाव उभरने लगा। और अब इस ज्वालामुखी का पृष्ठभाग इतना सुकोमल और हरा-भरा दिखाई देने लगा कि कोई यह आशंका भी नहीं कर सकता कि इसके नीचे एक प्रचण्ड ज्वालामुखी विश्राम कर रहा है। ०००

: ३ :

समारोप

अब यह ज्वालामुखी कुछ समय के लिए तो शान्त हो ही गया है। फिर भी मैं समझता हूं कि पाठकों को यह जानने की इच्छा अवश्य होगी कि फीरोजशाह और रावसाहब का तात्या के इस आत्मार्पण के उपरान्त क्या बना ?

तात्या के विदा ले जाने के एक मास पश्चात तक भी रावसाहब पूर्ण वीरता सहित लड़ते रहे और जब कोई अन्य विकल्प न रह गया तो वे गुप्त रूप से जंगल की ओर निकल गए। किन्तु तीन वर्ष के अज्ञातवास के पश्चात् वे बन्दी बना लिए गए और उन्हें मृत्युदण्ड सुनाकर २० अगस्त, १८६२ को वधस्तम्भ पर चढ़ा दिया गया। केवल फीरोजशाह ही अब वेष बदलकर घूमता रहा और सुदैव से वह भी हिन्दुस्थान से बाहर निकल जाने में सफल हो गया और ईरान में पहुँचा तथा करबला में जाकर रहने लगा।

अब तक हम १८५७ के क्रान्तियुद्ध का बारम्बार उल्लेख करते रहे हैं। उससे अनेक प्रश्न भी हमारे समक्ष आ खड़े होते हैं। इनमें से भी एक प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या क्रान्ति-युद्ध की सम्पूर्ण सिद्धता होने से पूर्व ही अकस्मात् इसका विस्फोट हो गया था ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि नहीं। ५७ की इस क्रान्ति के लिए जितनी तैयारियाँ और सिद्धताएं की गई थीं उतनी तो बड़ी-बड़ी क्रांतियों में भी उपलब्ध होनी दुर्लभ हैं। जब सैनिकों की एक के बाद एक पलटन, बड़े-बड़े शक्तिशाली सामन्त और राजा-महाराजा, उच्च पदस्थ पुलिस अधिकारी ही नहीं अपितु नगर-के-नगर ही क्रांति का शंखनाद करने का स्वेच्छा सहित संकल्प व्यक्त कर रहे थे तो ऐसा कौन होगा जिसे तत्काल विप्लव का पुनीत प्रारम्भ करने में संकोच की अनुभूति होगी ? यह एक सुपरिचित तथ्य है कि किसी भी कार्य के आरम्भ में ही अवरोध और बाधाएं उपस्थित होती हैं, उन पर विजय प्राप्त कर लिए जाने के पश्चात सम्पूर्ण देश ही अपने आप उठ खड़ा होता है। इस दृष्टि से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि क्रांतिकारियों के नेताओं ने किसी प्रकार के भी उतावलेपन का

परिचय नहीं दिया था। वस्तुतः इतनी अनुकूल परिस्थिति में जो जाति खड़ी नहीं हो पाएगी वह तो कदापि विद्रोह नहीं कर सकेगी।

परन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर यह क्रांति क्यों असफल हो गई? इस असफलता के छोटे-मोटे कारणों की चर्चा तो इस ग्रन्थ में यथायोग्य स्थानों पर की ही जा चुकी है। किन्तु इस महान विप्लव की असफलता का एक महत्व-पूर्ण कारण यह था कि यद्यपि क्रांति की पर्याप्त तैयारी की गई थी, किन्तु तदुपरान्त उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों का सामना कैसे किया जाएगा, इस सम्वन्ध में कोई आकर्षक और सुव्यवस्थित व्यवस्था नहीं की गई थी। अंग्रेज सत्ता को उखाड़-कर नष्ट करने में तो सभी एकमत थे, किन्तु उसके पश्चात क्या होगा, इस संबंध में कोई सुनिर्धारित योजना नहीं बनाई जा सकी थी। किन्तु पहले के समान ही घातक मतभेदों और मुगलों तथा मराठों के पारस्परिक विवादों और वैरपूर्ण वायु-मण्डल के पुनर्उद्भव का भय लोगों में व्याप्त था। इसीलिए सर्वसाधारण में यह भावना व्याप्त हो गई थी कि व्यर्थ में ही अपना रक्त क्यों प्रवाहित किया जाए। उपरोक्त आशंका के संदर्भ में ऐसी भावना का उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक भी तो नहीं था। क्योंकि इसी तानाशाही और अन्यायपूर्ण सत्ता से क्षुब्ध होकर तो जनता ने विदेशी शासन को पहले अपने ऊपर लादा था। क्रांति का प्रथम भाग अर्थात् विध्वंस का कार्य तो बड़ी सुगमता सहित पूर्ण हो गया, किन्तु जब रचनात्मक और विधायक गतिविधियों का प्रारम्भ होना था तो लोगों में पारस्परिक मतभेद और अविश्वास पुनः उभर आया। यदि जनता के अन्तःकरण को आकर्षित करने-वाला और उसे प्रेरित करनेवाला कोई नवीन ध्येय और आदर्श उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता तो क्रान्ति की प्रगति के समान ही उसका अन्त भी उसके पुनीत प्रारम्भ के समान ही यशस्वी और प्रभावशाली सिद्ध होता।

यदि लोगों को इस तथ्य से पूर्णतः अवगत करा दिया जाता कि प्रलय के तुरन्त पश्चात् ही पुनः नया सृजन और नव-निर्माण होता है तब भी क्रांति निश्चित रूप से ही सफलता प्राप्त करती। किन्तु निर्माण तो दूर रहा संहारकार्य भी तो हिन्दुस्थान पूर्ण रूप से नहीं कर पाया। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि राष्ट्र का कण्ठ अपने व्यक्तिगत स्वार्थ हेतु घोंटने की नीच प्रवृत्ति भारत से पूर्ण रूप से नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो पाई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति की असफलता के मुख्यतः दो ही कारण थे। प्रथम यह कि अपनों के निकृष्टतम स्वराज्य की अपेक्षा अंग्रेजों का शांतिपूर्ण शासन भी स्वदेश के लिए अधिक हानि-कारक है, इस तथ्य को भली भांति न समझने के कारण ही अनेक मूर्खों द्वारा स्वदेश से द्रोह किया गया। क्रान्ति की असफलता का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि स्वदेशवासियों के विरुद्ध विदेशी शत्रुओं को किंचित मात्र भी सहायता

न देने की प्रेरणा प्रदान करने वाली प्रामाणिकता भी लोगों में नहीं थी। इस कारण भी उन्होंने स्वदेश बन्धुओं से ही विश्वासघात भी किया।[1] और इस प्रकार क्रान्ति की असफलता का सम्पूर्ण पाप उन देश-द्रोहियों के ही सिर पर आ जाता है। यदि अधिक स्पष्ट, अधिक सरल, अधिक आकर्षक आदर्श उस समय जनता के समक्ष होता तो ये विद्रोही ही देशभक्त के रूप में परिणत हो जाते क्योंकि, यदि देशभक्ति ही लाभदायक और स्वार्थ की पूर्ति में साधक सिद्ध हो तो जान-बूझकर देशद्रोह का कलंकपूर्ण कृत्य कौन करेगा ? वास्तव में महान यश के भागीदार वे हैं जिन वीरों ने इस तथ्य को हृदयंगम कर स्वातन्त्र्य समर में भाग लिया था कि अपने निकृष्ट स्वशासन से भी विदेशी सत्ता और शासन निकृष्टतम होती है, फिर चाहे वह स्वराज्य गण-

---

१. Yet it must be admitted that, with all their courage, they (The British) would have been quite exterminated if the natives have been all and altogether hostile to them. The desperate defences made by the garrisons were no doubt heroic, but the natives shared their glory, and they by their aid and presence rendered the defence possible. Our sieze of Delhi would have been quite impossible, if the Rajas of Patiala and Jhind had not been friends and if the Sikhs had not recruited in our battalions and remained quite in the Punjab. The Sikhs at Lucknow did good service, and in all cases our garrisons were helped, fed and served by the natives, as our armies were attended and strengthened by them in the field. Look at us all, here in camp of this moment, our out posts are native troops, natives are cutting grass for our horses and grooming them, feeding the elephants, managing the transports, supplying the commissariat which feeds us, cooking our soldiers' food, cleaning their camp, pitching and carrying their tents, waiting on our officers, and even lending us their money. The soldier who acts as my amanuensis declared that his regiment could not have lived a week but for the regimental servants, Doli bearers, hospital men, and other dependants. Gurkha guides did good service at Delhi and Bengal artillerymen were as much exposed as the Europeans."

—***Russell's 'My diary in India'***

तन्त्र हो अथवा एकतन्त्र, राजतन्त्र हो अथवा अराजकतापूर्ण। स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का एकमात्र उद्देश्य अपने देश को समृद्ध करना मात्र ही नहीं होता, अपितु स्वतन्त्रता में ही आत्मिक सुख की उपलब्धि होती है और लाभ अथवा हानि की अपेक्षा आत्मसम्मान ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। पराधीनता के स्वर्णिम पिंजरे की अपेक्षा स्वतन्त्रता का वन भी सहस्र गुना श्रेष्ठ है। जिन्होंने इन सिद्धान्तों को भली भांति समझ लिया, अपने देश और धर्म के प्रति अपने कर्त्तव्य का पूर्णतः पालन किया, स्वधर्म और स्वराज्य के लिए अपने हाथों में शस्त्र ग्रहण किया, यश के लिए नहीं अपितु केवल कर्त्तव्य पूर्ति के हेतु मृत्यु को भी आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा, उनके पावन नामों का सदैव ही गौरव सहित स्मरण किया जाता रहेगा। हमारा देश उन लोगों के नाम कदापि स्मरण नहीं करेगा, जिन्होंने संकोच अथवा लापरवाही के कारण स्वतन्त्रता के युद्ध में सहयोग नहीं दिया अथवा जो शत्रुओं से जा मिले और जिन्होंने अपने ही देशबान्धुओं के विरुद्ध संघर्ष कर अपने नाम को कलंकित कर दिया। १८५७ की क्रान्ति से हिन्दुस्थान की एकता, स्वतन्त्रता व जनशक्ति तथा जागृति की दिशा में कितनी प्रगति हुई है, इसका मापदण्ड थी।[1]

१८५७ की क्रान्ति की असफलता के लिए दोषी वे हैं जिन्होंने अपने आलस्य और प्रमाद तथा स्वार्थपरता और विश्वातघात से इस पर मर्मान्तक प्रहार किया। उन महान् वीरों को इसकी सफलता के लिए दोषी सिद्ध करने का दुस्साहस किसी को नहीं करना चाहिए, जिन्होंने अपना ही उष्ण रक्त प्रवाहित

---

१. "भारतीय क्रान्ति से इतिहासकारों को अनेक शिक्षाएं मिल सकती हैं, किन्तु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान हमारे (अंग्रेजों के) विरुद्ध संगठित होकर क्रान्ति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के सम्बन्ध में यह मानना धोखे से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करनेवाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है, तब तक हमारा यह राज्य शान्तिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा, क्योंकि ये लोग एक-दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज और व्यवहारों को भली-भांति समझते ही नहीं, उनके प्रति आदर-भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं। १८५७ की इस क्रान्ति ने हमें यह स्मरण करा दिया है कि हमारा आधिपत्य एक पतली परत पर आधारित है और समाज-सुधार तथा धार्मिक क्रान्ति के विस्फोटों से यह परत किसी भी समय नष्ट हो सकती है।"

—फारेस्ट के ग्रन्थ की भूमिका से

करने वाली तलवारों को उठाकर, उस महान पूर्व-प्रयोग के हेतु क्रान्ति के रक्तिम मय रंगमंच पर प्रवेश किया था और जो प्रत्यक्ष मृत्यु को भी आलिंगन कर आनन्द सहित झूम उठते थे। वे न तो उन्मादी थे और न ही विक्षिप्त, न ही वे विचार-हीन थे और न ही पराजय में हाथ बटाने वाले। उन्हें कोई भी दोष देना उनके साथ अन्याय करना है। वस्तुतः उन्हींकी पावन प्रेरणा से भारतमाता की गहन निद्रा भंग हुई थी और पराधीनता की श्रृंखलाओं को टूक-टूक कर देने हेतु सम्पूर्ण हिन्दुस्थान जाग्रत हो उठा था। किन्तु विधि की विडम्बना कि जहाँ उसका एक हाथ अत्याचारियों के सिर पर मर्मान्तक प्रहार कर रहा था वहां दूसरा हाथ स्वयं माता के वक्षस्थल में छुरा घोपने का कलंकित कृत्य करने में संलग्न था। घायल भारतमाता एक बार पुनः तड़प उठी और भूलुंठित हो गईं। इन दोनों श्रेणी के पुत्रों में से कौन क्रूर, विश्वासघाती तथा तिरस्कार योग्य है और कौन वीर, साहसी, देशभक्त तथा सम्मानीय, यह सुस्पष्ट ही है।

दिल्ली का सम्राट् बहादुरशाह एक महान कवि भी था। क्रान्तियुद्ध के रंग-मंच पर प्रवेश करने के पूर्व ही उसने एक गजल की रचना की थी। उसने स्वतः यह प्रश्न किया था—

दमदमे में दम नहीं अब खैर मांगो जान की।
अय जफर ! ठण्डी हुई शमशेर हिन्दुस्तान की ।।

[प्रतिदिन ही तुम थकते चले जा रहे हो। हे सम्राट् तुम अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करो (अंग्रेजों से) क्योंकि अब भारत की तलवार सदैव के लिए टूक-टूक हो गई है।]

उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर भी इन शब्दों में दिया—

गाजियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की।
तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिन्दुस्थान की ।।

(हमारे वीरों के अन्तःकरण में जब तक आत्म-विश्वास और देशभक्ति की भावना विद्यमान है तब तक हिन्दुस्थान की पावन कृपाण लन्दन तक भी वार करती रहेगी।)

●●●

।। वन्देमातरम् ।।

सावरकर साहित्य (हमारा प्रकाशन)

१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर	इतिहास
हिन्दू पद पादशाही	,,
हिन्दुत्व	विचार एवं ऐतिहासिक अनुशीलन
क्रान्तिकारी चिट्ठियाँ	पत्र
क्रान्ति का नाद	निबन्ध
शस्त्र और शास्त्र	नाटक
उ:शाप	,,
मोपला	उपन्यास
गोमान्तक	,,

English

Six Glorious Epochs of Indian History
The Indian War of Indepedence 1857
Hindu Pad Padshahi
Hindutava (Paperback)

राजधानी ग्रन्थागार

59, H-IV, लाजपत नगर, नई दिल्ली-24
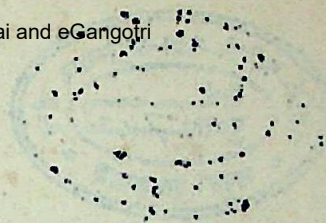
१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य समर

विदेशी शासन की गुलामी की जंजीरों को काटने के लिए, हिन्दुस्तान की आजादी के मतवालों का एक रोमांचकारी संघर्ष है। संसार की प्रसिद्ध सशस्त्र क्रान्तियों में इसकी गणना होती है, एतदर्थ इस महान विद्रोह का चित्रण भी उसी ओजपूर्ण भाषा में एक तेजस्वी क्रान्तिकारी वीर० वि० द० सावरकर ने शत्रु के घर इंग्लैण्ड में जाकर उसका पर्दाफाश किया। संसार का विचित्र अपवाद है जब ग्रंथ को छपने से पूर्व (पाण्डुलिपि) को ही क्रूर शासन ने जब्त कर लिया। इस ग्रंथ को रोमांचित करने वाले कई गौरवपूर्ण पक्ष हैं।